हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—९१

जातिवर्गों का विकास

मूल लेखक

सर चार्ल्स डार्विन

अनुवादक

डा० उमाशंकर श्रीवास्तव

एम० एस-सी०, एम० एड०

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किये जायँ। शिक्षा-मंत्रालय ने यह काम अपने हाथ में लिया है और इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य शिक्षा-मंत्रालय स्वयं अपने अधीन करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार की शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित की जा रही है। डार्विन विरचित 'ओरिजिन आफ स्पेसीज़' का डा० उमाशंकर श्रीवास्तव द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

मुहम्मद अली करीम चागला
शिक्षा मन्त्री, भारत सरकार

प्रकाशकीय

हम जब अपने चारों ओर फैली सृष्टि पर दृष्टि डालते हैं, तो प्रकृति के नाना रूपों का दर्शन कर आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की विविधता के कारणों पर विचार करते ही अनेक प्रश्न मन में उठते हैं। उनकी असंख्य जातियाँ क्यों और कैसे हो गयीं, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उनके अंगों की रचना वातावरण से कैसे अनुकूलित हुई, आदि। जीवशास्त्र पर विचार और अनुसंधान करने वाले आधुनिक काल के पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने, जिनमें डार्विन प्रमुख है, ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये और पुरानी धारणाओं को सदोष ठहराया। उन्होंने जीवों के पारस्परिक जीवन-संघर्ष तथा प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। परिस्थितियों के अनुकूल जीवों में होनेवाले परिवर्तन और विकास के जटिल नियमों की उन्होंने विवेचना की तथा उनकी मन:शक्ति अथवा प्रकृति के महत्त्व का विश्लेषण किया। इस विषय पर डार्विन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'दि ओरिजन आफ स्पेसीज़' का अनुवाद कर डा० उमाशंकर श्रीवास्तव ने हिन्दी के ज्ञान-कोश की अभिवृद्धि में प्रशंसनीय योग दिया है। आशा है, इसके अध्ययन से हिंदी के पाठकों और जीव-विज्ञान विषय के विद्यार्थियों का यथेष्ट लाभ होगा।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

विषय सूची

भूमिका

जब मैं 'बीग्ल' (Beagle) जहाज पर प्राकृतज्ञ (naturalist) था, मैंने दक्षिणी अमरीका के जीवों के विभिन्न क्षेत्रों में फैलाव (distribution) तथा उस महाद्वीप के वर्तमान एवं अतीत काल के निवासियों के भूतत्वीय संबंधों (geological relationship) के विषय में कई ऐसी बातों का अवलोकन किया जिनसे मैं बहुत ही प्रभावित हुआ। जैसा कि इस पुस्तक के अगले अध्यायों से स्पष्ट हो जाएगा, ये बातें प्रकृति के सबसे रहस्यमय प्रश्न—जाति-वर्गों (species) की उत्पत्ति—पर कुछ प्रकाश डालती जान पड़ीं। हमारे एक बहुत बड़े दार्शनिक ने इस प्रश्न को प्रकृति के अनेक रहस्यों में सबसे अधिक रहस्यमय बताया है। घर वापस आने पर, सन् १८३७ में मेरे मन में यह बात उठी कि यदि ऐसे सभी तथ्यों को, जिनका किसी प्रकार का संबंध इस रहस्य से हो, धैर्यपूर्वक एकत्र किया जाय और उन पर चिन्तन-मनन किया जाय, तो कदाचित् इस प्रश्न का कुछ हल निकल सके। पाँच वर्ष काम करने के पश्चात्, मैंने इस विषय पर विचार करना प्रारम्भ किया और तत्संबंधी कुछ टिप्पणियाँ संक्षेप में लिखीं। सन् १८४४ में इनको बढ़ाकर मैंने ऐसे निष्कर्षों की रूपरेखा तैयार की जो उस समय मुझको ठीक जँचे और तब से आज तक निरन्तर मैं उस लक्ष्य की ओर काम करता रहा हूँ। मैं आशा करता हूँ कि पाठक मुझे इन वैयक्तिक बातों के लिए क्षमा करेंगे क्योंकि मैंने इन्हें केवल यह स्पष्ट करने के लिए लिखा है कि अपने निष्कर्षों पर पहुँचने में मैंने शीघ्रता नहीं की है।

मेरा कार्य अब (सन् १८५९) में लगभग पूरा हो गया है; किन्तु चूँकि इसे समाप्त करने में अब भी कई वर्ष लगेंगे और मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं है; इसलिए मैं इस सारांश को प्रकाशित करने के लिए विवश हो रहा हूँ। इसके अतिरिक्त मुझको ऐसा करने की प्रेरणा विशेषत: इसलिए मिली थी कि श्री वालेस भी, जो इस समय मलाया द्वीप-समूह के प्राकृतिक इतिहास का अध्ययन कर रहे हैं, जाति-वर्गों की उत्पत्ति (origin of species) के प्रश्न पर लगभग बिल्कुल मेरे ही जैसे सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सन् १८५८ में उन्होंने इस विषय पर मेरे पास एक निबन्ध भेजा था और प्रार्थना की थी कि मैं उसको सर चार्ल्स लियेल को दे दूँ जिन्होंने उसे लीनियन सोसायटी (Linnean Society) में भेज दिया। इस सोसायटी के जर्नल के तीसरे खंड में यह

छपा है। सर सी० लियेल और डा० हूकर दोनों मेरे कार्य से भी परिचित थे। डा० हूकर ने मेरा १८४४ का विवरण पढ़ रखा था। अतः इन लोगों ने वालेस के अत्यन्त उत्कृष्ट निबन्ध के साथ ही मेरी पांडुलिपि के कुछ अंशों को प्रकाशित कर मेरा सम्मान किया।

इस सारांश में , जिसको अब मैं प्रकाशित कर रहा हूँ, कई अभावों का रह जाना अनिवार्य है। मैं इसमें अपने कई वक्तव्यों की पुष्टि के लिए निर्देश तथा प्रमाण नहीं दे सकता और मुझे पूरी आशा है कि पाठक मेरी परिशुद्धता पर विश्वास करेंगे। यद्यपि मैंने विश्वसनीय लेखकों की कृतियों का ही सहारा लिया है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ अशुद्धियाँ इस पुस्तक में छूट गयी होंगी। मैं यहाँ अपने केवल सामान्य निष्कर्षों का ही, कुछ उदाहरणों के साथ, उल्लेख कर सकता हूँ, किन्तु जो मेरे विचार से बहुलांश में पर्याप्त होंगे। जिन तथ्यों पर मेरे निष्कर्ष आधारित हैं, उन तथ्यों को बाद में अधिक विस्तार और निर्देश के साथ प्रकाशित करने की आवश्यकता की अनुभूति मुझसे अधिक अन्य किसी को नहीं हो सकती। और भविष्य में यह कार्य पूरा करने की मुझे आशा है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इस पुस्तक में मैंने जिन बातों की चर्चा की है, उनमें शायद ही कोई ऐसी हो, जिसके संबंध में ऐसे तथ्य न प्रस्तुत किये जा सकें, जो ऊपरी दृष्टि से मेरे द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के विपरीत जान पड़ें। किसी विषय पर, निष्पक्ष परिणाम तभी निकाला जा सकता है, जब दोनों पक्षों के सभी तथ्यों तथा तर्कों का पूरा उल्लेख और उनका संतुलित विवेचन किया जाय, जो यहाँ संभव नहीं है।

मुझे खेद है कि स्थानाभाव के कारण मैं उन सभी प्राकृतज्ञों के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश नहीं कर सका जिन्होंने बड़ी उदारता से मुझे सहायता दी है। इनमें से कुछ को तो मैं व्यक्तिगत रूप से जानता भी नहीं हूँ। लेकिन मैं डाक्टर हूकर के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित किये बिना यह अवसर किसी भी प्रकार नहीं खोना चाहता। डा० हूकर ने पिछले पन्द्रह वर्षों से अपने ज्ञान के बृहत् भण्डार और श्रेष्ठ विवेचन द्वारा मेरी हर संभव सहायता की है।

जातों (जाति-वर्गों) की उत्पत्ति की समस्या पर विचार करने में विविध जीवों के परस्पर संबंध , उनके भौगोलिक वितरण, उनके भ्रूणीय संबंध (embryological relationships) भूतत्वीय क्रम (geological succession) आदि पर ध्यान देने से प्राकृतज्ञ के लिए यह अनुमान करना सरल हो जाता है कि जातों की उत्पत्ति भी स्वतन्त्र नहीं हुई, बल्कि भेदों (varieties) की भाँति एक जात की उत्पत्ति दूसरी जात से हुई। फिर भी चाहे यह निष्कर्ष कितने ही दृढ़ आधार पर क्यों न निकाला गया

हो, तब तक सन्तोषजनक नहीं माना जायगा, जब तक हम यह नहीं बता सकते कि संसार की असंख्य जातों का आपरिवर्तन किस प्रकार हुआ है और किस प्रकार उनकी रचना उनके वातावरण के लिए ऐसे अद्वितीय ढंग से अनुकूलित हो गयी है जिससे हमें उसकी उचित ही प्रशंसा करनी पड़ती है। प्राकृतज्ञ बराबर ही जलवायु, भोजन आदि बाह्य परिस्थितियों का उल्लेख इस रूप में करते आये हैं जैसे केवल ये ही जीवों की भिन्नता के कारण हों। जैसा हम बाद में देखेंगे, यह किसी हद तक तो सही हो सकता है; किन्तु बनावट के लिए, उदाहरणार्थ एक कठफोड़े की संपूर्ण रचना के लिए––उसके पंजे, पूँछ, चोंच, जीभ आदि की बनावट जिसकी सहायता से वह पेड़ों की छाल के नीचे से कीड़े पकड़ने में ऐसे उत्कृष्ट ढंग ते अनुकूलित है––केवल बाह्य दशाओं को उत्तरदायी बताना बिल्कुल असंगत होगा। इसी प्रकार मिस्लटो (mistletoe) के पौधे का उदाहरण देखिए। यह अपना आहार अन्य कुछ पौधों से प्राप्त करता है; इसके बीज केवल कुछ पक्षियों द्वारा परिवाहित होते हैं और इसके पृथक् लिंगोंवाले फूलों में केवल कीड़ों के द्वारा ही परागण हो सकता है। किन्तु यह कहना कि मिस्लटो जैसे परजीवी की संरचना बाह्य दशाओं अथवा रहन-सहन अथवा स्वयं पौधे की इच्छा पर निर्भर है, उतना ही असंगत होगा।

अतः यह स्पष्ट है कि आपरिवर्तन तथा पारस्परिक अनूकुलन के कारणों को समझना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अपने अवलोकनों के प्रारम्भ में ही मुझको ऐसा लगा कि कदाचित् पालतू जानवरों तथा लगाये गये पौधों के अध्ययन से इस गूढ़ प्रश्न के समझने का सबसे अच्छा अवसर प्राप्त होगा। मुझको निराशा नहीं हुई। केवल इसी प्रश्न में नहीं, अन्य जटिल समस्याओं में, मैंने बराबर देखा है कि यद्यपि पालतूपन से उत्पन्न भेदों के विषय में हमारा ज्ञान बहुत अपूर्ण है, फिर भी इसके अध्ययन से इस तरह की समस्याओं पर सही संकेत मिल ही जाते हैं। साधारणतः प्राकृतज्ञों ने इस प्रकार के अध्ययन की ओर ध्यान ही नहीं दिया है, किन्तु इसकी बहुमूल्यता पर मुझको बहुत विश्वास है।

इन विचारों को ध्यान में रखकर मैं इस छोटी पुस्तक के पहले अध्याय में 'पालतूपन की दशा में परिवर्तन' पर विचार करूँगा। इस प्रकार हम देखेंगे कि कम से कम आनुवंशिक आपरिवर्तन (heriditory modification) खासी बड़ी मात्रा में संभव हैं; और साथ ही एक दूसरी महत्वपूर्ण बात स्पष्ट हो जाती है कि क्रमिक रूप से बहुत छोटे भेदों को संचित करने में मनुष्य की शक्ति कितनी बड़ी है। इसके बाद मैं प्राकृतिक अवस्था में जातों की अस्थिरता या परिवर्तनशीलता (Variability) पर विचार करूँगा, किन्तु दुर्भाग्यवश इस विषय पर संक्षेप में ही विचार करने को बाध्य रहूँगा क्योंकि

इस पर समुचित रूप से विचार करने के लिए लंबी सूचियाँ देनी पड़ेंगी। फिर भी हम यह समझ सकेंगे कि भेदों के उत्पन्न होने के लिए किस प्रकार की परिस्थितियाँ अनुकूल हैं। बाद के अध्याय में संसार के सभी जीवों के बीच जीवन-संघर्ष (Struggle for existence) पर विचार किया जायगा, जिसका होना उनकी संख्या में गुणोत्तर वृद्धि के कारण अनिवार्य है। यही मैलथज़ (Malthus) का सिद्धान्त है, जो समस्त जन्तु तथा वनस्पति साम्राज्य पर लागू है। चूँकि प्रत्येक जाति में जितने व्यक्ति जीवित रह सकते हैं उनसे कहीं अधिक उत्पन्न होते हैं और फलतः चूँकि उनमें बहुध जीवन-संघर्ष होता है, अतः हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जीवन की जटिल और अस्थिर दशाओं में यदि किसी जीव में थोड़ा भी ऐसा परिवर्तन होगा जो उसके लिए लाभदायक होगा तो उसके जीवित रहने की अधिक संभावना होगी। अतः वह प्रकृति द्वारा निर्वाचित होगा। वंशानुगति (inheritance) के नियम के अनुसार निर्वाचित भेद नये तथा संपरिवर्तित रूप का विस्तार करेगा।

प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) के इस मूल विषय पर चौथे अध्याय में कुछ विस्तार से विचार किया जायगा। तब हम देखेंगे कि अधिकांशतः प्राकृतिक चुनाव रूपों की अनिवार्यतः बहुत कुछ समाप्ति कर देता है। इसका परिणाम वह होता है जिसे मैंने 'विशिष्ट स्वरूप का बदल जाना' कहा है। इसके बाद के अध्याय में मैं परिवर्तन (variation) के जटिल तथा लगभग अज्ञात नियमों पर विचार करूँगा। इसके बाद के पाँच अध्यायों में मेरे सिद्धान्त की स्वीकृति में जो सबसे स्पष्ट और गंभीर कठिनाइयाँ हैं उनका उल्लेख किया जायगा। इनमें सबसे पहली कठिनाई संक्रमण (transition) संबंधी है अर्थात् किस प्रकार एक सरल जीव अथवा सरल अंग सुविकसित जीव या सुगठित रचना वाले अंग में परिवर्तित और पूर्ण हो सकता है; दूसरी कठिनाई प्रवृत्ति (instinct) अथवा प्राणियों की मानसिक शक्ति के विषय से संबंध रखती है; तीसरी तथा चौथी कठिनाई भूतत्वीय अभिलेखों या प्रमाणों (geological record) की अपूर्णता है। बाद के अध्याय में मैं कालान्तर में आंगिक जीवों के भूतत्वीय अनुक्रम पर विचार करूँगा; बारहवें तथा तेरहवें अध्यायों में संसार में जीवों के भौगोलिक वितरण पर और चौदहवें अध्याय में उनके वर्गीकरण तथा प्रौढ़ावस्था एवं भ्रूणावस्था दोनों में ही उनकी पारस्परिक समानता अथवा बन्धुता (affinities) पर विचार करूँगा। अन्तिम अध्याय में पूरी पुस्तक की संक्षिप्त पुनरावृत्ति पर कुछ उपसंहारात्मक मन्तव्य दूंगा।

मेरे विचार में यदि हम अपने चारों ओर पाये जाने वाले अनेक जीवों के पारस्परिक संबंधों के विषय में अपनी सूक्ष्म अज्ञानता को ध्यान में रखें तो हमको इस बात

पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अब भी जातों तथा भेदों की उत्पत्ति के विषय पर बहुत कुछ समझने को बाकी है। कौन बतला सकता है कि एक जात विस्तार से क्यों फैलती है और वह क्यों इतनी बहुसंख्यक है तथा दूसरी मिलती-जुलती जात अल्पसंख्यक तथा कम विस्तारवाली है। फिर भी ये संबंध बहुत ही महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे वर्तमान कल्याण और मेरी समझ में संसार के सभी निवासियों की भविष्य में सफलता तथा आपरिवर्तन का निश्चय करते हैं। अतीतकालीन भूतत्वीय युगों के इतिहास में संसार के असंख्य निवासियों के पारस्परिक संबंधों का हमें और भी कम ज्ञान है। फिर भी हालांकि इस संबंध की अनेक बातें अंधकार की गोद में छिपी हैं और संभवतः और भी बहुत दिनों तक छिपी रहेंगी, मैं बहुत विचारपूर्ण अध्ययन तथा मीमांसा के बाद विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यह विश्वास, कि प्रत्येक जात या जाति-वर्ग की उत्पत्ति पृथक् और स्वतंत्र रूप से हुई है, भ्रमपूर्ण है। अभी हाल तक अधिकांश प्राकृतज्ञों का तथा मेरा भी यही विश्वास था; पर अब मुझको इसमें संदेह नहीं है कि जातें अपरिवर्तनशील (unmutable) नहीं हैं, बल्कि एक ही जाति (genus) की विभिन्न जातें (species) किसी विलुप्त जात की वंशज हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे किसी एक जात के सभी मान्यताप्राप्त भेद उस जात के वंशज हैं। मुझको इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार के आपरिवर्तनों का सबसे महत्व-पूर्ण कारण प्राकृतिक निर्वाचन है—लेकिन यह उसका अकेला कारण नहीं है।

अध्याय एक

पालतू अवस्था में विभेदीकरण

परिवर्तनशीलता के कारण—स्वभाव तथा अंगों के उपयोग या अनुपयोग के प्रभाव—संबंधित परिवर्तन—वंशागति—पालतू भेदों के लक्षण—भेदों तथा जातों में भेद करने में कठिनाइयाँ—एक या अधिक जातों से पालतू भेदों की उत्पत्ति—पालतू कबूतर, उनके अन्तर तथा उनकी उत्पत्ति—प्राचीन काल से अनुकरण किये गये निर्वाचन के सिद्धान्त तथा उनके प्रभाव—नियमानुसार तथा अनजाने में किये गये निर्वाचन—हमारे पालतू जीवों की अज्ञात उत्पत्ति—मनुष्य की निर्वाचन शक्ति के लिए अनकुल परिस्थितियाँ।

परिवर्तनशीलता के कारण

जब हम अपने पुराने खेती के पौधों का या पालतू जानवरों के उसी भेद या उप-भेद के पौधों या व्यष्टियों की तुलना करते हैं तो सबसे पहले हमारे ध्यान में यह बात आती है कि प्राकृतिक अवस्था में पाये जाने वाले विशिष्ट जाति-वर्गों या पौधों की अपेक्षा पालतू जातिवर्गों या पौधों में परस्पर भिन्नता कहीं अधिक होती है। और यदि हम उन पौधों और जानवरों की अत्यधिक भिन्नता या असमानता पर ध्यान दें, जो उगाये गये हैं या जिनका पालन किया गया है और जो सभी युगों में भिन्न जलवायु तथा परिस्थितियों द्वारा परिवर्तित हुए हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह महान् परिवर्तन इस कारण हुआ है कि इन पालतू पौधों तथा पशुओं का संवर्धन जीवन की ऐसी परिस्थितियों में हुआ है जो एक सी नहीं थीं और जो प्रकृति के खुले वातावरण में उगने या संवर्धित होने वाले प्राथमिक पौधों-जीवों की परिस्थितियों से किंचित् भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त इस विषय पर ऐन्ड्रू नाइट (Andrew Knight) द्वारा प्रतिपादित विचार में भी कुछ सत्यता हो सकती है कि यह परिवर्तनशीलता अंशतः आहार के आधिक्य से भी संबंधित है। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पर्याप्त मात्रा में भिन्नता उत्पन्न करने के लिए यह जरूरी है कि जीव कई पीढ़ियों तक नयी और बदलती अवस्थाओं में रहें। और जब इस प्रकार किसी जीव में एक बार भिन्नरूपता

प्रारंभ हो जाती है तो साधारणतः वह कई पीढ़ियों तक चलती रहती है। मेरी जान में ऐसे किसी परिवर्तनशील जीव का प्रमाण नहीं है जिसमें कृषि की स्थिति में परिवर्तन रुक गया हो। हमारे प्राचीनतम लगाये पौधे—जैसे गेहूँ ने—अब भी नयी किस्म उत्पन्न की है और हमारे सबसे पुराने पाले हुए जानवर अब भी द्रुत उन्नति और आपरिवर्तन के योग्य हैं।

इस विषय पर काफी समय तक विचार करने के बाद जहां तक मैं समझ पाया हूँ, परिवर्तन के संबंध में जीवन की दशाएँ दो तरह से कार्य करती हैं—प्रत्यक्ष रूप से या सीधे सम्पूर्ण जीव पर अथवा उसके कुछ विशेष अंगों पर, तथा परोक्ष रूप से उसके जननांगों को प्रभावित करके। जैसा अभी हाल में प्रोफेसर वाइज़मैन (Prof. Weismann) ने कहा है और मैंने अपने लेख 'पालतूपन में परिवर्तनशीलता' (Variation under domestication) में भी दिखाया है, प्रत्यक्ष प्रभाव के संबंध में हमको यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक उदाहरण में दो बातें काम करती हैं—अर्थात् जीव की प्रकृति तथा स्थिति का स्वरूप। इन दो बातों में पहली अर्थात् जीव की प्रकृति ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि कभी अक्सर असमान परिस्थितियों में समान परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं और इसके विपरीत लगभग एकसम या अपरिवर्तनशील परिस्थितियों में असमान परिवर्तन भी उत्पन्न हो जाते हैं। संतान के ऊपर होने वाले प्रभाव भी दो प्रकार के हो सकते हैं—या तो निश्चित् या अनिश्चित्। किसी प्रभाव को हम निश्चित् तब कह सकते हैं जब कई पीढ़ियों तक लगभग एक जैसी परिस्थिति में रखे जाने पर सभी व्यष्टियों में या लगभग सभी व्यष्टियों की संतान में समान आपरिवर्तन (Modification) हों। निश्चित् रूप से उत्पन्न हुए परिवर्तनों की सीमा के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालना बहुत कठिन है। फिर भी कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता—जैसे भोजन की मात्रा के फलस्वरूप शरीर की माप, भोजन की प्रकृति से रंग, जलवायु से त्वचा और बालों की मोटाई आदि। उदाहरण के लिए मुर्गों के परों में पाये जाने वाले अनन्त भेदों में से प्रत्येक का कोई पर्याप्त कारण होना चाहिए और यदि वही कारण समान रूप से कई पीढ़ियों तक कई व्यष्टियों पर प्रभाव डालता रहे तो संभवतः सभी एक ही प्रकार से आपरिवर्तित होंगे। किसी गुलठी (gall) बनाने वाले कीट द्वारा केवल एक बूंद विष प्रवेश कर दिये जाने पर पौधे में कैसे अद्भुत और जटिल उभार निकल आते हैं। इससे हमें पता चलता है कि वनस्पति जगत् में, पौधे के रस की प्रकृति में रासायनिक परिवर्तन से, कितना विलक्षण आपरिवर्तन हो सकता है।

निश्चित परिवर्तनों की अपेक्षा, बदली परिस्थितियों के फलस्वरूप अनिश्चित

परिवर्तन कहीं अधिक होते हैं और कदाचित् हमारे पालतू भेदों के निर्माण में इन्होंने कहीं अधिक भाग लिया है। हम छोटी-मोटी अनन्त विचित्रताओं में अनिश्चित् परिवर्तन देखते हैं जो एक ही जाति-वर्ग के व्यष्टियों में भेद करते हैं और उन्हें उनकी वंशागति एवं दूर के पूर्वजों से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। बहुधा एक ही झोल (litter) के शावकों और एक ही फल के विभिन्न बीजों से उगे बीजांकुरों में महत्व-पूर्ण परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। कभी-कभी लंबी अवधियों के बाद एक ही स्थान पर रहने वाले तथा एक ही आहार पाने वाले लाखों व्यष्टियों में कुछ व्यष्टि इतने भिन्न उत्पन्न हो जाते हैं कि उनको विरूपताएँ या भयंकरताएँ (Monstrosities) कहा जाता है। पर ध्यान रखना चाहिए कि हम विरूपता को छोटे-छोटे परिवर्तनों से बिल्कुल ही पृथक् नहीं कर सकते। वास्तव में संरचना के ऐसे सभी परिवर्तन—चाहे वे छोटे हों या बड़े—जो एक साथ रहने वाले अनेक व्यष्टियों में से कुछ में उत्पन्न होते हैं, उन व्यष्टियों पर परिस्थिति का 'अनिश्चित' प्रभाव कहे जा सकते हैं। यह प्रभाव लगभग उसी प्रकार का है जैसे ठंडक लगने पर मनुष्यों पर उनके शरीर की हालत, बनावट आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं जैसे किसी को उसके कारण सर्दी-जुकाम, किसी को अंगों की सूजन और किसी को गठिया होती है।

जननांगों के प्रभावित होने के कारण बदली हुई परिस्थिति की परोक्ष क्रिया के संबंध में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह क्रिया दो प्रकार से होती है। पहले, कि ये अंग परिस्थितियों में हुए किसी भी परिवर्तन की ओर बहुत ही सचेतन हैं अर्थात् उसमें सूक्ष्म अन्तर होने पर भी ये प्रभावित होते हैं और दूसरे, समानता से—जैसा कौलरायटर (Kolreuter) आदि ने पहले कहा है, कि दो पृथक् जातों (species) के संकरण (crossing) से उत्पन्न हुए परिवर्तन तथा नयी अथवा कृत्रिम दशाओं में रखे गये पौधों और जन्तुओं में उत्पन्न हुए परिवर्तन बहुत कुछ समान होते हैं। कई बातों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जनन संस्थान वातावरण की दशाओं में सूक्ष्म परिवर्तनों के लिए भी ग्रहणक्षम हैं। किसी जन्तु को पालतू बनाना सबसे अधिक सरल है। फिर भी बंदी अवस्था में वे बच्चे दें इससे कठिन कुछ भी नहीं—चाहे नर और मादा का समागम भी हो चुका हो। कितने जानवर ऐसे हैं जो लगभग अपने प्राकृतिक वातावरण में स्वतंत्रतापूर्वक रखे जाने पर बच्चे नहीं देंगे। सामान्य-तया इसका कारण दूषित प्रवृत्ति बताया जाता है; पर यह भ्रम है। कृषि द्वारा तैयार किये हुए बहुत से पौधे असीम शक्ति दिखाते हैं लेकिन बीज नहीं पैदा करते या केवल कभी-कभी करते हैं। कुछ उदाहरणों में तो यहाँ तक देखा गया है कि किसी बहुत छोटे परिवर्तन पर ही यह निर्भर होता है कि पौधे बीज उत्पन्न करेंगे या नहीं, जैसे

वृद्धि की किसी विशेष अवस्था में पानी की मात्रा। इस विचित्र विषय पर मैंने विस्तार में जो सामग्री एकत्र की है, और जो अन्यत्र छप चुकी है, यहाँ नहीं दे सकता, किन्तु केवल यह दिखाने के लिए कि परतंत्रता में जन्तुओं के जनन के अद्भुत नियम हैं, मांसभक्षी जन्तुओं का उदाहरण दूँगा। पदतलचारियों या भालू वंश के प्राणियों को छोड़ कर, जो कभी-कभी बच्चे पैदा करते हैं, सभी मांसभक्षी जन्तु, यहाँ तक कि उष्ण प्रदेश से लाये गये जन्तु भी, हमारे देश में परतंत्रता में आसानी से बच्चे देते हैं। परन्तु कुछ विरले अपवादों को छोड़कर कोई भी मांसभक्षी पक्षी ऐसी परिस्थिति में उर्वर अंडे नहीं देता। अधिकांश वन्ध्य प्रसंकरों (hybrids) की भाँति कई विदेशी पौधे हमारे यहाँ बिल्कुल व्यर्थ पराग उत्पन्न करते हैं। इस तरह जब हम देखते हैं कि एक ओर कुछ पालतू जानवर और लगाये पौधे कृत्रिम अवस्था में, रोगी और कमजोर होने पर भी संतानोत्पादन करते हैं, और दूसरी ओर शैशवावस्था में प्रकृति से लाकर पाले हुए कुछ स्वस्थ जन्तु दीर्घजीवी तो होते हैं किन्तु बच्चे नहीं देते, तो यह स्पष्ट है कि इन जन्तुओं के जननांग कुछ अज्ञात रीति से प्रभावित हो जाते हैं। ऐसी दशा में बन्दी अवस्था में यदि ये अंग कुछ अनियमित ढंग से काम करें और भूल से कुछ भिन्न संतानें उत्पन्न करें तो इसमें भला आश्चर्य की क्या बात है? हाँ, यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि जिस प्रकार कुछ जीव (जैसे कटघरे या दरबों में रखे गये खरगोश तथा नेवले) बिल्कुल ही अप्राकृतिक अवस्था में रखे जाने पर भी स्वतंत्रतापूर्वक सन्तानोत्पत्ति करते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उनके जननांग आसानी से प्रभावित नहीं होते, उसी प्रकार कुछ जन्तु तथा पौधे पाले या लगाये जाने पर बहुत कम परिवर्तित होते हैं अर्थात् प्राकृतिक अवस्था से अधिक परिवर्तित नहीं होते।

कुछ प्राकृतज्ञों का विचार है कि सभी परिवर्तनों का संबंध लैंगिक जनन (sexual reproduction) से ही है। यह निश्चय ही एक भूल है। मैंने एक दूसरे लेख में ऐसे पौधों की एक सूची दी है, जिनको माली स्पोर्टिंग पौधे (sporting plants) कहते हैं। इन पौधों की विशेषता यह है कि इनमें एकाएक एक ऐसी कली निकलती है, जो उस पौधे की अन्य कलियों से कई लक्षणों में भिन्न होती है। कलियों के इन परिवर्तनों को कई विधियों से फैलाया जा सकता है—जैसे गूटी के द्वारा, जड़ दबाकर या कभी-कभी बीजों के द्वारा। प्राकृतिक वातावरण में ये विरले ही होते हैं किन्तु बागों में इनकी कोई कमी नहीं होती। एक ही पौधे पर समान दशाओं में उत्पन्न होने वाली हजारों कलिकाओं में से प्रतिवर्ष एक-दो कलिकाएँ एकाएक कोई नया लक्षण धारण करती हैं; इसी तरह भिन्न-भिन्न पौधों पर विभिन्न दशाओं में कभी-कभी एक ही भेद

की कलिकाएँ होती हैं जैसे आड़ू (perch) के पौधे पर नेक्टरीन (nectarine) या साधारण गुलाब के पौधों पर मॉस-रोज़ (Moss-rose)। इन बातों से यह स्पष्ट है कि विशेष परिवर्तनों की उत्पत्ति के विषय में जीव की प्रकृति, परिस्थिति की प्रकृति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे किसी ज्वलनशील पदार्थ के जलने से उत्पन्न लौ की प्रकृति उस पदार्थ की प्रकृति पर निर्भर है न कि उस चिनगारी की प्रकृति पर, जिसके द्वारा पदार्थ में आग लगायी जाय।

प्रकृति तथा अंगों के उपयोग या अनुपयोग के प्रभाव : परस्पर संबंधित परिवर्तन : वंशागति

परिवर्तित प्रकृति जीवों पर वंशानुगत (inherited) प्रभाव उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए फूलने के समय में पौधों को एक जलवायु से दूसरी जलवायु में हटाने पर पौधों पर ऐसा प्रभाव पड़ सकता है। जन्तुओं में अंगों के उत्तरोत्तर उपयोग या अनुपयोग का प्रभाव अधिक स्पष्ट होता है। मैंने देखा है कि जंगली बत्तखों की तुलना में पालतू बत्तखों में, पूरे शारीरिक ढाँचों के अनुपात में, पंखों की हड्डियों का भार कम और टाँगों की हड्डियों का भार अधिक होता है। स्पष्ट है कि यह परिवर्तन इसलिए उत्पन्न हुआ है कि अपने जंगली पूर्वजों की अपेक्षा पालतू बत्तखें बहुत कम उड़ती हैं और चलती अधिक हैं, इस तरह टाँगों का उपयोग अधिक और पंखों का उपयोग बहुत कम करती हैं। उपयोग अथवा अनुपयोग के प्रभाव का एक और भी उदाहरण देखिए। उन देशों की बकरियों तथा गायों में थन की वृद्धि अधिक और वंशानुगत होती है जहाँ साधारणतः उनको दुहने की प्रथा है; इसके विपरीत जहाँ वे दुही नहीं जातीं, यह वृद्धि कम होती है। आपको पालतू जन्तुओं का एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा जिसके कान किसी देश में लटके हुए न होते हों; इसका कारण यह है कि पालतू होने के कारण इन जानवरों को ऐसी परिस्थितियों का सामना बहुत कम करना पड़ता है जिनमें इनको विशेष सावधानी की आवश्यकता हो और इस तरह कानों का लटकना उन्हें उठाये रखने वाली पेशियों के अव्यवहार के कारण होता है।

परिवर्तनशीलता कई नियमों पर आधारित है। इनमें से कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं हैं अतः हम यहाँ संक्षेप में उन पर विचार करेंगे, किन्तु अभी मैं केवल उन्हीं परिवर्तनों का उल्लेख करूँगा जिनको परस्पर संबंधित परिवर्तन (correlated variations) कहा जा सकता है। भ्रूण या डिम्भ (लार्वा) में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तन संभवतः प्रौढ़ प्राणियों में भी परिवर्तन उत्पन्न करेंगे। विकृतियों अथवा भयंकरताओं (monstro-

sities) में बिल्कुल ही पृथक् अंगों के परस्पर संबंध बड़े अद्भुत होते हैं। इनके कई उदाहरण आइसोडोर जिआफरॉय सेंट हिलेरे (Isodore Geoffroy St. Hilaire) की इस विषय पर लिखी बड़ी पुस्तक में मिलते हैं। जानवर पालने वालों का विश्वास है कि पशुओं में लंबे अवयव (limbs) सदा ही लंबे शिर के साथ होते हैं। परस्पर संबंधित परिवर्तनों के कुछ उदाहरण तो बड़े ही अजीब हैं। उदाहरण के लिए नीली आँखों वाली सफ़ेद बिल्लियाँ साधारणतः बहरी होती हैं, किन्तु अभी हाल में श्री टेट (Mr. Tait) ने यह दिखाया कि ऐसा केवल नर बिल्लियों में ही होता है। जन्तुओं और वनस्पतियों दोनों से ही ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे मालूम होता है कि रंग तथा संरचना संबंधी विचित्रताएँ साथ-साथ जाती हैं। श्री होसिंगर (Mr. Heusinger) द्वारा संग्रहीत तथ्यों से जान पड़ता है कि सफेद भेड़ें तथा सफेद सुअर कुछ ऐसे पौधों से चुटीले हो जाते हैं जिनसे काली भेड़ें या सुअर बच जाते हैं। हाल में प्रोफेसर वाइमैन (Prof. Wyman) ने इस बात का एक सुन्दर उदाहरण मेरे पास भेजा है। उन्होंने वर्जीनिया के कुछ किसानों से पूछा कि उनके सभी सुअर काले क्यों हैं? किसानों ने बताया कि ये जानवर 'पेन्ट रूट' या लैकनैन्थिज (paint root or Lachnanthes) नामक पौधे खाते हैं जिससे उनकी हड्डियाँ गुलाबी हो जाती हैं और काले सुअरों को छोड़ सभी के खुर गिर जाते हैं। वर्जीनिया के एक सुअर पालने वाले ने तो कहा कि "हम झोल के केवल काले बच्चों को ही पालते हैं क्योंकि केवल उनके ही जीवित रहने की संभावना है।" इसी तरह के अन्य उदाहरण हैं: बिना बाल वाले कुत्तों के दाँत अपूर्ण होते हैं; कहा जाता है कि लंबे और मोटे बाल वाले जानवर लम्बे और अनेक सींग रखने में सक्षम होते हैं। परदार टाँगों वाले कबूतरों की टाँगों की बाहरी अँगुलियों के बीच चमड़ी (web) होती है; छोटी चोंच वाले कबूतरों की टाँगें छोटी और लंबी चोंच वाले कबूतरों की टाँगें लंबी होती हैं। अतः यदि मनुष्य किसी विशेष लक्षण या विचित्रता वाले प्राणियों को छाँटता जाय और इस तरह उस लक्षण की वृद्धि करता जाय तो परस्पर संबंध के कुछ रहस्यमय नियमों के परिणामस्वरूप वह अनजाने किन्तु निश्चय ही संरचना के कुछ अन्य अंगों को भी आपरिवर्तित करेगा।

परिवर्तन के इन अनेक अज्ञात या बहुत कम ज्ञात नियमों के नतीजे विविध और बड़े जटिल हैं। हमारे पुराने लगाये हुए कुछ पौधों, जैसे आलू, डाहलिया या हायसिन्थ के संबंध में लिखी अनेक पुस्तकों के सावधानीपूर्वक अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। संरचना और शारीरिक गठन के अनन्त संकेतों को वास्तव में देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है कि इनके भेदों और उपभेदों में कितने छोटे-छोटे अन्तर होते हैं। इनकी पूरी

संरचना लचीली हो गयी जान पड़ती है और अपने जनक प्ररूप (parental type) से कुछ अंश तक भिन्न है।

ऐसा कोई परिवर्तन, जो वंशागत नहीं है, हमारे लिए महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु संरचना के पैतृकदाय के रूप में होने वाले भेद और उनकी संख्या असीम है, वे भेद और संख्या में चाहे तुच्छ हों और चाहे कायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण समझी जाने योग्य हों। इस विषय पर डाक्टर प्रास्पर लुकस (Dr. Prosper Lucas) की दो भागों में लिखी बड़ी पुस्तक सबसे अच्छी और सम्पूर्ण है। किसी वनस्पति या जन्तुओं के शौकीन या पालक को इसमें कोई सन्देह नहीं कि पौधों और जानवरों में वंशागति की ओर कितना झुकाव है और उसका आधारभूत विश्वास है कि प्रत्येक जीव अपने समान संतानें उत्पन्न करता है। इस सिद्धान्त पर केवल सैद्धान्तिक लेखकों ने ही संदेह उत्पन्न किया है। जब संरचना संबंधी किसी प्रकार का परिवर्तन एक जन्तु में पैदा होता है और उसको हम माता-पिता और संतान दोनों में ही देखते हैं तो हम नहीं कह सकते कि दोनों में यह अन्तर दोनों पर एक ही कारण का प्रभाव नहीं है। किन्तु यदि स्पष्टतया एक ही परिस्थिति में रहने वाले अनेक व्यष्टियों में, कुछ असाधारण दशाओं के संयोग से, कोई बहुत विरला परिवर्तन माता या पिता में, लाखों में से एक में, उत्पन्न हो और उसकी सन्तानों में फिर वह परिवर्तन उत्पन्न होता है तो केवल सम्भावना के सिद्धान्त (law of chance) के अनुसार हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि परिवर्तन का पुनः उत्पन्न होना वंशागति (inheritance) के कारण है। सभी ने एक ही खानदान के कई व्यक्तियों में विवर्णता, खाल पर दाने, रोमदार शरीर आदि लक्षणों के उत्पन्न होने के उदाहरणों के सम्बन्ध में सुना होगा। यदि संरचना के विचित्र और विरले लक्षण वास्तव में वंशागत होते हैं तो यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि सामान्य और कम विचित्र लक्षण भी वंशागत हो सकते हैं। कदाचित् इस पूरे विषय को सही दृष्टिकोण से देखने की सही विधि यह है कि साधारणतः सभी लक्षणों को वंशागत समझा जाय और उनके वंशागत न होने को अपवाद माना जाय।

वंशागति से संबंध रखनेवाले नियम अधिकांशतः अज्ञात ही हैं। कोई नहीं बता सकता कि एक ही जात के भिन्न-भिन्न सदस्यों में, अथवा कई जातों में, एक ही विचित्रता कभी वंशागत होती है और कभी नहीं, या क्यों एक बच्चा कभी-कभी कुछ विशिष्ट लक्षणों में अपने दादा या दादी या और भी पुराने पुरखों की ओर झुक जाता है; या क्यों कोई विचित्रता एक लिंग से कभी दोनों लिंगों की सतानों में और कभी एक ही लिंग (पुरखे के लिंग) की संतानों में पहुँचती है? हमारे लिए यह कुछ महत्व की बात है कि हमारे पालतू पक्षियों के नरों में उत्पन्न होने वाली कुछ विचित्रताएँ बहुधा अथवा

अधिकांशत: केवल नर संतानों में ही जाती हैं ; एक और भी महत्वपूर्ण नियम मेरे विचार में यह है कि एक पीढ़ी के प्राणियों की जिस अवस्था में कोई विचित्रता उत्पन्न होती है, दूसरी पीढ़ी में भी लगभग उसी अवस्था में या उससे कुछ पहले, वह प्रकट होती है। कुछ उदाहरणों में इस नियम के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता, जैसे चौपायों के सींगों से संबंधित विचित्रताएँ अनिवार्य रूप से तभी प्रकट हो सकती हैं जब वे प्राय: वयस्क हो जायँ। इसी तरह रेशम के कीड़े में सदा लार्वा की अवस्था में या ककून (cocoon) में कोई विचित्रता प्रकट होगी। वंशागत रोगों तथा कुछ अन्य बातों पर विचार करने पर मुझको ऐसा लगता है कि इस नियम का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। यदि कोई विचित्रता किसी प्रौढ़ की किसी विशेष अवस्था में प्रकट होती है, तो वह संतानों में भी ठीक उसी अवस्था में प्रकट होगी जिसमें वह माता-पिता में प्रकट हुई थी। कई उदाहरणों में इस बात का कोई कारण नहीं जान पड़ता। मैं समझता हूँ कि यह नियम भ्रूणशास्त्र (embryology) के तथ्यों के स्पष्टीकरण में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ध्यान रहे ये बातें पहली बार विचित्रता के प्रकट होने से ही संबंधित हैं, उन प्रारंभिक कारणों से नहीं जिन्होंने डिंब (ovules) या नर कोशिकाओं पर प्रभाव डाला हो। स्पष्ट है कि छोटे सींग वाली गाय और लंबे सींग वाले बैल से उत्पन्न लंबे सींग की संतानों में सींग का लक्षण जीवन में काफी देर से प्रकट होता है, वह नर अंश के कारण ही होता है।

मैं अभी प्रतिवर्तन (reversion) के विषय की चर्चा कर चुका हूँ; अब यहाँ कुछ प्रकृतिवादियों के मत का उल्लेख करूँगा। इनके अनुसार जब हमारे पालतू जानवर जंगली अवस्था में वापस जाते हैं, तो धीरे-धीरे निश्चय ही वे फिर अपने मूल वंशजों के लक्षणों की ओर पलट जाते हैं। इसलिए उनकी दलील है कि पालतू नस्लों के अध्ययन से प्राकृतिक स्थिति में रहनेवाली जातों के संबंध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यद्यपि यह मत बहुधा और बड़े जोरों से प्रकाशित किया गया है, किन्तु मुझको इसकी पुष्टि के लिए कोई सामग्री नहीं मिल सकी। वास्तव में इसकी सत्यता सिद्ध करना बहुत ही कठिन होगा। हम आसानी से इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि कदाचित मजबूती से पाले गये जानवरों और पौधों में से अधिकांश जंगली अवस्था में जीवित नहीं रह सकते। कई उदाहरणों में हम यह भी नहीं जानते कि मूल कुटुम्ब था क्या और इसलिए नहीं कह सकते कि प्रत्यावर्तन पूरी तरह होता है कि नहीं। अन्त:संकरण (inter-crossing) के प्रभाव को बचाने के लिए यह भी जरूरी होगा कि नये वातावरण में केवल एक ही भेद के जीव छोड़े जायँ। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी इतना तो सत्य है कि कभी-कभी कुछ भेद अवश्य ही

कुछ लक्षणों के संबंध में मूल कुटुम्ब की ओर पलटते हैं। अतः मुझको ऐसा लगता है यदि हम कई कुटुम्बों को कई पीढ़ियों तक प्राकृतिक बना सकें तो उनका मूल कुटुम्ब की ओर पलटना कुछ असंभव नहीं है। उदाहरण के लिए पातगोभी के पौधे को लीजिए। यदि हम इसको कई पीढ़ियों तक बराबर रद्दी मिट्टी में लगाएँ तो वह अपने मौलिक रूप में परिणत हो जाएगा—हालांकि इस उदाहरण में कुछ हद तक यह भी मानना पड़ेगा कि इसमें स्वयं रद्दी मिट्टी का सीधा या निश्चयात्मक प्रभाव भी होगा। हमारी दलील के लिए इस प्रयोग का पूरी तरह सफल होना न होना बहुत महत्व की बात नहीं है, क्योंकि बहुधा प्रयोग के फलस्वरूप ही जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाता है। यदि यह सिद्ध किया जा सकता कि हमारे पालतू नस्लों में प्रत्यावर्तन की ओर गहरा झुकाव है—अर्थात् समान अवस्था और काफी संख्या में इस प्रकार रखने पर कि उनमें परस्पर समागम न हो सके जिससे उनके छोटे-मोटे परिवर्तन भी मिल-जुल जायँ तथा उनके उपार्जित लक्षणों का नाश हो जाय—तो ऐसी हालत में मैं मान सकता हूँ कि पालतू भेदों के अध्ययन से हम जातों के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। किन्तु इस मत के पक्ष में कोई भी प्रमाण नहीं है। यह कहना अनुभव के विपरीत होगा कि अनगिन पीढ़ियों तक हम घुड़दौड़ या सवारी के घोड़ों, बड़े या छोटे सींगों के जानवरों या अलग-अलग प्रकार की मुर्गियों या खाने की तरकारियों को नहीं पाल या लगा सकते।

पालतू भेदों के लक्षण : भेद और जात के बीच पहिचान करने में कठिनाइयाँ : पालतू भेदों की एक या अधिक जातों से उत्पत्ति

जब हम अपने पालतू जानवरों या पौधों के वंशागत भेदों या कुटुम्बों को देखते हैं और उनकी तुलना अन्य सन्निकट वंशों से करते हैं तो साधारणतः वास्तविक जातों (true species) की अपेक्षा प्रत्येक पालतू वर्ग में कम समानता पाते हैं। बहुधा पालतू नस्लों में थोड़े-बहुत विकृत लक्षण पाये जाते हैं। मेरा तात्पर्य यह है कि ये आपस में एक दूसरे से तथा उसी जाति-वर्ग की अन्य जातों से अनेक छोटे-मोटे लक्षणों में तो भिन्न होते ही हैं, साथ ही उनका कोई एक विशिष्ट अंग या भाग आपस में —और विशेषतः प्राकृतिक दशाओं में रहनेवाली सन्निकट जातों से—बहुत अधिक भिन्न होता है। इन अपवादों को छोड़कर (तथा भेदों के परस्पर समागम करने पर पूर्णतया उर्वर संतानों की उत्पत्ति के प्रश्न को छोड़कर, जिसकी चर्चा बाद में की जायगी) किसी पालतू जात के भेदों में परस्पर उसी तरह के परिवर्तन होते हैं जैसे एक ही जाति-वर्ग से मिलती-जुलती जातों में प्राकृतिक अवस्था में। हाँ; कई उदाहरणों में ये परिवर्तन

बहुत कम हद तक होते हैं। यह सही भी मानना पड़ेगा क्योंकि कई योग्य लेखकों ने कई जानवरों और पौधों के घरेलू कुटुम्बों को स्वतन्त्र जातों की संतति माना है और कई ने केवल भेद। यदि एक पालतू कुटुम्ब तथा जात में कोई स्पष्ट अन्तर होता तो बार-बार हमको इस संदेह का सामना न करना पड़ता। बहुधा इस बात पर जोर डाला गया है कि पालतू कुटुम्बों में आपस में जाति-महत्व (generic value) के परिवर्तन नहीं होते; किन्तु यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह बिल्कुल सत्य नहीं है। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृतिवादियों में इस बात में मतभेद है कि कौन से लक्षण जाति -महत्व के हैं और यह स्वाभाविक है। इस तरह के सभी आँकड़े इस समय केवल अनुभव के ही ऊपर निर्भर हैं। जब यह बताया जायगा कि प्राकृतिक दशाओं में जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, तब हम देखेंगे कि पालतू कुटुम्बों में जाति महत्व के परिवर्तन पाने की हमें आशा ही नहीं करनी चाहिए।

चूँकि हम यह नहीं जानते कि निकटतम घरेल नस्लें एक ही जाति की संतति हैं या अनेक की, इसलिए बीच के संरचना सम्बन्धी परिवर्तनों का अनुमान लगाने में हमको सदा संशय होता है। यदि हम इस प्रश्न का हल कर सकते तो वह बड़ा ही मजेदार होता। उदाहरण के लिए यदि हम सिद्ध कर सकते कि कुत्तों की अनेक नस्लें—ग्रेहाउन्ड, ब्लड-हाउन्ड, टेरियर, स्पैनियल या बुल-डाग, जिनमें से प्रत्येक ठीक अपनी जैसी संतानें उत्पन्न करती हैं—एक ही जाति की संताने हैं, तो इस निष्कर्ष का काफी प्रभाव संसार के विभिन्न भागों में रहनेवाली कई बहुत मिलती-जुलती जातों की (जैसे लोमड़ियों की कई जातों की) परिवर्तनशीलता पर संदेह किये जाने पर पड़ता। जैसा हम अभी देखेंगे, मैं इस बात में विश्वास नहीं करता कि कुत्तों की सभी नस्लों के सारे परिवर्तन पालतूपने की दशा में हुए। मैं विश्वास करता हूँ कि उनके बीच के कुछ परिवर्तन इसलिए भी हैं कि वे कई अलग-अलग जातों की संततियाँ हैं। कुछ अन्य पालतू जातों की स्पष्ट नस्लों के विषय में अनुमान—बल्कि यथेष्ट प्रमाण-उपलब्ध हैं कि वे सभी एक ही जंगली वंश-परम्परा से प्राप्त हुई हैं।

बहुधा लोग यह मानते हैं कि मनुष्य ने पालने के लिए जानवरों तथा पौधों की ऐसी जातों को चुना है जिनमें परिवर्तन की असाधारण वंशागत क्षमता तथा विभिन्न जलवायु का सामना करने की शक्ति है। मैं इस विषय में मतभेद नहीं रखता कि इन शक्तियों के फलस्वरूप हमारे अधिकांश पालतू उत्पादनों का मूल्य बढ़ गया है। पर प्रश्न यह है कि जब आदिम जंगली मनुष्य ने सर्वप्रथम किसी जानवर को पाला तो उसको इस बात का पता कैसे चल सका कि वह बाद की पीढ़ियों में परिवर्तित होगा और दूसरी जलवायुओं का सामना कर सकेगा? इसके अतिरिक्त क्या गधे और हंस

की सीमित परिवर्तनशीलता अथवा रेंडियर में गर्मी की सहनशीलता की कमी या साधारण ऊँट में ठंडक सहने की शक्ति की कमी के कारण इनके पालतू होने में रुकावट हुई? मुझको कोई संदेह नहीं कि यदि संख्या में पालतू जीवों के बराबर प्रकृति से विभिन्न देशों और वर्गों के जन्तु या पौधे लिये जायँ और उनको भी उतनी ही पीढ़ियों तक पाला जाय जितनी पीढ़ियों तक वर्तमान पालतू जातें पाली गयी हैं तो उनमें भी लगभग उतने ही परिवर्तन हो जायँगे जितने कि हमारे वर्तमान पालतू जीवों के मूल जाति-वर्गों में थे।

अधिकांश ऐसे जानवरों और पौधों की जातों के विषय में, जो पुरातन काल से पाली जा रही हैं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनकी उत्पत्ति एक ही जंगली जात से हुई है या कई से। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि पालतू जानवरों की उत्पत्ति अनेक मूल जातों से हुई है, वे यह दलील देते हैं कि बहुत प्राचीन समय में, जैसे मिस्र के स्मारकों में तथा स्विटज़रलैण्ड की झील के आवासों में, नस्लों में काफ़ी भिन्नता मिलती है और कुछ पुरानी नस्लें आजकल की नस्लों से बहुत मिलती-जुलती या एकदम अभिन्न हैं। किन्तु वास्तव में इस बात से केवल यह पता चलता है कि हमारी सभ्यता बहुत ही पुरानी है और जैसा समझा जाता है, मनुष्य ने जानवरों को पालने का कार्य वर्तमान मत के अनुसार उससे भी पहले आरंभ कर दिया था। स्विटज़रलैण्ड की झील के निवासियों के पास अनेक पालतू जानवर थे और उन्होंने कई प्रकार के गेहूँ, जौ, मटर, सन, पोस्ता आदि बोये थे। जैसा हीर (Heer) ने कहा है, इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि इतने पुराने जमाने में भी उनकी सभ्यता काफी आगे बढ़ी हुई थी। अर्थात इसके पहले एक ऐसा लम्बा समय था जब सभ्यता इससे कम थी और उस काल में अलग-अलग जातियों ने अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न जानवर पाले, जिनके परस्पर परिवर्तनों के कारण अनेक नस्लें उत्पन्न हुईं। पृथ्वी के ऊपरी तलों में पत्थरों के औज़ारों के आविष्कार के बाद से सभी पुरातत्वशास्त्री यह मानते हैं कि संसार के कई भागों में आदिम मनुष्य बहुत ही अधिक पुरातन काल में पृथ्वी पर निवास करता था। हम जानते हैं कि आज भी शायद ही ऐसी कोई आदिवासी जाति (tribe) होगी, जो कम से कम कुत्ते न पालती हो।

कदाचित हमारे अधिकांश पालतू जन्तुओं की उत्पत्ति का इतिहास सदा ही संदिग्ध रहेगा। फिर भी संसार भर के सभी पालतू कुत्तों के विषय में सभी ज्ञात बातों का संग्रह करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि 'कैनिडी' (Canidae)[१] वंश की कई

१. जिसके अन्तर्गत कुत्ते, बिल्लियाँ, बाघ, चीते, भेड़िये आदि हैं।

पृथक जातियाँ पालतू बनायी गयी हैं और कई उदाहरणों में उनका रक्त मिलजुल कर आज के कुत्तों की नस्लों की धमनियों में बह रहा है। बकरियों और भेड़ों के विषय में मैं किसी निश्चित नतीजे पर नहीं पहुँच सका हूँ। कूबड़ वाली भारतीय गाय की प्रकृति, आवाज़, संरचना आदि के विषय में मि० ब्लाइथ (Mr. Blyth) ने मुझको जो बातें लिखी हैं, उनके आधार पर मुझको यह निश्चित जान पड़ता है कि उनका विकास यूरोपीय नस्लों के पूर्वजों से नहीं हुआ है। कुछ योग्य निर्णायिकों के अनुसार स्वयं यूरोपीय पशुओं का विकास ही कम-से-कम दो-तीन अलग-अलग पूर्वजों से हुआ है—हालांकि यह नहीं कहा जा सकता कि ये पूर्वज अलग-अलग जातों के थे अथवा एक ही जात के। प्रोफेसर रूटिमेयर (Prof. Rutimeyer) के अद्‌भुत अनुसन्धानों के आधार पर यह निष्कर्ष उचित है तथा कूबड़ वाले और सामान्य पशुओं की जातों का पृथक होना भी अब पक्का समझा जा सकता है। हाँ, घोड़ों के संबंध में कुछ संदेह होने पर भी मैं यह समझता हूँ कि उनकी सभी नस्लें एक ही जात की हैं। मैं यहाँ अपने कारणों का उल्लेख नहीं कर सकता। मुर्गों की लगभग सभी अंग्रेज़ी नस्लों को पाल कर तथा उनके परस्पर संतानोत्पादन का अध्ययन करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वे सभी जंगली भारतीय मुर्गे गैलस बन्काइवा (Gallus bankiva) की संततियाँ हैं। श्री ब्लाइथ (Mr. Blyth) तथा उन अन्य वैज्ञानिकों का भी, जिन्होंने इस पक्षी का अध्ययन भारत जा कर किया है, यही निष्कर्ष है। बत्तखों तथा खरगोश के संबंध में भी, जिनकी कुछ नस्लें एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं, सभी प्रमाणों से यही स्पष्ट होता है कि उनकी सभी नस्लें सामान्य जंगली बत्तख तथा खरगोश की संततियाँ हैं।

कुछ लेखकों ने हमारी कई पालतू नस्लों के कई पृथक पूर्वजों से उत्पत्ति के सिद्धान्त को हास्यास्पद सीमा तक पहुँचा दिया है। वे समझते हैं कि चाहे किसी नस्ल के विशेष लक्षण कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों, यदि वे अपनी जैसी संतानें उत्पन्न करती हैं, तो उनके पूर्वज अलग और उनके जैसे ही थे। ऐसी दशा में केवल यूरोप में जंगली ढोरों और भेड़ों की कम-से-कम एक-एक कोड़ी जातें और बकरियों की कई जातें रही होंगी। वास्तव में केवल ग्रेट ब्रिटेन में इनकी कितनी ही जातें रहती रही होंगी। एक लेखक का विश्वास है कि ग्रेट ब्रिटेन में किसी समय भेड़ों की ग्यारह नस्लें पायी जाती थीं। जब हम यह सोचते हैं कि ब्रिटेन में इस समय स्तनधारियों (mammals) की अपनी एक भी विशेष नस्ल नहीं है और फ्रांस में जर्मनी से केवल कुछ ही भिन्न नस्लें पायी जाती हैं तथा यही अवस्था स्पेन, हंगरी आदि में है और साथ ही हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि इनमें से प्रत्येक देश में ढोरों, भेड़ों आदि की कई विशेष नस्लें हैं

तो हमको यह मानना पड़ता है कि यूरोप में कई पालतू नस्लों की उत्पत्ति हुई होगी। ऐसा न होता तो ये नस्लें आती कहाँ से? यही दशा भारत में भी है। हांलाकि मैं यह मानता हूँ कि पालतू कुत्तों की नस्लें कई जंगली जातों की संतानें हैं, फिर भी इसमें संदेह नहीं हो सकता कि संसार भर की कुत्तों की नस्लों में भी अनेक वंशागत परिवर्तन हुए हैं। नहीं तो कौन यह मानेगा कि इटैलियन ग्रेहाउन्ड, ब्लड हाउन्ड, बुल डॉग, पग डॉग या ब्लेन्हाइम स्पैनियल (जो सभी जंगली कैनिडी (Canidae) से इतनी भिन्न हैं) से मिलते-जुलते जानवर कभी भी प्राकृतिक अवस्था में पाये जाते थे? बहुधा बिना विचार किये यह कहा जाता है कि कुत्तों की आज की सारी नस्लें थोड़ी सी मूल जातों के परस्पर संतानोत्पादन से उत्पन्न हुई हैं। किन्तु संकरण (crossing) से केवल हम ऐसे ही रूप उत्पन्न कर सकते हैं जो कुछ हद तक माता-पिता के बीच के लक्षणों के होंगे। अतः यदि हम विभिन्न नस्लों की उत्पत्ति को इस आधार पर समझेंगे तो हमको प्रारम्भ में ही प्राकृतिक अवस्था में बड़े भिन्न रूपों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा जैसे इटैलियन ग्रेहाउन्ड, ब्लडहाउन्ड, बुलडाग आदि। इसके अलावा संकरण (crossing) के द्वारा नयी और स्पष्ट नस्लों की उत्पत्ति की बात बहुत ही बढ़ा कर कही जाती है। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनसे यह पता चलता है कि कभी-कभी ऐसे संकरण से नस्लों का आपरिवर्तन हो सकता है, विशेषकर यदि मनुष्य अपने मनचाहे लक्षणों के लिए निर्वाचन में इस क्रिया की सहायता लेता जाय। किन्तु इस क्रिया से किन्हीं दो स्पष्ट नस्लों के बीच की एक तीसरी स्पष्ट नस्ल उत्पन्न करना बहुत कठिन है। सर जे० सेब्राइट (Sir J. Sebright) ने ठीक इसी बात को ध्यान में रख कर अनेक प्रयोग किये किन्तु असफल रहे। दो शुद्ध नस्लों के प्रथम संकरण से पहले तो काफी एक समान संततियाँ उत्पन्न होती हैं और सारी बातें सरल जान पड़ती हैं (मैंने ऐसा कबूतरों के विषय में देखा है) किन्तु जब इन संततियों का एक दूसरे के साथ कई पीढ़ियों तक संकरण किया जाता है तो शायद ही कोई दो संतानें एक जैसी उत्पन्न होती हों और इस प्रकार इस प्रयास की कठिनाई बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाती है।

पालतू कबूतरों की नस्लें; उनके अन्तर तथा उनकी उत्पत्ति

मैंने काफी सोच-विचार के बाद इस विश्वास से पालतू कबूतरों को छाँटा है कि किसी विशेष वर्ग का अध्ययन ही अधिक उचित होता है। उनकी प्रत्येक ऐसी नस्ल जो मुझको मिल सकी, या जिसको मैं खरीद सका, मैंने रखा है और साथ ही संसार के विभिन्न भागों से मुझको कबूतरों की खालें प्राप्त हुईं, विशेषतः भारत से आनरेबल डब्लू० इलियट (Hon. W. Elliot) के द्वारा और पर्सिया से

आनरेबल सी० मरे (Hon. C. Murray) के द्वारा। कबूतरों पर विभिन्न भाषाओं में कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और उनमें से कुछ बहुत पुरानी होने के कारण अपना एक विशेष महत्व रखती हैं। मैंने कई कबूतरों के शौकीनों का साथ भी किया है और लंदन के दो कबूतर क्लबों (London Pigeon Clubs) का सदस्य भी रहा हूँ। कबूतरों की नस्लों की व्यापकता अद्‌भुत है। उदाहरण के लिए अंग्रेज़ी कैरियर (English Carrier) और छोटे चेहरे वाले 'टम्बलर' (Short-faced tumbler) की तुलना कीजिये। देखिए उनकी चोंचों और फलतः उनके शिर के कंकालों में कितना अन्तर है। वाहक या 'कैरियर' (carrier) कबूतर में, विशेषकर इसके नर में, एक दूसरी विचित्रता है। इसके शिर के चारों ओर के मांस में झुर्रियाँ होती हैं। इस लक्षण के साथ ही इसकी पलकें बहुत लंबी हो गयी हैं, नासिकाओं के छिद्र बहुत बड़े हो गये हैं और मुँह बहुत चौड़ा है। छोटे चेहरे वाले 'टम्बलर' की चोंच की रूपरेखा 'फिंच' (finch) की चोंच के समान है और साधारण टम्बलर बड़ी ऊँचाई पर झुंडों में उड़ते हैं और उड़ते-उड़ते हवा में ही कलाबाजी खा कर उलट जाते हैं। रन्ट कबूतर बहुत बड़ा होता है; इसकी चोंच बहुत बड़ी और पंजे चौड़े होते हैं। रन्ट की कुछ उपनस्लों की गर्दन बहुत लंबी होती है, कुछ के डैने और पूँछ बहुत बड़े और कुछ की पूँछ बहुत छोटी होती है। 'बार्ब' नस्ल 'कैरियर' के बहुत सन्निकट होती है मगर इसकी चोंच लंबी होने के बजाय बहुत छोटी और चौड़ी होती है। 'पाउटर' का शरीर, उसके डैने तथा उसकी टाँगें बहुत लंबी होती हैं; इसका अन्नगृह (crop) बहुत विकसित होता है और जब उड़ते समय वह इसको फुला लेता है तो देखने में बड़ा अजीब लगता है और हँसी आती है। 'टरबिट' की चोंच छोटी और नुकीली होती है और उसके सीने पर उलटे हुए परों की एक पंक्ति होती है; साथ ही यह बराबर अपनी ग्रासनली (oesophagus) के ऊपरी भाग को थोड़ा-सा फुलाता-सिकोड़ता रहता है। 'जैकोबिन' की गर्दन के पिछले भाग के पर ऐसे उल्टे रहते हैं कि एक कलँगी-सी बन जाती है और कदाचित इसके शरीर के अनुपात में इसके डैने तथा पूँछ के पर अधिक लंबे होते हैं। अपने नामों के अनुसार 'ट्रम्पेटर' तथा 'लाफ़र' अन्य नस्लों की अपेक्षा बहुत भिन्न प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। जहाँ कबतर वंश के अन्य सभी सदस्यों की पूँछ में केवल बारह या चौदह पर होते हैं, वहाँ 'फैनटेल' की पूँछ में तीस या कभी-कभी चालीस तक पर होते है। ये पर ऐसे फैले और ऊपर को उठे रहते हैं कि अच्छ कबूतरों में शिर पूँछ से छता रहता है। साथ ही इनमें तैलग्रंथि अनुपस्थित होती है। उनके अलावा कई दूसरी कम स्पष्ट नस्लों का उल्लेख किया जा सकता है।

कई नस्लों के कंकाल में हम देखते हैं कि उनके चेहरे की हड्डियों की लंबाई, चौड़ाई और झुकाव में बहुत अन्तर होता है। निचले जबड़े की हड्डी के आकार तथा उसकी लंबाई-चौड़ाई में महान अन्तर दिखाई पड़ता है। पुच्छ तथा पेड़ू की हड्डियों (candal and sacral vertebral) की संख्या में अन्तर होता है और इसी प्रकार पसलियों की संख्या उनकी आपेक्षिक चौड़ाई और उनके उभारों में अन्तर होते हैं। वक्ष की हड्डी, स्टरनम (sternum) के छिद्रों की संख्या और नाप बहुत ही परिवर्तन-शील होते हैं। फरकुला (furcula) हड्डी की नाप और उसके दो बाहुओं के बीच की दूरी भिन्न-भिन्न होती है। इनके अतिरिक्त संरचना से संबंध रखनेवाली अनेक बातों में काफी अंतर सम्भव है—जैसे मुँह की आपेक्षिक चौड़ाई, पलकों की आपेक्षिक लंबाई, नासाछिद्रों की चौड़ाई, जीभ (जिसकी नाप चोंच की लंबाई के अनुपात में नहीं होती) अन्नगृह (crop) और ग्रासनली के (oesophagus) ऊपरी भाग की नाप, तैलग्रंथि (oil gland) की अनुपस्थिति अथवा उसका विकास, पैर की अँगुलियों पर शल्कों (sentellae) की संख्या, पैर की अँगुलियों के बीच खाल का विकास, आदि, आदि। अंडों से निकलने के बाद किस अवस्था में बच्चों में रोम जैसे 'डाउन' (down feathers) पर निकलते हैं और किस अवस्था में प्रौढ़ में पूरे पंख निकलते हैं—यह भी भिन्न-भिन्न नस्लों में भिन्न होता है। अंडों के आकार और नाप परिवर्तनशील होते हैं। उनके घोंसले बनाने के ढंग और कुछ नस्लों में प्रकृति तथा ध्वनि भी काफी भिन्न होती हैं। अन्त में, कुछ नस्लों में नर और मादा एक-दूसरे से कुछ हद तक भिन्न होते हैं।

कुल मिलाकर कम-से-कम बीस ऐसे कबूतर छाँटे जा सकते हैं जिनको यदि किसी पक्षी-विशेषज्ञ को यह कहकर दिखाया जाय कि वे जंगली हैं तो निश्चय ही वे उनको निश्चित तथा स्पष्ट जाति-वर्गों का बताएँगे। मैं तो, यह भी विश्वास करता हूँ कि कोई पक्षी-विशेषज्ञ अंग्रेजी 'कैरियर' छोटे चेहरे वाले 'टम्बलर', 'रन्ट,' 'बार्ब', 'पाउटर' और 'फैन्टेल' को एक ही जाति के अन्तर्गत नहीं रखेगा, विशेषकर इसलिए कि इनमें से प्रत्येक नस्ल में कई वंशागत छोटी नस्लें होती हैं, जिनको वह जाति-वर्ग का स्थान दे सकेगा।

हालांकि कबूतरों की नस्लों में इतने बड़े अन्तर पाये जाते हैं फिर भी मैं उनकी उत्पत्ति के विषय में प्रकृतिवादियों के साधारण विचार से पूरी तरह सहमत हूँ कि सभी नस्लें चट्टानी जंगली कबूतर कोलम्बा लिविया (columba livia) से उत्पन्न हुई हैं, जिसके अन्तर्गत ऐसी कई उपजातें या भौगोलिक कुटुम्ब भी शामिल हैं जो एक-दूसरे से किसी अंश तक बहुत छोटे लक्षणों में भिन्न हैं। जिन कारणों से मैं इस निष्कर्ष पर

पहुँचा हूँ, कुछ हद तक कई अन्य उदाहरणों में भी लागू हैं, अतः मैं उनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख करूँगा। यदि वे विभिन्न नस्लें भेद नहीं हैं और उनकी उत्पत्ति जंगली कबूतरों से नहीं हुई है, तो कम-से-कम वे सात या आठ अलग-अलग पूर्वजों से वंशागत हुई होंगी, क्योंकि इस समय जितनी पालतू नस्लें हमारे यहाँ हैं, वे इससे कम पुरखों के संकरण से नहीं उत्पन्न हो सकतीं। उदाहरण के लिए यदि संकरण में भाग लेनेवाले पूर्वजों में से किसी एक में बड़ा भारी अन्नगृह (crop) नहीं था, तो भला, 'पाउटर' के समान नस्ल कैसे उत्पन्न हुई? इन नस्लों के काल्पनिक मूलपूर्वज अवश्य ही चट्टानी कबूतर रहे होंगे, अर्थात वे पेड़ों पर न तो बैठते रहे होंगे और न उन पर अंडे ही देते रहे होंगे। किन्तु कोलंबा लिविया तथा उसके भौगोलिक उपजातों को छोड़, कुछ दो-तीन ही प्रकार के ऐसे कबूतर होंगे, जो चट्टानी हैं और उनमें पालतू नस्लों के कोई भी लक्षण नहीं हैं। अतः या तो काल्पनिक आदिम जाति-वर्ग जहाँ मूल रूप से पाले गये थे वहाँ अब भी पाये जाने चाहिए—हालांकि उनको पक्षी-विशेषज्ञ नहीं जानते—और नहीं तो जंगली दशा में ही लुप्त हो गये होंगे। कबूतरों की नाप, प्रकृति और उनके विशेष गुणों को देखते हुए पहली बात बहुत ही कठिन जान पड़ती है। साथ ही पत्थरों पर अंडे देनेवाले तथा अच्छे उड़ाकू कबूतरों का लुप्त हो जाना भी बहुत संभव नहीं है; और फिर पालतू नस्लों से मिलती-जुलती प्रकृति वाले सामान्य चट्टानी कबूतर का नाश ब्रिटिश द्वीप-समूह के छोटे-छोटे द्वीपों पर भी नहीं हुआ और न ही भूमध्यसागर के तट पर ही उसका नाश हुआ। अतः चट्टानी कबूतर से मिलती-जुलती प्रकृति की अन्य कई नस्लों के नाश होने की बात भी बड़ी दूर की कल्पना ही लगती है। इसके अलावा ऊपर लिखी अनेक नस्लों के कबूतर संसार भर में पहुँचा दिये गये हैं और इस प्रकार पुनः अपने मूल देश में पहुँच गये होंगे। किन्तु इनमें से कोई नस्ल फिर जंगली नहीं हुई, हालांकि चट्टानी कबूतर से कुछ ही भिन्न 'डवकोट' कबूतर कई जगहों पर जंगली हो गया है। इसके अतिरिक्त सारा हाल का अनुभव यह बताता है कि पालतूपने की हालत में जंगली जन्तुओं के लिए बच्चे देना बहुत ही कठिन होता है; पर आज के कबूतरों के कई पूर्वजों से उत्पत्ति के सिद्धान्त पर यह मान लेना पड़ेगा कि कम-से-कम सात या आठ जातें पुरातन काल में अर्ध-सभ्य मनुष्य के द्वारा ऐसे ढंग से पाली गयी थीं कि परतंत्रता की हालत में उनमें खूब वृद्धि हुई।

एक महत्वपूर्ण दलील जो कई अन्य उदाहरणों में लागू हो सकती है यह है कि यद्यपि ऊपर दी हुई नस्लें साधारणतः चट्टानी कबूतर से शरीर की गठन, प्रकृति, ध्वनि, रंग और अंगों की संरचना में मिलती जुलती हैं, फिर भी अन्य अंगों के विषय में बहुत असाधारण हैं। पूरे कोलम्बिडी (columbidae) वंश में हमको अंग्रेजी 'कैरियर' जैसी चोंच नहीं

मिलेगी, और न ही छोटे चेहरे वाले 'टम्बलर' या 'बार्ब' जैसी। इसी तरह न 'जैकोबिन' जैसे उल्टे हुए पर, न 'पाउटर' जैसा अन्नगृह और न 'फैनटेल' जैसे पूँछ के पर मिलेंगे। अत: यह भी मानना पड़ेगा कि अर्धसभ्य मनुष्य ने न केवल कई जातों को पूरी तरह पालतू बनाने में सफलता पायी बल्कि अकस्मात या समझ-बूझकर उसने बहुत ही असाधारण जातें भी छाँटी थीं; और ये विशिष्ट जातें इस बीच में अज्ञात या लुप्त हो गयी हैं। इतनी विचित्र बातें इतनी बड़ी संख्या में भला कैसे संभव हो गयीं ?

कबूतरों के रंग के विषय में भी कुछ बातें विचार करने योग्य हैं। चट्टानी कबूतर स्लेटी-नीले रंग के होते हैं और उनकी कमर सफेद होती है, किन्तु इसकी भारतीय उपजात, स्ट्रिक्लैंड की कोलम्बा इन्टरमीडिया (C. intermedia) में यह भाग नीलापन लिये हुए है। पूँछ का अन्तिम भाग काला दंड-जैसा है और इसके बाहर की ओर के परों का किनारा नीचे की ओर सफेद होता है। डैनों में दो काली पट्टियाँ होती हैं। कुछ अर्ध पालतू नस्लों में तथा कुछ वास्तव में जंगली नस्लों में इन दो पट्टियों के अलावा डैनों पर काले धब्बे भी होते हैं। इस तरह के चिन्ह पूरे वंश में साथ-साथ किसी और नस्ल में नहीं पाये जाते। पर प्रत्येक पालतू नस्ल में—यदि हम अच्छी नस्लों को देखें—ये सभी चिन्ह बहुधा पूर्ण विकसित रूप में मिलते हैं, यहाँ तक कि पूँछ के परों में बाहरी किनारे पर सफेद धारी भी होती है। और जब दो या अधिक ऐसी नस्लों के कबूतरों का संकरण करवाया जाता है, जिसमें कोई भी नीली या ऐसे धब्बों वाली नहीं होती तो बहुधा उनकी संतानों में ये रंग प्रकट हो जाते हैं। मैंने जिन अनेक उदाहरणों को स्वयं देखा है, उनमें से एक यहाँ देता हूँ। मैंने कुछ सफेद 'फैनटेल' का 'काले बार्ब' से संकरण करवाया। ध्यान रहे कि सफेद फैनटेल अच्छी नस्ल है और अपनी जैसी संतानें उत्पन्न करती है तथा नीले बार्ब इतने विरले होते हैं कि इंगलैंड में मैंने उनका एक भी उदाहरण नहीं सुना। जो बच्चे निकले, उनमें काले, भूरे और चितकबरे थे। फिर मैंने एक बार्ब का, जिसमें एक धब्बा था, एक ऐसे सफेद कबूतर से संकरण करवाया, जिसकी पूँछ लाल थी और माथे पर एक लाल धब्बा था और जो सदा अपने जैसी संतानें उत्पन्न करता था। संतानें कुछ काली और चितकबरी हुईं। फिर मैंने एक बार्ब-फैनटेल प्रसंकर का धब्बेदार बार्ब वाले प्रसंकर से संकरण करवाया। फलस्वरूप एक कबूतर उत्पन्न हुआ जो जंगली चट्टानी कबूतर की भाँति सुन्दर नीले रंग का था, जिसकी कमर सफेद डैनों में दोहरी काली पट्टी और पट्टीदार तथा सफेद किनारों वाले पूँछ के पर थे। इन बातों को हम पूर्वजों के लक्षणों की ओर विपर्ययण (reversion to ancestral characters) के सिद्धान्त के सहारे भली भाँति समझ सकते हैं, अगर हम यह मान लें कि सभी नस्लों की वंशागति चट्टानी कबूतर से हुई है। किन्तु यदि हम इस बात को न मानें तो

हमको एक-दो बड़ी ही असम्भाव्य कल्पनाओं का सहारा लेना होगा। या तो यह कि हालांकि चट्टानी कबूतर के अलावा किसी अन्य नस्ल का रंग उनके समान नहीं है फिर भी सभी अधिमूल काल्पनिक पूर्वज चट्टानी कबूतर के समान रंग और चिन्ह वाले थे। जिससे सभी नस्लों में उसी रंग तथा चिन्ह में प्रति व्यतिक्रम करने की ओर झुकाव होता है। ऐसा नहीं तो प्रत्येक नस्ल—चाहे वह नस्ल कितनी ही शुद्ध क्यों न हो—पिछले एक दर्जन या अधिक-से-अधिक पीढ़ियों में चट्टानी कबूतर से संकरण कर चुकी है। मैं एक दर्जन या बीस पीढ़ियाँ इसलिए कहता हूँ कि इससे अधिक पीढ़ियाँ होने पर कोई भी प्राणी भिन्न प्रकार के पूर्वज की ओर व्यतिक्रम नहीं करता। जो नस्ल केवल एक ही बार संकरण कर चुकी हो, इस प्रकार के संकरण के फलस्वरूप उत्पन्न हुए लक्षणों की ओर उलटने की प्रवृत्ति क्रमशः कम ही होती जायगी क्योंकि पीढ़ियों के बढ़ने के साथ ही धीरे-धीरे बाहरी रक्त भी कम होता जायगा। पर जब संकरण नहीं हुआ होगा और नस्ल की प्रवृत्ति ऐसे किसी लक्षण की ओर पलटने की है, जो पिछली पीढ़ियों में लुप्त हो चुका है, तो चाहे हमारा अवलोकन कुछ भी क्यों न हो, यह प्रवृत्ति बिना किसी तरह की कमी के असंख्य पीढ़ियों में उपस्थित रहेगी। बहुधा इन दो तरह के व्यतिक्रमों को वंशागति के लेखकों ने मिला-जुला दिया है।

अंत में जैसा मैंने अपने कुछ बहुत स्पष्ट नस्लों पर जानबूझकर किये गये अवलोकनों में देखा है, सभी नस्लों के प्रसंकर बराबर उर्वर होते हैं। पर जानवरों की किन्हीं दो जातों के प्रसंकरों के विषय में एक भी ऐसा पक्का उदाहरण नहीं दिया जा सकता जिसमें प्रसंकर को पूर्णतया उर्वर कहा जा सके। कुछ लेखकों का विश्वास है कि बहुत लंबे अरसे तक पालतूपने की दशा में वन्ध्यता की ओर झुकाव का नाश हो जाता है। कुत्तों तथा कुछ अन्य पालतू जानवरों का इतिहास देखने पर निकट संबंधी जानवरों के संबंध में यह निष्कर्ष सही जान पड़ता है। किन्तु इस नियम को इतना विस्तृत करना कि 'कैरियर', 'टम्बलर', 'पाउटर' आदि जैसी मूल जातें भी पूरी तरह से उर्वर संतानें उत्पन्न करेंगी, इसको बहुत दूर तक खींचना होगा।

इन विभिन्न कारणों से अर्थात —इस बात की असंभाव्यता कि मनुष्य ने पालतू दशा में कबूतरों की सात-आठ काल्पनिक जातों को स्वतन्त्रता से प्रजनन करवाया; ये काल्पनिक जातें जंगली दशा में अज्ञात हैं अथवा वे जंगली नहीं हुईं; चट्टानी कबूतर के बहुत समान होने पर भी अन्य कोलम्बिडी की अपेक्षा इन जातों का कुछ लक्षणों में बहुत असाधारण होना ; कभी-कभी नस्ल के शुद्ध रखने तथा संकरण करने अर्थात दोनों ही हालतों में नीले रंग और उस पर काले धब्बों का हर नस्ल में प्रकट होना; और अंत में प्रसंकर संतानों का पूर्णतया उर्वर होना—इन बातों के आधार पर यह स्पष्ट

निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबूतरों की सभी पालतू नस्लें चट्टानी कबूतर **कोलंबा लिविया** (Columba livia) और उसकी भौगोलिक उपजातों से उत्पन्न हुई हैं।

इस मत के समर्थन में पहले तो मैं यह कह सकता हूँ कि यूरोप तथा भारतवर्ष दोनों में ही जंगली **कोलम्बा लिविया** को आसानी से पाला जा सकता है। फिर प्रकृति तथा रचना संबंधी कई बातों में यह सभी घरेलू नस्लों के समान हैं। दूसरे, हालांकि अंग्रेजी 'कैरियर' या छोटे चेहरेवाला 'टम्बलर' कुछ लक्षणों में चट्टानी कबूतरों से बहुत अधिक भिन्न है फिर भी यदि हम इन नस्लों की अनेक उपनस्लों की (विशेषतया दूर देशों से लायी गयी नस्लों की) तुलना एक दूसरे से तथा चट्टानी कबूतर से करें तो हम देखेंगे कि इनको हम एक क्रम में व्यवस्थित कर सकते हैं। सब नस्लों के लिए तो यह सम्भव नहीं है पर कई एक के साथ है। तीसरे जो लक्षण भी किसी विशेष नस्ल के लिए लक्षणात्मक या स्पष्टकारी हैं, वे साथ ही बड़े परिवर्तनशील भी हैं; उदाहरण के लिए 'कैरियर' की चोंच की बनावट और लंबाई; 'टम्बलर' का छोटापन और 'फैनटेल' के पूँछ के परों की संख्या। इस बात के कारण का स्पष्टीकरण तब हो जायगा जब हम निर्वाचन के विषय में पढ़ेंगे। चौथे, कबूतरों को बहुत से लोग प्यार करते हैं और इनकी सेवा-सुश्रूषा बड़ी सावधानी से की गयी है। संसार के कई भागों में ये हजारों वर्ष से पाले जा रहे हैं। प्रोफेसर लेप्सियस (Prof. Lepsius) के अनुसार इनके विषय का सब से पुराना प्रमाण मिस्र के पाँचवें वंश के समय का अर्थात लगभग ३००० ई० पू० का है। मि० बर्च (Mr. Birch) ने मुझको बताया है कि कबूतरों का इससे भी प्राचीन उल्लेख इस वंश के पहले राज्य करने वाले वंश के भोजन के संबंध में मिलता है। प्लिनी (Pliny) के अनुसार रोमनकाल में इनका बड़ा ऊँचा दाम लगाया जाता था और यही नहीं 'ऐसी अवस्था आ गयी थी कि इनके वंश का भी ठीक-ठीक पता रहता था।' भारतवर्ष में लगभग १६०० ई० में अकबर खाँ* इनकी बड़ी कद्र करता था। और उसके पास कभी २०,००० से कम कबूतर नहीं रहते थे। राज्य के इतिहास-लेखक का कहना है कि 'ईरान तथा तूरान के बादशाहों ने इसके पास बड़े विरले पक्षी भेजे थे' और 'बादशाह ने इनके संकरण द्वारा—जो रीति इसके पहले कभी नहीं लागू की गई थी—उनमें बड़ी उन्नति की।' लगभग इसी काल में डच लोग कबूतरों के उतने ही शौकीन थे जितने कि प्राचीन रोमन। कबूतरों के अनेकानेक भेदों की व्याख्या

***संभवतः डार्विन का तात्पर्य मुगल बादशाह अकबर से था। अनु०**

करने में इन बातों का महत्व भी तब स्पष्ट होगा जब हम निर्वाचन का अध्ययन करेंगे। तभी हम लोग यह भी देखेंगे कि कई नस्लों में बहुधा विचित्र और विकृत लक्षण (monstrous) प्रकट हो जाते हैं। स्पष्ट भेदों की उत्पत्ति के संबंध में यह परिस्थिति भी बड़ी अनुकूल है कि नर तथा मादा आजीवन आसानी से मैथुन करते रहें और इसलिए भिन्न-भिन्न नस्लें आसानी से एक ही पिंजड़े में रखी जा सकती हैं।

मैंने पालतू कबूतरों की उत्पत्ति के प्रश्न पर कुछ विस्तार में विचार किया है, हालांकि फिर भी यह अपर्याप्त है। ऐसा मैंने इसलिए किया है कि यह भली प्रकार जानते हुए कि कबूतरों की भिन्न-भिन्न नस्लें अपनी जैसी संतानें उत्पन्न करतीं हैं, जब मैंने उनकी अनेक नस्लों को पाला तब मुझको यह विश्वास करने में कि सभी नस्लें एक ही पूर्वज से उत्पन्न हुई हैं उतनी ही कठिनाई मालूम होती थी जितनी किसी भी प्रकृतिवादी को यह विश्वास करने में होगी कि 'फिन्च' या पक्षियों के किसी अन्य समूह की सभी नस्लें एक ही पूर्वज की संतानें हैं। मैं एक परिस्थिति से विशेष रूप से प्रभावित हुआ हूँ; वह यह कि लगभग सभी पालतू जानवरों को पालने वाले या पौधों को लगाने वाले यह विश्वास करते हैं कि जिन नस्लों से उसने संबंध रखा है वे अनेक स्पष्ट जातों से वंशागत हुई हैं। किसी हियरफोर्ड (Hereford) के रखनेवाले से पूछिए कि इस नस्ल की उत्पत्ति लांग-हार्न (Long-horn) से अथवा, दोनों की उत्पत्ति एक सामान्य पूर्वज से तो नहीं हुई, और वह आपकी 'अज्ञानता' पर हँस देगा। मैं कबूतर, मुर्गी, बत्तख या खरगोश के किसी ऐसे शौकीन से नहीं मिला जिसको इस बात का विश्वास न हो कि प्रत्येक मुख्य नस्ल एक अलग जात से उत्पन्न हुई है। नाशपाती और सेव पर लिखी अपनी पुस्तक में वान मान्स (Van Mons) ने यह दिखाया है कि वह इस पर जरा भी विश्वास नहीं करता कि इनकी भिन्न-भिन्न किस्में, उदाहरण के लिए रिब्सटन-पिपिन (Ribston-pippin) तथा काडलिन सेव (Codlin apple) एक ही बीज से पैदा हुए होंगे। मेरे विचार में इसका कारण स्पष्ट है : लम्बे अध्ययन के बाद ये लोग भिन्न-भिन्न किस्मों की भिन्नता से बहुत प्रभावित हैं और हालांकि वे यह जानते हैं कि सभी नस्लों में काफी अन्तर संभव है (वे इन्हीं अन्तरों को छाँटकर इनाम पा जाते हैं) फिर भी वे इस विश्वास के विरुद्ध साधारण दलीलों को अनसुनी कर देते हैं और अनेक पीढ़ियों में जमा हुए अनेक सूक्ष्म परिवर्तनों को जोड़कर अनुमान लगाने का कष्ट नहीं कर सकते। ऐसी दशा में क्या यह संभव नहीं कि, जो वंशागति के नियमों को जानवरों के पालने वालों से भी कम जानते हैं और वंशागति के लंबे इतिहास में बीच के रूपों के संबंध में जिनकी जानकारी इतनी कम है, यह मान लें कि हमारी कई पालतू नस्लें समान पूर्वजों से वंशागत हैं, और जब वे इस विचार पर ताने मारते हैं कि प्राकृतिक

अवस्था में कुछ जातें दूसरी जातों की संततियाँ हैं तब कुछ सावधानी का व्यवहार करें?

पुरातन काल से माने गये निर्वाचन के सिद्धान्त तथा उनके प्रभाव

आइये अब हम संक्षेप में देखें कि किन अवस्थाओं से, एक या कई मिलती-जुलती जातों से, पालतू नस्लों की उत्पत्ति हुई है। कुछ प्रभावों को तो जीवन की परिस्थितियों की प्रत्यक्ष तथा निश्चयात्मक क्रियाओं का फल ही समझा जा सकता है, और कुछ उनके स्वभाव का फल। किन्तु यह कहने के लिए बड़ी हिम्मत चाहिए कि ठेला खींचने तथा घुड़दौड़ के घोड़ों के बीच के अन्तर या ग्रेहाउन्ड तथा ब्लडहाउन्ड के अन्तर या कैरियर और टम्बलर कबूतरों के बीच के अन्तर केवल इन्हीं बातों के कारण हैं। एक बहुत ही अद्भुत बात, जो हम अपने पालतू प्राणियों में देखते हैं, वह यह है कि वे अपनी ही भलाई के लिए अनुकूलित नहीं हैं बल्कि हमारी भलाई या शौक के लिए भी। इसके लिए कुछ उपयोगी परिवर्तन संभवतः एकाएक या एक ही पग में उत्पन्न हो गये। उदाहरण के लिए कई वनस्पति-शास्त्री यह विश्वास करते हैं कि धोबियों का टीज़ेल (teasel) जो अपने काँटों के कारण अद्वितीय है और जिसका मुकाबिला कोई मानव-निर्मित यंत्र भी नहीं कर सकता, जंगली डिप्सैकस (Dipsacus) का एक भेद मात्र है और संभव है कि यह परिवर्तन एक ही बीजांकुर में एकाएक उत्पन्न हो गया हो। कदाचित यही बात टर्नस्पिट कुत्ते (turnspit dog) के साथ भी हुई और ऐन्कन भेड़ (ancon sheep) के उदाहरण में तो यह हुआ ही है। मगर जब हम गाड़ी खींचनेवाले तथा घुड़दौड़ के घोड़ों या कूबड़वाले तथा साधारण ऊँटों या खेतों तथा पहाड़ों पर उपलब्ध खुराक के लिए उपयुक्त भेड़ों की तुलना करते हैं, जिनमें से एक का ऊन एक विशेष कार्य के लिए और दूसरी का दूसरे कार्य के लिए उपयुक्त हो, या इसी प्रकार जब हम कुत्तों की विभिन्न नस्लों की परस्पर तुलना करते हैं, जिनमें से प्रत्येक मनुष्य के लिए किसी विशेष प्रकार से उपयोगी है या शिकार वाले मुर्गे की तुलना दूसरी नस्लों से करते हैं, जब कि पहला इतना लड़ाकू और बाकी ऐसे कम झगड़ालू होते हैं, या 'निरन्तर स्तरी' (everlasting layers) से जो कभी बैठना नहीं चाहता या बैन्टम से जो इतना छोटा और सुन्दर लगता है, अथवा जब हम पौधों की कृषि, पाकशाला, उद्यान या सजावट संबंधी नस्लों की एक दूसरे से तुलना करते हैं जो मनुष्य के लिए अलग-अलग मौसमों में अलग-अलग तरह से उपयोगी हैं या उसकी दृष्टि में इतने सुन्दर हैं, तो मैं समझता हूँ कि हमको इनके बीच केवल परिवर्तनशीलता ही नहीं, बल्कि कुछ और भी गुण देखना चाहिए। हम यह कल्पना नहीं कर सकते

कि सभी नस्लें एकाएक ही ऐसी पूर्ण अवस्था में और ऐसी उपयोगी उत्पन्न हुई थीं। वास्तव में कई उदाहरणों में तो हम निश्चयपूर्वक यह जानते हैं कि उनका इतिहास ऐसा नहीं था। इनकी उत्पत्ति की कुंजी मनुष्य के एकत्रित निर्वाचन की शक्ति है। प्रकृति बराबर परिवर्तन उत्पन्न करती है; मनुष्य उनको एक विशिष्ट और उपयोगी दिशा में एकत्रित करता जाता है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य ने अपने लिए उपयोगी नस्लें बनायी हैं।

निर्वाचन के नियम की यह बड़ी शक्ति केवल परिकल्पित नहीं है। यह निश्चित है कि कई योग्य जानवरों के पालकों (breeders) ने अपने ही जीवनकाल में काफी हद तक अपने पशुओं और भेड़ों की नस्लों में आपरिवर्तन किया है। पूरी तरह यह समझने के लिए कि उन्होंने क्या किया है यह लगभग आवश्यक है कि उनकी इस विषय पर लिखी अनेक पोथियों में से कुछ पढ़ी जायँ और उनके जानवरों का परीक्षण किया जाय। स्वभावतः ये पालने वाले जब जानवरों की गठन की चर्चा करते हैं तो उनको परिवर्तनशील बताते हैं, जिसमें वे उनको जिस तरह चाहें बना सकें। यदि मेरे पास स्थान होता तो कई सुयोग्य और अधिकारी लेखकों की पुस्तकों के इस विषय पर कई भागों को उद्धृत करता। युवट (Youatt) ने, जिसको कदाचित कृषकों की पुस्तकों से किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक जानकारी थी और जो स्वयं जानवरों के संबंध में अच्छा पारखी था, निर्वाचन के सिद्धान्त के विषय में इस प्रकार लिखता है: वह सिद्धान्त "जो कृषकों को न केवल अपने ढोरों के लक्षणों को आपरिवर्तित करने की योग्यता देता है, बल्कि उनको पूरी तरह बदल देने की क्षमता भी प्रदान करता है। यह जादूगर का डंडा है, जिसकी सहायता से वह जो रूप और ढाँचा चाहे जीवों के जीवन में ला सकता है।" यह बताते हुए कि गड़रियों ने भेड़ों के संबंध में क्या किया है, लार्ड समरविल (Lord Somerville) कहते हैं—"ऐसा लगता है कि जैसे उन्होंने पहले दीवार पर अपने में पूर्ण एक आकृति बनायी हो और तब उसको जीवन प्रदान कर दिया हो।" सैक्सोनी में मेरिनो भेड़ों के विषय में निर्वाचन के नियम को इतना महत्व दिया जाता है कि लोगों का यह व्यापार हो गया है। भेड़ें एक मेज पर रखी जाती हैं और उनका इस तरह अध्ययन किया जाता है जैसे कोई शौकीन किसी चित्र का अध्ययन करता है। कुछ महीनों के अन्तर पर यह तीन बार किया जाता है और प्रत्येक बार भेड़ों का वर्गीकरण किया जाता है और उन पर चिन्ह लगाये जाते हैं, जिसमें सन्तानोत्पत्ति के लिए केवल सबसे अच्छी भेड़ें ही छाँटी जायँ।

वास्तव में अंग्रेजी जानवर पालन करने वालों ने जो कुछ किया उसका प्रमाण यह है कि अच्छी वंशावलि वाले जानवरों के बहुत ऊँचे दाम मिलते हैं और वे संसार

के लगभग सभी भागों में निर्यात किये जा चुके हैं। यह उन्नति किसी प्रकार भी केवल भिन्न-भिन्न नस्लों के संकरण से नहीं होती। सभी अच्छे पालक इस तरीके के बहुत विरुद्ध हैं। हाँ, बहुत निकट संबंधित उपनस्लों के मामले में इस रीति को व्यवहार में लाया जा सकता है। जब संकरण किया जाता है तब यह आवश्यक है कि साधारण अवस्थाओं से अधिक ध्यान से उनकी छँटाई की जाय। यदि निर्वाचन क्रिया में केवल कुछ बहुत स्पष्ट भेदों को अलग करके उनका जनन कराया जाता है तो उसके सिद्धान्त में कोई विशेषता नहीं है। पर इसका महत्व इस बात में है कि इसके द्वारा कई पीढ़ियों तक एक दिशा में होने वाले अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर एकत्रित हो जाते हैं। कभी-कभी तो ये अन्तर इतने सूक्ष्म होते हैं कि अनभयस्त आँख उनको देख भी नहीं सकती। मैं स्वयं इन परिवर्तनों को नहीं देख पाया हूँ। हज़ार में एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं होता जिसमें दृष्टि की ऐसी परिशुद्धता और ऐसी परख होती है कि वह सुयोग्य पालक हो सके। यदि किसी में ये गुण हैं, वह विषय का अध्ययन वर्षों तक करता है और अपना पूरा जीवन इसमें लगा देता है तो वह सफल होगा और बहुत उन्नति करेगा; यदि उसको इन गुणों की आवश्यकता है तो निश्चय ही वह असफल होगा। कम ही लोग यह विश्वास करेंगे कि कबूतरों का योग्य पालक होने के लिए भी प्राकृतिक इतिहास की योग्यता और वर्षों के अभ्यास की आवश्यकता होगी।

यही सिद्धान्त उद्यानविद्या के पंडित भी व्यवहार में लाते हैं; किन्तु यहाँ परिवर्तन बहुधा अधिक एकाएक होते हैं। यह कोई नहीं मानता कि हमारे बढ़िया उत्पादन मूलपूर्वज से एक ही परिवर्तन होने के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। हमारे पास इस बांत के प्रमाण हैं कि कई ऐसे उदाहरणों में, जिनके उल्लेख सुरक्षित हैं, ऐसा नहीं हुआ है। इस तरह का एक बहुत ही छोटा उदाहरण साधारण गूज़बेरी ((goose berry) है, जिसकी नाप निरन्तर बढ़ती जा रही है। जब हम आजकल के फूलों की तुलना बीस या तीस वर्ष पहले बने फूलों के चित्रों से करते हैं तो हमको कई सजावट वाले फूलों में अद्भुत उन्नति दिखाई पड़ती है। जब पौधों की एक नस्ल पूरी तरह जम जाती है तब बीजों का क्रय करने वाले सबसे अच्छे पौधों को नहीं छाँटते बल्कि क्यारियों से वे केवल उन रद्दी पौधों को निकाल फेंकते हैं जो एक निश्चित स्तर से गिर जाते हैं। इसी तरह का निर्वाचन जानवरों के विषय में भी व्यवहार में लाया जाता है। कोई भी व्यक्ति इतना असावधान नहीं होगा कि वह अपने खराब जानवरों की संतति बढ़ाए।

पौधों में निर्वाचन के संग्रहीत प्रभावों को देखने का एक और भी ढंग है और वह यह कि फूल के बागों में एक ही जात के फूलों के भेदों में परिवर्तनों की तुलना की जाय।

इसी प्रकार सब्जी के बागों में उन्हीं भेदों में फूलों की अपेक्षा पौधों की पत्तियों, फलों, कंदों या जिन भागों का महत्व हो उनके परिवर्तन देखे जायँ या फिर उन्हीं भेदों में पत्तियों और फूलों के परिवर्तनों की तुलना फलों के बाग़ में फलों के परिवर्तनों से की जाय। देखिये पातगोभी की पत्तियों में कितने परिवर्तन होते हैं और इसी प्रकार इनके फूल कितने भिन्न होते हैं। हार्टसूईज (heartsease) के फूल या उसकी पत्तियाँ कितनी भिन्न होती हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के गूज़बेरी के फल नाप, रंग, आकार और रोमयुक्तता में कितने भिन्न होते हैं फिर भी उनके फूलों में कितना कम अन्तर होता है। यह नहीं कि जो भेद एक दूसरे से किसी एक बात में बहुत भिन्न होते हैं वे दूसरे में भिन्न नहीं होते। मैं पर्याप्त अवलोकन के बाद कहता हूँ कि ऐसा शायद ही कभी होता हो, बल्कि कभी नहीं होता। परस्पर संबंधित अंतरों के नियम के अनुसार जिसके महत्व की कमी नहीं की जा सकती, कुछ अन्तर तो होंगे ही। किन्तु साधारणतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूक्ष्म परिवर्तनों के निरन्तर निर्वाचन के द्वारा चाहे वे पत्ती, फल या फूल में हों—ऐसे वंश बन जायेंगे जो एक दूसरे से केवल इन्हीं लक्षणों में भिन्न होंगे।

यह एतराज किया जा सकता है निर्वाचन का सिद्धान्त नियमित रूप से व्यवहार में पिछले तीन चौथाई शताब्दी में ही लाया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछले कुछ वर्षों में इस पर अधिक ध्यान दिया गया है और इस विषय पर कई पोथियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं और इसके हिसाब से इसका फल भी महत्वपूर्ण और शीघ्र मिला। पर यह कहना सच नहीं कि यह सिद्धान्त वर्तमान आविष्कार है। मैं कई बहुत पुरानी पुस्तकों का व्यौरा दे सकता हूँ, जिनमें इस सिद्धान्त का पूरा महत्व स्वीकार किया गया है। अंग्रेजी इतिहास के असभ्य तथा क्रूर काल में बहुधा अच्छे जानवरों का आयात होता था और उनके निर्यात को रोकने के लिए कानून बने थे। विशेष नाप से छोटे घोड़ों के नाश की आज्ञा हो गयी थी, जिसकी तुलना रद्दी पौधों के नाश से की जा सकती है। मुझको एक प्राचीन चीनी एनसाइक्लोपीडिया में निर्वाचन का सिद्धान्त स्पष्ट लिखा मिलता है। कुछ रोमन शास्त्रीय लेखकों ने इस विषय पर नियमों का उल्लेख किया है। जेनेसिस (Genesis) के कुछ अंशों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस प्राचीन समय में भी पालतू जानवरों के रंग पर विशेष ध्यान दिया जाता था। आजकल भी असभ्य लोग कभी-कभी अपने कुत्तों की नस्ल सुधार करने के लिए उनका संकरण जंगली 'कैनाइन' जानवरों से करवाते हैं और जैसा प्लिनी (Pliny) के लेखों से पता चलता है, पहले भी वे ऐसा करते थे। दक्षिणी अफ्रीका के आदिमनिवासी अपने बोझ ढोने वाले पशुओं का मेल रंग के आधार पर करते हैं और इसी प्रकार एस्किमो लोग अपने कुत्तों की टोली बनाते हैं। लिविंगस्टोन के

अनुसार अफ्रीका के भीतरी भागों के नीग्रो, जिनका यूरोपियनों से सम्पर्क नहीं हुआ है, अच्छी पालतू नस्लों को महत्वपूर्ण समझते हैं। इनमें से कुछ बातों से वास्तव में निर्वाचन स्पष्ट नहीं होता, पर इनसे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय में भी पालतू जानवरों के पालन पर ध्यान दिया जाता था और उस समय अत्यधिक असभ्य लोगों द्वारा भी इस पर ध्यान दिया जाता था। वास्तव में अगर पालन पर ध्यान न दिया जाता तो आश्चर्य की बात होती क्योंकि अच्छे और बुरे गुणों की वंशागति की बात इतनी स्पष्ट है।

अनजाने में निर्वाचन

वर्तमान समय में सुयोग्य पालक किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर ऐसी कोई नई उपनस्ल या किस्म तैयार करने के लिए, जो देश में पायी जाने वाली किस्मों से अच्छी हो, नियमानुसार निर्वाचन करते हैं। किन्तु हमारे मतलब के लिए निर्वाचन का एक ऐसा रूप अधिक महत्वपूर्ण है, जो किसी भी ऐसे पालक के द्वारा होता है जो जानवरों को पालता है और उनमें से सबसे अच्छों का जनन कराता है और जिसको हम अनजाने में निर्वाचन (unconscious selection) कह सकते हैं। इस प्रकार जो मनुष्य शिकारी कुत्ते रखना चाहता है वह स्वभावत: अच्छे-से-अच्छे कुत्ते लेता है और अपने कुत्तों में से सबसे अच्छों के ही बच्चे पैदा कराता और उनको पालता है पर न तो वह यह चाहता ही है और न उसको इस बात की आशा होती है कि वह स्थायी रूप से नस्ल को ही बदल देगा। फिर भी हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि यह ढंग शताब्दियों तक चलता रहेगा तो कोई भी नस्ल उसी प्रकार आपरिवर्तित होगी और सुधरेगी जैसे इस रीति के अधिक नियमानुसार व्यवहार में लाने पर बेकवेल (Bakewell), कालिन्स (Collins) आदि ने अपने जीवनकाल में ही चौपायों के लक्षणों, रूप आदि में बहुत आपरिवर्तन कर दिखाया। वास्तव में इस तरह के धीमे और सूक्ष्म परिवर्तनों को कोई भी तब तक नहीं पहिचान सकता, जब तक बहुत समय पहले नस्लों की वास्तविक नापजोख न करली गयी हो और उनके चित्र न बना लिये गये हों जिनके साथ वर्तमान जीवों की तुलना की जा सके। इस बात के काफी प्रमाण हैं कि महाराजा चार्ल्स के स्पैनियल में इस कालान्तर में बिना जाने ही काफी आपरिवर्तन हो गये हैं। कई योग्य अधिकारियों का यह विश्वास है 'सेटर' (setter) प्रत्यक्ष रूप से 'स्पैनियल' (spaniel) के धीरे-धीरे परिवर्तित होने से उत्पन्न हुआ है। यह ज्ञात है कि अंग्रेजी शिकारी कुत्ता 'प्वाइंटर' (pointer) पिछली शताब्दी में बहुत बदल गया है। ऐसा विश्वास है कि इस उदाहरण में परिवर्तन

अधिकांशतः फाक्सहाउन्ड (foxhound) के साथ संकरण होने के कारण हुआ है। मगर हमारे मतलब की बात तो यह है कि परिवर्तन धीरे-धीरे और अनजाने में होते हुए भी इतने अधिक हुए हैं कि हालांकि मौलिक स्पेनी प्वाइंटर निश्चय ही स्पेन से आया था, श्री बारो (Mr. Borrow) के अनुसार उन्होंने हमारे प्वाइंटर जैसा कोई कुत्ता स्पेन में नहीं देखा।

इसी के समान निर्वाचन की क्रिया तथा अच्छी शिक्षा के द्वारा अंग्रेजी घुड़दौड़ के घोड़े तेज़ी और नाप में अपने जनक अरब के घोड़ों से बहुत अच्छे हो गये हैं और गुडवुड दौड़ (Goodwood Races) के नियमों के अनुसार अरबी घोड़े बोझ ढोने के लिए अधिक अच्छे हैं। लार्ड स्पेन्सर (Lord Spencer) तथा अन्य लेखकों ने यह दिखाया है कि इंगलैण्ड के आजकल के ढोर पुराने ढोरों की अपेक्षा वज़न और शीघ्र प्रौढ़ता प्राप्त करने में कितने आगे बढ़ गये हैं। यदि हम ब्रिटेन, भारत और पर्शिया के 'कैरियर' तथा 'टम्बलर' कबूतरों के पुराने उल्लेखों को पढ़ें और उनकी तुलना आजकल के कबूतरों से करें तो हम उन क्रमिक अवस्थाओं का अनुमान लगा सकते हैं, जिनके द्वारा ये गुजरे हैं और अब चट्टानी कबूतरों से इतने भिन्न हो गये हैं।

युवट (Youatt) ने निर्वाचन की अवस्थाओं का एक सुन्दर उदाहरण दिया है। चूँकि इस उदाहरण में जो अन्तिम फल हुए (अर्थात दो भिन्न किस्मों की उत्पत्ति) उनकी न तो इच्छा की जा सकती थी और न आशा, इसलिए इसको अज्ञान (unc onscious) कहा जा सकता है। युवट के अनुसार श्री बक्ले (Mr. Buckley) और श्री बरगेस (Mr. Burgess) ने लेसटर भेड़ों के दो समूह रखे थे "जो ५० वर्षों से अधिक अवधि से श्री बेकवेल (Mr. Bakewell) की मूल भेड़ों की शुद्ध संतति थी। जो कोई भी इस विषय से परिचित है, उसको इस बात का कोई भी संदेह नहीं हो सकता कि इन समूहों में से किसी एक के मालिक ने एक जानवर के शुद्ध रक्त में कोई परिवर्तन नहीं होने दिया है, फिर भी इन दो व्यक्तियों की भेड़ों में इतना अधिक अन्तर है कि दो समूह दो भिन्न भेद जान पड़ते हैं।

यदि ऐसे भी कुछ असभ्य आदिमनिवासी अभी हैं, जो अपने पालतू जानवरों के वंशागत लक्षणों का कभी विचार नहीं करते, फिर भी यदि उनका कोई विशेष उपयोगी जानवर है जिसकी वे अकाल आदि भयंकर परिस्थितियों में रक्षा करते हैं, तो इस तरह के उपयोगी और अच्छे जानवर की संतानें कम अच्छे जानवरों की संतानों की अपेक्षा बहुत अधिक होंगी। और इस तरह एक तरह का अज्ञात निर्वाचन होता जायगा। टियरा डेल फ्युगो (Tierra Del Fuego) के जंगली निवासियों में जानवर कितने मूल्यवान समझे जाते हैं, यह इस बात से मालूम पड़ता है कि भोजन की

कमी पड़ने पर वे अपनी बूढ़ी औरतों को मारकर खा जाते हैं पर कुत्तों को बचा लेते हैं।

वनस्पतियों में भी समय-समय पर सबसे अच्छे पौधों के रक्षण के द्वारा उन्नति की धीमी क्रिया चलती रहती है और इस उन्नति को हम हार्टीज़ (heartease), गुलाब, डहलिया (dahlia), प्लेनारगोनियम (plenorgonium) आदि पौधों के मूल पूर्वजों या पुरानी नस्लों की अपेक्षा अधिक बड़े और सुन्दर होने से स्पष्ट देख सकते हैं। यह हो सकता है कि नये और उन्नति किये हुए पौधों को हम अलग भेद का स्तर न दे सकें और यह भी संभव है कि उन्नति की क्रिया में दो या दो से अधिक नस्लें संकरण के द्वारा एक दूसरे से मिलजुल गयी हों। कोई भी व्यक्ति एक जंगली पौधे के बीज से प्रथम श्रेणी के हार्टीज या डहलिया की आशा नहीं करेगा। कोई भी जंगली नाशपाती के बीज से प्रथम श्रेणी की 'मेल्टिंग' नाशपाती उत्पन्न करने की आशा नहीं करेगा, यदि बाग़ के ही पेड़ का कोई बीज जंगली अवस्था में अंकुरित हो रहा हो, तो उससे अच्छे किस्म के पौधे की आशा की जा सकती है। हालांकि नाशपाती की बागबानी शास्त्रीय काल से की जा रही है पर प्लिनी (Pliny) के उल्लेख से पता चलता है कि यह बड़े निचले दर्जे का फल था। मैंने बागबानी की पुस्तकों में बाग-बानों की होशियारी पर इस बात पर बहुत आश्चर्य प्रकट किये जाते देखा है कि प्रारम्भ में इतने साधारण पौधों से अन्त में वे इतने अच्छे फल उत्पन्न करने में सफल हुए हैं। किन्तु यह कला साधारण ही थी और जहाँ तक अन्तिम फलों का संबंध है, वह लगभग अनजाने में ही प्राप्त हुआ है। इस क्रिया में सदा सबसे अच्छी किस्म ही लगायी गयी है, उसी के बीज बोये गये हैं, और जब अकस्मात अच्छी किस्म पैदा हो गयी तो उसको छाँटकर फिर उसी के बीज बोये गये और इस प्रकार क्रम चलता रहा। किन्तु शास्त्रीय काल के बागबानों ने, जिन्होंने जो नाशपाती मिल सकी उसमें से सबसे अच्छी को ही लगाया, कभी यह नहीं सोचा था कि हमारे खाने के लिए इतने अच्छे फल मिल सकेंगे, हालांकि कुछ हद तक हमारे फलों की अच्छाई इस बात के ही कारण है कि उन्होंने स्वभावतः अच्छे-से-अच्छे फल छाँटे और उनकी रक्षा की।

इस प्रकार परिवर्तन की एक बड़ी मात्रा धीरे-धीरे और अनजाने में ही संग्रहीत हुई और मेरे विचार में यही कारण है कि कई उदाहरणों में जो पौधे हमारे फूल या तरकारी के बागों में बहुत दिनों से बोये जा रहे हैं, उनके जंगली पूर्वजों के विषय में हम अंधकार में हैं। यदि हमारे अधिकांश पौधों को उनके मनुष्य के लिए लाभदायक होने के वर्तमान स्तर तक पहुँचने में सैकड़ों या हजारों वर्ष लग गये तो हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि क्यों आस्ट्रेलिया, केप आफ गुडहोप या किसी ऐसे क्षेत्र से, जिसमें

असभ्य मनुष्य निवास करता था, हमको एक भी ऐसा पौधा नहीं मिल सका, जिसकी हम खेती करते। यह बात नहीं है कि जातों से भरे इन देशों में ऐसे पौधे ही नहीं हैं जो कुछ उपयोगी पौधों के अधिमूल पूर्वज हो सकते, बल्कि वहाँ के स्थायी पौधों को निरन्तर निर्वाचन के द्वारा इस हद तक सुधारा नहीं गया है कि उनकी तुलना प्राचीन सभ्यता वाले देशों के पौधों से की जा सके।

असभ्य मनुष्य के द्वारा पाले गये पालतू जानवरों के विषय में हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि लगभग सदा ही उनको कम-से-कम कुछ मौसमों में, अपने भोजन के लिए ही बहुत संघर्ष करना पड़ता था। और बहुत भिन्न परिस्थितियों वाले प्रदेशों में, भिन्न-भिन्न गठन या संरचना के कारण, एक ही जात के सदस्य बहुधा एक प्रदेश में दूसरे की अपेक्षा अधिक सफल होंगे। इस प्रकार 'प्राकृतिक निर्वाचन' की क्रिया के द्वारा, जैसा हम बाद में विस्तार से देखेंगे, दो पृथक उपनस्लें (sub-breesds) बन सकती हैं। जैसा कुछ लेखकों ने कहा है, इस बात से यह पता चलता है कि क्यों आदिम निवासियों द्वारा पाली गयी नस्लों में सभ्य जातों द्वारा पाले गये भेदों की अपेक्षा वास्तविक जातों के अधिक लक्षण पाये जाते हैं।

निर्वाचन की क्रिया में मनुष्य के महत्वपूर्ण संबंध में ऊपर जो मत दिया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कैसे पालतू नस्लें अपनी संरचना या प्रकृति में मनुष्य की आवश्यकताओं या इच्छाओं की ओर अनुकूलित हैं। मेरे विचार में इससे हम अपने पालतू जानवरों में कभी-कभी प्रकट होने वाले असाधारण लक्षणों के विषय में भी समझ सकते हैं; और साथ ही उनके बीच बाह्य लक्षणों में इतने अधिक परिवर्तनों का होना तथा आन्तरिक रचना में उतने कम परिवर्तनों का होना भी समझ में आता है। मनुष्य केवल उन्हीं परिवर्तनों को पहचान या छाँट सकता है,जो बाहर से दिखायी पड़ते हैं और भीतरी परिवर्तनों की ओर वह ध्यान भी नहीं देता। वह कभी निर्वाचन की बात तब तक नहीं सोच सकता जब तक किसी रूप में प्रकृति में परिवर्तन प्रकट नहीं होते। कोई मनुष्य एक 'फैनटेल' उत्पन्न करने का प्रयत्न तब तक नहीं करेगा जब तक वह एक ऐसा कबूतर न देख ले जिसकी पूँछ कुछ विचित्र रूप से विकसित न हुई हो। इसी तरह वह 'पाउटर' की बात तब तक नहीं सोचेगा जब तक वह असाधारण ढंग से विकसित अन्नगृह वाले कबूतर को नहीं देख लेगा। पहली बार प्रकट होने पर कोई लक्षण जितना ही असाधारण होगा उतना ही वह मनुष्य का ध्यान आकर्षित करेगा। फिर भी इस प्रकार की भाषा का व्यवहार करना जैसे 'फैनटेल बनाने का प्रयत्न करना' अधिकतर उदाहरणों में ठीक नहीं होगा। जिस मनुष्य ने पहली बार बड़ी पूँछ वाला कोई कबूतर छाँटा होगा उसने स्वप्न में भी यह न सोचा होगा कि बहुत

लंबे काल तक कुछ अनजाने और कुछ नियमित निर्वाचन के द्वारा अन्त में ऐसी संतति उत्पन्न होगी जैसी आजकल हम देख रहे हैं। कदाचित सभी 'फैनटेल' कबूतरों के पूर्वज में चौदह कुछ फैले हुए पुच्छ-पर रहे होंगे, जैसे आजकल के जावा के फैनटेल में होते हैं या कुछ अन्य नस्लों के सदस्यों में होते हैं, जिनमें सत्तरह पुच्छ-पर होते हैं। कदाचित सर्वप्रथम 'पाउटर' अपने अन्नगृह को अधिक-से-अधिक उतना ही फुलाता था जितना आजकल 'टरबिट' अपनी भोजन-नलिका को फुला लेता है। इस स्वभाव की ओर कोई शौकीन ध्यान भी नहीं देता क्योंकि यह नस्ल की विशेषता नहीं समझी जाती।

यह न समझना चाहिए कि पालने वाले की निगाह पड़ने के लिए यह जरूरी है कि संरचना संबंधी परिवर्तन बहुत बड़े हों। वह बहुत छोटे परिवर्तनों को भी देख लेता है और यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह जानवरों के किसी भी नयेपन की कद्र करता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब किसी जात के सदस्यों में कुछ परिवर्तन उत्पन्न हुए तब उनका जो मूल्य था वह आज के मूल्य से जब कि कई नस्लें पूरी तरह पक्की हो गयी हैं, बहुत भिन्न होगा। यह सभी जानतेहैं कि आज कबूतरों में कई छोटे अन्तर प्रकट होते हैं पर हम समझते हैं कि उनके द्वारा नस्ल की अच्छाई का स्तर गिरता है और इसलिए हम उनका त्याग करते हैं। सामान्य हंस ने किसी विशेष नस्ल को जन्म नहीं दिया है। अतः 'टूलाउस' तथा सामान्य नस्ल जो आपस में सब से अस्थिर लक्षण अर्थात रंग में ही एक-दूसरे से भिन्न हैं, हाल में हमारी पक्षी-प्रदर्शनियों में अलग-अलग नस्लों के रूप में दिखायी गयी है।

ये मत उस बात का स्पष्टीकरण करते जान पड़ते हैं, जिसको बहुधा लक्ष्य किया जाता है। अर्थात हम अपनी पालतू जातों में से किसी के इतिहास या उत्पत्ति के विषय में शायद ही कुछ जानते हों। पर वास्तव में किसी भाषा की बोली (dialect) की भाँति नस्लों की भी अलग उत्पत्ति नहीं बतायी जा सकती। एक मनुष्य किसी ऐसे जानवर को छाँटता है जो संरचना में साधारण से कुछ भिन्न होता है, उसकी रक्षा करता है और उसकी संतति का पालन करता है, या अपने जानवरों का जोड़ा बनाने में साधारण से अधिक ध्यान देता है और इस तरह उनमें उन्नति करता है। फिर उन्नति किये हुए जानवर पास-पड़ोस में फैल जाते हैं। मगर अभी तक उनका अलग नाम नहीं होगा और चूँकि इस समय उनका कोई विशेष मूल्य नहीं होगा इसलिए उनके इतिहास की ओर ध्यान नहीं दिया जायगा। जब उसी क्रमिक और मन्द गति से उनमें और भी उन्नति होगी तो वे और फैलेंगे और उनको पृथक और मूल्यवान समझा जायगा और कदाचित तभी पहली बार उनको कोई प्रादेशिक नाम दिया जायगा।

अर्ध-सभ्य देशों में, जहाँ यातायात की सुविधाएँ कम होंगी, इस नयी उपनस्ल का विस्तार धीमा होगा। किन्तु जहाँ एक बार उनका मूल्य समझ में आया, अनजाने में निर्वाचन का सिद्धान्त बराबर काम करने लगेगा। संभव है जैसे-जैसे नयी नस्ल का रिवाज घटता-बढ़ता रहेगा, वैसे ही इस सिद्धान्त का प्रभाव भी कम-अधिक होता रहेगा। यह भी संभव है कि निवासियों की सभ्यता के अनुसार यह प्रभाव एक प्रदेश में कम, दूसरे में अधिक हो। पर क्रमशः इसकी बदौलत नस्ल के जो कुछ भी प्रमुख लक्षण होंगे, बढ़ते जायँगे। किन्तु इस प्रकार के धीमे, परिवर्तनशील और सूक्ष्म परिवर्तनों के इतिहास रखे जाने की संभावना अत्यन्त क्षीण होगी।

मनुष्य की निर्वाचन-शक्ति के लिए अनुकूल परिस्थियाँ

मैं अब मनुष्य की निर्वाचन-शक्ति के लिए अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के विषय में कुछ शब्द कहूँगा। चूँकि परिवर्तनशीलता निर्वाचन के कार्य करने के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करती है, इसलिए इसकी प्रचुरता निर्वाचन के लिए स्पष्टतया अनुकूल है। यह बात नहीं है कि केवल वैयक्तिक अन्तर पर्याप्त नहीं होते और ध्यान देने पर इच्छित दिशा में बड़ी मात्रा में कोई आपरिवर्तन एकत्रित नहीं किया जा सकता। पर चूँकि ऐसे परिवर्तन जो मनुष्य को पसन्द हों, बहुत कम प्रकट होते हैं, इसलिए यदि अधिक संख्या में किसी जात के सदस्य रखे जायँगे तो निश्चय ही उनके प्रकट होने की संभावना भी बढ़ जायगी। अतः सफलता के लिए संख्या अत्यंत महत्वपूर्ण है। यार्कशायर के कुछ भागों की भेड़ों के विषय में मार्शल (Marshell) ने इस सिद्धान्त को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"चूँकि वे निर्धन लोगों के पास हैं और कम मात्रा में रखी जाती हैं, इसलिए कभी उनमें सुधार नहीं हो सकता।" दूसरी ओर चूँकि नर्सरी रखने वाले लोगों के पास बड़ी संख्या में हर जात के पौधे होते हैं, इसलिए मामूली शौकिया लोगों की अपेक्षा ये नये और बहुमूल्य भेद उत्पन्न करने में अधिक सफल होते हैं। जब जीव थोड़े होते हैं, तो चाहे वे जिस स्तर के हों, सभी को संतानोत्पादन करने दिया जाता है, और इस प्रकार निर्वाचन पर अवरोध होता है। पर कदाचित सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य उस पौधे या जन्तु की बहुत अधिक क़द्र करता है, जिसमें वह इसके गुणों या संरचना के छोटे-से-छोटे अन्तरों की ओर भी ध्यान दे सकता है। मैंने यह गंभीर वक्तव्य सुना है कि यह बड़े भाग्य की बात थी कि स्ट्राबेरी में ठीक उसी समय परिवर्तन प्रारंभ हुए जब मालियों ने इस पौधे की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब से स्ट्राबेरी की खेती प्रारंभ की गयी, उसमें परिवर्तन होते रहे हैं, किन्तु लोगों ने सूक्ष्म भेदों की ओर कभी

ध्यान नहीं दिया। मगर ज्योंही बागबानों ने बड़े, अच्छे या जल्दी फलने वाले फलों के पौधों को चुन कर उनसे नये पौधे तैयार करना शुरू किया और फिर स्पष्ट जातों के संकरण से उत्पन्न और भी अच्छे पौधों को इसी तरह छाँटा, तो उसके वे अद्‌भुत भेद बनने लगे जो पिछली आधी शताब्दी में प्रकट हुए।

जानवरों में, कम से उन प्रदेशों में जहाँ पहले से ही कई किस्में उपस्थित थीं, संकरण का बचाव करने की सुविधा नयी नस्लों के बनाने के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस विषय में किसी जमीन को घेरने का भी कुछ प्रभाव पड़ता है। खानाबदोश आदिमनिवासियों या खुले मैदानों के निवासियों के पास कभी एक जात की एक से अधिक नस्लें नहीं होतीं। कबूतर के शौकीन के लिए यह बड़ी सुविधा की बात होती है कि वह उनके जोड़े जीवन भर के लिए बना देते हैं। इस प्रकार वे उनको एक साथ पिंजड़े में रख कर भी नस्लों में सुधार कर सकते हैं और उनको मिलावट से बचा सकते हैं। यह परिस्थिति निश्चय ही नयी नस्लों के बनने में सहायक रही होगी। यह कहना भी जरूरी है कि कबूतर बड़ी तेजी से और बड़ी संख्या में प्रगुणन करते हैं जिससे खराब चिड़ियों का आसानी से त्याग किया जा सकता है, विशेषकर इसलिए कि वे भोजन के काम आ सकती हैं। दूसरी ओर चूँकि बिल्लियाँ रात में घूमती-फिरती रहती हैं इसलिए इनका जोड़ा नहीं बाँधा जा सकता और हालांकि महिलाएँ और बच्चे इनकी इतनी क़द्र करते हैं फिर भी बहुत दिन तक इनकी कोई नस्ल शुद्ध नहीं रह पाती। हम जिन नस्लों को कभी-कभी देखते हैं वे लगभग सदा ही किसी अन्य देशों से लायी हुई होती हैं। हालांकि मुझको इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ जानवरों में दूसरों की अपेक्षा कम परिवर्तन होते हैं, फिर भी बिल्ली, गधे, मोर, हंस आदि में स्पष्ट नस्लों का विरलापन या उनकी अनुपस्थिति मुख्य निर्वाचन की क्रिया के न होने के कारण है। बिल्लियों में यह उनके बीच संकरण की कठिनाइयों के कारण है; गधों में इसलिए कि निर्धन लोग इनकी थोड़ी संख्या ही रख सकते हैं और इनके पालने में अधिक ध्यान नहीं दे सकते। अभी हाल में स्पेन के कुछ भागों और अमेरिका में निर्वाचन के द्वारा इस जानवर में अद्‌भुत आपरिवर्तन और उन्नति की गयी है। मोरों में पालने की कठिनाइयों के कारण और बड़ी संख्या में न रखे जाने के कारण, हंसों में इसलिए कि इनका मूल्य केवल दो उद्देश्यों से किया जा सकता है—आहार के लिए और परों के लिए और फिर इनकी भिन्न-भिन्न नस्लों के पालने में कोई विशेष आनन्द नहीं मिलता। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि जैसा मैं कहीं और भी लिख चुका हूँ, हंस संरचना में थोड़ा-बहुत अन्तर दिखाते हैं पर पालतूपने की दशा में यह विशेष तौर पर अपरिवर्तनशील होता है।

कुछ लेखकों का मत है कि हमारे पालतू प्राणियों में परिवर्तन शीघ्र ही एक सीमा तक पहुँच जाते हैं और फिर उनमें वृद्धि नहीं हो सकती। यह कहना कि उदाहरण के लिए वह परिवर्तन की सीमा पर पहुँच चुका है, बड़ी ज्यादती होगी क्योंकि हमारे सभी प.धों और जानवरों में आधुनिक काल में ही कई प्रकार से बहुत उन्नति हुई है और इसके कारण हैं परिवर्तन। इसी तरह यह कहना कि जो लक्षण इस समय अपनी सीमा पर पहुँच गये हैं, कई शताब्दियों तक स्थायी रहने के बाद, जीवन की नयी परिस्थितियों में फिर नहीं बदलेंगे, ज्यादती की बात होगी। निःसन्देह जैसा श्री वालेस ने बड़ी सत्यता के साथ कहा है, अन्त में सीमा अवश्य आएगी। उदाहरण के लिए किसी भी स्थलीय जन्तु की चपलता की एक सीमा होगी, क्योंकि उसकी गति शरीर के भार, पेशीय तंतुओं की संकोचन-शक्ति तथा उस घर्षण पर निर्भर है जिसपर प्राणी को विजय पाना है। पर हमारे मतलब की बात यह है कि एक ही जाति की स्पष्ट जातों की अपेक्षा एक ही जात की घरेलू नस्लें एक-दूसरे से लगभग सभी ऐसे लक्षणों में अधिक भिन्न होती हैं, जिन पर मनुष्य ने ध्यान दिया है और जिनका उसने निर्वाचन किया है। इसीडोर ज्याफराय सेंट हिलेयर (Isidore Geoffroy St. Hilaire) ने इस बात को नाप के विषय में सिद्ध किया है और यही बात रंग और कदाचित बालों की लंबाई के विषय में भी है। चपलता के संबंध में जो अनेक शारीरिक लक्षणों पर निर्भर है, यह कहना चाहिए कि एक्लिप्स (Eclipse) थोड़ा बहुत तेज भागने वाला था, जबकि ठेले का घोड़ा कदाचित उसी जाति के किन्हीं भी दो प्राकृतिक जातिवर्गों से अधिक बलवान है। इसी तरह पौधों में सेम या मक्के की विभिन्न नस्लों के बीज इन दो वंशों की पृथक जातों की अपेक्षा आपस में नाप में अधिक भिन्न हैं। यही बात बेर की विभिन्न नस्लों के फलों पर लागू होती है, और उससे भी अधिक तरबूज तथा अन्य कितने ही उदाहरणों से स्पष्ट होती है।

हम जानवरों तथा पौधों की पालतू और लगायी हुई नस्लों की उत्पत्ति को संक्षेप में इस प्रकार बताएँगे। गठन पर प्रत्यक्ष प्रभाव के द्वारा तथा जनन संस्थान पर अप्रत्यक्ष प्रभाव के द्वारा जीवन की परिवर्तित परिस्थितियाँ परिवर्तनशीलता उत्पन्न करने में अत्यधिक महत्व की हैं। यह संभव नहीं है कि सभी परिस्थितियों में परिवर्तनशीलता का होना स्वाभाविक और आवश्यक हो। वंशागत प्रतिवर्तन की बढ़ती या घटती हुई शक्ति ही यह निर्णय करती है कि अन्तर स्थायी होंगे या नहीं। परिवर्तनशीलता कई अज्ञात नियमों द्वारा नियंत्रित है, जिनमें से सब से प्रमुख है परस्पर संबंधित वृद्धि। जीवन की परिस्थितियों के निश्चयात्मक प्रभाव को भी कुछ उत्तरदायी कहा जा सकता है, पर कितना, यह हम नहीं जानते। अंगों के बढ़ते हुए उपयोग या अनुपयोग को भी कुछ

प्रभाव (कदाचित अधिक) का कारण कह सकते हैं। इस तरह अन्तिम परिणाम बहुत जटिल हो जाता है। कुछ उदाहरणों में लगता है कि अधिमूल स्पष्ट जातों के अन्तः-संकरण का भी हमारी नस्लों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण हाथ है। जब एक बार किसी प्रदेश में कई नस्लों का निर्माण हो गया, तो उनके अन्तःसंकरण से, तथा निर्वाचन की सहायता से निःसंदेह नये उपवंशों या उपनस्लों के निर्माण में बड़ी सहायता हुई होगी। पर जानवरों तथा इन पौधों के विषय में, जो बीजों द्वारा वितरित होते हैं, संकरण का महत्व बहुत बढ़ा कर बताया जाता है। उन पौधों में, जो अस्थायी रूप से कलमों, कलियों आदि के द्वारा प्रसारित होते हैं, संकरण का महत्व बहुत है, क्योंकि इसमें मनुष्य प्रसंकरों तथा उनकी संतानों की अत्यधिक परिवर्तनशीलता तथा प्रसंकरों की वन्ध्यता-दोनों का ही तिरस्कार कर सकता है। पर जो पौधे बीजों द्वारा प्रसारित नहीं होते, वे हमारे लिए किसी महत्व के नहीं हैं, क्योंकि उनकी सहनशीलता अस्थायी होती है। परिवर्तन के इन सभी कारणों के ऊपर निर्वाचन की संग्रहीत क्रिया की प्रबल शक्ति होती है, चाहे यह निर्वाचन शीघ्रता से और नियमपूर्वक लागू किया गया हो या अनजाने में और धीरे-धीरे पर निपुणता से लागू किया गया हो।

अध्याय दो

प्राकृतिक अवस्था में परिवर्तन

परिवर्तनशीलता—वैयक्तिक अन्तर—सन्दिग्धजात—बहुत फैली हुई, प्रसारित, सामान्य जातों में सब से अधिक अन्तर होते हैं—प्रत्येक देश में, बड़ी जातियों की जातों में, छोटी जातियों की जातों की अपेक्षा कई बार अन्तर होते हैं—बड़ी जातियों की कई जातें इस सम्बन्ध में भेदों के समान हैं कि वे एक दूसरे से निकट किन्तु, असमान रूप से सम्बन्धित हैं और उनका विस्तार सीमित है।

पिछले अध्याय में हम जिन सैद्धान्तिक निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उन्हें प्राकृतिक अवस्था में जीवों पर लागू करने से पहिले अच्छा होगा कि हम इस बात पर संक्षेप में विचार करलें कि प्राकृतिक जीवों में कहाँ तक परिवर्तन सम्भव है। वैसे तो इस विषय को भली भाँति समझने के लिए आवश्यक होगा कि इसके सम्बन्ध के अनेक नीरस सत्यों की लम्बी सूची यहाँ पर दी जाय, किन्तु इस सूची को मैं भविष्य के लिए छोड़ रखता हूँ। यहाँ कदाचित 'जात' (species) शब्द की अनेक व्याख्याओं पर विचार करने की आवश्यकता है, किन्तु इस समय मैं इसके विस्तार में भी न जाऊँगा। उस शब्द की कोई भी व्याख्या ऐसी नहीं है जिसमें सभी प्रकृतिवादी संतुष्ट हों, फिर भी सामान्यतः सभी इस शब्द का तात्पर्य समझते हैं। साधारणतः यह शब्द सृष्टि की एक पृथक क्रिया के अनजाने तत्व की ओर संकेत करता है। 'भेद' शब्द की परिभाषा करना भी लगभग इतना ही कठिन है, किन्तु उसमें समान उत्पत्ति का अर्थ निहित है, हालांकि यह शायद ही सिद्ध किया जा सकता हो। इनके अतिरिक्त विकृतियाँ भी हैं किन्तु ये क्रमशः भेदों से मिल जाती हैं। मेरे विचार में विकृति, संरचना में ऐसे बड़े अन्तरों का प्रकट होना है, जो 'जात' के लिए हानिकारक हों, अथवा लाभदायक न हों। कुछ लेखक 'परिवर्तन' (variation) शब्द का एक विशेष परिभाषिक अर्थ में उपयोग करते हैं। उनका तात्पर्य ऐसे शब्दों से होता है, जो जीवन के भौतिक कारणों से उत्पन्न हों। इस अर्थ में उत्पन्न हुए परिवर्तन वंशागत नहीं होते। किन्तु कौन यह कह सकता है कि बाल्टिक सागर के खारे जल में रहने वाले जन्तुओं के कवच का छोटा होना एल्पस की चोटी के पौदों का छोटा होना या सुदूर-उत्तर के प्राणियों के रोम का मोटा होना कुछ

हद तक कम-से-कम कुछ पीढ़ियों तक वंशागत नहीं होगा और मेरे विचार में इन परिवर्तनों को भेद कहा जायगा।

इस बात में संदेह किया जा सकता है कि संरचना में अकस्मात होने वाले और बड़े परिवर्तन, जो बहुधा घरेलू जीवों में, विशेषत: पौधों में देखे जाते हैं, प्राकृतिक अवस्था में स्थायी रूप से फैलते हैं या नहीं। प्रत्येक जीव का प्रत्येक अंग अपने जटिल वातावरण से ऐसी सुन्दर रीति से सम्बन्धित होता है कि यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि एकाएक इनमें से कोई अंग दोषरहित हो सकता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे मनुष्य एक जटिल मशीन का अविष्कार पहली बार दोषरहित रूप में नहीं कर सकता। पालतूपन की स्थिति में कभी-कभी ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो किसी बिल्कुल ही भिन्न जन्तु से आकार में कुछ मिलती-जुलती हैं। इस तरह बहुधा ऐसे सुअर पैदा होते हैं, जिनमें सूँड़ जैसी रचना होती है। अब अगर किसी जाति के किसी जंगली जात में स्वाभाविक रीति से सूँड़ होती तो यह कहा जाता कि इसकी उत्पत्ति विकृति के रूप में हुई है। किन्तु काफी ढूँढ़ने के बाद भी मुझको निकट जातों से मिलती-जुलती विकृतियों की उत्पत्ति के उदाहरण नहीं मिले, हालांकि ऐसे ही उदाहरणों का इस प्रश्न से सम्बन्ध है। यदि प्राकृतिक अवस्था में ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न हों और वह संतानोत्पत्ति कर सकती हों (जो बहुधा नहीं होता, क्योंकि उनकी संख्या बहुत थोड़ी होती है), तो उनका जीवित रहना बहुत ही अनुकूल परिस्थितियों में सम्भव है। इसके अतिरिक्त वे पहली और तदन्तर की पीढ़ियों में साधारण व्यक्तियों के साथ परस्पर संतानोत्पत्ति करेंगी, जिससे उनके असाधारण लक्षण अवश्य ही लोप हो जायेंगे। बाद में फिर एक दूसरे अध्याय में मैं अनियमित और अकेले होने वाले परिवर्तनों की स्थिरता और सुरक्षित रहने के प्रश्न पर विचार करूँगा।

वैयक्तिक अन्तर

एक ही माता-पिता की सन्तानों में उत्पन्न होनेवाले छोटे-छोटे अनेक परिवर्तन अथवा एक ही जगह रहने वाले, एक ही जात के व्यक्तियों में पाये जाने वाले छोटे-छोटे अन्तरों को वैयक्तिक अन्तर कहते हैं। यह कोई नहीं कहता कि एक जाति के सभी सदस्य एक ही ढाँचे में ढले होते हैं। वैयक्तिक अन्तर हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि जैसा हम सब जानते हैं, ये बहुधा वंशागत होते हैं। इस तरह ये प्राकृतिक निर्वाचन के कार्य करने और एकत्रित करने के लिए सामग्री प्रदान करते हैं। ठीक इसी तरह मनुष्य पालतू जीवों में किसी एक दिशा में भेद उत्पन्न करने के लिए वैयक्तिक अन्तरों को जमा करता है। साधारणत: ये वैयक्तिक अन्तर उन अंगों में प्रकट होते हैं, जिनको

प्रकृतिवादी महत्वहीन समझते हैं। मगर मैं ऐसी पूरी सूची दे सकता हूँ, जिससे यह सिद्ध हो जायगा कि संरचना अथवा वर्गीकरण के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण अंग भी कभी-कभी जाति के विभिन्न सदस्यों में भिन्न होते हैं। मुझको विश्वास है कि वहुत अनुभवी प्रकृतिवादी भी परिवर्तनशीलता के उदाहरणों की संख्या देखकर और विशेषकर महत्त्वपूर्ण अंगों की संरचना में आश्चर्य चकित होंगे। हाँ, इन उदाहरणों को जमा करने में कई वर्ष लग जायँगे, जैसा मेरे लिए आवश्यक था। यह ध्यान रखना चाहिए कि महत्वपूर्ण लक्षणों में परिवर्तन पाकर वर्गीकरण के अध्येता प्रसन्न नहीं होते और ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो भीतरी और बाहरी अंगों का मेहनत से निरीक्षण करेंगे और एक जात के कई सदस्यों से उनकी तुलना करेंगे। उदाहरण के लिए, कोई इस बात की आशा नहीं करेगा कि एक ही जात के अलग-अलग कीटों की मुख्य तंत्रिकाएँ केन्द्रीय गुच्छिका (central ganglion) के निकट भिन्न-भिन्न रूप से परिवर्तनशील होंगी। ऐसा समझा जा सकता था कि इस प्रकार के परिवर्तन वहुत धीरे-धीरे हो सकते हैं लेकिन सर जे० लूबाक (Sir J. Lubbock) ने काकस (Coccus) की मुख्य तन्त्रिकाओं में इस प्रकार के परिवर्तन दिखाये हैं, जिनकी तुलना पेड़ों के तनों के अनियमित शाखा क्रम से की जा सकती है। इस प्रकृतिवादी दार्शनिक ने यह भी दिखाया है कि कुछ कीटों के डिम्भों (larvae) की पेशियाँ भी इसी प्रकार असमान हैं। जब लेखक यह कहते हैं कि महत्त्वपूर्ण अंगों में परिवर्तन नहीं होते तो वे कभी-कभी एक क्षेत्र में तर्क करते हैं, क्योंकि इन्हीं विद्वानों के अनुसार महत्त्वपूर्ण अंग वे हैं, जिनमें परिवर्तन नहीं होते। इस दृष्टिकोण से ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलेगा, जिसमें महत्त्वपूर्ण अंगों में परिवर्तन नहीं होते; किन्तु यदि हमारा दृष्टिकोण इससे भिन्न हो तो, अवश्य ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

वैयक्तिक अंतरों के संबंध में एक अत्यन्त जटिल प्रश्न सामने आता है। मेरा तात्पर्य ऐसी जातों से है, जिनको बहुरूपीय (protean or polymorphic) कहते हैं और जिनमें जातों के विभिन्न सदस्यों में अन्तर पाये जाते हैं। इनमें से कई एक जातें तो ऐसी हैं, जिनके विषय में किन्हीं भी दो प्रकृतिवादियों के मत समान नहीं हैं कि उनको जात कहा जाय अथवा भेद। पौधों में **रूबस** (Rubus) **रोज़ा**, (Rosa) तथा **हियरेन्सियस** (Hierencius) तथा जन्तुओं में कई जातों के कीट तथा बेक्रियोपाड कवच (Brachiopod shells) इनके उदाहरण हैं। कई वहुरूपीय जातियों में कुछ जातें ऐसी भी हैं,जिनके लक्षण निश्चित और अपरिवर्तनशील हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर जो जातियाँ किसी एक देश में बहुरूपीय होती हैं, वे दूसरे देशों में भी बहुरूपीय जान पड़ती हैं। बेक्रियोपाड कवचों को देखने पर तो ऐसा लगता है कि पिछले भूतत्वीय काल में भी

वे बहुरूपीय रहे हैं। यह बात बड़ी भ्रमात्मक है क्योंकि इनसे ऐसा लगता है कि इस तरह के अन्तरों का रहन-सहन की परिस्थिति से कोई संबंध नहीं है। संभवतः इनमें से कुछ बहुरूपीय जातों के परस्पर अन्तर ऐसे हैं जो न उनको कोई लाभ पहुँचाते हैं, न हानि; और इसलिए ये प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा स्थिर नहीं हुए हैं।

सभी जानते हैं कि एक ही जाति-वर्ग के सदस्यों में संरचना संबंधी बड़े अंतर होते हैं जिनका भेदों से कोई संबंध नहीं होता। जंतुओं के पृथक लिंग, सामाजिक कीटों में नर, मादा, सैनिक, श्रमिक आदि और कुछ जंतुओं की विभिन्न विकास की अवस्थाएँ जैसे लार्वा इनके उदाहरण हैं। जंतुओं और पौधों दोनों में द्विरूपता (dimorphism) तथा त्रिरूपता (trimorphism) के भी कई उदाहरण मिलते हैं। मि० वालेस ने हाल में इसके एक उदाहरण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। यहाँ तितलियों की कई जातों की मादाएँ दो या तीन स्पष्ट रूपों में मिलती हैं। **फ्रिट्ज मूलर** (Fritz Muller) ने ऐसे ही अद्भुत उदाहरण ब्राज़ील के क्रस्टेशिया के संबंध में दिये हैं। इसकी **टानायस** (Tanais) जात के नर दो रूपों में पाये जाते हैं। इनमें से एक के संदंशी (pincer) मजबूत और दूसरे से भिन्न होते हैं, और दूसरे के स्पर्श-सूत्रों में बहुत अधिक गन्धरोम होते हैं। हालांकि इनमें से जन्तुओं तथा पौधों दोनों के ही अधिकांश उदाहरणों में पाये जाने वाले दो या तीन रूप बिलकुल पृथक होते हैं और मध्यस्थ रूपों द्वारा सम्बन्धित नहीं होते, किन्तु बहुत सम्भव है कि किसी समय ये इस प्रकार सम्बन्धित रहे हों। उदाहरण के लिए मिस्टर वालेस ने एक ऐसी तितली का वर्णन किया है, जो एक ही द्वीप में कई भेदों में पायी जाती है, किन्तु जो मध्यस्थ रूपों के द्वारा सम्बन्धित होती है और जिसके अन्तिम रूप मलाया द्वीप समूह में पायी जानेवाली एक अन्य किन्तु मिलती-जुलती द्विरूपीय जात के रूपों के समान हैं। चीटियों में भी विभिन्न कर्मक जातें एक-दूसरे से विल्कुल भिन्न होती हैं, किन्तु जैसा हम अभी देखेंगे, ये जातें एक-दूसरे से बीच के कई क्रमिक भेदों से सम्बन्धित हैं। यही बात मैंने कई द्विरूपीय पौधों में भी देखी है। पहले तो यह बात बड़ी ही अद्भुत लगती है कि एक ही मादा तितली में तीन, पृथक रूप की मादाएँ और एक नर उत्पन्न करने की शक्ति हो तथा एक उभयलिंगी पौधे के ही फल के द्वारा तीन पृथक उभयलिंगी रूप पैदा हों, जिनसे तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के मादा और तीन या छः भिन्न प्रकार के नर जन्म लें। किन्तु ध्यान देने पर मालूम होता है कि इस प्रकार के उदाहरण केवल एक साधारण सत्य के विस्तृत रूप हैं और वह सत्य यह है कि कोई भी मादा दोनों लिंगों की सन्तानों को जन्म दे सकती है, जो एक-दूसरे से बहुत अद्भुत रीति से भिन्न हो सकते हैं।

संदिग्ध जातें

कई प्रकार से हमारे लिए वे जीव विशेष महत्वपूर्ण हैं जिनमें जात के पर्याप्त लक्षण तो होते हैं, किन्तु वे अन्य जीवों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं या उनसे ऐसे म यस्थ जीवों द्वारा क्रमिक ढंग से सम्बन्धित होते हैं कि हमारे लिए उनको स्पष्ट जात के स्तर में रखना कठिन हो जाता है। हमारे पास इस बात के काफी प्रमाण हैं कि ऐसे अधिकतर संदिग्ध और परस्पर सम्बन्धित जीवों ने काफी समय से अपने लक्षणों को सँभाल रखा है। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि ये लक्षण इनमें इतने दिनों से बने रहे हैं जितने कि किसी भी वास्तविक और पक्की जात में रहते हैं।

प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से जब प्रकृतिवादी किन्हीं दो जीवों को बीच के जीवों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित कर सकता है तो वह एक को दूसरे का भेद मानता है। ऐसी स्थिति में वह इनमें से सबसे सामान्य रूप को अथवा उस रूप को जिसका वर्णन सबसे पहले किया गया हो, जात कहता है और दूसरे को भेद। हालांकि दो जीव एक-दूसरे से मध्यस्थ रूपों द्वारा सम्बन्धित होते हैं फिर भी इस तरह के बहुधा बड़े ही कठिन अवसर आते हैं, जब असंदिग्ध रूप से यह कहा जा सके कि अमुक जीव जात है अथवा नहीं। बहुधा इनके बीच के रूपों को प्रसंकर (hybrid) माना जाता है, फिर भी हमारी कठिनाई हल नहीं होती! बहुत से उदाहरणों में तो वास्तव में यह बीच के रूप पाये भी नहीं गये हैं पर अन्य जीवों के सादृश्य (analogy) पर या तो उनका होना मान लिया जाता है अथवा यह समझ लिया जाता है कि वे कभी रहे होंगे और वर्तमान काल में लुप्त हो गये हैं। इस तरह के उदाहरणों में अनुमान और सन्देह के लिए बहुत अवसर हैं।

अतः यह निर्धारित करने के लिए कि किसी जीव को जात का स्तर दिया जाय या भेद का, केवल अनुभवी और विचारशील प्रकृतिवादियों की राय का ही सहारा रह जाता है। चूँकि शायद ही कोई ऐसा प्रसिद्ध भेद हो जिसको कुछ वैज्ञानिकों ने जात बताया हो और कुछ ने भेद, इसलिए अधिकतर हमको अपना निर्णय उनके बहुमत के आधार पर करना होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के संदिग्ध भेदों की संख्या की कोई कमी नहीं है। यदि आप ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य की वनस्पति की सूचियाँ देखें जिनको अलग-अलग वनस्पति-शास्त्रियों ने तैयार किया है, तो आप को आश्चर्य होगा कि कितने ही ऐसे पौधे हैं जिनको कुछ वनस्पति-शास्त्रियों ने पक्की जात का स्तर दिया है और कुछ ने केवल भेदों का! श्री एच० सी० वाटसन ने, जिनका मैं कई तरह की सहायताओं के लिए बहुत आभारी हूँ, मेरे लिए ऐसे १८२ ब्रिटिश पौधों की सूची बनायी है जिनको साधारणतः भेद समझा जाता है, किन्तु जिनको वनस्पति-शास्त्रियों ने जात का स्तर

दिया है। ध्यान रहे कि इस सूची के तैयार करने में उन्होंने महत्वहीन भेदों को ध्यान में नहीं रखा है, हालांकि कुछ वनस्पति-शास्त्रियों ने इनको भी जात का रूप दिया है। साथ ही उन्होंने कई बहुरूपीय जातियों को बिल्कुल ही छोड़ दिया है। अधिकतर बहुरूपीय पौधों को सम्मिलित करते हुए श्री बैबिंग्टन (Mr.Babington) ने ऐसी जातियों में २५१ जातों को रखा है। और श्री बेंथम (Mr. Banthom) ने केवल ११२ को। स्पष्ट है कि इन संख्याओं का अन्तर, अर्थात १३९ जातें संदिग्ध हैं। ऐसे जन्तुओं में जिनमें सभी बार संतानोत्पादन के लिए मैथुन करते हैं और जो गतिशील हैं, एक ही देश में उस प्रकार के जन्तु बहुत कम मिलेंगे जिनको एक जन्तु-शास्त्री जात कहे और दूसरा भेद। किन्तु एक-दूसरे से बिल्कुल ही पृथक क्षेत्रों में इस प्रकार के उदाहरण काफी सामान्य हैं! ऐसे कितने ही पक्षी और कीट उत्तरी अमेरिका और यूरोप में हैं जो एक-दूसरे से बहुत कम भिन्न हैं किन्तु इनको कुछ योग्य लोगों ने निश्चित रूप से जातें बताया है और कुछ ने भेद या भौगोलिक नस्लें (geographical races) कहा है। मलाया द्वीप समूह के द्वीपों पर मिलने वाले कई जन्तुओं, विशेषकर लेपिडाप्टेरा (Lepidoptera) पर लिखे अपने कई बहुमूल्य लेखों में वालेस (Mr. Wallace) ने यह सिद्ध किया है कि उनके चार विभेद किये जा सकते हैं—परिवर्तनशील रूप (variable forms) स्थानीय रूप (local forms) भौगोलिक नस्लें (geographical races) अथवा उपजात (sub species) तथा वास्तविक प्रतिनिधि जातें (true representative species)। इनमें से प्रथम (परिवर्तनशील रूप) उसी द्वीप की सीमा के भीतर बहुत परिवर्तनशील हैं। स्थानीय रूप बहुत कुछ स्थायी होते हैं और अलग-अलग द्वीपों में पर्याप्त मात्रा में होते हैं, किन्तु जब भिन्न-भिन्न द्वीपों के प्राणियों की एक साथ तुलना की जाती है तो उनके अन्तर बहुत तुच्छ और क्रमिक जान पड़ते हैं और उनकी व्याख्या करना या एक को दूसरे से स्पष्ट करना असम्भव हो जाता है, हालांकि इनमें से कुछ सीमान्त रूप काफी स्पष्ट होते हैं। भौगोलिक नस्लें (geographical races) या उपभेद ऐसे स्थानीय रूप हैं, जो निश्चित हो गये हैं और जिनका पृथक्करण हो गया है। मगर चूंकि वे एक-दूसरे से महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट लक्षणों के द्वारा भिन्न नहीं हैं, "इसलिए वैयक्तिक मत के अतिरिक्त ऐसी कोई परीक्षा नहीं है, जिससे यह कहा जा सके कि इनमें से कौन जात है और कौन भेद।" अंत में हर द्वीप की प्रकृति की मितव्ययिता में प्रतिनिधि रूप वही स्थान रखते हैं जो स्थानीय रूप अथवा उपजात, किन्तु चूंकि वे स्थानीय रूप या उपभेदों की अपेक्षा एक-दूसरे से अधिक अन्तरों के कारण पृथक किये जा सकते हैं, इसलिए उनको सभी प्रकृतिवादी पक्की जातों का स्तर देते हैं। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारे पास ऐसे निश्चित सिद्धान्त

नहीं हैं, जिनके आधार पर परिवर्तनशील रूप, स्थानीय रूप, उपजातें, और प्रतिनिधि जातें सफलतापूर्वक पृथक की जा सकें।

कई वर्ष हुए मैं गैलापागो द्वीप समूह के एक-दूसरे के निकट स्थित उन्हीं द्वीपों के पक्षियों की उन्हीं द्वीपों के पक्षियों के साथ तथा अमेरिका महाद्वीप के पक्षियों के साथ तुलना कर रहा था और दूसरे वैज्ञानिकों के तुलना के कार्य को देख रहा था; इस अध्ययन के सम्बन्ध में मुझको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जातों तथा भेदों के बीच के भेद कितने मनमाने और अनिर्दिष्ट हैं। मडायरा समूह के छोटे-छोटे द्वीपों पर ऐसे कई कीट हैं, जिनको श्री वोलास्टन (Mr. Wollaston) ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तक में भेदों का स्तर दिया है, किन्तु निश्चय ही बहुत से कीट-शास्त्री उनको स्पष्ट जातें बताएँगे! साधारणतः आयरलैंड में भी ऐसे कुछ जन्तु हैं, जिनको कुछ जन्तु-शास्त्री जातें मानते हैं किन्तु वे भेद समझे जाते हैं। कई अनुभवी पक्षी-शास्त्री लाल ब्रिटिश मुर्गे को नारवे के जात की एक स्पष्ट सन्तति (race) मानते हैं किन्तु अधिकांशतः इसको ग्रेट ब्रिटेन की एक अलग जात का स्तर दिया जाता है। बहुधा जब किन्हीं दो सन्दिग्ध भेदों के परिवारों के बीच बड़ा फासला होता है, तो प्रकृति-शास्त्री उनको जातों का स्तर देते हैं। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह फासला कितना होना चाहिए? क्या अमेरिका और यूरोप के बीच की दूरी ही पर्याप्त होगी अथवा यूरोप तथा ऐज़ोरीज़ या मेडायरा या केनारी द्वीप समूह के बीच की, अथवा इन द्वीपसमूहों के विभिन्न द्वीपों के बीच की दूरी ही पर्याप्त होगी।

यूनाइटेड स्टेट्स के एक प्रतिष्ठित कीट-शास्त्री मि० बी० डी० वाल्श, ने ऐसे भेदों और जातों का उल्लेख किया है, जिनको उन्होंने वनस्पति-भक्षी भेदों (Phytophagic varieties) और वनस्पति भक्षी जातों (Phytophagic species) का नाम दिया है। अधिकांश पौधे खानेवाले कीट केवल एक ही समूह के पौधों अथवा एक ही प्रकार के पौधों पर निर्वाह करते हैं। कुछ कई प्रकार के पौधों से मिले-जुले रूप से अपना आहार लेते हैं, इसलिए इनमें आपस में बहुत अन्तर नहीं होता। किन्तु मि० वाल्श ने यह देखा कि भिन्न-भिन्न पौधों पर निर्वाह करनेवाले कीट अथवा उनकी डिम्भ अवस्थाएँ अथवा डिम्भ और प्रौढ़ दोनों ही अवस्थाओं में रंग-रूप, माप अथवा स्राव (secretion) की प्रकृति में सूक्ष्म किन्तु स्थायी अन्तर होते हैं। इस प्रकार के अन्तर कुछ कीटों में केवल नर में, तथा कुछ में नर तथा मादा दोनों में कुछ अंश तक देखे गये हैं। जब अन्तर कुछ अधिक स्पष्ट होते हैं तथा नर और मादा दोनों की सभी अवस्थाओं में पाये जाते हैं तब कीट-शास्त्री इन प्राणियों को पक्की जात मानते हैं, किन्तु इन वनस्पति-भक्षी कीटों में से किसको जात कहा जाये और किसको भेद, यह

कोई भी वैज्ञानिक अपने अवलोकनों के लिए तो कह सकता है किन्तु दूसरों के लिए नहीं। मि० वाल्श ने ऐसे कीटों को, जो आपस में संतानोत्पत्ति कर सकते हैं, भेद कहा है; किन्तु जिनमें यह शक्ति नहीं रह गयी है, उनको जात कहा है। चूँकि उनके अन्तर इस बात पर निर्भर हैं कि उन्होंने बहुत लम्बे समय तक भिन्न-भिन्न पौधों का आहार किया है, इसलिए उनके बीच के रूपों की आशा नहीं की जा सकती। इस तरह संदिग्ध जातों और भेदों का निर्णय करने के लिए हमारा सबसे अच्छा सहारा भी बेकार हो जाता है। यही कठिनाई भिन्न-भिन्न द्वीपों अथवा महाद्वीपों पर निवास करनेवाले निकटस्थ जीवों के सम्बन्ध में भी पायी जाती है। किन्तु जब कोई जन्तु अथवा पौधा किसी एक महाद्वीप पर विस्तृत रूप से फैला होता है, या एक ही द्वीपसमूह के विभिन्न द्वीपों में पाया जाता है और अलग-अलग क्षेत्रों में उसके भिन्न-भिन्न रूप होते हैं तो बहुत सम्भव है कि उसके माध्यमिक रूप भी पाये जाएँगे और उसके द्वारा उनकी अन्तिम अवस्थाओं के बीच सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। ऐसी स्थिति में उनको भेदों का स्तर ही दिया जायगा।

कुछ थोड़े से प्रकृति-शास्त्रियों का विचार है कि जानवरों में भेद नहीं पाये जाते। किन्तु ये ही प्रकृति-शास्त्री छोटे-छोटे अन्तर को भी जात का निर्णय करने के लिए महत्त्व-पूर्ण समझते हैं। और जब बिलकुल एक ही रूप के प्राणी दो दूरस्थ देशों में अथवा भिन्न भूतत्वीय स्तरों में मिलते हैं, तो वे उनको एक ही रूप में छिपी हुई दो विभिन्न जातें समझते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार जात शब्द कोरा और व्यर्थ का है, जिससे सृष्टि की एक अलग रचना का बोध कराया जाता है। यह निश्चय है कि ऐसे कई प्राणी, जिनको बड़े-बड़े विद्वानों ने भेद मान रखा है, वे अपने लक्षणों में जातों से इतना अधिक मिलते हैं कि दूसरे विद्वानों ने उनको भेद का स्तर प्रदान किया है। अतः इन शब्दों की परिभाषा निश्चित करने से पहले किसी जीव के लिए यह तय करना कि वह जात है अथवा भेद, हवा में तीर चलाने के समान है।

ऐसे कई उदाहरण विचारणीय हैं, जिनको स्पष्ट भेद अथवा संदिग्ध जातें कहा जा सकता है, क्योंकि इनका वास्तविक स्तर निर्णय करने के लिए भौगोलिक वितरण, प्रसंकरता (hybridism) अथवा परिवर्तनों का सादृश्य (analogical variation) आदि के रोचक तर्क दिये गये हैं। किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ उन पर विचार करना सम्भव नहीं है। कई उदाहरणों में निश्चय ही यदि भलीभाँति अनुसंधान किया जाये तो प्रकृति-शास्त्री आपस में सन्दिग्ध जीवों के स्तर का निर्णय करने में सहमत हो जाएँगे। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि ऐसे जीवों की अधि-कतम संख्या सबसे अधिक अध्ययन किये गये देशों में ही मिलती है। मेरे विचार में यह बात आयी है कि उसी जीव अथवा पौधे के भेद लगभग सारे संसार से अंकित

किये गये हैं, जो या तो स्वाभाविक अवस्था में मनुष्य के लिए बहुत उपयोगी हैं अथवा किसी अन्य कारण से उसका ध्यान आकर्षित करते हैं। और कुछ लेखक इन भेदों को जात का स्तर देते हैं। साधारण बलूत (Oak) को ही देखिये। इसका कितना सविस्तार अध्ययन किया गया है। फिर भी एक जर्मन लेखक इसकी एक दर्जन से अधिक जातें बताता है, जिनको लगभग सभी अन्य वनस्पति-शास्त्री भेद समझते हैं। इसी देश में वनस्पति-शास्त्र के कितने ही अधिकारी तथा व्यावहारिक व्यक्ति मिल जाएँगे, जिनमें से कुछ सवृंत तथा वंतहीन (pedunculate and sessile) बलूत के पौत्रों को स्पष्ट और अच्छी जातें मानते हैं और कुछ केवल भेद।

अभी हाल में ए० डी कैन्डोल (A. de Candolle) ने सारे संसार के बेलून पर एक सुन्दर लेख प्रकाशित किया है। शायद ही किसी के पास इसकी जातों के विभेदीकरण के लिए इससे अधिक पर्याप्त सामग्री रही हो और शायद ही किसी ने उनसे अधिक उत्साह तथा लगन से इस विषय पर कार्य किया हो। उन्होंने पहले तो संरचना सम्बन्धी ऐसे सभी लक्षणों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, जो विभिन्न जातों में भिन्न हैं। साथ ही उन्होंने इन अन्तरों के आपेक्षिक आपात (relative incidence) का संख्यात्मक अनुमान भी लगाया है। उन्होंने एक दर्जन से ऊपर ऐसे लक्षण बताये हैं, जो अवस्था अथवा विकास की दशा के भिन्न होने के कारण अथवा बिना किसी ज्ञात कारण के केवल एक ही डाल पर भिन्न पाये जाते हैं। निश्चय ही ऐसे लक्षण जात का निर्णय करने में किसी महत्त्व के नहीं। किन्तु जैसा इस पुस्तक की आलोचना के सम्बन्ध में आसा ग्रे (Asa Gray) ने कहा है, बहुधा इनका प्रयोग जातों की व्याख्या करने में किया गया है। डी कैन्डोल फिर कहते हैं कि उन्होंने ऐसे रूपों को जात का नामकरण किया है, जो एक-दूसरे से ऐसे लक्षणों में भिन्न हैं, जिनमें एक ही वृक्ष पर कभी अन्तर नहीं होते और जो एक-दूसरे से माध्यमिक रूपों द्वारा सम्बन्धित नहीं हैं। किन्तु इस वाद-विवाद, तथा इतनी मेहनत के बाद वे लिखते हैं—"जो लोग बार-बार यह कहते हैं कि हमारी अधिकांश जातों की सीमाएँ ठीक तरह से निर्धारित हैं और सन्दिग्ध जातें बहुत अल्प-संख्यक हैं, वे गलती कर रहे हैं। जब तक किसी विशेष जात का हमारा ज्ञान अधूरा है और उसकी जातों को इने-गिने सदस्यों के आधार पर निर्धारित किया जाता है, अर्थात उनकी स्थिति सामयिक होती है, तब तक तो यह ठीक लगता है। लेकिन ज्यों-ज्यों उनके विषय में हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, मध्यस्थ-रूप प्रकट होते जाते हैं और जातों की सीमाओं के विषय में सन्देह बढ़ते जाते हैं।" वे यह भी कहते हैं कि उसी जात का हमारा ज्ञान पक्का है, जिसमें अधिक-से-अधिक स्वयंभू-भेद तथा उपभेद पाये जाते हों। इस प्रकार

क्यूरकस रोबर (Quercus rober) के २८ भेद हैं, जिनमें से ६ को छोड़ सभी ३ उपजातों, अर्थात **पिडन्कुलाटा** (Q. pedunculata), **सेसिलिफ्लोरा** (Q. sessiliflora) और **प्युबेसेन्स** (Q. peubescens) के एकत्रित हैं। जैसा आसा ग्रे का कहना है, अगर इन तीनों उपजातों को जोड़ने वाले माध्यमिक रूप, जो आज बहुत अल्पसंख्यक हैं, कल लुप्त हो जाएँ तो तीनों उपजातें उसी स्तर पर पहुँच जाएँगी जिस पर प्रारूपिक जात **क्यूरकस रोबस** के निकट स्थित सामयिक रूप से स्वीकार की गयी चार-पाँच जातें हैं। अन्त में डि कैंडोल यह मानते हैं कि बेलूनवंश में गिनायी उनकी **प्रोड्रोलस** (prodrolus) की लगभग तीन सौ जातों में से लगभग दो-तिहाई सामयिक हैं, अर्थात वे पक्की जात की परिभाषा की शर्तों को पूर्णतः पूरा नहीं करतीं। यह कहना आवश्यक है कि डि कैन्डोल यह नहीं मानते कि जातें अपरिवर्तनीय हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस सम्बन्ध में व्युत्पत्ति का सिद्धान्त (Derivative Theory) ही सब से स्वाभाविक है और यही पुरा-सात्त्विकी (Paleontology) तथा भौगोलिक वनस्पति-शास्त्र और जन्तु-शास्त्र, संरचना और वर्गीकरण के ज्ञात तथ्यों के अनुसार है।

जब कोई तरुण प्रकृतिवादी जीवों के किसी ऐसे वर्ग का अध्ययन प्रारम्भ करता है, जिसके विषय में वह कुछ नहीं जानता, तो वह प्रारम्भ में यह नहीं तय कर सकता कि वह किन अन्तरों को जात-महत्त्व के योग्य समझे और किनको भेद-महत्त्व के योग्य। कारण यह है कि वह यह नहीं जानता कि इस वर्ग में किस प्रकार के और किस हद तक परिवर्तन होते हैं, और कुछ हद तक इससे यह पता चलता है कि थोड़े-बहुत परिवर्तन का होना कितनी साधारण बात है। किन्तु यदि वह अपना अध्ययन एक ही देश में एक ही वर्ग तक सीमित रखे तो शीघ्र ही वह यह निर्णय कर लेगा कि वह अधिकतर सन्दिग्ध रूपों को किन स्तरों पर रखे। साधारणतया उसका झुकाव कई जातों के बनाने की ओर होगा, क्योंकि, जैसा ऊपर कबूतर या मुर्गियाँ पालने वालों के सम्बन्ध में कहा गया है, वह जिन जीवों का अध्ययन करता है उनके आपस के अन्तरों से बहुत प्रभावित होगा और साथ ही अपने प्राथमिक अवलोकनों के सुधार के लिए आवश्यक अन्य वर्गों तथा अन्य देशों के समानान्तर अन्तरों के ज्ञान का उसमें अभाव है। जैसे-जैसे वह अपने अवलोकनों के क्षेत्र को बढ़ाता जाएगा उसके सामने और भी कठिन उदाहरण आएँगे क्योंकि उसको बड़ी संख्या में मिलते-जुलते और निकटस्थ जीवों का सामना करना पड़ेगा। किन्तु यदि उसके अवलोकन काफी बड़े क्षेत्र में होंगे तो अन्त में वह इस सम्बन्ध में स्वयं अपने निर्णय पर पहुँच सकेगा। यद्यपि यह सफलता उसको तभी मिलेगी जब वह बड़ी संख्या में भेदों का होना स्वीकार

करेगा। इस बात को बहुधा अन्य प्रकृतिवादी स्वीकार नहीं करेंगे। जब वह ऐसे देशों के मिलते-जुलते जीवों का अध्ययन करेगा, जो आपस में एक-दुसरे से पृथक हैं तो उसको मध्यस्थ रूप नहीं मिलेंगे और ऐसी दशा में उसको विवश हो कर सादृश्य अथवा समानता का सहारा लेना पड़ेगा और उसकी कठिनाई चरम सीमा को पहुँच जाएगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अभी तक जातों तथा उपजातों को पृथक करने के लिए कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकी है। उपजातों से मेरा तात्पर्य उन जीवों से है, जो कुछ प्रकृतिवादियों की राय में जातों के वहुत निकट होते हुए भी उनके स्तर तक नहीं पहुँचते। इसी प्रकार उपजातों, स्पष्ट भेदों तथा छोटे भेदों और वैयक्तिक अन्तरों के बीच रेखा खींचना भी सम्भव नहीं है। इनके बीच के अन्तर ऐसे क्रम से व्यवस्थित होते हैं कि वास्तव में अन्तरों का पता ही नहीं चलता और साथ ही क्रम से जीवों के परिवर्तन का बोध होता है।

इसीलिए, वर्गीकरण के विद्वानों के लिए वैयक्तिक अन्तर किसी विशेष महत्त्व के नहीं हैं, हालांकि मैं उनको बहुमूल्य समझता हूँ। ऐसे परिवर्तन, जो प्राकृतिक इतिहास की पुस्तकों में उल्लेखनीय नहीं समझे जाते, वैयक्तिक अन्तरों से प्रारम्भ होते हैं। इसी प्रकार कुछ अधिक स्पष्ट और स्थायी भेदों को मैं पृथक और बिल्कुल स्थायी भेदों की सीढ़ियाँ, इन भेदों को उपजातों की सीढ़ियाँ और उपजातों को जातों की सीढ़ियाँ मानता हूँ। अन्तरों की एक अवस्था का दूसरे में परिवर्तित होना बहुधा जीव की प्रकृति और उसके चारों ओर की भौतिक दशाओं पर निर्भर हो सकता है। किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण और अनुकूलनशील लक्षणों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनसे सम्बन्ध रखने वाले परिवर्तन प्राकृतिक निर्वाचन की एकत्रित क्रिया तथा अंगों के अधिक उपयोग तथा अनुपयोग पर निर्भर हैं, इसलिए किसी स्पष्ट भेद को हम जात की प्रारम्भिक अवस्था कह सकते हैं। लेकिन यह विश्वास कहाँ तक उचित है यह इस पुस्तक में दिये हुए सभी तथ्यों और तर्कों के अध्ययन से मालूम होगा।

यह मान लेने की आवश्यकता नहीं है कि सभी भेद अथवा प्रारम्भिक जातें जातों के स्तर तक पहुँच जाते हैं। हो सकता है कि वे लुप्त हो जायें, और जैसा मि० वोलस्टन (Mr. Wollaston) ने मेडायरा के स्थल कवचों (Land shells) के जीवाश्मों के भेंदों के विषय में और मि० गासटन डी सपोरटा (Mr. Gaston de Saporta) ने वनस्पतियों के विषय में सिद्ध किया है, यह भी हो सकता है कि वे बहुत काल तक भेद के ही रूप में बने रहे हों। यदि किसी भेद की ऐसी उन्नति हो कि उसकी संख्या मूलजात से भी बढ़ जाये तो उसको जात का स्तर प्राप्त हो जाएगा और मूलजात को भेद कहा जाएगा। यह भी हो सकता है कि ऐसी स्थिति में वह

मूलजात को नष्ट कर उसका स्थान ग्रहण कर ले, अथवा दोनों स्वतन्त्र जातों के रूप में साथ-साथ पायी जा सकती हैं। हम इस विषय की चर्चा फिर करेंगे।

ऊपर लिखी बातों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि मैं जात शब्द को केवल अस्थायी महत्त्व का समझता हूँ और मेरे विचार में इसका प्रयोग केवल सुविधा के लिए है। एक-दूसरे से मिलते-जुलते व्यक्तियों के समूह के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। जात शब्द का भेद शब्द से कोई वास्तविक अन्तर नहीं है किन्तु यह शब्द कुछ कम स्पष्ट और अधिक परिवर्तनशील रूपों के लिए प्रयोग किया जाता है। केवल वैयक्तिक अन्तरों की अपेक्षा भेद शब्द भी केवल सुविधा के लिए, मनमाने ढंग से, व्यवहार में लाया जाता है।

बहुत फैली हुई, प्रसरित सामान्य जातों में सब से अधिक अन्तर होते हैं

सैद्धान्तिक बातों का विचार करने पर मैंने यह सोचा कि यदि मैं कई भलीभाँति ज्ञात वनस्पतियों के भेदों को तालिका-बद्ध करूँ तो कदाचित बहुत परिवर्तनशील जातों की प्रवृत्ति और उनके सम्बन्ध के विषय में कुछ रोचक निष्कर्ष निकल सकें। आरम्भ में यह काम बहुत आसान रहा। किन्तु मि० एच० सी० वाटसन (Mr. H. C. Watson) ने, जिनका इस विषय पर अनेक सहायताओं तथा परामर्श के लिए मैं आभारी हूँ, जल्दी ही मुझको इस बात का विश्वास करवाया कि इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। बाद में डाक्टर हूकर (Dr. Hookar) ने भी ज़ोरदार शब्दों में यही राय दी। इन कठिनाइयों का उल्लेख मैं भविष्य में एक अन्य लेख में करूँगा और साथ ही परिवर्तनशील जातों की तुलनात्मक संख्याओं की तालिकाएँ भी दूँगा। ध्यान से मेरी पांडुलिपि पढ़ने और तालिकाओं की परीक्षा करने के बाद डाक्टर हूकर ने मुझको यह लिखने की आज्ञा दी है कि मेरे निम्नलिखित वक्तव्य भलीभाँति सिद्ध हैं। फिर भी पूरे विषय का उल्लेख बहुत संक्षेप में होने के कारण यह काफी कठिन जान पड़ता है और कई स्थानों पर मुझको जीवन-संघर्ष (Struggle for existence); लक्ष्यों के विचलन (Divergence of Characters) आदि प्रश्नों की चर्चा करनी पड़ी है, यद्यपि उनका वास्तविक स्थान यह नहीं है।

ऐल्फॉन्ज़ डि कैन्डोल और अन्य लेखकों ने यह सिद्ध किया है कि जिन पौधों का विस्तार-क्षेत्र बहुत अधिक है, साधारणतः उनके कई भेद पाये जाते हैं। इस बात की आशा भी की जानी चाहिए क्योंकि वे विविध भौतिक परिस्थितियों का सामना करते हैं और विभिन्न प्रकार के जीवों के साथ प्रतियोगिता में पड़ते हैं। बाद में हम देखेंगे कि यह प्रतियोगिता भी बहुत महत्वपूर्ण कारण सिद्ध होती है। किन्तु मेरी तालिकाओं

से इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध होता है कि किसी सीमित प्रदेश में जो जात सबसे अधिक सामान्य है, अर्थात जिसकी संख्या सबसे अधिक है, तथा जो उस प्रदेश के भीतर ही भीतर सबसे अधिक फैली हुई है (ध्यान रहे यह फैलना क्षेत्र के विस्तार तथा बहुसंख्यक होने से कुछ भिन्न है—इसके अर्थ हैं प्रदेश के भीतर ही प्रत्येक भाग में जात का पाया जाना), साधारणतः उसी जात में ऐसे स्पष्ट भेद उत्पन्न होते हैं जिनको वनस्पति-शास्त्र की पुस्तकों में स्थान मिलता है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि सबसे सफल जातों में ही अधिकतर भेद उत्पन्न होते हैं। इस सफलता की नाप है उनका क्षेत्र के भीतर विस्तार, क्षेत्र का बड़ा होना, तथा सदस्यों की बहुसंख्यता। ऐसी जातों को इसीलिए प्रबल (dominant) कहा जा सकता है और मेरे विचार में स्वयं भेदों को प्रारम्भिक जातें (incipient species) कहा जा सकता है। फिर ऐसी जातों में भेदों के पाये जाने की भी आशा की जा सकती है, क्योंकि भेदों को किसी अंश तक स्थायी होने के लिए उस प्रदेश के अन्य जीवों के साथ संघर्ष करना होगा, जिसके फलस्वरूप पहले से प्रबल जातें संतानें उत्पन्न करेंगी, जो कुछ हद तक संपरिवर्तित होते हुए भी अपने माता-पिता के ऐसे लक्षणों को वंशागत करेंगी, जिनके कारण वह स्वयं प्रबल थीं। ध्यान रहे कि प्रबलता संबंधी ये बातें केवल उन्हीं पर लागू हैं जो एक-दूसरे से, और विशेषतः लगभग एक ही रहन-सहन वाले एक ही जाति या एक ही वर्ग के जीवों से, प्रतियोगिता करते हैं। जहाँ तक जात की बहुसंख्यता का संबंध है, निश्चय ही यह तुलना उसी समूह के जीवों से संबंध रखती है। किसी उच्च पौधे को हम प्रबल तब कहते हैं, जब उसी प्रदेश के तथा लगभग उन्हीं परिस्थितियों में पाये जाने वाले पौधों की अपेक्षा उसके सदस्यों की संख्या अधिक हो और वे अधिक दूर तक प्रसरित हों। यदि पानी में पाया जाने वाला कोई पौधा अथवा कोई परजीवी कवक (fungus) ऐसे पौधे से बहुत अधिक बहुसंख्यक और प्रसरित हो तो भी उसकी प्रबलता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, किन्तु यदि यह पानी का पौधा अथवा परोपजीवी कवक अपनी ही तरह के तथा अपनी ही प्रकृति के अन्य पौधों और कवकों के पौधों से बहुसंख्यक है तो अपने वर्ग विशेष में प्रत्येक प्रबल समझा जायेगा।

प्रत्येक देश में बड़ी जातियों की जातों में छोटी जातियों की जातों की अपेक्षा बार-बार परिवर्तन होते हैं

यदि हम किसी प्रदेश में पाये जाने वाले सभी वनस्पतियों को दो बराबर समूहों में इस प्रकार बाँटें कि एक समूह में बड़ी जातियों को रखा जा सके (अर्थात वे जिनके

अन्तर्गत अनेक जातें हों) और दूसरे समूह में छोटी जातियाँ हों, तो हम देखेंगे कि पहले समह में अधिक संख्या में ऐसे अनेक सामान्य पौधे होंगे, जो बहुत प्रसरित होंगे। दूसरे शब्दों में इस समूह में अधिकांश प्रबल जातें होंगी। इस बात की आशा भी करनी चाहिए कि यदि किसी प्रदेश में एक ही जाति की कई जातें पायी जाती हैं, तो यह स्पष्ट है कि उस प्रदेश के सजीवी या निर्जीव वातावरण में ऐसी कोई बात है जो उस जाति की वृद्धि में विशेष रूप से अनुकूल है। फलतः हम बड़ी, अर्थात कई जातों वाली, जातियों के अन्तर्गत प्रबल जातों के बड़े अनुपात में होने की आशा कर सकते हैं। किन्तु यह निष्कर्ष अनेक कारणों से इतना छिप जाता है, कि मुझको यही आश्चर्य है कि मेरी तालिकाओं में बड़ी जातियाँ कुछ हद तक बहुसंख्यक कैसे हैं? मैं यहाँ इनमें से केवल दो कारणों की चर्चा करूँगा। उदाहरण के लिए ताजे या खारे पानी वाले पौधों का विस्तार सामान्यतः बहुत होता है और उनका प्रसार भी अधिक होता है, किन्तु इन बातों का सम्बन्ध उनके निवास-क्षेत्र की प्रकृति से है न कि उस जाति से, जिसके अन्तर्गत यह है। फिर वे पौधे, जो संरचना की दृष्टि से बहुत नीचे स्तर में होते हैं, वे उच्चस्तर वाले पौधों की अपेक्षा बहुत प्रसरित होते हैं, और इस बात का सम्बन्ध भी जातियों के बड़े या छोटे होने से नहीं होता। फैलाव के अधिक साधनों से सम्पन्न निम्न श्रेणी के पौधों के कारण पर हम भौगोलिक वितरण के अध्याय में विचार करेंगे।

जातों को स्पष्ट तथा पृथक भेदों की दृष्टि से देखने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि प्रत्येक प्रदेश की बड़ी जातियों की जातों में छोटी जातियों की जातों की अपेक्षा बहुधा भेद अधिक होंगे क्योंकि जहाँ भी कई सन्निकट जातें बन गयी हैं (अर्थात एक जाति की कई जातें), वहाँ साधारणतः कई भेदों अथवा प्रारम्भिक जातों का निर्माण होना चाहिए। जहाँ कई बड़े वृक्ष होते हैं, वहीं हम उनके छोटे पौधों की भी आशा करते हैं। जहाँ परिवर्तनों के द्वारा एक जाति की कई जातें उत्पन्न हुई हैं, स्पष्ट है कि वहाँ परिस्थिति परिवर्तनों के लिए अनुकूल है; और हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि वे परिस्थितियाँ अब भी परिवर्तनों के लिए अनुकूल होंगी। किन्तु यदि हम प्रत्येक जात को सृष्टि की पृथक रचना मानते हैं, तो कोई वजह नहीं कि कई जातों वाले समूहों में भेद अधिक पाये जायें, और कम जातों वाले समूहों में कम भेद पाये जायें।

अपनी इस आशा की सत्यता की परीक्षा करने के लिए मैंने बारह प्रदेशों के पौधों तथा दो क्षेत्रों के गुबरैलों (Coleopterous insects) को लगभग दो बराबर समूहों में बाँटा और बड़ी जातियों के जातों को एक ओर तथा छोटी जातियों

के जातों को दूसरी ओर रखा है। मैंने बराबर देखा है कि बड़ी जातियों की ओर अधिक भेद होते हैं और छोटी जातियों की ओर कम। यदि हम यह विभाजन बहुत छोटी जातियों में अर्थात, एक से चार जातों वाली जातियों को अलग निकाल कर करें तो भी यही निष्कर्ष निकलता है। इन बातों से इस मत की पुष्टि होती है कि जातों तथा भेदों में केवल अंशों का भेद होता है और जातें भेदों से अधिक स्पष्ट और स्थायी होती हैं। क्योंकि जहाँ कहीं एक ही जाति की कई जातें बन चुकी हैं, अर्थात दूसरे शब्दों में जातों का निर्माण-कार्य हुआ है, वहाँ इस निर्माण-कार्य को अब तक चलते रहना चाहिए, विशेष कर इसलिए कि हर प्रकार से यह जान पड़ता है कि नयी जातों के निर्माण की क्रिया बहुत धीमी होती है। यदि हम भेदों को प्रारम्भिक जातें मान लें तो भी यह बात इतनी ही सत्य है क्योंकि साधारण दृष्टि से मेरी तालिकाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि जहाँ कहीं एक जाति की बहुत सी जातें बनी हैं वहाँ उस जाति की जातों में औसत से अधिक भेद अथवा प्रारम्भिक जातें पायी जाती हैं। यह बात नहीं है कि सभी बड़ी जातियों में इस समय बहुत परिवर्तन हो रहा है और इस प्रकार उनकी जातों की संख्या में वृद्धि हो रही है, और न ऐसा ही है कि किन्हीं छोटी जातियों में परिवर्तन हो ही नहीं रहा है और उनकी जातों की संख्या में वृद्धि नहीं हो रही है। यदि ऐसा होता तो यह मेरे सिद्धान्त के लिए संघातक होता; क्योंकि भूतत्व-शास्त्र से हमको यह स्पष्ट पता चलता है कि समय व्यतीत होने के साथ-साथ छोटी जातियों की जातों की संख्या में बहुधा बहुत वृद्धि हुई और बड़ी जातियाँ अपनी पराकाष्ठा को पहुँच कर गिरीं और अन्त में नष्ट हो गयीं। हम यहाँ केवल इतना सिद्ध करना चाहते हैं कि जहाँ एक जाति की कई जातें बनी हैं, वहाँ साधारणतः कई अब भी बन रही हैं—और यह सिद्ध है।

बड़ी जातियों की कई जातें इस सम्बन्ध में भेदों के समान हैं कि वे एक-दूसरे से निकट किन्तु असमान रूप से सम्बन्धित हैं और उनका विस्तार सीमित है।

बड़ी जातियों की जातों और उनके ज्ञात भेदों के बीच कुछ अन्य सम्बन्ध भी हैं जिन पर हम ध्यान देंगे। हम देख चुके हैं कि हमारे पास ऐसे कोई स्पष्ट नियम नहीं हैं जिनकी सहायता से हम जातों तथा भेदों को एक-दूसरे से अलग कर सकें और जब सन्दिग्ध रूपों के बीच माध्यमिक जीव नहीं मिलते तो विवश होकर प्रकृतिवादियों को उनका निर्णय अन्तरों की मात्रा के आधार पर करना होता है। ऐसे निर्णय में वे अन्य जीवों की समानता के आधार पर यह तय करते हैं कि अन्तरों की मात्रा उनको

जात का स्तर प्रदान करने के लिए पर्याप्त है अथवा नहीं। स्पष्ट है कि यह निर्णय करने के लिए कि कोई भी दो जीव जात अथवा भेद के स्तर पर रखे जाएँ, अन्तरों की मात्रा महत्त्वपूर्ण माप का कार्य करती है। फ्रीस (Fries) ने पौधों के विषय में, तथा वेस्टउड (West Wood) ने कीटों के सम्बन्ध में यह कहा है कि बहुधा बड़ी जातियों में जातों के परस्पर अन्तर अत्यन्त छोटे होते हैं। मैंने इस बात की परीक्षा करने का प्रयत्न संख्याओं का औसत निकाल कर किया। मेरे इन अपूर्ण परिणामों से इस कथन की ही पुष्टि होती है। मैंने इस विषय पर कुछ विचारशील तथा अनुभवी विद्वानों से भी परामर्श किया है और काफी सोच-विचार के बाद वे भी इस मत का अनुमोदन करते हैं। अतः इस विषय में छोटी जातियों की जातों की अपेक्षा बड़ी जातियों की जातें भेदों के बहुत समान हैं। दूसरे प्रकार से इस बात को हम यों कह सकते हैं कि बड़ी जातियों में, जिनमें औसत से अधिक भेदों अथवा प्रारम्भिक जातों का निर्माण हो रहा है, कई नव-निर्मित जातें अब भी कुछ हद तक भेदों के समान हैं, क्योंकि वे एक दूसरे से साधारण से कम मात्रा में भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त बड़ी जातियों की जातें एक-दूसरे से उसी प्रकार सम्बन्धित हैं, जिस प्रकार एक जात के भेद एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। कोई प्रकृतिवादी यह नहीं कहता कि एक जाति की सभी जातें एक-दूसरे से बराबर स्पष्ट है। वे उप-जातियों (sub-genera), खंडों (sections) या और भी छोटे विभाजनों में बाँटी जा सकती हैं। जैसा फ्रीस ने कहा है, जातों के छोटे-छोटे समूह साधारणतः दूसरे जातों के चारों ओर उपग्रहों की भाँति व्यवस्थित किये जा सकते हैं। और भेद भी तो जीवों के समूह ही हैं, जो एक-दूसरे से असमान रीति से सम्बन्धित हैं और कुछ अन्य रूपों अर्थात मूल जातों के चारों ओर एकत्रित होते हैं। निस्संदेह भेदों और जातों के बीच एक और भी अन्तर होता है; अर्थात एक ही जाति की जातों के बीच के अन्तरों की अपेक्षा दो परस्पर भेदों अथवा भेदों तथा मूल जात के बीच के अन्तर बहुत कम होते हैं। किन्तु जब हम इस सिद्धान्त पर, जिसको मैंने लक्षणों का विचलन (Divergence of Characters) कहा है, विचार करूँगा, तब हम इसका स्पष्टीकरण करेंगे और यह देखेंगे कि किस प्रकार भेदों के बीच के छोटे-छोटे अन्तर जातों के बीच के बड़े अन्तरों में बदल जाते हैं।

एक बात और भी विचार करने योग्य है। साधारणतः भेदों का विस्तार बहुत सीमित होता है। वास्तव में यह स्वयंसिद्ध है क्योंकि यदि किसी भेद का विस्तार मूल जात के विस्तार से अधिक हो तो उनके स्तर उलट-पलट जाएँगे, अर्थात भेद जात कहलाएगा और जात को भेद का स्तर दिया जाएगा । किन्तु यह भी मानना

पड़ेगा कि जो जात अन्य जातों के बहुत सन्निकट हैं और इस प्रकार भेदों के बहुत समान हैं, बहुधा उनके विस्तार भी बहुत सीमित हैं। उदाहरण के लिए मि० एच० सी० वाट्सन (Mr. H. C. Watson) ने मेरे लिए लन्दन के पौधों की सूची (London Catalogue of Plants) में तिरसठ ऐसे पौधे चुने हैं, जिनको सूची में जाति का स्तर दिया गया है किन्तु जो उनकी राय में अन्य जातों से इतने निकट हैं कि उनकी स्थिति बहुत संदेहजनक है। ग्रेट ब्रिटेन को वाट्सन ने जिन प्रदेशों में बाँटा है, ये ६३ सुविख्यात जातें औसत रूप से ६.९ प्रदेशों में फैली हैं। इसी सूची में ५३ मान्य भेद भी दिये हैं जो ७.७ प्रदेशों में फैले हैं। जबकि इन भेदों की मूल जातें १४.३ प्रदेशों में फैली हैं। इस प्रकार मान्य भेदों की औसत सीमा लगभग उतनी ही है, जितनी वाट्सन द्वारा चुनी गयी सन्निकट तथा सन्दिग्ध जातों की सीमा। ध्यान रहे कि इन सन्दिग्ध जातों को सभी वनस्पति-शास्त्री अच्छी और पक्की जातों का स्तर प्रदान करते हैं।

सारांश

निम्नलिखित आधारों को छोड़ भेदों को जातों से अलग करने की और कोई विधि नहीं है; पहले माध्यमिक अथवा जोड़ने वाले जीवों का आविष्कार; दूसरे उनके बीच कुछ अनिश्चित मात्रा में अन्तरों का होना; यदि दो जीव एक दूसरे से निकट रूप से सम्बन्धित नहीं भी हैं; किन्तु उनमें अन्तर बहुत कम है तो उनको बहुधा भेदों का स्तर देते हैं; लेकिन यह निश्चित करना सम्भव नहीं कि किन्हीं दो जीवों को जातों का स्तर देने के लिए कितना अन्तर होना आवश्यक है। किसी देश में जिन जातियों में औसत से अधिक संख्या में जातें पायी जाती हैं, उन जातियों की जातों में औसत से अधिक भेद भी होते हैं। बड़ी जातियों में जातों का सन्निकट किन्तु असमान रूप से सम्बन्धित होना अनिवार्य है। ये जातें अन्य जातों के चारों ओर समूह बनाती हैं। जो जातें अन्य जातों के सन्निकट होती हैं, उनका विस्तार बहुत सीमित होता है। इन सब विषयों में बड़ी जातियों की जातें भेदों के बहुत समान होती हैं। यदि जातें कभी भेदों के रूप में थीं, और इस प्रकार उनकी उत्पत्ति हुई, तो इस समता का समझना आसान है; किन्तु यदि जातों की सृष्टि पृथक रूप से हुई है, तो इस समता का समझना असम्भव है।

हमने यह भी देखा कि प्रत्येक वर्ग में बड़ी जातियों की सबसे उन्नीतशील या प्रबल जात ही सब से अधिक संख्या में भेद उत्पन्न करती है। और जैसा हम बाद में देखेंगे, भेदों में नयी और स्पष्ट जातों का रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है। इस

प्रकार बड़ी जातियाँ और बड़ी होती जाती हैं और पूरी सृष्टि में जो जीव आज प्रबल हैं वे कई परिवर्तित और प्रबल संतति उत्पन्न करके और भी प्रबल होते हैं। साथ ही कई अवस्थाओं से, जिनका उल्लेख बाद में होगा, बड़ी जातियाँ कई छोटी जातियों में भी बँटती जाती हैं। इस प्रकार संसार के सभी जीव समूहों और फिर उनके अन्तर्गत उपसमूहों में विभाजित होते हैं।

अध्याय तीन

जीवन-संघर्ष

(Struggle for existence)

प्राकृतिक निर्वाचन पर इसका प्रभाव—व्यापक अर्थ में इस पद का प्रयोग—वृद्धि का गुणोत्तर अनुपात—ऐसे जन्तुओं तथा पौधों में वेग से वृद्धि होती है जिनका प्रकृतिकरण हो चुका है—वृद्धि में बाधाओं की प्रकृति—विश्वव्यापी प्रतियोगिता—जल वायु के प्रभाव—सदस्यों की संख्या से बचाव—समस्त प्रकृति में जन्तुओं तथा वनस्पतियों के बीच जटिल संबंध—एक ही जात के सदस्यों और भेदों में जीवन-संघर्ष सब से अधिक विकट होता है—कभी-कभी एक ही जाति की जातों में इसका बहुत विकट होना—जीवों का परस्पर संबंध अन्य सभी संबंधों से अधिक महत्वपूर्ण है।

इसके पहले कि मैं इस अध्याय के मुख्य विषय में प्रवेश करूँ, यह दिखाने के लिए कि जीवन-संघर्ष का प्रभाव किस प्रकार प्राकृतिक निर्वाचन पर पड़ता है, मैं कुछ प्रारम्भिक बातें लिखूँगा। पिछले अध्याय में यह देखा गया कि प्राकृतिक दशाओं में जीवों में कुछ वैयक्तिक परिवर्तनशीलता पायी जाती है। मेरी समझ में इसको अस्वीकार नहीं किया गया है। इस समय हमारे लिए इस बात में कोई अन्तर नहीं कि कुछ सन्दिग्ध प्राणियों को जात, उपजात या पृथक भेद कहा जाता है। उदाहरण के लिए यदि पौधों में कुछ स्पष्ट भेदों को हम मान भी लें, तो दो या तीन सौ सन्दिग्ध ब्रिटिश पौधों को कौन-सा स्तर दिया जाता है, यह हमारे लिए इस समय विशेष महत्व की बात नहीं है, किन्तु हालांकि वैयक्तिक अन्तरों और कुछ स्पष्ट भेदों का होना हमारे कार्य के लिए अनिवार्य है, फिर भी इससे यह समझने में बहुत सहायता नहीं मिलती कि प्रकृति में जातों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार शरीर के विभिन्न भाग एक-दूसरे से तथा जीवन की परिस्थितियों से इतनी सुन्दर रीति से अनुकूलित हुए और किस प्रकार विभिन्न जीव दूसरे की ओर पूर्णतः अनुकूलित हुए। इस तरह के परस्पर सुन्दर अनुकूलन के उदाहरण कठफोड़वा तथा मिसिलटो (Mistletoe) के वृक्ष के बीच स्पष्ट देखे जाते हैं। चौपायों के रोम अथवा चिड़ियों के परों से चिपकने वाले सूक्ष्म पर जीवों में, पानी में तैरने वाले गुबड़ैले

(बीटिल) की संरचना में, धीमी वायु में भी उड़ने वाले परदार बीज में, हम ऐसे ही अनुकूलन देखते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस प्रकार के सुन्दर अनुकूलन हर जगह और जीव-संसार के हर भाग में देखे जा सकते हैं।

यह प्रश्न उठता है कि किस प्रकार भेद, जिनको मैंने प्रारम्भिक जातें कहा है अन्त में अच्छी और स्पष्ट जातों में परिणत हो जाते हैं, जब कि एक ही जात के भेदों की अपेक्षा स्पष्ट जातों में परस्पर बहुत अन्तर होते हैं? और किस प्रकार जातों के वे समूह, जिनको हम जातियाँ (genera) कहते हैं (और जो एक-दूसरे से एक ही जाति की विभिन्न जातों की अपेक्षा बहुत भिन्न होती हैं) उत्पन्न होते हैं? जैसा हम अगले अध्याय में अच्छी तरह देखेंगे, यह सब जीवन-संघर्ष के परिणाम हैं। चाहे अन्तर कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों, और किसी भी कारण से उत्पन्न क्यों न होते हों, यदि वे किसी तरह उस जात के सदस्यों के लिए अन्य जीवों तथा वातावरण की दशाओं के सम्बन्ध में लाभदायक हैं, तो वे सदस्यों की रक्षा में सहायक होंगे, और इस प्रकार ये अन्तर साधारणतः सन्तानों में वंशागत होंगे। इस प्रकार सन्तानों की भी रक्षा के अवसर अधिक होंगे क्योंकि समय-समय पर किसी भी जाति में जितनी कुल संतानें उत्पन्न होती हैं उनमें से कुछ ही जीवित रह सकती हैं। उस सिद्धान्त को जिसके अनुसार उपयोगी होने पर छोटे-से-छोटे परिवर्तन की भी रक्षा होती है, मैंने प्राकृतिक निर्वाचन (Natural selection) कहा है, विशेषकर इसलिए कि इस क्रिया का सम्बन्ध मनुष्य की निर्वाचन-क्रिया से स्पष्ट हो सके। किन्तु मि० हरबर्ट स्पेनसर (Mr. Herbert Spencer) द्वारा उपयोग किया हुआ पद योग्यतम का अतिजीवन (Survival of the Fittest) अधिक उपयुक्त है और अधिक सुविधाजनक भी है। हम देख चुके हैं कि निर्वाचन द्वारा मनुष्य बहुत अच्छे नतीजे उत्पन्न कर देता है और प्रकृति द्वारा दिये हुए सूक्ष्म, किन्तु उपयोगी परिवर्तनों को संग्रह कर के जीवों को अपने लिए उपयोगी बना लेता है। किन्तु जैसा हम बाद में देखेंगे, प्राकृतिक निर्वाचन की शक्ति निरन्तर क्रियाशील रहती है और मनुष्य के निर्बल प्रयत्नों से कितनी ही गुना अधिक शक्तिशाली है, जैसे मनुष्य-निर्मित कला के सौन्दर्य की अपेक्षा प्राकृतिक सौन्दर्य।

अब हम जीवन-संघर्ष के विषय पर कुछ विस्तार पूर्वक विचार करेंगे। मेरी आगामी पुस्तक में इस विषय पर और भी विस्तार पूर्वक विचार होगा।

बड़े डि कैन्डोल (De Candolle) तथा लियेल (Lyell) ने भलीभाँति विचार कर के यह सिद्ध किया है कि सभी जीवों को कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। पौधों के विषय में तो मानचेस्टर के डीन, डब्लू० हरबर्ट (W. Herbert) ने

अपने फल-उत्पादन के ज्ञान के फलस्वरूप इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़ी ही योग्यता और शक्ति से किया है। जीवन के लिए विश्वव्यापी संघर्ष के सत्य को स्वीकार कर लेना बहुत आसान है किन्तु साथ ही मैं देखता हूँ कि इस निष्कर्ष को प्रतिक्षण मस्तिष्क में रखना बहुत कठिन है। किन्तु यदि यह सत्य पूर्णतया मस्तिष्क में बैठ नहीं जाता तो प्रकृति की मितव्ययिता के किसी पहलू, जैसे जीवों का वितरण, उनका बाहुल्य, विरलापन, विलुप्तता और परिवर्तन का समझना कठिन होगा या वे गलत समझे जाएँगे। हम प्रकृति का उज्ज्वल और प्रसन्न मुख देखते हैं, बहुधा हम उसमें भोज्य पदार्थों की बहुतायत देखते हैं। किन्तु हम यह नहीं देखते, या भूल जाते हैं कि हमारे चारों ओर गाने वाली चिड़ियाँ अधिकतर कीटों या बीजों पर अपना निर्वाह करती हैं और इस प्रकार निरन्तर जीवन का नाश करती हैं। हम यह भी भूल जाते हैं कि किस हद तक इन चिड़ियों को अथवा इनके अंडों-बच्चों को शिकारी चिड़ियाँ या अन्य जानवर नष्ट करते हैं। हम यह भी याद नहीं रखते कि चाहे इस समय भोजन पर्याप्त से अधिक मात्रा में हो, किन्तु प्रत्येक वर्ष हर मौसम में ऐसा नहीं रहता।

जीवन संघर्ष पद का व्यापक अर्थ में प्रयोग

मुझको यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि मैं जीवन-संघर्ष पद का व्यापक और लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग करता हूँ, और उसके अन्तर्गत एक जीव की दूसरे पर निर्भरता और उससे भी महत्त्वपूर्ण बात—न केवल जात के सदस्यों की सुरक्षा वल्कि सन्तति स्थापित करने की सफलता—को भी सम्मिलित करता हूँ। भोजन की कमी में कुत्तों के वंश के दो प्राणी वास्तव में एक-दूसरे से जीवित दशा में आहार प्राप्त करने के लिए होड़ कर सकते हैं। किन्तु मरुभूमि के किनारे स्थित एक पौधे का जीवन-संघर्ष सूखे के विरुद्ध होता है, हालांकि सही शब्दों में यह कहना चाहिए कि उसका जीवन पानी पर निर्भर है। जो पौधा प्रतिवर्ष एक हजार बीज उत्पन्न करता है, जिनमें से साधारणतः केवल एक ही विकसित होता है, वह वास्तव में अपने और दूसरे प्रकार के तमाम ऐसे पौधों के साथ जीवन-संघर्ष करता है, जिनसे पृथ्वी ढकी होती है। मिसिलटो का पौधा सेव या कुछ अन्य वृक्षों पर निर्भर होता है। व्यापक अर्थ के अनुसार इन वृक्षों से वह संघर्ष करता है, क्योंकि यदि एक ही वृक्ष पर इन परजीवी पौधों (मिसिलटो) की संख्या बहुत बढ़ जाये तो वृक्ष कमजोर हो जाता है और अन्त में मर जाता है, किन्तु एक ही शाखा पर उगने वाले मिसिलटो के कई अंकुरों के विषय में यह कहना ठीक होगा कि वे आपस में संघर्ष करते हैं। चूंकि मिसिलटो का विकिरण पक्षियों द्वारा होता है इसलिए इनका जीवन इन पर निर्भर है। अब लाक्षणिक ढंग से हम कह सकते

हैं कि बीजों को निगलने और उनका विकिरण करने के सम्बन्ध में यह पौधा अन्य फल वाले पौधों के साथ संघर्ष करता है क्योंकि विकिरण-क्रिया के लिए पक्षियों को आकर्षित करना आवश्यक है। मैंने सुविधा की दृष्टि से इन विभिन्न अर्थों के लिए, जो एक-दूसरे से मिल-जुल जाते हैं, जीवन-संघर्ष पद का उपयोग किया है।

वृद्धि का गुणोत्तर अनुपात

अनिवार्य रूप से जीवन-संघर्ष इसलिए होता है कि सभी जीवों की संख्या में वेग से वृद्धि होती है। प्रत्येक ऐसे जीव में, जो अपने स्वाभाविक जीवनकाल में अनेक अंडे या बीज उत्पन्न करते हैं, जीवन के किसी काल में तथा किसी मौसम या वर्ष में उनका नाश होना आवश्यक है। ऐसा न हुआ तो गुणोत्तर वृद्धि के सिद्धान्त के अनुसार जल्दी ही इनकी संख्या इतनी बढ़ जाएगी कि वे किसी भी प्रदेश में अपना निर्वाह न कर सकेंगे। अतः जब, जितने व्यक्ति जीवित रह सकते हैं उससे अधिक उत्पन्न होते हैं, तो सदा उनमें जीवन-संघर्ष होगा, चाहे वह उसी जात के विभिन्न सदस्यों के बीच हो, अथवा विभिन्न जातों के सदस्यों के बीच हो, अथवा जीवन की भौतिक परिस्थितियों के साथ हो। यह मैल्थूज़ का सिद्धान्त (Doctrine of Malthus) है और सम्पूर्ण जन्तु तथा वनस्पति साम्राज्य में कई गुनी शक्ति से लागू होता है, क्योंकि इनके विषय में न तो कृत्रिम रूप से भोजन अधिक हो सकता है, और न इनकी संतानोत्पत्ति पर रोक लगायी जा सकती है। हालांकि यह हो सकता है कि कुछ जातें इस समय संख्या में कुछ वेग से बढ़ रही हों, किन्तु सभी ऐसा नहीं कर सकतीं क्योंकि संसार में इनके लिए पर्याप्त स्थान नहीं है।

यदि कोई जात स्वाभाविक रीति के अनुसार वेग से बढ़ेगी और नष्ट न होगी तो एक ही जोड़ा सदस्यों की संतति से सारी पृथ्वी ढक जायगी; अतः स्पष्ट है कि इस नियम में कोई अपवाद नहीं है। बहुत धीरे-धीरे संतानोत्पत्ति करने वाले मनुष्य की संख्या भी पचीस वर्षों में दुगुनी हो गयी है, और इस गति से एक हज़ार वर्षों में वास्तव में उसकी सन्तानों के लिए संसार में खड़े होने की जगह न रहेगी। लीनियस ने हिसाब लगाया है कि यदि कोई वर्षीय पौधा प्रतिवर्ष केवल दो बीज उत्पन्न करे और इसी प्रकार इन बीजों से उत्पन्न पौधे भी प्रति वर्ष दो ही बीज उत्पन्न करें (ध्यान रहे कि कोई भी पौधा इतनी कम जनन-शक्ति वाला नहीं है), तो भी बीस वर्ष में दस लाख पौधे हो जाएँगे। जानवरों की दुनिया में हाथी की जनन-शक्ति सब से कम है। मैंने इसकी स्वाभाविक वृद्धि की कम-से-कम गति का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया। यदि यह मान लिया जाए, कि यह तीस वर्ष की अवस्था में सन्तानोत्पत्ति प्रारम्भ करता है

और ९० वर्ष की अवस्था तक बच्चे देता है, और इस बीच में कुल मिला कर छः बच्चे देता है, और इसकी पूरी आयु सौ वर्ष होती है तो एक जोड़ा हाथियों से ७४० से ७५० वर्षों में लगभग एक लाख नब्बे हज़ार हाथी जीवित मिलेंगे।

वास्तव में इस विषय पर हिसाब लगाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि हमारे पास हिसाब से अच्छे प्रमाण हैं। एक के बाद एक, दो-तीन ऋतुओं में परिस्थितियों के अनुकूल रहने पर कई प्राणी प्रकृति में बड़ी तेज़ी से संख्या में वृद्धि करते हैं। इससे भी अच्छा प्रमाण संसार भर में पाये जाने वाले कई पालतू जानवरों के विषय में है। यदि दक्षिणी अमेरिका और हाल में आस्ट्रेलिया में मन्द गति से जनन करने वाले ढोरों और घोड़ों की वृद्धि की गति के विषय में हमारे पास पक्का सबूत न होता, तो इस विषय पर दी हुई संख्याओं का हम विश्वास न करते। यही बात पौधों के साथ भी है। कई ऐसे पौधों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो दस वर्ष से कम अवधि में ही पूरे द्वीप में फैल गये हैं। ला प्लाटा (La Plata) के लम्बे-चौड़े मैदानों में कई ऐसे पौधे पाये जाते हैं—जैसे लम्बी थिसिल (thistle) और कारडून (Cardoon) जो मीलों तक पूरे धरातल को ऐसा ढके हुए हैं कि वहाँ किसी दूसरे पौधे के लिए स्थान नहीं रह गया है—और ये पौधे यहाँ यूरोप से आये हैं। इसी तरह डा० फैलकोनर (Dr. Falconer) के अनुसार भारत में हिमालय से केपकमोरिन तक कई ऐसे पौधे फैले हुए हैं, जो उनके आविष्कार के बाद अमेरिका से वहाँ लाये गये हैं। इस प्रकार के अनगिनत उदाहरणों में कोई यह नहीं कहता है कि इन पौधों अथवा जानवरों की उर्वरता एकाएक और स्थायी रूप से बढ़ गयी है। इस वृद्धि का एक ही स्पष्ट कारण है, और वह यह कि वहाँ जीवन की परिस्थितियाँ इन जीवों के लिए बहुत अनुकूल रही हैं और फलतः छोटे तथा बड़े जीवों का नाश कम हुआ और लगभग सभी जीव जनन कर सके हैं। दूसरे शब्दों में उनकी वृद्धि गुणोत्तर अनुपात में हुई जिसका फल सदा अद्भुत होता है और जिससे न केवल उनकी संख्या में तीव्र वृद्धि हुई बल्कि नये निवास-क्षेत्रों में उनका प्रसरण भी विस्तार में हुआ।

प्राकृतिक अवस्था में लगभग सभी पूर्ण वृद्धि को प्राप्त पौधे प्रतिवर्ष बीज उत्पन्न करते हैं और कदाचित कोई भी ऐसा जन्तु न होगा जो प्रतिवर्ष मैथुन न करता हो। अतः हम पक्की तरह से यह कह सकते हैं कि सभी पौधों और जन्तुओं में गुणोत्तर अनुपात की प्रवृत्ति है और इस प्रकार जिन स्थानों में वे जीवित रह सकते हैं उन्हें पूरी तरह भर देना चाहते हैं। किन्तु वृद्धि की इस गुणोत्तर गति पर जीवन की किसी अवस्था में विनाश के द्वारा रुकावट हो जाती है। बड़े पालतू जानवरों के विषय में हमारी जानकारी एक प्रकार से भ्रमात्मक है। प्राकृतिक रूप से हम उनका विनाश

नहीं देखते पर हम यह भूल जाते हैं कि प्रतिवर्ष हज़ारों की संख्या में इनका मांस के लिए वध किया जाता है और इतनी ही संख्या प्राकृतिक अवस्था में भी किसी न किसी प्रकार से नष्ट होती होगी।

उन जीवों में, जो प्रतिवर्ष हज़ारों अंडे या बीज उत्पन्न करते हैं तथा उनमें जो बहुत कम उत्पन्न करते हैं केवल एक ही अन्तर है; वह यह कि अनुकूल परिस्थितियों में किसी भी क्षेत्र को आबाद करने में—चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो—धीमी गति से जनन करने वालों को कुछ वर्ष और लग जायँगे। दक्षिणी अमेरिका के गिद्ध कन्डोर (Condor) केवल दो अंडे देता है और शुतुरमुर्ग लगभग बीस; फिर भी उसी देश में कन्डोर की संख्या अधिक होती है। समुद्री पक्षी फुलमार (Fulmar) केवल एक अंडा देता है पर ऐसा विश्वास है कि संसार में यह सब से बहुसंख्यक पक्षी है। एक मक्खी सैकड़ों अंडे देती है और दूसरी, जैसे हिप्पो बोस्का (hippo bosca) केवल एक। किन्तु इस अन्तर पर यह बात निर्भर नहीं है कि किसी क्षेत्र में इन दो जातों की कितनी मक्खियाँ होंगी। उन जातों के लिए, जिनके आहार की मात्रा समय-समय पर बदलती रहती है, अंडों की संख्या का कुछ महत्त्व है, क्योंकि अच्छी मात्रा में आहार होने पर वे तेज़ी से वृद्धि कर सकते हैं। किन्तु अंडों अथवा बीजों के बड़ी संख्या में होने का वास्तविक महत्त्व यह है कि जीवन की किसी अवस्था में हुई उनकी क्षति इनके द्वारा पूरी हो जाती है, और बहुधा यह क्षति जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में होती है। अगर किसी तरह कोई प्राणी अपने अंडों या बच्चों की रक्षा कर लेते हैं तो यह कम संख्या में उत्पन्न होते हैं और फिर भी इन प्राणियों की साधारण संख्या बनी रहती है। किन्तु यदि काफी अंडे या बच्चे नष्ट हो जाते हैं तो जात को लुप्त होने से बचाने के लिए इनको बड़ी संख्या में उत्पन्न होना चाहिए। इसी तरह जो पेड़ सामान्यतः लगभग एक हज़ार वर्ष तक जीवित रहते हैं उनकी पूरी संख्या बनाये रखने के लिए हज़ार वर्षों में एक बीज उत्पन्न होना ही पर्याप्त होगा, किन्तु यह तब, जब यह मान लिया जाय कि यह बीज नष्ट नहीं होगा और अनुकूल स्थान पर इसका अंकुरण होगा। इस तरह यह स्पष्ट है कि प्रत्येक दशा में किसी जानवर या पौधे की औसत संख्या उसके अंडों या बीजों की संख्या पर केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही निर्भर होगी।

जब हम प्रकृति की ओर देखते हैं, तो आवश्यक है कि हम ऊपर लिखी बातों पर बराबर ध्यान रखें, और यह कभी न भूलें कि प्रत्येक जीव निरन्तर अपनी संख्या अधिक से अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करता है; (२) प्रत्येक जाति-वर्ग जीवन की किसी अवस्था में संघर्ष के ही द्वारा जीवित रहता है; (३) हर पीढ़ी में एक बार या रह-रह कर कई

बार प्रारम्भिक अथवा अधिक आयु की अवस्था में विनाश का होना अनिवार्य है। यदि यह विनाश किसी प्रकार कम हो सके, अथवा संख्या वृद्धि पर नियंत्रण ढीला हो सके, तो जात लगभग एकाएक किसी भी संख्या तक पहुँच जाएगी।

वृद्धि में बाधाओं की प्रकृति

किसी भी जाति की वृद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर नियंत्रण करने वाले कारणों के विषय में हम अंधकार में हैं। किसी भी शक्तिशाली जात को देखिये। जितनी ही उसकी संख्या में वृद्धि होती है उतनी ही यह और भी बढ़ना चाहती है। वास्तव में किसी भी उदाहरण में हम निश्चयपूर्वक यह नहीं जानते कि उसकी वृद्धि में क्या-क्या बाधाएँ हैं। हालांकि हम मनुष्य के विषय में किसी भी अन्य जन्तु की अपेक्षा अधिक जानते हैं, पर ध्यान देने पर मालूम होता है कि इसके बारे में भी हमारा ज्ञान कितना अधूरा है! कई लेखकों ने 'वृद्धि में बाधाओं' के विषय पर बड़ी योग्यता से विचार किया है, और भविष्य में मैं काफी विस्तार में इस विषय पर, विशेषकर दक्षिणी अमेरिका के जंगली जन्तुओं के विषय में, लिखने की आशा करता हूँ। यहाँ मैं पाठकों के ध्यान को कुछ मुख्य बातों की ओर आकर्षित करूँगा। साधारणतः अंडों या वहुत छोटे बच्चों की ही सब से अधिक क्षति होती है, किन्तु ऐसा सदा नहीं होता। पौधों में बीजों की क्षति बहुत होती है, किन्तु कुछ अवलोकनों के आधार पर मुझको ऐसा जान पड़ता है कि बीजांकुरों का विनाश बहुधा अधिक तब होता है जब वह ऐसे स्थान पर उगते हैं, जो पहले से ही वनस्पति से भरे होते हैं। बहुत बड़ी संख्या में बीजांकुरों का विनाश कई शत्रुओं के द्वारा भी होता है। उदाहरण के लिए मैंने तीन फीट लम्बी और दो फीट चौड़ी एक क्यारी में अपने देश की जंगली घास की वृद्धि का अवलोकन किया। क्यारी गोड़ी और साफ की जा चुकी थी और जब बीजांकुर बढ़े तो मैंने देखा कि ३५७ पौधों में से २९५ का नाश मुख्यतः घोंघों और कीटों के द्वारा हो गया। यदि ऐसे किसी घास के मैदान में, जिसकी घास बहुत पहले काटी गयी हो, या जिसमें चौपाये चरते रहे हों, घास बढ़ने दी जाय, तो हम देखेंगे कि शक्तिशाली पौधे धीरे-धीरे कमज़ोर पौधों को मार देंगे और स्वयं पूर्ण वृद्धि प्राप्त करेंगे। इस तरह तीन फीट चौड़ी और चार फीट लम्बी ऐसी क्यारी में, जिसमें बीस जातों के पौधे थे, नौ जातों का विनाश हो गया और बाकी स्वतन्त्रतापूर्वक बढ़ गयीं।

वास्तव में प्रत्येक जात की वृद्धि की चरम सीमा आहार की मात्रा पर निर्भर होती है। पर बहुधा इसका सम्बन्ध आहार प्राप्त करने से नहीं होता बल्कि दूसरे प्राणियों का, शिकार के रूप में आहार बनने से होता है। इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं कि

किसी भी बड़े क्षेत्र में बटेरों, तीतरों और खरहों की वृद्धि कीड़े-मकोड़ों के विनाश पर निर्भर होती है। यदि आगामी बीस वर्षों में इंगलैण्ड में एक भी शिकार न मारा जाय, और साथ ही कीड़े-मकोड़ों का भी नाश न हो तो पूरी सम्भावना है कि इस अवधि के अन्त में शिकार के जानवरों की संख्या आज से कम ही होगी हालांकि आजकल प्रति वर्ष हज़ारों जानवर मारे जाते हैं, जो इस बीच में न मारे जाएँगे। दूसरी ओर कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं (जैसे हाथी) जिनका शिकारी जानवर बिल्कुल ही नाश नहीं करते। भारत में शेर भी अपनी माता द्वारा सुरक्षित हाथी के बच्चे पर आक्रमण नहीं करता।

किसी जात के प्राणियों की औसत संख्या का निर्णय करने में जलवायु का महत्त्वपूर्ण भाग होता है और सभी नियंत्रणों में समय-समय पर पड़ने वाली कड़ी सर्दी और सूखे का प्रभाव सब से अधिक होता है। मेरे हिसाब से १८५४-५५ के जाड़े में मेरी ज़मीन में रहने वाली चिड़ियों में से ४/५ का विनाश हो गया। यह हिसाब मैंने मुख्यतः वसंत में घोंसलों की संख्या की कमी के आधार पर लगाया था। जब हम यह सोचते हैं कि भयंकर महामारियों में १०% मनुष्यों की मृत्यु बहुत अधिक समझी जाती है तो नाश की यह संख्या वास्तव में बहुत लगती है। प्रारम्भ में जलवायु के प्रभाव का जीवन-संघर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता, किन्तु प्रतिकूल जलवायु के फलस्वरूप आहार में बहुत कमी हो जाती है और इसलिए इस भोजन पर निर्वाह करने वाले जीवों के बीच, चाहे वे एक ही जात के हों अथवा भिन्न-भिन्न जातों के, विकट संघर्ष होता है। और जब जलवायु का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है—जैसे गहरी ठंडक का—सब से कमज़ोर जीव, अर्थात वे जिनको बढ़ती हुई ठंडक में कम भोजन प्राप्त हुआ है, सब से अधिक कष्ट पाएँगे। जब हम दक्षिण से उत्तर की ओर या आर्द्र क्षेत्र से शुष्क क्षेत्र की ओर यात्रा करते हैं, तो हमको कुछ ऐसी जातें मिलती हैं, जो क्रमशः कम होती जाती हैं और अन्त में दिखाई नहीं पड़तीं। चूँकि ऐसे क्षेत्रों में जलवायु का अन्तर स्पष्ट होता है, हम इसके प्रत्यक्ष प्रभाव को ही इस बात का कारण ठहराते हैं। पर यह धारणा गलत है। हम यह भूल जाते हैं कि जिन भागों में कोई जात बहुत बड़ी संख्या में पायी जाती है, वहाँ भी जीवन के किसी काल में शत्रुओं द्वारा अथवा उस स्थान तथा भोजन के लिए प्रतियोगियों के द्वारा उसका बड़ी संख्या में निरन्तर नाश होता रहता है। यदि जलवायु का परिवर्तन थोड़ी मात्रा में भी इन शत्रुओं या प्रतियोगियों के लिए अनुकूल हो, तो उनकी संख्या में बहुत वृद्धि होगी। साथ ही, चूँकि हर क्षेत्र पहले से ही निवासियों से पूरी तरह भरा है, इसलिए ज्यों-ज्यों इनकी संख्या में वृद्धि होगी, त्यों-त्यों दूसरे की संख्या घटती जाएगी। जब हम दक्षिण की ओर जाते हैं और किसी

जात की संख्या कम होते देखते हैं, तो हमको समझ लेना चाहिए कि इसका कारण यह है कि यहाँ दूसरी जात परिस्थिति को अनुकूल पाती है और इसलिए पहली जात की हानि हो रही है। यही बात उत्तर की ओर जाने में भी होती है, किन्तु कुछ कम मात्रा में, क्योंकि तरह-तरह की जातों की संख्या (और इसलिए प्रतियोगियों की संख्या) उत्तर की ओर कम होती जाती है। इसलिए उत्तर की ओर जाने में या पहाड़ पर चढ़ने में हमको बहुधा नाटे जीव अधिक मिलते हैं। यह जलवायु का प्रत्यक्ष हानिकारक प्रभाव है। जब हम पहाड़ से नीचे उतरते हैं या दक्षिण की ओर जाते हैं तो यह प्रभाव प्रत्यक्ष नहीं रहता। उत्तरी ध्रुवीय प्रदेश में, बर्फ से ढकी पहाड़ों की चोटियों पर, या मरुभूमि में जीवन-संघर्ष लगभग बिल्कुल ही जलवायु के साथ होता है।

हमारे बागों में इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जलवायु का अधिकांश प्रभाव अप्रत्यक्ष या दूसरी जातों को सहायता देकर होता है। कई विलक्षण पौधे बागों में हमारे यहाँ की जलवायु को भलीभाँति सहन करते हैं मगर प्रकृति में वे नहीं ठहरते, क्योंकि न तो वे स्थानीय पौधों से प्रतियोगिता कर सकते हैं और न नाशकारी जन्तुओं का ही सामना कर सकते हैं।

जब अनुकूल परिस्थितियों के कारण कोई जात एक छोटे प्रदेश में संख्या में अत्यधिक बढ़ जाती है, तो बहुधा उनमें संक्रामक रोग फैलते हैं। कम-से-कम हमारे शिकार के जानवरों में साधारणतः ऐसा होता है। वृद्धि के नियंत्रण का यह भिन्न साधन है। बहुधा ये रोग परजीवी जन्तुओं के कारण होते हैं,जो इस परिस्थिति को विशेष अनुकूल पाते हैं। अतः इनकी संख्या वेग से बढ़ती है, जब कि इसके विपरीत शिकार के जानवरों की संख्या कम होती है। हो सकता है कि बड़े समूहों में जानवरों के होने से इनके प्रसरण में सहायता मिलती हो; अतः परजीवी और इसके शिकार के बीच एक प्रकार का संघर्ष है।

कई अवस्थाओं में जीवन-रक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक होता है कि शत्रुओं की संख्या की अपेक्षा बराबर उस जात के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक बनी रहे। हम अपने खेतों में बहुतायत में अन्न उगा सकते हैं, क्योंकि उन पक्षियों की अपेक्षा, जो अन्न खाते हैं, अन्न की संख्या बहुत अधिक होती है। साथ ही, हालांकि इस मौसम में चिड़ियों को इतनी अधिक मात्रा में भोजन प्राप्त होता है फिर भी उनकी संख्या में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं होती, क्योंकि यह संख्या जाड़ों में सीमित रहती है। पर यदि थोड़े से बीजों से हम किसी बाग में कुछ अन्न उगाना चाहें तो यह बहुत कठिन होता है। मैंने जब-जब यह प्रयत्न किया, प्रत्येक बीज खो बैठा। मेरे विचार में किसी जात की रक्षा के लिए उसकी एक छोटी संख्या के मत से प्रवृत्ति की कई अद्भुत बातों का

स्पष्टीकरण हो जाता है। उदाहरण के लिए कभी-कभी कुछ बिरले पौधों का छोटे छोटे क्षेत्रों में बाहुल्य, या कुछ सामाजिक पौधों का अपने क्षेत्र के किनारों पर भी सामाजिक अथवा बड़ी संख्या में होना। ऐसे उदाहरणों में सम्भवत: बात यह है कि केवल एक पौधा भी ऐसी जगहों पर जीवित रह सकता है, जहाँ परिस्थिति इतनी अनुकल हो कि कई एक साथ रह सकें; और इस तरह जात पूर्ण विनाश से बच जाती है। हाँ, मुझको यह अवश्य कहना चाहिए कि इनमें से कई उदाहरणों में संकरण के अच्छे प्रभाव, और उसी भेद के सदस्यों के बीच सीमित सन्तानोत्पत्ति के बुरे प्रभाव भी अपना स्थान रखते हैं; किन्तु मैं यहाँ इस विषय पर अधिक कुछ न कहूँगा।

जीवन-संघर्ष में सभी जन्तुओं और पौधों में एक-दूसरे के बीच जटिल सम्बन्ध

ऐसे बहुत से उदाहरणों का उल्लेख मिलता है, जिससे पता चलता है कि एक ही प्रदेश में साथ-साथ संघर्ष करने वाले जीवों के बीच कितने जटिल और आश्चर्यजनक सम्बन्ध और बाधाएँ हो सकती हैं। मैं यहाँ केवल एक ही उदाहरण दूँगा जो सरल होते हुए भी रोचक है। स्टैफोर्डशायर में मेरे एक सम्बन्धी की भूमि थी, जहाँ मेरे अध्ययन के लिए पर्याप्त साधन थे। वहाँ एक लम्बी-चौड़ी वन-भूमि थी, जो सदा से बंजर चली आ रही थी और जिस पर मनुष्य ने कभी हाथ भी नहीं लगाया था। पर पचीस वर्ष पहले ठीक उसी तरह की सैंकड़ों एकड़ भूमि घेर ली गयी थी, और उस पर स्काच देवदार के वृक्ष लगाये गये थे। इस भाग की स्वाभाविक वनस्पति में ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया था, जो एक प्रकार की भूमि से दूसरे प्रकार की भूमि में जाने पर साधारणत: दिखाई नहीं पड़ता। न केवल उसके विभिन्न प्रकार के पौधों का परस्पर अनुपात बिल्कुल बदल गया था बल्कि घास आदि को छोड़कर उसमें बारह ऐसी जातों के पौधे फल-फूल रहे थे, जिनका बंजर-भाग में पता भी नहीं था। कदाचित् इन भागों के कीटों पर और भी प्रभाव पड़ा होगा, क्योंकि देवदार वाले भाग में छ: जात के कीट-भक्षी पक्षी मिलते थे जो दूसरे भाग में नहीं थे और इसके विपरीत इस भाग में दो-तीन जात के अलग कीट-भक्षी उपस्थित थे। इस उदाहरण में हम यह देखते हैं कि केवल एक ही जात के पौधे लगा देने से कितना अधिक अन्तर हो सकता है क्योंकि इसके अलावा और कुछ भी नहीं किया गया। वहाँ ज़मीन इसलिए घेर दी गयी थी कि उसमें पशु न जका सकें। और घेरा कितना महत्त्वपूर्ण हो सकता है यह मैंने सरे (Surrey) में फरनहम के निकट स्पष्ट देखा। यहाँ बड़ी लम्बी-चौड़ी बंजर भूमियाँ पड़ी हैं जिनमें सुदूर पहाड़ की चोटियों पर कुछ देवदार के वृक्षों के समूह हैं। पिछले दस वर्षों में इसके कुछ बड़े भाग घेर दिये गये हैं और अपने-आप बड़ी संख्या में इतने करीब-करीब

देवदार उग रहे हैं कि सब जीवित नहीं रह सकते। जब मैंने यह निश्चित कर लिया कि ये पौधे लगाये या बोये नहीं गये, तो मुझको उनकी संख्या देख कर इतना विस्मय हुआ कि बिना घेरे कई स्थानों पर जा-जा कर भूमि के सैकड़ों एकड़ की परीक्षा की। उन स्थानों में इन वृक्षों के लगाये हुए समूहों को छोड़ मुझको एक भी पेड़ नहीं मिला, मगर तरह-तरह के पौधों के तनों के बीच भी निरीक्षण करने पर, मुझको अनगिनत देवदार के नन्हे पौधे और बीजांकुर मिले, जिनको बराबर पशु कुतरते चले जा रहे हैं। एक पुराने झुरमुट से सैकड़ों गज़ दूर एक वर्ग गज़ में मैंने ३२ नन्हे पौधे गिने और उनमें से एक में २६ वृद्धि मेखलाएँ (Rings of growth) थीं। पिछले कई वर्षों में इनमें से कई पौधों में ऊपर बढ़ने की प्रवृत्ति थी, किन्तु वह व्यर्थ रही। कोई आश्चर्य नहीं, कि यदि वह जगह भी घेर दी जाये, तो जल्दी ही ये देवदार के पौधे तेज़ी से बढ़ते हुए वृक्षों से ढक दें। इतने पर भी यह भूमि इतनी बड़ी और इतनी बंजर थी कि कोई यह कल्पना भी नहीं करता कि इसमें चौपाये इतने ढंग से और इतने प्रभावशाली रीति से भोजन की खोज करेंगे।

यहाँ हम यह देखते हैं कि चौपाये पूरी तरह से स्कॉच देवदार के जीवन का निर्णय करते हैं, मगर संसार के कई भागों में चौपायों का जीवन कीटों पर निर्भर रहता है। कदाचित इसका सबसे अद्‌भुत् उदाहरण परागुये (Paraguay) में मिलता है। हालांकि इसके दक्षिण और उत्तर की ओर चौपाये, घोड़े और कुत्ते जंगली रूप में मिलते हैं, पर परागुये में जंगली नहीं हो सके। अजारा (Azara) और रेंगर (Rengger) ने यह सिद्ध किया है कि इसका कारण यह है कि परागुये में एक ऐसी मक्खी पायी जाती है जो इन जानवरों के पैदा होने के बाद ही इनकी नाभि में अंडे देती है। निश्चय ही उन मक्खियों की संख्या में और भी वृद्धि किसी और रीति से, सम्भवतः दूसरे परजीवी कीटों के द्वारा होती है। अतः यदि परागुये में कुछ कीट-भक्षी चिड़ियों की संख्या में कमी हो जाये, तो कदाचित परजीवी कीटों की संख्या में वृद्धि होगी, जिससे नाभि में अंडा देने वाली मक्खियों में कमी होगी। तब चौपाये और घोड़े जंगली हो जाएँगे और जैसा मैंने दक्षिणी अमेरिका में देखा है, इसके फलस्वरूप वहाँ की वनस्पतियों में परिवर्तन हो जाएगा। फिर इसका प्रभाव कीटों पर पड़ेगा, और जैसा अभी हमने स्टैफोर्डशायर के मामले में देखा है, कीट-भक्षी चिड़ियाँ प्रभावित होंगी, और इस प्रकार यह जटिल चक्र बढ़ता जाएगा। यह बात नहीं है कि प्राकृतिक अवस्था में कभी भी सम्बन्ध इतने सरल होंगे। युद्ध के भीतर युद्ध बराबर होते रहेंगे। उनकी सफलताएँ कभी इधर कभी उधर होती रहेंगी। फिर भी अन्त में शक्तियाँ ऐसी संतुलित रहती हैं, कि बहुत लम्बी अवधि तक प्रकृति का रूप समान रहता है, हालांकि यह निश्चय है कि छोटी से

छोटी बात से ही एक जीव को दूसरे पर विजय प्राप्त होगी। इतने पर भी अज्ञानता इतनी अधिक है कि जब हम किसी जीव के लुप्त होने की बात सुनते हैं, तो हमको बड़ा आश्चर्य होता है; और चूँकि हम इसके कारण नहीं जानते, इसलिए हम समझते हैं कि संसार में प्रलय का आगमन होगया या फिर हम भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों के जीवन-काल के सम्बन्ध में नये-नये नियम बनाते हैं।

मैं एक और उदाहरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सकता जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रकृति में एक-दूसरे से बहुत दूर होते हुए भी पौधे और जन्तु किस प्रकार एक दूसरे से जटिल सम्बन्ध के जाल में बँधे हैं। बाद में मुझको यह दिखाने का अवसर मिलेगा कि मेरे बाग में कीट कभी भी विदेशी पौधे **लोबेलिया फुलगेन्स** (Lobelia fulgens) के पौधे पर नहीं जाते हैं, और फलत: इसकी विचित्र संरचना के कारण इसमें बीज कभी नहीं बनते। हमारे सभी आरकिड (orchid) की किस्म के पौधों में परागपुंज ले जाने के लिए और इस प्रकार संसेचन (fertilization) की क्रिया के लिए कीटों की आवश्यकता होती है। प्रयोगों से मुझको पता चलता है कि ह्वार्टसीज **वायलो ट्राइकलर** (Violo tricolor) में संसेचन छोटी मधुमक्खियों के बिना लगभग असम्भव है, क्योंकि अन्य मधुमक्खियाँ इस फूल पर जाती ही नहीं। मैंने यह भी देखा है कि मधुमक्खियों का आना, क्लोवर (clover) की कुछ जातियों के संसेचन के लिए भी आवश्यक है, उदाहरण के लिए डच क्लोवर **ट्राइफोलियम रिपेन्स** (Trifolium repens) के बीस शिखरों में दो हजार, दो सौ नब्बे बीज उत्पन्न हुए, मगर बीस दूसरे शिखरों में, जिनपर मधुमक्खियाँ नहीं पहुँच पायीं, एक बीज भी नहीं उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार लाल क्लोवर ट्राइफोलियम प्रैटेन्स (T. pratense) के सौ शिखरों में २,७०० बीज पैदा हुए, मगर शिखरों की यही संख्या जब मधुमक्खियों से बचा कर रखी गयी तो एक बीज भी पैदा नहीं हुआ। लाल क्लोवर पर केवल छोटी मधुमक्खियाँ ही जाती हैं क्योंकि अन्य मधुमक्खियाँ इसके मधु-कोष तक नहीं पहुँच पातीं। कुछ लोगों का कहना है कि तितलियाँ क्लोवर का संसेचन कर सकती हैं, किन्तु मुझको सन्देह है कि ये लाल क्लोवर में संसेचन कर सकती हैं, क्योंकि इनका भार किनारे की पंखड़ियों को दबाने के लिए पर्याप्त नहीं होगा। अत: यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि यदि छोटी मधुमक्खियों की समस्त जाति इंग्लैंड से लोप हो जाये या बहुत कम हो जाय तो हारटीज और लाल क्लोवर भी दुष्प्राप्य हो जाएँगे, या बिल्कुल लोप हो जाएँगे। किसी भी प्रदेश में छोटी मधुमक्खियों की संख्या बहुत हद तक जंगली चूहों पर निर्भर करती है क्योंकि ये उसके छत्तों को नष्ट कर देते हैं। कर्नल न्यूमैन (Newman) के अनुसार, जिन्होंने बहुत दिनों तक इन मधुमक्खियों के

स्वभाव का अध्ययन किया है, इस प्रकार पूरे इंगलैन्ड में दो तिहाई से अधिक मधु-मक्खियाँ चूहों के द्वारा नष्ट हो जाती हैं। हर कोई यह जानता है कि चूहों की संख्या काफी हद तक बिल्लियों की संख्या पर निर्भर है और कर्नल न्यूमैन कहते हैं, "गावों और छोटे-छोटे शहरों के निकट मैंने छोटी मधुमक्खियों के छत्तों को अधिक संख्या में पाया है। मेरी समझ में यह बिल्लियों की संख्या के कारण है, जो चूहे को नष्ट कर देती हैं।" अतः यह समझ में आता है कि किसी प्रदेश में कुत्ते-बिल्लियों के बड़ी संख्या में होने पर चूहों और मधुमक्खियों की मध्यस्थता के द्वारा कुछ विशेष फूलों की संख्या निर्भर है।

प्रत्येक जात के मामले में जीवन की अलग-अलग अवस्थाओं में तथा भिन्न-भिन्न मौसमों या वर्षों में कई बाधाएँ काम करती हैं। इनमें से एक या कुछ बाधाएँ साधारणतः अधिक शक्तिशाली होती हैं, मगर जात की औसत संख्या या उसका जीवन सभी बाधाओं के ऊपर निर्भर है। कुछ उदाहरणों में यह दिखाया जा सकता है कि ही एक ही जात पर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बहुत भिन्न प्रकार के नियंत्रण काम करते हैं। जब हम टेढ़े-मेढ़े किनारों पर उगे हुए पौधों और झाड़ियों को देखते हैं, तो हम उनकी संख्या के अनुपात का कारण अवसर बताते हैं। पर यह धारणा कितनी निर्मूल है। हर किसी ने सुना है कि जब एक अमेरिकन जंगल काट दिया जाता है तो उसके स्थान पर बिल्कुल भिन्न प्रकार की वनस्पति तैयार हो जाती है, किन्तु यह देखा गया है कि दक्षिणी यूनाइटेड स्टेट्स के प्राचीन खंडहरों में, जहाँ के पेड़ पहले साफ कर दिये गये होंगे, अब उसी प्रकार के विभिन्न पौधे उसी अनुपात में पाये जाते हैं जैसे कि आस-पास के जंगलों में। भला इन लम्बी शताब्दियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्ष, जो प्रतिवर्ष हजारों बीज बिखेरते रहते हैं, किस प्रकार संघर्ष करते रहे होंगे, अथवा कीट और कीट के बीच या कीट और घोंघों, या अन्य जानवरों तथा चिड़ियों तथा शिकारी जानवरों के बीच किस प्रकार का संघर्ष होता होगा जब सभी वृद्धि के लिए प्रयत्न करते रहे होंगे और जब ये एक-दूसरे को या वृक्षों को या उनके बीजों अथवा बीजाकुंरों को, या ऐसे पौधों को जो पहले पृथ्वी पर फैल कर अन्य वृक्षों को बढ़ने से रोकते हैं, अपना आहार बनाते हैं? यदि मुट्ठी भर पर हवा में फेंकें तो कुछ नियमों के अनुसार अन्त में सभी पृथ्वी पर गिरेंगे, किन्तु ये नियम कितने सरल लगते हैं, जब हम इनकी तुलना असंख्य पौधों और जानवरों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से करते हैं, जिन्होंने अनेक शताब्दियों में पाये जाने वाले इन खंडहरों के वृक्षों के अनुपात का निर्णय किया है। साधारणतः किन्हीं दो जीवों की एक-दूसरे पर निर्भरता (जैसे एक परजीवी की निर्भरता उसके पोषक पर) दो ऐसे जीवों से सम्बन्ध रखती है, जो प्रकृति की माप में एक-दूसरे से बहुत दूर हों।

बहुधा यही बात उन जीवों के बीच भी होती है जो एक-दूसरे के साथ जीवन-संघर्ष करते हैं, जैसे टिड्डियाँ और घास खाने वाले चौपाये। मगर एक ही जात के सदस्यों के बीच यह संघर्ष सदा बहुत विकट होगा, क्योंकि वे एक ही देश के निवासी होते हैं, उनको एक ही भोजन की आवश्यकता होती है और वे एक ही प्रकार के खतरों का सामना करते हैं। एक ही जात के भेदों के बीच भी साधारणतः संघर्ष उतना ही विकट होगा और बहुधा हम इसका निर्णय भी जल्दी ही होते देखते हैं। उदाहरण के लिए यदि गेहूँ के कई भेद एक साथ बोये जायें और मिले-जुले बीज पुनः बोये जायें, तो उनमें से कुछ भेद जो उस मिट्टी या जलवायु के लिए उपयुक्त हैं या स्वभावतः सब से अधिक उर्वर हैं, वे दूसरे भेदों को पराजित कर देंगे और अधिक बीज उत्पन्न करेंगे, जिसका नतीजा यह होगा कि वे दूसरे भेदों की जगह ले लेंगे। ऐसे निकटतम भेदों के मिले-जुले बीजों का भंडार बनाये रखने के लिए (जैसे भिन्न-भिन्न रंगों की फूलवाली मटर) भी यह आवश्यक है कि हर साल उनके बीज अलग-अलग निकाले जायँ और सही अनुपात में बाद में मिला दिये जायँ, अन्यथा कमजोर किस्म वाले भेदों की संख्या घटती जायगी और अन्त में वे लुप्त हो जाएँगे। यही बात भेड़ों के भेदों के विषय में भी है। कहा जाता है कि कुछ पहाड़ी भेद अन्य पहाड़ी भेदों को आहार नहीं लेने देंगे, जिससे दोनों साथ नहीं रखे जा सकते। इलाज में काम आनेवाली जोंकों के भेदों को साथ रखने पर भी यही नतीजा निकलता है। वास्तव में यह बहुत सन्देह-जनक है कि ऐसा कोई भी पालतू जानवर या खेती का पौधा है, जिसके भेद अपनी शक्ति, प्रकृति और गठन में एक-दूसरे के इतने बराबर हों कि यदि उनको साथ-साथ संघर्ष करने दिया जाये (संकरण न होने पाये) और यदि उनके बीज अथवा बच्चों को प्रतिवर्ष उसी अनपात में न कर दिया जाये जिस अनुपात में वे आरम्भ में थे, तो उनका प्रारम्भिक अनुपात आधे दर्जन पीढ़ियों तक भी ज्यों-का-त्यों बना रहेगा।

एक ही जात के व्यक्तियों तथा भेदों के बीच जीवन-संघर्ष सब से विकट होता है

हालांकि सदा ऐसा नहीं होता फिर भी चूँकि साधारणतः एक ही जाति की जातों के बीच प्रकृति, गठन और संरचना में बहुत समानता होती है, इसलिए जब वे एक-दूसरे से प्रतियोगिता करेंगे तो संघर्ष अधिक विकट होगा, उस संघर्ष की अपेक्षा जो अलग-अलग जातियों की जातों के बीच होगा। हम इसका उदाहरण अमेरिका में देखते हैं, जहाँ हाल में अबावील की एक जात के फैलने पर दूसरी में बहुत कमी हो गयी। इसी प्रकार हाल में स्काटलैंड में एक प्रकार की बुलबुल मिसेल थ्रश (Missel thrush)

के बढ़ने पर दूसरी प्रकार की बुलबुल सांग थ्रश (song thrush) में कमी हो गयी। बहुधा हम सुनते हैं कि भिन्न-भिन्न जलवायुओं में एक जात के चूहे ने दूसरे जात के चूहों का स्थान ले लिया। रूस में छोटे एशियाई तिलचट्टे ने हर जगह से अपने बड़े सजातीय को निकाल बाहर कर दिया। आस्ट्रेलिया में हाल में लायी गयी छत्ते वाली मधुमक्खी छोटी, बिना डंक वाली पहले की निवासी मधुमक्खी को नष्ट कर रही है। जंगली सरसों की एक जात ने दूसरी जात का स्थान ले लिया है। ऐसे ही कितने अन्य उदाहरण भी मिल सकते हैं। हम कुछ अस्पष्ट रूप से यह देख सकते हैं कि मिलते-जुलते जीवों में, जो प्रकृति की मितव्यता में एक ही स्थान लेते हैं, प्रतियोगिता क्यों इतनी विकट होती है। मगर किसी भी उदाहरण में हम यह ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि जीवन के इस महान् संग्राम में क्यों एक विशेष जात विजयी होती है और दूसरी नहीं। ऊपर लिखी हुई बातों से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपसिद्धान्त निकाला जा सकता है, वह यह कि प्रत्येक जीव का ऐसे सभी जीवों से, जिनसे भोजन अथवा निवास की उसकी प्रतियोगिता होती है या जिससे उसको बचाव करना होता है या जिसका वह शिकार करता है, संरचना के क्षेत्र में आवश्यक सम्बन्ध होता है, चाहे वह सम्बन्ध कितना ही छिपा हुआ हो। बाघ के दाँत या उसके पंजे इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं और इसी प्रकार जो परजीवी बाघ के बालों से चिपके होते हैं उनकी टाँगों और पंजों से भी यही बात स्पष्ट होती है। डैंडेलियान के सुन्दर परदार बीजों में या पानी के भौंरों की चपटी फैली हुई टाँगों का सम्बन्ध प्रारम्भ में वायु और पानी से ही जान पड़ता है। फिर भी परदार बीज़ों की सुविधा का घनिष्ठ सम्बन्ध इस बात से है कि आस-पास की पृथ्वी पहले से अन्य पौधों से ढकी हो, जिसमें ये बीज अधिकाधिक दूर तक उड़ सकें और खाली पृथ्वी पर गिर सकें। इसी प्रकार पानी के भौरे में टाँगें डुबकी लगाने के लिए अच्छी तरह अनुकूलित होती हैं जिससे वह अन्य जलीय कीटों से अच्छी तरह प्रतियोगिता कर सकता है, अथवा शिकार खोज सकता है और शिकारी जानवरों से अपना बचाव कर सकता है।

प्रथम दृष्टि से ऐसा लगता है कि कई पौधों के बीजों में संचित खाद्य का अन्य पौधों से कोई सम्बन्ध नहीं है; किन्तु चना, मटर, सेम जैसे पौधों के बीज घास के बीज में बोये जाने पर भी जिस तेजी से बढ़ते हैं, उसको देखकर यह जान पड़ता है कि बीजों में खाद्य के होने का मुख्य लाभ बीजांकुरों की वृद्धि ही है, जिससे आस-पास में उपस्थित अन्य पौधों से वे सफलता से संघर्ष कर सकें।

किसी पौधे को उसके अपने क्षेत्र के बीच देखिए। वह अपनी संख्या दोगुनी, चौगुनी क्यों नहीं कर लेता। हम जानते हैं कि थोड़ी-बहुत गरमी या सर्दी, आर्द्रता या

शुष्कता को वह पूर्णतः सहन कर सकता है, क्योंकि वह कुछ अधिक गरम ठंडे, आर्द्र या शुष्क प्रदेशों में भी पाया जाता है। इस उदाहरण में हम स्पष्ट यह देखते हैं कि यदि हम अपनी कल्पना में पौधों को अधिक वृद्धि की शक्ति देना चाहते हैं, तो हमको इसको इसके प्रतियोगियों पर कुछ सुविधाएँ देनी होंगी, या उन जानवरों के प्रति कुछ सुविधाएँ देनी होंगी जो इसको खाते होंगे। भौगोलिक क्षेत्र के भीतर ही जलवायु के प्रति इसकी गठन में कोई-न-कोई परिवर्तन अवश्य इन पौधों के लिए सुविधाजनक होगा। पर इस बात के काफी प्रमाण हैं कि ऐसे कुछ ही पौधे या जानवर हैं, जो केवल जलवायु की कठिनाइयों से नष्ट होते हैं। जब तक हम जीवन की सीमाओं के निकट नहीं पहुँच जाते, जैसे उत्तरी ध्रुव प्रदेश में या पूर्ण मरुभूमि तक, तब तक प्रतियोगिता होती रहेगी। पृथ्वी बहुत ठंडी या सूखी हो पर कुछ जातों अथवा एक ही जात के कुछ सदस्यों के बीच सब से गरम या सब से आर्द्र स्थान पाने के लिए प्रतियोगिता चलती रहेगी।

अतः हम देखते हैं कि जब कोई पौधा या जन्तु किसी नये प्रदेश में नये प्रतियोगियों के बीच रख दिया जाता है तो उसके जीवन की परिस्थितियाँ अनिवार्य रूप से बदल जाती हैं, हालांकि यह सम्भव है कि इस नये स्थान की जलवायु बिल्कुल पुराने स्थान के समान हो। अगर नये स्थान में इसकी औसत संख्या बढ़ानी है, तो उसके पुराने स्थान की तुलना में नये स्थान में हमको कुछ भिन्न प्रकार के परिवर्तन करने पड़ेंगे, क्योंकि यहाँ इसको जिन प्रतियोगियों या शत्रुओं से निपटना है, वे भिन्न होंगे।

कल्पना में ही किसी जाति को दूसरी जात के ऊपर इस तरह की सुविधाएँ देने का प्रयत्न करना अच्छा है। कदाचित् किसी भी उदाहरण में हम नहीं जानते कि क्या करना चाहिए। इससे हमको जीवों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में अपनी अज्ञानता का विश्वास हो जाना चाहिए, क्योंकि जितना ही इस विश्वास का होना आवश्यक है, उतना ही कठिन भी। हम केवल यही कर सकते हैं कि बराबर यह ध्यान रखें कि प्रत्येक प्राणी गुणोत्तर अनुपात में बढ़ने का प्रयत्न करता है, कि जीवन की किसी अवस्था में तथा किसी मौसम या वर्ष में, हर एक पीढ़ी में या कभी-कभी उसको जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता है और बड़ी संख्या में नष्ट होना पड़ता है। जब हम उस संघर्ष पर विचार करते हैं, तो हमको इस विश्वास में सत्यता मिलती है कि प्रकृति का संघर्ष निरन्तर नहीं होता, उसमें भय नहीं मालूम होता, मृत्यु शीघ्र आती है और शक्तिशाली, स्वस्थ और प्रसन्न जीव बच जाते हैं और जनन करते हैं।

अध्याय चार

प्राकृतिक निर्वाचन या योग्यतम का अतिजीवन

प्राकृतिक निर्वाचन—इसकी शक्ति की मनुष्य के निर्वाचन से तुलना—तुच्छ महत्व के लक्षणों पर इसका प्रभाव—सभी अवस्थाओं तथा दोनों लिंगों पर इसका प्रभाव—लैंगिक निर्वाचन—एक ही जात के सदस्यों के बीच अन्तः-संकरणों (Inter-crosses) **की व्यापकता—प्राकृतिक निर्वाचन के फलों के लिए अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियाँ अर्थात् अन्तर-संकरण, पृथक्करण तथा सदस्यों की संख्या—धीमी क्रिया—प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा विलुप्तता—किसी छोटे क्षेत्र के निवासियों की भिन्नता तथा देशीयकरण से सम्बन्धित लक्षणों के विचलन तथा विलुप्तता के द्वारा एक ही पूर्वज की संतानों पर प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया—सभी जीवों के वर्गीकरण का स्पष्टीकरण—गठन में प्रगति—निम्नकोटि के जीवों का प्रतिरक्षण—लक्षणों का अपसरण—जातों का अनिश्चित-प्रगुणन—सारांश।**

जीवन-संघर्ष जिस पर संक्षेप में हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं, किस प्रकार भिन्नताओं के सम्बन्ध में कार्य करेगा ? क्या निर्वाचन का सिद्धान्त, जो मनुष्य के हाथों इतना शक्तिशाली है, प्राकृतिक अवस्थाओं में भी लागू होगा ? मेरे विचार में हम देखेंगे कि यह बहुत अच्छी तरह काम कर सकता है। हमको ऐसी सूक्ष्म भिन्नताओं और वैयक्तिक अन्तरों को, जो हमारे पालतू जीवों में होते रहते हैं और जो कुछ कम अंश तक प्रकृति में पाये जाते हैं, ध्यान में रखना पड़ेगा और साथ ही वंशागत प्रवृत्तियों की शक्ति को भी। पालतू अवस्था में यह वास्तव में कहा जा सकता है कि पूरी गठन कुछ अंशों में परिवर्तनशील होती है। परन्तु जैसे हूकर तथा आसा ग्रे ने कहा है, यह परिवर्तनशीलता, जो लगभग सदा ही पालतूपन की अवस्था में पायी जाती है, प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य द्वारा उत्पन्न की हुई नहीं होती। मनुष्य न तो भेदों का उत्पादन कर सकता है और न उनके बनने को रोक सकता है। वह केवल भेदों का प्रतिरक्षण तथा संग्रह कर सकता है, जो स्वयं पाये जाते हैं। बिना जाने वह जीवों को नयी-नयी और बदलती हुई जीवन की परिस्थितियाँ प्रदान करता है, जिससे परिवर्तनशीलता प्रारम्भ होती है। किन्तु इन परिस्थितियों में इसी प्रकार के परिवर्तन प्रकृति में भी

हो सकते हैं और होते हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सभी जीवों के एक-दूसरे के प्रति तथा जीवन की भौतिक परिस्थितियों के प्रति सम्बन्ध जटिल और बहुत घनिष्ठ होते हैं, अतः जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के कारण संरचना की असीम भिन्नताएँ भी उनके लिए उपयोगी हैं। जब निश्चय ही मनुष्य के लिए उपयोगी परिवर्तन होते रहते हैं, तो क्या यह असम्भव है कि जीवन के जटिल तथा महान् संघर्ष में प्रत्येक जीव के लिए किसी प्रकार उपयोगी परिवर्तन भी पीढ़ियों के इतिहास में प्रकट हों? यदि ऐसे परिवर्तन होते हैं तो, यह ध्यान में रखते हुए कि जितने व्यक्ति जीवित रह सकते हैं, उनसे बहुत अधिक पैदा होते हैं, क्या इसमें कोई सन्देह है कि जिन व्यक्तियों को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा किसी भी प्रकार की, कैसी भी, छोटी सुविधा है, उनको प्रतिरक्षा तथा सन्तानोत्पत्ति का सब से अच्छा अवसर प्राप्त है? दूसरी ओर यह भी निश्चय है कि ऐसा कोई भी अन्तर, जो किसी हद तक हानिकारक होगा, निश्चय ही पूर्णतः नष्ट हो जाएगा। मैंने इसी 'अनुकूल वैयक्तिक अन्तरों तथा भिन्नताओं की प्रतिरक्षा' तथा हानिकर परिवर्तनों के विनाश को 'प्राकृतिक निर्वाचन' या 'योग्यतम का अतिजीवन' कहा है। ऐसे परिवर्तन, जो न लाभदायक हैं और न हानिकारक, उन पर प्राकृतिक निर्वाचन का कोई प्रभाव नहीं होता। जैसा हम बहुरूपक जातों में देखते हैं, ऐसे परिवर्तन अस्थिर तत्त्वों के रूप में बने रहेंगे या जीव तथा उसके वातावरण की प्रकृति के कारण अन्त में स्थायी रूप ले लेंगे।

कई लेखकों ने प्राकृतिक निर्वाचन की अभिव्यक्ति को गलत समझा है या उस पर आपत्ति की है। कुछ लोगों ने तो यह भी कल्पना की है कि प्राकृतिक निर्वाचन, परिवर्तन प्रारम्भ करता है, जब कि इसका तात्पर्य केवल ऐसे परिवर्तनों की प्रतिरक्षा से है, जो स्वयं उत्पन्न होते हैं और जीव की विशेष परिस्थिति में उसके लिए लाभदायक हैं। कोई भी व्यक्ति कृषकों द्वारा मनुष्य के निर्वाचन के शक्तिशाली प्रभावों के उल्लेख पर आपत्ति नहीं करता, और इस निर्वाचन में प्रकृति द्वारा दिये गये वैयक्तिक अन्तरों का पहले होना आवश्यक है, जिनको मनुष्य किसी प्रयोजन से निर्वाचित करता है। कुछ लोगों को यह आपत्ति है कि निर्वाचन से उन जन्तुओं के जान-बूझकर निर्वाचित किये जाने का बोध होता है, जो आपरिवर्तित होते हैं। यह भी कहा गया है कि चूँकि पौधों में इच्छा नहीं होती, इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन उन पर लागू नहीं होता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शाब्दिक अर्थ में प्राकृतिक निर्वाचन की अभिव्यक्ति भ्रमात्मक है, पर क्या जब रसायन-वैज्ञानिकों ने विभिन्न तत्त्वों के निर्वाचित सम्बन्धों की चर्चा की तो किसी ने इन शब्दों पर आपत्ति की थी? फिर भी सही अर्थ में यह नहीं कहा जा सकता कि एक अम्ल जिस क्षार के साथ अधिक आसानी से सम्मिलित होता है, उसको वह

निर्वाचित करता है। यह कहा गया है कि मैं प्राकृतिक निर्वाचन का एक सक्रिय शक्ति या देवी के रूप में उल्लेख करता हूँ। किन्तु जब कोई लेखक यह कहता है कि आकर्षण-शक्ति ग्रहों की गति पर नियंत्रण रखती है तब किसी को आपत्ति नहीं होती। सभी जानते हैं कि ऐसी अलंकारिक अभिव्यक्तियों के क्या तात्पर्य होते हैं? संक्षिप्ति के लिए यह लगभग आवश्यक भी है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के लेख में प्रकृति के व्यष्टिकरण का बचाव करना भी कठिन होता है। प्रकृति से मेरा अभिप्राय है अनेक प्राकृतिक नियमों की समुचित क्रियाओं तथा उनके फल, और नियमों से; मेरा तात्पर्य है हमारे द्वारा अवलोकित घटना-क्रमों से। कुछ जानकारी के बाद लोग इस तरह की तत्त्वहीन आपत्तियाँ भूल जाएँगे। प्राकृतिक निर्वाचन के संभाव्य मार्ग को समझने के लिए सब से अच्छा यह होगा कि हम किसी ऐसे प्रदेश का उदाहरण लें, जिसमें कोई सूक्ष्म भौतिक परिवर्तन जैसे जलवायु का परिवर्तन हो रहा हो। इसके निवासियों की अनुपातीय संख्या लगभग एकाएक बदल जाएगी और कदाचित् कुछ जातें बिल्कुल लुप्त हो जाएँगी। जिस जटिल और घनिष्ठ रीति से किसी प्रदेश के निवासी सम्बन्धित होते हैं, यह हम देख चुके हैं और उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि निवासियों की संख्या के अनुपात में, जलवायु के परिवर्तन से स्वतन्त्र जो भी परिवर्तन होंगे वे दूसरे प्राणियों पर भी गहरा प्रभाव डालेंगे। यदि इस प्रदेश की सीमाएँ खुली हैं तो निश्चय ही बाहर से नये-नये जीवों का इसमें आगमन होगा और इसके फलस्वरूप पुराने निवासियों के परस्पर सम्बन्ध में पुनः परिवर्तन होंगे। हम यह दिखा चुके हैं कि केवल एक ही पेड़ या स्तनी के आगमन का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है, किन्तु किसी भी द्वीप अथवा ऐसे प्रदेश के बिषय में, जो चारों ओर से कुछ हद तक रुकावटों से घिरा है और जिसमें स्वतन्त्रता से नये और अधिक अनुकूलित जीव प्रवेश नहीं कर सकते, कोई स्थान ऐसा होगा जिसका अच्छा उपयोग तभी होगा जब कुछ मूल निवासी किसी प्रकार आपरिवर्तित हो जाएँगे। यदि यह प्रदेश नये आगंतुकों के लिए खुला होता तो यह स्थान इनके द्वारा भर जाता। ऐसी दशाओं में वे सूक्ष्म परिवर्तन भी, जो कुछ जीवों को बदली हुई परिस्थितियों के लिए अधिक अनकूलित बनाते हैं, सम्भवतः प्रतिरक्षित होंगे और प्राकृतिक निर्वाचन को इस प्रकार की उन्नति के कार्य करने का स्वतन्त्र अवसर होगा।

जैसा पहले अध्याय में हम देख चुके हैं, हमारे पास इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि जीवन की परिस्थितियों में हुए परिवर्तन बढ़ी हुई परिवर्तनशीलता की प्रवृत्ति प्रदान करते हैं। ऊपर दिये हुए उदाहरणों में ये परिस्थितियाँ बदल गयी हैं और स्पष्टतया यह स्थिति उपयोगी परिवर्तनों के होने के लिए अच्छा अवसर प्रदान करती हैं और

इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन के लिए अनुकूल हैं। जब तक ये परिवर्तन नहीं होंगे, प्राकृतिक निर्वाचन कुछ नहीं कर सकता। यह ध्यान रखना चाहिए कि 'परिवर्तन (variation) शब्द से यहाँ केवल वैयक्तिक अन्तरों का अभिप्राय है। जिस प्रकार किसी एक दिशा में होने वाले वैयक्तिक अन्तरों को एकत्र कर के मनुष्य अपने पालतू जानवरों अथवा पौधों में बड़े-बड़े परिणाम प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार और भी आसानी से तथा बहुत लम्बे काल तक, इस प्रकार की क्रिया से प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा भी बड़े परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं। मैं यह विश्वास नहीं करता कि जलवायु अथवा किसी अन्य प्रकार के बड़े भौतिक परिवर्तन का होना या प्रवेश रोकने के लिए असाधारण रूप से पृथक्करण का होना इसलिए आवश्यक है कि नयी और खाली जगहें बच जाएँ, जिनको प्राकृतिक निर्वाचन कुछ परिवर्तनशील निवासियों की उन्नति कर के भर दे। चूँकि प्रत्येक प्रदेश के सभी निवासी अपनी संतुलित शक्तियों के द्वारा साथ-साथ संघर्ष कर रहे हैं, इसलिए किसी एक जात की संरचना या स्वभाव का छोटा-से-छोटा अन्तर भी उसको अन्य जातों के ऊपर सुविधा प्रदान करेगा। जब तक वह जात उसी प्रकार की परिस्थितियों में रहेगी तथा उसके निर्वाह और सुरक्षा का ढंग पहले जैसा बना रहेगा, तब तक उसी प्रकार के और भी अधिक परिवर्तन उसको और भी अधिक सुविधा प्रदान करेंगे। हम ऐसे किसी भी प्रदेश का उदाहरण नहीं दे सकते जिसके मूल-निवासियों में आपस में तथा भौतिक वातावरण के प्रति ऐसा पूर्ण अनुकूलन हो गया हो कि उनमें से किसी में उन्नति या और भी अधिक अनुकूलन की संभावना न रह गयी हो। सभी प्रदेशों में अभ्यस्त जीवों ने मूल निवासियों को इस हद तक पराजित कर दिया है कि उन्होंने कुछ अन्य विदेशियों को भी उस भाग में जम जाने दिया है। और चूँकि विदेशियों ने हर प्रदेश में वहाँ के कुछ निवासियों को पराजित किया है, इसलिए हम आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आक्रमणकारियों का अच्छी तरह सामना करने के लिए मूलनिवासियों में कुछ सुविधाजनक आपरिवर्तन अवश्य हुए होंगे।

जब मनुष्य अनजाने में तथा नियमित निर्वाचन के द्वारा ऐसे अच्छे परिणाम निकाल सकता है, तो प्राकृतिक निर्वाचन क्या नहीं कर सकता? मनुष्य केवल बाह्य तथा दिखाई पड़ने वाले लक्षणों पर कार्य कर सकता है। इसके विपरीत प्रकृति—यदि मैं योग्यतम के अतिजीवन या प्राकृतिक रक्षा को इस नाम से पुकारूँ—दिखावट की परवाह नहीं करती। वह केवल लाभदायक लक्षणों का ही ख्याल करती है, और शरीर के प्रत्येक अंग, गठन के छोटे-से-छोटे परिवर्तन और वास्तव में जीवन के सम्पूर्ण यन्त्र पर कार्य कर सकती है। मनुष्य केवल अपनी भलाई के लिए निर्वाचन कर सकता है। प्रकृति केवल उस जीव की भलाई का ध्यान रखती है, जिसकी वह सेवा करती है।

मनुष्य भिन्न-भिन्न जलवायुओं के जीवों को एक ही प्रदेश में रखता है और शायद ही कभी उनके विशेष लक्षणों का सही उपयोग करता हो। उदाहरण के लिए वह लम्बी व छोटी चोंच वाले कबूतरों को एक ही भोजन देता है, वह लम्बी पीठ वाले तथा छोटी पीठ वाले चौपायों को एक ही तरह से चलाता है और लम्बी तथा छोटी ऊनवाली भेड़ों को एक ही प्रकार की जलवायु में रखता है। वह सब से अधिक शक्तिशाली नरों को, मादाओं के लिए, संघर्ष नहीं करने देता। वह भलीभाँति सभी हीन जन्तुओं को नष्ट नहीं करता, बल्कि हर ऋतु-परिवर्तन के समय अपनी शक्ति भर अपने सभी जानवरों की रक्षा करता है। बहुधा वह अपना निर्वाचन किसी अर्ध-विकृत रूप से प्रारम्भ करता है, या कम-से-कम संरचना के ऐसे परिवर्तन से, जो आसानी से उसको दिखाई पड़ जाएँ या उसके लिए लाभदायक हों। प्राकृतिक अवस्था में संरचना अथवा गठन के छोटे-से-छोटे परिवर्तन भी जीवन-संघर्ष के संतुलन में हेर-फेर कर सकते हैं और इसी लिए उनकी प्रतिरक्षा होती है। प्रकृति द्वारा सम्पूर्ण भूतत्वीय कालों में संग्रहीत आप-रिवर्तनों की अपेक्षा मनुष्य की इच्छाएँ तथा उसके प्रयत्न कितने स्थिर हैं, उसका जीवन कितना संक्षिप्त है और फलतः उसके परिणाम भी कितने ओछे होते हैं। ऐसी अवस्था में क्या हमको यह देखकर अश्चर्य होगा कि मनुष्य के उत्पादनों की अपेक्षा प्रकृति के उत्पादन अधिक वास्तविक होते हैं, अथवा जीवन की जटिल परिस्थितियों के लिए वे बहुत अच्छी तरह अनुकूलित होते हैं, या उन पर अच्छी कारीगरी की छाप पड़ी होती है?

अलंकृत भाषा में यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक निर्वाचन सम्पूर्ण संसार में प्रति दिन व प्रति घंटा होने वाले छोटे-से-छोटे परिवर्तनों का निरीक्षण करता रहता है। वह हीन परिवर्तनों का परित्याग करता जाता है और अच्छे परिवर्तनों का संग्रह करता है और प्रतिरक्षा करता और इस प्रकार जब और जहाँ अवसर मिलता है, वह प्रत्येक जीव का उसके जीवित तथा निर्जीव वातावरण के सम्बन्ध में चुपचाप और बहुत धीरे-धीरे सुधार करता जाता है। जब तक समस्त युग नहीं बीत जाते, तब तक इन उत्तरोत्तर होने वाले परिवर्तनों को हम देख भी नहीं पाते और बहुत दिन पहले व्यतीत हुए भूतत्वीय जीवों के विषय में हमारी दृष्टि इतनी अधूरी है कि हम अब केवल इतना देख पाते हैं कि आज पाये जानेवाले जीवों का रूप पहले के जीवों के रूप से बहुत भिन्न है।

किसी जात में बड़ी मात्रा में आपरिवर्तन होने के लिए आवश्यक है कि एक बार एक भेद के निर्माण होने के बाद फिर, कदाचित् काफी समय के बाद उसमें परिवर्तन होना चाहिए या यों कहिए कि पहले की भाँति अनुकूल वैयक्तिक परिवर्तन

प्रकट होने चाहिए। इनकी पुनः प्रतिरक्षा होनी चाहिए और इस प्रकार क्रमबद्ध रूप से एक विशेष प्रकार के परिवर्तन बढ़ेंगे। चूँकि हम देखते हैं कि एक ही प्रकार के वैयक्तिक परिवर्तन निरन्तर होते रहते हैं, इसलिए हमारा अनुमान बिल्कुल ही निर्मूल नहीं है। पर यह सत्य है या नहीं, इसकी परीक्षा हम केवल यह देखकर कर सकते हैं कि कहाँ तक यह सिद्धान्त प्रकृति की साधारण घटनाओं के अनुरूप है और इसी आधार पर हम उसका स्पष्टीकरण करते हैं। दूसरी ओर यह साधारण विश्वास कि परिवर्तन की मात्रा बहुत सीमित होती है, कोरी कल्पना है।

हालांकि प्राकृतिक निर्वाचन हर एक जीव के लाभ के लिए तथा उसके द्वारा ही, काम कर सकता है, फिर भी ऐसी संरचनाएँ तथा लक्षण, जिनको हम बहुत तुच्छ महत्व का ही समझते हैं, इसके द्वारा प्रभावित होंगे। जब हम देखते हैं कि पत्ती खाने वाले कीड़े हरे होते हैं, छाल खाने वाले भूरे होते हैं, तथा ऐल्पस के रहने वाले टारमिगन (ptarmigan) जाड़े में सफेद होते हैं तथा लाल मुर्गा (ग्राउज़) झाड़ी के रंग का होता है, तब हम को यह विश्वास करना पड़ता है कि इन प्राणियों के रंग इनको विपत्ति से बचाने के काम में आते हैं। यदि जीवन के किसी काल में ग्राउज़ नष्ट न कर दिये जाएँ, तो उनकी संख्या में अनगिनत वृद्धि हो जाएगी। हम जानते हैं कि अक्सर शिकारी चिड़ियाँ इनका नाश करती हैं। साथ ही बाज अपनी दृष्टि द्वारा अपने शिकार तक पहुँचता है। वास्तव में यूरोप के कुछ भाग में लोगों को इसलिए सावधान किया जाता है कि वे अपने सफेद कबूतरों को काबू में रखें क्योंकि इन्हीं को इन चिड़ियों से सबसे अधिक भय रहता है। अतः यह सम्भव है कि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा ग्राउज़ को सही रंग मिलता हो और एक बार यह रंग प्राप्त हो जाने पर उसको स्थायी रूप से बनाए रखने के लिए भी इसकी आवश्यकता है। हमको यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विशेष रंग के एक-आध जानवरों के कभी-कभी नष्ट होने से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। सफेद 'भेड़ों' के झुंड में यदि एक भी मेमना ऐसा उत्पन्न होता है कि जिसमें काले रंग का एक चिन्ह भी हो, तो उसको नष्ट कर देना आवश्यक है। हमने पहले यह देखा है कि वरजीनिया की पेल्ट रूट पर निर्वाह करने वाले सुअरों के रंग पर ही यह निर्भर करता है कि वे जीवित बचेंगे या नहीं। पौधों में वनस्पति-शास्त्री फलों के रोम या उसके गूदे के रंग को कोई महत्त्व नहीं देते, फिर भी टाउनिंग नामक एक बड़े योग्य उद्यान-विद्या के विद्वान का कहना है कि अमेरिका में चिकने छिलके वाले फलों पर रोमदार फलों की अपेक्षा करकुलियो (Curculio) नामक कीट का आक्रमण अधिक होता है, तथा पीले बेरों की अपेक्षा लाल बेर एक विशेष रोग से अधिक ग्रसित होते हैं। इसी प्रकार रंगीन गूदे वाले आड़ू की अपेक्षा पीले गूदे वाले आड़ू पर एक

अन्य रोग का आक्रमण अधिक होता है। यदि सारी कलाओं की सहायता होने पर भी ये सूक्ष्म परिवर्तन इन भिन्न-भिन्न भेदों की खेती में इतना अन्तर उत्पन्न कर सकते हैं, तो निश्चय ही प्राकृतिक अवस्था में जहाँ पौधों को एक-दूसरे के साथ या अनेक शत्रुओं के साथ संघर्ष करना होगा, वहाँ इस प्रकार के परिवर्तन यह निर्णय करेंगे कि कौन-सा भेद, चिकना या रोमदार पीला या गुलाबी गूदेवाला, सफल होगा।

जब हम जातों के बीच इन छोटे-छोटे अन्तरों पर विचार करते हैं, जो हमारी अज्ञानता के कारण हमको बिल्कुल महत्वहीन लगते हैं, तो हमको यह न भूलना चाहिए कि जलवायु, भोजन आदि ने इन पर कुछ प्रत्यक्ष प्रभाव भी डाले हैं। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि परस्पर संबंध के नियम के आधार पर जब किसी एक भाग में कुछ परिवर्तन होते हैं और प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा इन परिवर्तनों का संग्रह हो जाता है, तो कुछ अन्य ऐसे आपरिवर्तन भी, कभी-कभी बिल्कुल ही अप्रत्याशित रूप से प्रकट हो जाएँगे।

हम देख चुके हैं कि पालतूपन की परिस्थिति में जो परिवर्तन एक जीव की किसी विशेष अवस्था में उत्पन्न होते हैं, उनमें उसकी सन्तानों में भी उसी अवस्था में पुनः प्रकट होने की प्रवृत्ति होती है। कृषि सम्बन्धी तथा तरकारियों के पौधों के अनेक भेदों के बीजों के आकार, नाप और सुगंध में, अथवा रेशम के कीड़े के लार्वा या ककून की अवस्थाओं में, या मुर्गियों के अन्डों तथा उनके बच्चों के परों के रंग या भेड़ तथा गाय-बैल के सींगों में प्रौढ़ता के समीप इस प्रकार के परिवर्तन जीवन की विशेष अवस्थाओं में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक अवस्था में लाभदायक परिवर्तन के संग्रह तथा किसी विशेष अवस्था पर ही वंशागति के प्रभाव से उनके प्रकट होने से प्राकृतिक निर्वाचन अपना कार्य करेगा और जीवों को आपरिवर्तित करेगा। यदि यह किसी पौधे के लिए लाभ की बात है कि उसके बीज वायु द्वारा बहुत दूर तक प्रसारित हों तो प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा इस आपरिवर्तन के उत्पन्न होने में इससे अधिक कोई कठिनाई नहीं दिखाई देती जितनी कठिनाई रुई की खेती करने वालों को निर्वाचन द्वारा अपने कपास के पेड़ों में रुई की मात्रा और गुण में सुधार करने में होगी। प्राकृतिक निर्वाचन किसी कीट के लार्वा में दर्जनों ऐसी परिस्थितियों के लिए आपरिवर्तन और अनुकूलन कर सकता है, जिनका प्रौढ़ कीट से कोई सम्बन्ध नहीं है और हो सकता है कि परस्पर सम्बन्ध के कारण इन आपरिवर्तनों का प्रभाव प्रौढ़ की संरचना पर भी हो। इसके विपरीत प्रौढ़ में होने वाले आपरिवर्तन लार्वा की संरचना को भी प्रभावित कर सकते हैं। किन्तु इन सभी उदाहरणों में प्राकृतिक निर्वाचन यह निश्चय कर लेता है

कि इनमें से कोई भी आपरिवर्तन हानिकारक नहीं होंगे, क्योंकि यदि वे हानिकारक होंगे तो जात नष्ट हो जाएगी।

प्राकृतिक निर्वाचन बच्चों की संरचना में, प्रौढ़ों की संरचना के अनुसार आपरिवर्तन करेगा और प्रौढ़ों की संरचना में बच्चों की संरचना के अनुसार। सामाजिक जन्तुओं में यह प्रत्येक सदस्य के आकार को समस्त समाज के हित में अनुकूलित करेगा—अगर समाज को उस निर्वाचित परिवर्तन से लाभ होता है। प्राकृतिक निर्वाचन एक काम नहीं कर सकता, वह यह कि वह किसी एक जात की संरचना में बिना उसकी अपनी किसी सुविधा के, तथा दूसरी जातों के लाभ के लिए आपरिवर्तन नहीं कर सकता। हालांकि प्राकृतिक इतिहास की पुस्तकों में इस प्रकार के वक्तव्य मिलते हैं, पर मुझको एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिल सका जो मेरी जाँच से ठीक उतरा हो। अधिक महत्वपूर्ण होने पर यदि कोई संरचना जन्तु के जीवन में केवल एक बार ही उपयोगी होती है, तो वह प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा किसी भी हद तक आपरिवर्तित हो सकती है। उदाहरण के लिए, कुछ कीटों में बड़े-बड़े जबड़े होते हैं, जो केवल ककून को रगेलने के काम आते हैं। इसी तरह चिड़ियों की चोंच की सख्त नोक बच्चों के अंडे तोड़ने के लिए उपयोगी होती है। यह कहा गया है कि अच्छे-से-अच्छे टम्बलर कबूतरों में कई बच्चे अंडों के भीतर ही मर जाते हैं, इसलिए कबूतर पालने वाले अंडा तोड़ने में उनकी सहायता करते हैं। अब यदि कबूतर के ही लाभ के लिए प्रकृति प्रौढ़ कबूतर की चोंच को बहुत छोटी बनाये, तो आपरिवर्तन की क्रिया बहुत धीमी होगी और साथ ही अंडों के भीतर ही पक्षियों में कठिन निर्वाचन होगा और इसके फलस्वरूप सब से कड़ी और शक्तिशाली चोंच वाले बच्चे बचेंगे या उन अंडों के बच्चे जिनका छिल्का पतला और बहुत आसानी से टूटने वाला होगा, क्योंकि हम जानते हैं कि अन्य संरचनाओं की भाँति अंडों के छिल्कों की मोटाई में भी बहुत परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं।

कदाचित् यहाँ यह कहना आवश्यक है कि सभी जीवों में काफी मात्रा में आकस्मिक विनाश होता रहता है, जिसका प्राकृतिक निर्वाचन के क्रम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, या बहुत थोड़ा पड़ता है। उदाहरण के लिए एक बड़ी संख्या में अंडे और बीज खा लिये जाते हैं और प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा यह तभी आपरिवर्तित हो सकते थे, जब इनमें कुछ ऐसे ढंग का परिवर्तन होता कि वे अपने शत्रुओं से बच जाते। फिर भी अगर ये अंडे और बीज नष्ट न होते तो इनमें से कई ऐसे जीव उत्पन्न होते जो उन जीवों की अपेक्षा वातावरण के लिए अधिक सफलता पूर्वक अनुकूलित होते जो वास्तव में बच रहे थे। इसी प्रकार एक बड़ी संख्या में प्रतिवर्ष प्रौढ़ जानवर और पौधे भी आकस्मिक कारणों से नष्ट होते रहते हैं, चाहे वे अपनी परिस्थिति के लिए अनुकूलित हों अथवा

नहीं। और संरचना अथवा गठन में कोई भी ऐसा परिवर्तन, जो अन्य रीतियों से इनके लिए लाभदायक होगा, इस प्रकार की मृत्यु को नहीं रोक सकता। और चाहे इस प्रकार प्रौढ़ों की कितनी ही संख्या नष्ट न हो जाये, यदि प्रदेश में जीवित रह सकने योग्य प्राणियों की संख्या बहुत ही कम नहीं हो जाती और इसी प्रकार चाहे अंडों और बीजों की कितनी ही संख्या नष्ट न हो जाय, यदि उनका शतांश या हजारवाँ भाग भी विकसित होता है तो बचने वाले जीवों में से सब से अच्छी तरह अनुकूलित सदस्य कम अनुकूलित सदस्यों की अपेक्षा अपनी तरह की संतानें तेजी से और अधिक बड़ी संख्या में उत्पन्न करेंगे। किन्तु जैसा कभी-कभी होता है, इन कारणों से किसी जात के जीवों की संख्या एकदम ही गिर जाती है, तो प्राकृतिक निर्वाचन किसी लाभदायक दिशा में असर नहीं कर सकेगा। किन्तु यह दलील अन्य अवसरों तथा अन्य रीतियों से इसकी योग्यता के विरुद्ध नहीं दी जा सकती। कोई कारण ऐसा नहीं है, जिससे हम यह समझें कि एक समय में तथा एक ही क्षेत्र में कई जातें एक साथ आपरिवर्तित होंगी और उन्नति करेंगी।

लैंगिक निर्वाचन

चूँकि पालतूपन की अवस्था में बहुधा विचित्रताएँ एक ही लिंग में उत्पन्न होती हैं और फिर वंशागति के द्वारा उसी लिंग से जुड़ जाती हैं, इसीलिए निस्सन्देह प्रकृति में भी ऐसा ही होना चाहिए। इस प्रकार यह सम्भव होता है कि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा किसी जात के दो लिंग जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से आपरिवर्तित हों। ऐसा कभी-कभी होता है, किन्तु साधारणतः एक लिंग दूसरे के अनुसार ही आपरिवर्तित होता है; अतः मैं उस विषय पर अपना मत दूँगा जिसको मैंने लैंगिक-निर्वाचन का नाम दिया है। निर्वाचन का यह रूप अन्य जीवों अथवा वाह्य परिस्थितियों के प्रति जीवन-संघर्ष पर निर्भर नहीं होता, बल्कि यह एक लिंग के प्राणी पर अधिकार करने के लिए दूसरे लिंग के सदस्यों के बीच का संघर्ष है। साधारणतः ये प्राणी नर होते हैं, और इसका परिणाम असफल प्रतियोगी की मृत्य नहीं है, बल्कि उसकी सन्तानों की संख्या में कमी अथवा नितान्त अनुपस्थिति है। अतः लैंगिक निर्वाचन प्राकृतिक-निर्वाचन से कम विकट है। साधारणतः सब से शक्तिशाली नर, जो प्रकृति में स्थान पाने के लिए उपयुक्त हैं, अधिक-से-अधिक संतानें उत्पन्न करेंगे, किन्तु कई उदाहरणों में विजय साधारण शक्ति पर निर्भर नहीं होती बल्कि नर-प्राणियों में कुछ विशेष यंत्रों के होने पर। बिना सींग के बारहसिंघे या बिना नखर (spur) के मुर्गे को सन्तानोत्पत्ति का अवसर बहुत कम होगा।

विजेता को सन्तानोत्पत्ति का अवसर देने के कारण निश्चय ही लैंगिक निर्वाचन नर-प्राणियों को दुर्जय साहस, इसके स्पर को लम्बाई और इसके पंखों को स्परसहित टाँगों पर आक्रमण करने की शक्ति उसी प्रकार देगा, जिस तरह कोई मुर्ग़ेबाज़, ध्यानपूर्वक निर्वाचन से अपने मुर्ग़ तैयार करता है। मैं नहीं कह सकता कि प्रकृति में कितने नीचे तक युद्ध का नियम पाया जाता है। पर नर घड़ियाल, इंडियनों के युद्ध-नृत्य की भाँति मादा के लिए लड़ते-चिघाड़ते और चक्कर लगाते हैं, नर-साल्मन (Salmon) मछली को लोगों ने पूरे दिन लड़ते देखा है, बहुधा नर सींगदार भौंरे (Stag-beetles) अन्य नरों के विकराल मैन्डिब्लों (mandibles) से घायल पाये गये हैं। फेबर (Faber) ने अक्सर हाईमेनाप्टेरा (Hymenoptera) के नर कीटों को किसी विशेष मादा के लिए युद्ध करते देखा है जो स्वयं शान्ति से बैठी लड़ाई देखती रहती है और अन्त में विजेता के साथ चली जाती है। कदाचित्, यह युद्ध बहुपत्नीय (polygamous) प्राणियों में सबसे विकट होता है और ये सबसे अधिक विशेष हथियारों से सुसज्जित रहते हैं। मांसभक्षी जानवर पहले से ही सशस्त्र रहते हैं, पर लैंगिक निर्वाचन के द्वारा इनमें रक्षा के विशेष अंग भी बन सकते हैं, जैसे बाघ का अयाल और नर साल्मन के कँटियादार जबड़े। विजय के लिए ढाल उतनी ही महत्त्वपूर्ण हो सकती है जितनी तलवार या भाला।

बहुधा चिड़ियों में यह प्रतियोगिता कुछ अधिक शान्ति-पूर्ण होती है। जिन लोगों ने इस विषय पर विचार किया है, उनका यह विश्वास है कि कई जातों के नरों में मादा को संगीत द्वारा आकर्षित करने की अतिविकट प्रतिद्वन्द्विता पायी जाती है। गायना (Guina) की रॉक थ्रश, स्वर्ग की चिड़ियाँ और कुछ अन्य पक्षी एकत्रित होते हैं और फिर उनके नर बारी-बारी से बड़े ही ध्यान से भड़कीले परों का प्रदर्शन करते हैं, और साथ ही वे मादाओं के सामने अद्भुत खेल दिखाते हैं; और अन्त में मादाएँ सबसे आकर्षक नरों का चुनाव करती हैं। जिन लोगों ने पली हुई चिड़ियों को कुछ दिन तक ध्यान से देखा है, वे भलीभाँति यह जानते हैं कि वे बहुधा व्यक्तिगत रुचि तथा अरुचि का प्रदर्शन करती हैं। सर आर हेरन (Sir R. Heron) ने बताया है कि किस प्रकार एक मोर साथ की सभी मोरनियों का प्रिय हो गया था। मैं यहाँ इस प्रश्न के विस्तार में नहीं जा सकता, किन्तु यदि मनुष्य थोड़े ही समय में अपने मुर्गों को पर्याप्त सुन्दरता और अच्छी चाल दे सके, तो कोई कारण नहीं कि कुछ हजार पीढ़ियों में मुर्ग़ियाँ सबसे सुन्दर और अच्छी आवाज वाले मुर्गों को छाँट कर बहुत अच्छी सन्तान उत्पन्न करेंगी। बच्चों के परों की तुलना में प्रौढ़ नर और मादा पक्षियों के परों के अन्तरों से संबंधित कुछ नियमों का स्पष्टीकरण कुछ हद तक लैंगिक निर्वाचन के आधार

पर किया जा सकता है। यह निर्वाचन विभिन्न अवस्थाओं में प्रकट होनेवाले परिवर्तनों पर काम करता है, और ये परिवर्तन सन्तानों में अनुरूप अवस्था में नर या नर तथा मादा दोनों में वंशानुगत होते हैं। किंतु इस विषय पर विचार करने के लिए यहाँ कोई उपयुक्त स्थान नहीं है।

मेरे विचार में यही कारण है जिससे किसी जानवर के नर तथा मादा की प्रकृति समान होते हुए भी संरचना, रंग तथा आकार में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, क्योंकि यह भिन्नता मुख्यतः लैंगिक निर्वाचन के कारण होती है अर्थात् कई पीढ़ियों में कुछ नर सदस्यों में उत्तरोत्तर रूप से अन्य नरों की अपेक्षा शस्त्रों, सुरक्षा के उपायों, आभूषणों आदि में कुछ सूक्ष्म उन्नति उत्पन्न हो जाती है, जिनकी वंशागति केवल नर संतानों में ही होती है। फिर भी मैं समस्त लैंगिक भेदों का आधार इसी कारण को नहीं समझता क्योंकि हम अपने पालतू जानवरों में बहुधा ऐसी विचित्रताएँ प्रकट होते देखते हैं, जिनका नर प्रणियों से संबंध हो जाता है और जो मनुष्य के निर्वाचन से बढ़ती नहीं जान पड़तीं। उदाहरण के लिए जंगली टर्की मुर्गे के सीने पर उपस्थित बालों के गुच्छे का कुछ भी उपयोग नहीं है और इसमें बहुत संदेह है कि मादा टर्की की दृष्टि में यह आभूषण जान पड़ता होगा। वास्तव में अगर यह गुच्छा पालतूपन की स्थिति में बनता तो इसको विकृति कहा जाता।

प्राकृतिक निर्वाचन अथवा योग्यतम के अतिजीवन के उदाहरण

यह स्पष्ट करने के लिए कि मेरे मत के अनुसार प्राकृतिक निर्वाचन किस प्रकार कार्य करता है, मैं एक-दो काल्पनिक उदाहरण देने की अनुमति चाहता हूँ। पहले हम भेड़िये का उदाहरण लेंगे, जो कई तरह के जानवरों का शिकार करता है और किसी को छल से, किसी को बल से और किसी को अपनी क्षिप्रता से पकड़ता है। थोड़ी देर के लिए यह कल्पना कीजिये कि उसका सबसे तेज़ शिकार हिरन, किसी विशेष ऋतु में कुछ कारणों से संख्या में बहुत बढ़ गया और दूसरा शिकार उसी ऋतु में घट गया था, जबकि भेड़िये को खाने की बहुत कमी थी। ऐसी परिस्थिति में सबसे तेज़ और छरहरे बदन वाले भेड़ियों को अतिजीवन का सबसे अधिक अवसर होगा; अतः उन्हीं की रक्षा होगी, अर्थात् उन्हीं का निर्वाचन होगा। लेकिन तब तक ही जब तक उनमें इतनी शक्ति बराबर बनी रहेगी कि इस ऋतु में, अथवा वर्ष के किसी भाग में, जब उनको दूसरे जन्तुओं के शिकार के लिए पर्याप्त शक्ति पायी जाएगी। यदि मनुष्य अपने ग्रेहाउन्ड कुत्तों की चाल में ध्यानपूर्वक और नियमानुसार निर्वाचन के द्वारा उन्नति कर सकता है, या अनजाने में ही केवल इस प्रयत्न में कि वह अच्छे-से-अच्छे

कुत्ते रखे, वह उनमें ऐसी उन्नति कर सकता है, तो निश्चय ही प्रकृति में ऐसी परिस्थिति में भी वही परिणाम होगा, जिसकी हम आशा करते हैं। कदाचित मैं यहाँ यह लिख सकता हूँ कि मिस्टर पियर्स (Mr. Pierce) के अनुसार यूनाइटेड स्टेट्स कैटस्किल पहाड़ों में भेड़ियों की दो नस्लें पायी जाती हैं—एक ग्रेहाउन्ड-जैसी हल्के आकार की, जो हिरनों का शिकार करती है, और दूसरी कुछ भारी और छोटी टाँगों वाली, जो बहुधा गड़रियों की भेड़ों पर आक्रमण करती हैं। ऊपर के उदाहरण में ध्यान देने की बात है कि मैंने सबसे छरहरे बदन के कुछ भेड़ियों की चर्चा की है, न कि एक विशेष और स्पष्ट भेद के अतिजीवन की। इस पुस्तक के पहले के संस्करणों में कभी-कभी मेरे लेख में यह प्रकट होता है कि उनमें से एक दूसरा विकल्प भी अक्सर घटा होगा। मैंने वैयक्तिक अन्तरों के बड़े महत्त्व पर ध्यान दिया है, और इसके फलस्वरूप मैंने मनुष्य द्वारा अनजाने में निर्वाचन के परिणामों पर पूरी तरह विचार किया है, जिस पर लगभग सभी प्रगतिशील सदस्यों की सुरक्षा और सबसे खराब सदस्यों का विनाश निर्भर है। मैंने यह भी देखा कि प्राकृतिक अवस्था में संरचना के किसी भी परिवर्तन (जैसे) विकृति की सुरक्षा विरली ही होगी और यदि प्रारम्भ में यह बच भी जाय तो साधारणतः सामान्य सदस्यों से संकरण होने पर यह नष्ट हो जाएगी। फिर भी जब तक मैंने नॉर्थ ब्रिटिश रिव्यू में (१८६७) एक बहुत ही योग्य और बहुमूल्य लेख नहीं पढ़ा था, तब तक मैं यह पूरी तरह नहीं समझ पाया था कि अकेले परिवर्तन, चाहे वे सूक्ष्म हों अथवा बड़े, कितने बिरले रूप से स्थायी हो सकते हैं। इस लेख में लेखक एक जोड़ा जानवरों का उदाहरण लेता है, जो अपने जीवन में दो सौ सन्तानें उत्पन्न करते हैं, जिनमें से विनाश के कई कारणों के फलस्वरूप औसत रूप से केवल दो ही बचते हैं, जो पुनः सन्तानोत्पत्ति करते हैं। कदाचित उच्च प्राणियों के लिए यह उदाहरण बहुत असाधारण है, किन्तु निम्न प्राणियों के लिए ऐसा नहीं है। फिर लेखक यह दिखाता है कि यदि एक प्राणी कुछ ऐसे परिवर्तन के साथ उत्पन्न हुआ जिसके कारण अन्य सदस्यों की अपेक्षा उसको जीवित रहने का दोगुना अवसर है। फिर भी कुल मिला कर सम्भावना उसके अतिजीवन के विरुद्ध है। मान लीजिए कि यह प्राणी बच रहता है और सन्तानोत्पत्ति करता है और उसके आधे बच्चे अनुकूल परिवर्तन वंशागत करते हैं; फिर भी इन बच्चों को जीवित रहने और सन्तानोत्पत्ति करने के लिए अधिक सम्भावना न होगी और पीढ़ियों के बढ़ने के साथ-साथ यह सम्भावना कम होती जाएगी। मेरे विचार में लेखक की इन बातों की सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि कोई चिड़िया चोंच के टेढ़े होने से अपना आहार अधिक सरलता से ग्रहण कर सकती है और इस तरह की टेढ़ी

चोंच वाली यह चिड़िया पैदा हो जाती और उन्नति करती है, तो भी इस एक चिड़िया से इसी तरह की अन्य सन्तानों के उत्पन्न होने तथा साधारण आकार वाली चिड़ियों के नाश होने की सम्भावना बहुत थोड़ी होगी। किन्तु पालतूपन में हम जो कुछ देखते हैं, उससे इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यदि एक के बजाय टेढ़ी चोंच वाली कई चिड़ियाँ कई पीढ़ियों में बच रहें और सीधी चोंच वाली चिड़ियाँ बड़ी संख्या में नष्ट हो जायें, तो इस प्रकार की चिड़ियों का अतिजीवन होगा।

हमारी दृष्टि से यह बात भी ओझल नहीं होनी चाहिए कि बहुधा कुछ ऐसे स्पष्ट परिवर्तन, जिनको हम वैयक्तिक अन्तर मात्र न कहेंगे, बारंबार इसलिए होते हैं कि एक ही प्रकार की गठन पर एक ही प्रकार का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हम पालतू जीवों में से दे सकते हैं। इन उदाहरणों में यदि एक परिवर्तनशील सदस्य वास्तव में अपनी संतानों में नये अर्जित किये हुए लक्षण ही नहीं प्रदान करता, तो वह उनमें उन्हीं परिस्थितियों में उसी प्रकार परिवर्तन होने की प्रवृत्ति तो अवश्य ही संप्रेषित करता है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कर सकता कि कभी-कभी एक ही प्रकार से परिवर्तित होने की प्रवत्ति इतनी बलवान होती है कि बिना किसी प्रकार के निर्वाचन की सहायता के एक जात के सभी सदस्य एक ही प्रकार से आपरिवर्तित हो गये हैं। कम-से-कम कुल सदस्यों के एक तिहाई (१/३) पाँचवें, या दसवें भाग के इस प्रकार परिवर्तित होने के तो कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। ग्राबा (Graba) का अनुमान है कि फारो द्वीपों की समुद्री चिड़िया गिलमोत (guillemot) की कम से कम १/५ संख्या अन्य चिड़ियों से इतनी पथक् है कि उनको एक अलग जात का स्तर दे दिया गया था जिसका नाम यूरिया लैक्रा-इमेन्स (Uria lacrymans) रखा गया था। इस तरह के उदाहरणों में यदि परि-वर्तन लाभदायक हुए, तो परिवर्तित रूप जल्दी ही मूल भेद का स्थान ले लेगा और इसमें योग्यतम के अतिजीवन का सिद्धान्त लागू होगा।

परिवर्तनों को नष्ट करने के सम्बन्ध में अन्तःकरण के प्रभावों के विषय में मैं फिर लिखूँगा। किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अधिकांश जानवर और पौधे अपने ही निवासस्थान में रहते हैं और बिना आवश्यकता के इधर-उधर नहीं घूमते। हम यह बात स्थानान्तरण करने वाली चिड़ियों में भी देखते हैं, जो सदा एक ही स्थान पर वापस आ जाती हैं। फलतः प्रत्येक नया बना हुआ भेद प्रारम्भ में साधारणतः स्थानीय ही रहता है। प्राकृतिक अवस्था में भेदों का यह सामान्य नियम जान पड़ता है, जिससे एक ही तरह से आपरिवर्तित सदस्य जल्दी ही एक छोटा समह बना लेंगे और परस्पर सन्तानोत्पत्ति करेंगे। अगर यह नया भेद जीवन-संघर्ष में सफल हुआ तो

धीरे-धीरे इस केन्द्रीय स्थान के आपरिवर्तित सदस्यों से प्रतियोगिता करता हुआ बाहर की ओर बढ़ता जाएगा, जिससे इसके विकास का क्षेत्र कुछ दिन में बहुत फैल जायेगा।

प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया का एक दूसरा और भी जटिल उदाहरण देना अच्छा होगा। कुछ पौधे एक मीठे रस का उत्सृजन करते हैं जिसका मुख्य कार्य कदाचित् जीवन-रस से कुछ हानिकारक पदार्थों का त्याग करना जान पड़ता है। उदाहरण के लिए कुछ डाल वाले पौधों का या लेग्यूमिनोसी (Leguminosae) वंश के सदस्यों में यह क्रिया अनुपत्रों के आधार पर स्थिर ग्रन्थियों के बाद होती है, और साधारण लारेल की पत्तियों के पिछले तल पर थोड़ी मात्रा में होते हुए भी कीट इस रस को बुरी तरह तलाश करते हैं। किन्तु पौधों तक उनके जाने से पौधों का कोई लाभ नहीं होता। मान लीजिए कि यह रस, या मधुरस, किसी जात के कुछ पौधों के भीतरी भाग से उत्पन्न होता है। मधुरस की खोज करने में कीटों के शरीर पर पराग-कण चिपक जाएँगे और इस प्रकार वे एक फूल से दूसरे पर पहुँचेंगे। इस प्रकार एक ही जात के दो भिन्न-भिन्न सदस्यों के बीच संकरण होता है और यह भलीभाँति सिद्ध किया जा सकता है कि संकरण के फलस्वरूप शक्तिशाली बीजांकुर उत्पन्न होते हैं, जिससे स्पष्टतया फलने-फूलने तथा उन्नति करने की सबसे अधिक सम्भावना होगी। जो पौधे ऐसे फूल उत्पन्न करते हैं, जिनमें बड़े-से-बड़े मधुकोष या ग्रन्थियाँ होंगी और अधिक-से-अधिक मधु उत्पन्न होगा, उन्हीं पर कीड़े अधिक पहुँचेंगे और इसलिए इन्हीं का संकरण भी अधिक होगा। अतः अंत में यही अधिक शक्तिशाली होंगे और नये स्थानीय भेदों का निर्माण करेंगे। इसी प्रकार जिन फलों के पराग-केसर या गर्भ-केसर की स्थिति अथवा लम्बाई उन पर आने वाले कीड़ों के स्वभाव और माप के अनुकूल होगी, जिससे पराग-कणों के आदान-प्रदान में सहायता होगी अतः वे भी उन्नति करेंगे। हम ऐसे कीटों का भी उदाहरण ले सकते हैं, जो फूलों पर मधु के लिए नहीं बल्कि पराग एकत्र करने के लिए ही आते हैं। चूँकि पराग का एकमात्र काम संसेचन है, इसलिए आरम्भ में इसका नष्ट होना पौधे के लिए हानिकारक जान पड़ता है। किन्तु यदि थोड़ी मात्रा में कभी-कभी पराग ले जाने से इन कीड़ों की आदत पड़ जाती है और इस प्रकार एक फूल से दूसरे फूल पर जाने में वे संसेचन में सहायक होते हैं तो चाहे पराग के दस में से नौ भाग नष्ट हो जायें, तो भी यह क्रिया पौधे के लिए अत्यन्त लाभदायक होगी। अतः जो फूल अधिक-से-अधिक पराग उत्पन्न करेंगे और जिनमें बड़े पराग-केसर होंगे, उन्हीं का निर्वाचन होगा।

इस क्रिया के बहुत दिनों तक जारी रहने पर जब यह पौधा कीटों के लिए बहुत आकर्षक हो जाता है, तो वे बिना इच्छा के भी बराबर एक फूल से दूसरे पर पराग

ले जाने का काम करते हैं। मैं कई बातों से यह सिद्ध कर सकता हूँ कि वे यह काम भली प्रकार करते हैं। मैं यहाँ इनका एक ही उदाहरण दूँगा जिससे पौधों में लैंगिक पृथक्करण की एक अवस्था का निदर्शन हो जाएगा। कुछ हॉली (holly) के पौधों में केवल नर पुष्प होते हैं, जिनमें चार पराग-केसर होते हैं और थोड़ी मात्रा में पराग-कण बनता है। इनका गर्भ-केसर बहुत अविकसित होता है। दूसरे वृक्षों पर केवल मादा पुष्प होते हैं, जिनका गर्भ-केसर पूर्ण विकसित होता है, किन्तु चारों पराग-केसरों पर पराग-कोष सिकुड़े हुए होते हैं और उनमें पराग का एक कण भी नहीं होता। मैंने इस तरह का एक मादा पौधा नर पौधे से ६० गज़ की दूरी पर पाया और उसके ऐसे २० फूलों के, जो अलग-अलग शाखाओं पर थे, गर्भनाल-मुखों को सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा देखा। इनमें से प्रत्येक पर बिना अपवाद के कुछ परागकण उपस्थित थे, और कुछ पर तो काफी मात्रा में। चूँकि पिछले कई दिनों से हवा मादा पौधे से नर की ओर बह रही थी, इसलिए वायु द्वारा परागकणों के आने की कोई सम्भावना नहीं थी। मौसम ठंडा था और हवा तेजी से चल रही थी, जो मधुमक्खियों के लिए अनुकूल नहीं है; फिर भी हर फूल, जिसकी मैंने जाँच की थी, वास्तव में मधुमक्खियों द्वारा ही संसेचित हुआ था। ये मधुमक्खियाँ एक पौधे से दूसरे पर मधु की खोज में उड़ती फिरती थीं। लेकिन अब हम फिर अपने काल्पनिक उदाहरण को लेंगे। जैसे ही यह पौधा कीटों के लिए इतना आकर्षक हो गया कि नियमित रूप से ये एक फूल से दूसरे पर पराग ले जाने लगे, तो दूसरी क्रिया प्रारम्भ हो जाएगी। कोई प्रकृतिवादी श्रम के शारीरिक विभाजन की सुविधाओं के विषय में सन्देह नहीं करेगा। अतः हम यह मान सकते हैं कि किसी भी पौधे के लिए यह सुविधाजनक होगा कि वह एक फूल या एक पूरे पौधे में पराग उत्पन्न करे और दूसरे फूल या दूसरे पौधे में केवल गर्भ-केसर। बोये हुए पौधों को जीवन की नयी परिस्थितियों में रखे जाने पर कभी-कभी उनके नर अंग और कभी मादा अंग लगभग बिल्कुल ही अशक्त हो जाते हैं। अगर हम यह मान लें कि यही बात छोटे-से-छोटे अंश में भी प्रकृति में होती है, तो चूँकि पराग-केसर पहले से ही नियमित रूप से एक फूल से दूसरे फूल पर जा रहा था और चूँकि लिंगों का पूर्ण पृथक्करण श्रम के विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार पौधे के लिए अधिक लाभदायक होगा, इसलिए जिन पौधों में यह प्रवृत्ति जितनी ही अधिक होगी, उनका उतना ही अधिक निर्वाचन होगा और अन्त में लिंगों का पूर्ण पृथक्करण हो जाएगा। यह दिखाने में कि द्विरूपता और अन्य तरीकों से किन-किन अवस्थाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों में यह पृथक्करण इस समय भी हो रहा है, बहुत स्थान चाहिए। पर इतना मैं अवश्य लिखूँगा कि आसा ग्रे के अनुसार अमेरिका में

हॉली की कई जातें ठीक बीच की स्थिति में हैं, या उन्हीं के शब्दों में द्विवासी बहुलिंगी (diociously polyganous) हैं।

आइये अब हम मधु ग्रहण करने वाले कीटों की ओर ध्यान दें। हम ऐसा मान लें कि जिस पौधे में हम निर्वाचिन द्वारा मधु की मात्रा बढ़ा रहे थे, वह एक सामान्य पौधा है और कुछ कीट मुख्यत: इसी के मधु पर आहार के लिए निर्भर रहते हैं। मैं ऐसी बहुत-सी बातों का उल्लेख कर सकता हूँ, जिससे यह पता चलेगा कि मधुमक्खियाँ, अपना समय बचाने के लिए कितनी प्रयत्नशील रहती हैं। उदाहरण के लिए उनका कुछ फूलों के नीचे की ओर छेद करना और उसी से मधु सुड़कना, जब कि थोड़े और कष्ट से ऊपर की ओर से वे फूलों में प्रवेश कर सकती हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर यह समझा जा सकता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में उनकी सूँड़ की लम्बाई या वक्रता के कुछ ऐसे परिवर्तन हो जाएँगे जो इतने सूक्ष्म हैं कि उनको हम मधु-मक्खी या अन्य कीटों के लिए लाभदायक नहीं समझ सकते हैं। वे अन्य कीटों की अपेक्षा अपना आहार जल्दी पा सकते हैं, और इस प्रकार जिन सामाजिक समूहों में वे हैं, वे अधिक फूले-फलेंगे और इस तरह ऐसी अनेक सन्तानें उत्पन्न करेंगे जिनमें वे ही विशेषताएँ हैं। सामान्य लाल तथा मांसल क्लोवर **ट्राइफोलियम प्रेटेन्सि** तथा **इन्कारनेटम** (Trifolium pratense and T. incarnatum) के पत्रदलों की नलिकाएँ सरसरी दृष्टि में लम्बाई में भिन्न नहीं जान पड़तीं। फिर भी मधुमक्खी मांसल 'क्लोवर' से आसानी से मधु सुड़क सकती है, किन्तु लाल 'क्लोवर' से नहीं। लाल क्लोवर पर केवल छोटी मधुमक्खियाँ जाती हैं। इस प्रकार लाल 'क्लोवर' के खेत के खेत, बहुमूल्य मधु से भरे होने पर भी साधारण मधुमक्खी के लिए व्यर्थ हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मक्खी को भी यह मधु बहुत प्रिय है। मैंने पतझड़ के मौसम में अनेक बार इन मक्खियों को छोटी मधुमक्खियों के द्वारा बनाये हुए फूलों के आधार की ओर के छेदों से मधु सुड़कते देखा है। दोनों प्रकार के 'क्लोवर' के पत्रदलों की लम्बाई का अन्तर, जो इन मक्खियों के आगमन का निर्णय करता है, बहुत तुच्छ होगा। मुझको यह विश्वास दिलाया गया है कि जब लाल क्लोवर की कटाई हो जाती है, तो दूसरी फ़सल के फूल कुछ छोटे होते हैं और इन पर अनेक साधारण मधुमक्खियों का आगमन होता है। मैं नहीं कह सकता कि यह वक्तव्य कहाँ तक सही है। इसी प्रकार के दूसरे वक्तव्य की विश्वनीयता के विषय में भी मैं कुछ नहीं कह सकता, कि लिग्युरियन मधुमक्खी (Ligurian bee) जो साधारण छत्ते की मधुमक्खियों का एक विशिष्ट भेद समझी जाती है और उसके साथ संकरण करती है, लाल क्लोवर के मधु तक पहुँच जाती है और उसको सुड़कती

है। इस प्रकार किसी प्रदेश में, जहाँ इस प्रकार का क्लोवर बहुतायत में होता है, सामान्य छत्ते की मधुमक्खी के लिए यह बहुत सुविधा की बात होगी कि उसकी सूँड़ कुछ लम्बी और भिन्न प्रकार से बनी हो। दूसरी ओर, चूँकि इस क्लोवर की उर्वरता, बिल्कुल ही मधुमक्खियों के फूलों पर आगमन पर निर्भर करती है, इसलिए यदि किसी प्रदेश में छोटी मधुमक्खियाँ बहुत कम हो जायँ, तो पौधों के लिए यह सुविधाजनक होगा कि उनके पत्रदल छोटे और गहरे कटे हों, जिससे साधारण मधुमक्खियाँ उसके फूलों का रस चूस सकें। इस प्रकार मैं यह समझ सकता हूँ कि किस प्रकार के फूल और कोई विशेष प्रकार की मधुमक्खी धीरे-धीरे एक साथ या बारी-बारी से एक-दूसरे के प्रति आपरिवर्तित तथा पूर्णतया अनुकूलित हो जाएगी। इस क्रिया में ऐसे सभी सदस्यों का, जिनकी संरचना में एक-दूसरे के अनुकूल थोड़े भी आपरिवर्तन होंगे, निरन्तर अतिजीवन आवश्यक होगा।

मुझको इस बात का पूरा ज्ञान है कि ऊपर दिये हुए काल्पनिक उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट किये हुए प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के विरुद्ध वे ही आपत्तियाँ की जा सकती हैं, जो पहले सर चार्ल्स लियेल के 'भूतत्व-शास्त्र का निदर्शन करने वाले पृथ्वी के आधुनिक परिवर्तन' सम्बन्धी मतों के विरुद्ध की गयी थीं। किन्तु जो साधन आज भी काम करते देखे जा रहे हैं उनको तुच्छ या महत्वहीन कहे जाते शायद ही सुनते हों, जब कि उनका उपयोग गहरी-से-गहरी घाटियों की खुदाई या अन्तर्देशीय चोटियों की लम्बी शृंखलाओं के निर्माण के सम्बन्ध में होता हो। प्राकृतिक निर्वाचन छोटे-छोटे वंशागत आपरिवर्तनों की रक्षा और संग्रह के द्वारा काम करता है, जो सुरक्षित जीव के लिए लाभदायक हों। और जिस प्रकार आधुनिक भूतत्त्व-शास्त्र ने इस तरह के मतों (जैसे किसी बड़ी घाटी का एक बाढ़ के द्वारा निर्माण) का लगभग पूरी तरह त्याग कर दिया है, उसी प्रकार प्राकृतिक निर्वाचन का सिद्धान्त जीवों की निरन्तर सृष्टि के विश्वास को अथवा उनकी संरचना में किसी बड़े आपरिवर्तन के एकत्र होने के विश्वास को, मिटा देगा।

जीवों का अन्तःसंकरण

मैं यहाँ कुछ विषयान्तर करने के लिए बाध्य हूँ। अलग-अलग लिंगों के जानवरों और पौधों के विषय में यह स्पष्ट है कि—असम्भोगजनन (parthenogenesis) के विचित्र और अपवादित उदाहरणों को छोड़कर—प्रत्येक जीव के जन्म के लिए दो सदस्यों का मैथुन करना आवश्यक है। किन्तु उभयलिंगी (hermaphrodites) जीवों के लिए यह स्पष्ट नहीं है। किन्तु यह विश्वास किया जा सकता है कि सभी

उभयलिंगी जीवों में भी कभी-कभी या बराबर इस प्रकार से प्रजनन के लिए दो व्यक्ति भाग लेते हैं। बहुत दिन पहले स्प्रेन्गेल नाइट तथा कोलराइटर (Sprengel Knight and Kolreuter) ने संशयात्मक ढंग से इस मत का प्रतिपादन किया था। हम इसके महत्त्व पर विचार करेंगे, पर हालांकि मेरे पास काफी विस्तार में तर्क के लिए सामग्री है, फिर भी मैं बहुत संक्षेप में इस पर विचार करूँगा। सभी मेरुदंडधारी (Vertebrate) जन्तु, सभी कीट और कुछ अन्य बड़े समूहों के जन्तु प्रत्येक बार प्रजनन के लिए सम्मिलित होते हैं। वर्त्तमान खोज ने काल्पनिक उभयलिंगियों की संख्या में बहुत कमी कर दी और यह दिखा दिया है कि वास्तविक उभयलिंगियों में से बहुत से मैथुन करते हैं। इतने से ही इस समय हमारा सम्बन्ध है। किन्तु निश्चय ही ऐसे बहुत से उभयलिंगी जन्तु हैं, जो सामान्य रूप से मैथुन नहीं करते और पौधों में एक बड़ी संख्या उभयलिंगी है। यह पूछा जा सकता है कि हम यह कैसे कह सकते हैं कि इन उदाहरणों में जनन में दो जीव सम्मिलित होते हैं। चूँकि हम विस्तार में इस विषय पर नहीं लिख सकते, इसलिए कुछ व्यापक सिद्धान्तों का ही उल्लेख करेंगे।

सर्वप्रथम जन्तुओं के पालकों के सर्वमान्य विश्वास को सिद्ध करने वाले मैंने इतने तत्त्व एकत्रित किये हैं और इतने प्रयोग किये हैं, जिनसे यह पता चलता है कि जन्तुओं तथा पौधों के अलग-अलग भेदों या नस्लों (Strains) के बीच संकरण से सन्तान को शक्ति तथा उर्वरता प्राप्त होती है। किन्तु घनिष्ठ अन्त:संकरण से शक्ति और उर्वरता में कमी होती है। वास्तव में केवल इन्हीं निष्कर्षों के आधार पर मैं यह समझता हूँ कि यह प्रकृति का साधारण नियम है कि कोई जीव लगातार कई पीढ़ियों तक स्वयं संसेचन नहीं करता; और दो व्यक्तियों के बीच संकरण होना—चाहे वह बड़ी लम्बी अवधि के बाद ही क्यों न हो—अनिवार्य है।

अगर हम प्रकृति के इस नियम को मान लें तो इसके आधार पर कुछ ऐसी बड़ी-बड़ी बातों को समझ सकते हैं, जिनका अन्य किसी रीति से स्पष्टीकरण करना सम्भव नहीं जान पड़ता। उदाहरण के लिए हर वनस्पति-पालक यह जानता है कि किसी फूल का भीग जाना उसकी उर्वरता के कितना प्रतिकूल है, फिर भी ऐसे कितने फूल हैं, जिनके गर्भ तथा पराग-केसर नित्य ही ऋतुओं के ऊपर निर्भर रहते हैं। अब हालांकि उसी फूल के पराग तथा गर्भ-केसर इतने सन्निकट स्थित होते हैं कि स्वयं संसेचन में कोई बाधा नहीं हो सकती, फिर भी इन फूलों की संरचना ऐसी होती है कि बाहर से पराग का प्रवेश स्वतंत्र रूप से हो सकता है। यह स्थिति यह सिद्ध करती है कि कभी-कभी पर-संसेचन का होना अनिवार्य है। फिर कई फूलों में उत्पा-

दक अंग अच्छी तरह से ढँके रहते हैं (जैसे मटर के फूल के वंश में) किन्तु इनमें लगभग सदा ही कीटों के आगमन के लिए विचित्र और अद्भुत उपाय होते हैं। इस वंश के कई फूलों के लिए तो मधुमक्खियों का आगमन होना इतना आवश्यक होता है कि यदि इसमें रोक-थाम की जाय, तो इनकी उर्वरता बहुत कम हो जाती है। कीटों के लिए यह सम्भव नहीं कि वे एक फूल से दूसरे पर आते रहें, पर उनके पराग का संवाहन, जो पौधों के बड़े हित का है, न करें। कीट चित्रकार के ब्रुश की भाँति काम करते हैं। इससे एक फूल को छूकर दूसरे के गर्भनाल-मुख के सम्पर्क में लाना ही संसेचन के लिए पर्याप्त है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि मधुमक्खियाँ इस प्रकार स्पष्ट जातों के बीच तरह-तरह के प्रसंकर उत्पन्न कर सकेंगी, क्योंकि यदि किसी पौधे के अपने परागकण और किसी अन्य जात के पौधे के परागकण साथ-साथ एक ही गर्भनाल-मुख पर रखे जायँ, तो इनमें से पहले कण इतने शक्तिशाली होते हैं कि वे सदा पूरी तरह से अन्य जात के परागकणों के प्रभाव को नष्ट कर देते हैं। ऐसा गार्टनर (Gartner) सिद्ध कर चुके हैं।

जब किसी पौधे के पराग-केसर एकाएक उसके गर्भ-केसर की ओर मुड़ जाते हैं, या धीरे-धीरे एक के बाद एक इसकी ओर अग्रसर होते हैं, तो निश्चय ही यह उपाय स्वयं-संसेचन की पूर्ति के लिए है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके लिए यह बहुत लाभदायक भी है। किन्तु जैसा कैलरायटर ने 'बरबरी' में दिखाया है, कीटों की आवश्यकता बहुधा पराग-केसर को आगे की ओर झुकाने के लिए होती है। अतः इस पौधे में स्वयं-संसेचन के विशेष उपाय हैं फिर भी इसी जात के विषय में यह भली-भाँति ज्ञात है कि यदि कई मिलते-जुलते रूप या भेद एक-दूसरे के निकट बोये जायँ तो उनमें पर-संसेचन इतना अधिक होता है कि शुद्ध नस्लों की संतानों का मिलना लगभग असम्भव है। ऐसे असंख्य उदाहरणों में, जिनमें स्वयं-संसेचन के लिए सहायता मिलना तो दूर, ऐसे अनेक विशिष्ट साधन होते हैं, जिनके द्वारा स्वयं-संसेचन में बाधा होती है। स्प्रेंगिल तथा कई और लेखकों के प्रकाशनों से तथा स्वयं अपने अवलोकनों के आधार पर मैं इस प्रकार के अनेक उदाहरण दे सकता हूँ। लोबिलिया फुल्जेन्स (Lobelia fulgens) में सभी पराग-केसर एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, पर इसके पहले कि इसका गर्भ-केसर पूर्ण विकसित हो, उसके असंख्य पराग-कण एक बड़े जटिल और सुन्दर उपाय के द्वारा फूल के बाहर गिर जाते हैं कम-से-कम अपने बाग में इस फूल पर मैंने मधुमक्खियों का आगमन होते नहीं देखा, जिसके फलस्वरूप इसमें बीज का निर्माण भी नहीं होता। किन्तु एक फूल के पराग दूसरे फूल पर छिड़क कर मैंने ढेर-के-ढेर बीज और पौधे उत्पन्न किये हैं। लोबीलिया की दूसरी जात पर मधु-

मक्खियों का आगमन होता है और मेरे ही बाग में उसमें बराबर बीज बनते हैं। जैसा स्प्रेंगिल ने और हाल में हिल्डेग्रैन्ड और कई अन्य लोगों ने दिखाया है, कई अन्य उदाहरणों में पुष्प की संरचना के द्वारा स्वयं-संसेचन में कोई बाधा नहीं पड़ती, किन्तु या तो गर्भ-केसर के संसेचन के लिए तैयार होने के पहले ही पराग-कोष फट जाते हैं, या परागकणों के तैयार होने के बहुत पहले ही गर्भ-केसर परिपक्व हो जाता है। ऐसे पृथक् पक्व, (dichogamous) कहे जाने वाले पौधों में केवल पर-संसेचन ही सम्भव है, और वस्तुत: वे अलग-अलग लिंगों के पुष्प कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार द्विरूप तथा त्रिरूप पौधों की भी स्थिति है, जिनके विषय में हम पहले कह चुके हैं। ये सभी बातें कितनी विचित्र हैं। यह कितनी विचित्र बात है कि किसी फूल में उपस्थित-गर्भ तथा पराग केसर जो एक दूसरे के इतने निकट होते हैं, जान पड़ता है कि केवल एक दूसरे के लिए ही बने हैं, वास्तव में एक-दूसरे के लिए व्यर्थ होते हैं। किन्तु इन विचित्र बातों का स्पष्टीकरण एक सरल तत्त्व से हो जाता है, और वह यह कि जीवों में दो व्यक्तियों के बीच सदा, अथवा कभी-कभी, संकरण होना आवश्यक है। मैंने देखा है कि यदि पातगोभी, मूली, प्याज आदि पौधों को करीब-करीब लगाया जाये और उनमें बीज निर्माण होने दिया जाय तो बीजांकुरों की एक बहुत बड़ी संख्या जंगली हो जाती है। उदाहरण के लिए मैंने पातगोभी के कई भेदों के पौधे एक-दूसरे के निकट लगाये और उनसे तैयार हुए बीजों में से २३३ को बोया। मैंने देखा कि इनमें से केवल ७८ पौधे मूल भेद के थे और इनमें से भी कुछ पूर्णतया ऐसे नहीं थे। फिर भी प्रत्येक पातगोभी के फूल के गर्भ-केसर को चारों ओर से ६ पराग-केसर तो उसी पौधे को घेरे हुए होते हैं और इसके अलावा अन्य फूलों के अनगिनत पराग-केसर भी दूर नहीं होते। इस उदाहरण में हर फूल के पराग-कण उसके गर्भ-केसर पर पहुँचते हैं, क्योंकि फूलों को कीटों के आगमन से बिलकुल बचा कर रखने पर भी उनमें फलों की पूरी संख्या उत्पन्न हुई। प्रश्न यह उठता है कि ऐसी परिस्थिति में बीजांकुरों की इतनी बड़ी संख्या जंगली कैसे हो जाती है? इनकी उत्पत्ति तभी हो सकती है जब किसी विशेष भेद के पराग-कणों का प्रभाव फूलों के अपने पराग-कणों के प्रभाव से अधिक शक्तिशाली हो। और यही नियम एक जात के विभिन्न सदस्यों के अन्त:संकरण के द्वारा अच्छी संतति उत्पन्न करने का भी है। किन्तु जब दो पथक् जातों का संकरण होता है, तब परिणाम उल्टा होता है, क्योंकि किसी जात के अपने पराग-कण अन्य जातों के पराग-कणों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं। इस विषय पर हम पुन: विचार करेंगे।

फूलों से लदे किसी बड़े वृक्ष के विषय में यह आपत्ति की जा सकती है कि एक

वृक्ष से दूसरे पर शायद ही पराग-कण जा सकते हों और अधिकतर वे उसी पेड़ के एक फूल से दूसरे पर पहुँचेंगे। इस उदाहरण में एक वृक्ष के विभिन्न फूलों को स्पष्ट जीव बहुत सीमित अर्थ के अनुसार ही माना जा सकता है। मैं समझता हूँ कि इस आपत्ति में काफी जोर है; पर बहुधा बड़े वृक्षों में अलग-अलग लिंगों के पुष्प धारण करने की प्रवत्ति होती है और यह प्रवृत्ति बहुत-कुछ इस कठिनाई का निदान करती है। जब पुष्प एकलिंगी होंगे, तो चाहे दोनों लिंगों के फूल एक ही पौधे पर उत्पन्न हों पर पराग-कण नियमित रूप से एक फूल से दूसरे पर जाएँगे, और ऐसी अवस्था में उनके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने की सम्भावना भी बढ़ जाएगी। सभी गणों (Orders) के वृक्षों में, अन्य पौधों की अपेक्षा बड़े अनुपात में अलग-अलग लिंगों के सदस्य पाये जाते हैं। मैंने यह अवलोकन इस देश में किया है और मेरे आग्रह पर डा० हूकर ने न्यूज़ीलैंड के तथा डा० आसा ग्रे ने अमेरिका के पौधों का इस दृष्टिकोण से पंजीकरण किया है। परिणाम मेरी आशा के अनुसार ही निकला। आस्ट्रेलिया के अधिकतर वृक्ष पृथक्पक्व (dichogamous) हैं, पर इस परिस्थिति में भी वही परिणाम होगा, जो उनके पृथक्लिंगी पुष्प धारण करने पर होता है। मैंने वृक्षों के सम्बन्ध में ये थोड़ी-सी बातें इस विषय पर ध्यान आकर्षित करने के लिए ही कही हैं।

आइये, अब जन्तुओं की ओर ध्यान दें। इनकी अनेक स्थलीय जातें जैसे स्थल के मालस्क (molluscs) और केंचुए उभयलिंगी हैं, पर ये सभी मैथुन करते हैं। अभी तक मुझको स्थलचर प्राणियों का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला, जो स्वयं संसेचन कर सकता हो। स्थलीय पौधों की तुलना में जन्तुओं की यह बात इतनी अद्भुत है कि इसका स्पष्टीकरण ऊपर दिये हुए मत के द्वारा ही हो सकता है, अर्थात् जीवों में कभी-कभी संकरण होना अनिवार्य है। और चूँकि जन्तुओं में संसेचन की विधि ऐसी होती है कि उनमें कीटों की क्रिया के समान कोई मध्यस्थ सम्भव नहीं है, इसलिए इस प्रकार के कभी-कभी होने वाले संकरण में दो प्राणियों का एक साथ भाग लेना आवश्यक है। जलीय जन्तुओं में अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें स्वयं संसेचन हो सकता है, किन्तु इनमें पानी की धारा संकरण के लिए साधन का काम कर सकती है। जन्तुओं के विषय में एक बड़े अधिकारी विद्वान प्रो० हक्सले से परामर्श करने के बाद भी मैं एक भी ऐसे उभयलिंगी उदाहरण का पता नहीं लगा सका, जिसके जननांग इतनी भलीभाँति रक्षित हों कि उनका बाहर से कोई सम्बन्ध न हो और इस प्रकार किसी अन्य प्राणी से प्रभावित न हो सकता हो। मुझको बहुत दिनों तक सिरीपीड (Cirripedes) इस नियम में अपवाद जान पड़ते थे, और उनकी

व्याख्या करने में बड़ी कठिनाई थी। पर भाग्य से मैंने एक ऐसा अवलोकन किया जिससे यह सिद्ध हो गया कि उनके उभयलिंगी होने पर भी कभी-कभी उनमें आपस में संकरण होता है।

निश्चय ही अनेक प्रकृतिवादियों को यह बात बड़ी विचित्र लगती होगी कि जन्तु तथा प्राणी साम्राज्यों में बहुधा एक वंश और कभी-कभी एक ही जात में, ऐसी जातें पायी जाती हैं कि उनकी संरचना बहुत कुछ समान होते हुए भी, उनमें से कुछ उभयलिंगी होते हैं और कुछ एकलिंगी। किन्तु यदि वास्तव में सभी उभयलिंगी जीवों में भी कभी-कभी संकरण होता है तो यह अन्तर इतना बड़ा नहीं है, जैसा ऊपर से देखने में जान पड़ता है।

ऊपर लिखी बातों के आधार पर तथा अनेक ऐसे अवलोकनों के कारण, जिनका मैं यहाँ उल्लेख नहीं कर सकता, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि जन्तुओं तथा पौधों दोनों में समयानुसार दो पृथक् जीवों के बीच संकरण का होना यदि सर्वव्यापी नियम नहीं, तो सामान्य नियम तो है ही।

प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा नये रूपों की उत्पत्ति के लिए सहायक परिस्थितियाँ

यह बड़ा ही जटिल विषय है। बड़ी मात्रा में परिवर्तन (जिसमें वैयक्तिक अन्तर भी शामिल हैं) का होना निश्चय ही सहायक होगा। सदस्यों की एक बड़ी संख्या के होने से किसी निश्चित पूर्वार्द्ध में लाभदायक परिवर्तनों के बड़ी संख्या में उत्पन्न होने की सम्भावना होगी, और इसलिए इसके साथ सदस्यों में परिवर्तनशीलता की कमी पूरी हो जाएगी। और इसलिए मेरे विचार में सफलता के लिए क्रिया भी आवश्यक है। यह ध्यान रखना चाहिए कि हालांकि प्राकृतिक निर्वाचन के लिए प्रकृति काफी लम्बा समय देती है, फिर भी यह समय सीमित होता है और चूँकि सभी प्रतियोगी जीव हर समय हर प्राप्य स्थान पर अधिकार करने का प्रयत्न करते रहते हैं, इसलिए कोई जात अपने प्रतियोगियों के बराबर ही आपरिवर्तन और उन्नति नहीं करेगी, तो उसका विनाश हो जाएगा। और जब तक कम-से-कम कुछ संतानें सहायक परिवर्तनों को वंशागत नहीं करेंगी, तब तक प्राकृतिक निर्वाचन का कोई प्रभाव नहीं होगा। बहुधा परिवर्तन की प्रवृत्ति प्रगति में बाधक होगी या उसको रोक देगी, किन्तु यदि मनुष्य के द्वारा पालतू वंशों के असंख्य निर्वाचनों को यह प्रवृत्ति रोक नहीं सकी, तो प्राकृतिक निर्वाचन में यह क्यों ऐसी बाधक होगी ?

पालक नियमित निर्वाचन में किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रख कर जीवों को

छाँटता है और यदि उनको स्वतन्त्रता से संकरण करने का अवसर मिले तो वह पूर्णतया असफल रहेगा। किन्तु जब बहुत से मनुष्य नस्ल बदलने का कोई विचार न रखने पर भी प्रगति के किसी सामान्य उद्देश्य से काम करते हैं, तो इस प्रयत्न में सभी अच्छी-से-अच्छी नस्लों के अच्छे-से-अच्छे प्राणी ही छाँटते हैं, जिसके फलस्वरूप बिना जाने ही धीरे-धीरे, पर निश्चय ही, प्रगति होती है। हालाँकि इस क्रिया में व्यक्तियों का पृथक्करण नहीं होता। यही बात प्रकृति में भी होगी, क्योंकि किसी पृथक् क्षेत्र में यदि थोड़ी भी जगह ऐसी है, जिस पर पूरी तरह प्राणियों का अधिकार नहीं है, तो सही दिशा में परिवर्तित होने वाले प्राणियों में से कुछ अवश्य ही सुरक्षित रहेंगे। यदि यह क्षेत्र काफ़ी बड़ा है तो इसके भिन्न-भिन्न भागों का वातावरण भी भिन्न होगा। ऐसी दशा में इन प्रदेशों में आपरिवर्तित होने वाले एक ही जात के प्राणियों की संतानों के बीच प्रदेशों की सीमाओं पर संकरण होगा। छठवें अध्याय में हम देखेंगे कि इस तरह के सीमान्तरों पर उत्पन्न होने वाले बीच के भेद अन्त में नष्ट हो जाएँगे और उनके स्थान पर पड़ोस में पाया जाने वाला कोई भेद अधिकार कर लेगा। अन्तःसंकरण अधिकतर उन प्राणियों पर प्रभाव डालेगा, जो प्रत्येक बार उत्पादन के लिए मैथुन करते हैं, बहुत घूमते-फिरते हैं, और जिनमें संतानोत्पत्ति वेग से नहीं होती। अतः इस तरह के जानवरों में (जैसे पक्षी) अलग-अलग भेद, अलग-अलग प्रदेशों में होने चाहिए और मैं देखता हूँ कि ऐसा ही होता भी है। उभयलिंगी जीवों में संकरण कभी-कभी होता है और यही बात उन जन्तुओं के साथ भी होती है जो हर बार संतानोत्पत्ति के लिए सम्मिलित होते हैं, किन्तु वेग से वृद्धि करते हैं और दूर तक घूमते-फिरते नहीं। इस क्रिया में कोई नया और तुच्छ भेद किसी स्थान पर एकाएक उत्पन्न हो सकता है, और एक समूह में वहाँ कुछ समय तक रहने के बाद विस्तृत हो सकता है, जिसके फलस्वरूप नये भेद के प्राणी मुख्यतः आपस में ही संकरण करेंगे। इसी सिद्धान्त के अनुसार पौधों के पालक पौधों के बड़े समूह से ही बीज एकत्र करते हैं, क्योंकि उनमें अन्तःसंकरण की सम्भावना बहुत कम रहती है।

जिन जानवरों में प्रत्येक बार संतानोत्पत्ति के लिए सम्मिलित होना आवश्यक होता है, और जो तेजी से प्रगुणन करते हैं, उनमें भी यह मान लेना ठीक नहीं है कि स्वतन्त्र अन्तःसंकरण से प्राकृतिक निर्वाचन का प्रभाव सदा नष्ट हो जाएगा। मैं यह सिद्ध करने के लिए ऐसे अनेक तथ्य दे सकता हूँ कि एक ही क्षेत्र के भीतर किसी जानवर के दो भेद बहुत दिनों तक अलग-अलग रह सकते हैं, और ऐसा उनके भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहने, अलग-अलग ऋतुओं में बच्चे देने या सदस्यों के अपने ही भेद के प्राणियों के साथ मैथुन करने से सम्भव होता है।

प्रकृति में एक ही जात के सदस्यों, अथवा एक ही भेद के सदस्यों को लक्षणों में समान अर्थात् वास्तविक बनाये रखने में अन्तःसंकरण का महत्त्वपूर्ण भाग है। स्पष्ट है कि यह उन्हीं प्राणियों में अधिक प्रभावशाली होगा, जो प्रत्येक बार सन्तानोत्पत्ति के लिए सम्मिलित होते हैं। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, यह भी सिद्ध है कि सभी पौधों और जन्तुओं में कभी-कभी अन्तःसंकरण होता है। अगर ऐसा बड़ी लम्बी अवधियों के बाद भी हो, तो भी बहुत समय तक स्वयं-संसेचन के द्वारा उत्पन्न हुई संतति की अपेक्षा अन्तःसंकरण द्वारा उत्पन्न हुई संतति इतनी शक्तिशाली और इतनी उर्वर होगी कि निश्चय ही उनके अतिजीवन और प्रगुणन की सम्भावना अधिक होगी। और इस प्रकार अन्त में लम्बी अवधियों पर होने से भी संकरण का प्रभाव बहुत गहरा होगा। उन निम्न श्रेणियों के जीवों में, जिनमें न तो सम्मिलन होता है, और न लैंगिक प्रजनन, और इसलिए जो संकरण कर ही नहीं सकते, लक्षणों की समानता वंशागति के सिद्धान्तों पर निर्भर है, और तभी सम्भव है जब उनका वातावरण भी समान बना रहे। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक निर्वाचन ऐसे सदस्यों को नष्ट कर देगा, जो उस समानता के बाहर होंगे। यदि जीवन की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, और जीव के रूप में आपरिवर्तन होता है, तो इस आपरिवर्तित संतति के लक्षणों में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा समानता पुनः प्राप्त होगी, जिसके द्वारा इसी प्रकार के अनुकूल परिवर्तनों का अतिजीवन नयी परिस्थिति में होगा।

प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा जातों के आपरिवर्तन की क्रिया में पृथक्करण भी महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। किसी ऐसे पृथक् और बन्द क्षेत्र में, जो बहुत बड़ा न हो, जीवित तथा निर्जीव पदार्थों से बना हुआ वातावरण लगभग हर भाग में समान होगा। इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन किसी एक जात के सभी परिवर्तनशील प्राणियों को समान रूप से आपरिवर्तित करता है। इस प्रकार आस-पास के प्रदेशों के निवासियों से संकरण भी बचता है। अभी हाल में मोरिज़ वागनर (Moritz Wagner) ने इस विषय पर एक रोचक निबन्ध प्रकाशित किया है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि संकरण रोकने के काम में पृथक्करण जितनी सहायता करता है, वह मेरे विचारों से भी अधिक है। मगर जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ, मैं यह नहीं मानता कि नयी जातों की उत्पत्ति के लिए स्थानान्तरण और पृथक्करण का होना परमावश्यक है। जब वातावरण में जलवायु, पृथ्वी की ऊँचाई आदि भौतिक दशाओं में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं, तो अधिक अनुकूलित प्राणियों के प्रवेश को रोकने में पृथक्करण का महत्त्व बहुत स्पष्ट है। ऐसा होने से किसी प्रदेश में प्राप्य स्थान एक प्रकार से पुराने निवासियों में आपरिवर्तित होकर व्यवहार करने के लिए रहेगा। इसके अतिरिक्त पृथक्करण

के द्वारा नये भेदोंको धीमी गति से उन्नति करने का अवसर मिल सकेगा, जो कभी-कभी बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। किन्तु यदि विचित्र भौतिक दशाओं के होने, अथवा अवरोधों से घिरे होने के कारण पृथक् क्षेत्र बहुत छोटा हुआ, तो इसके निवासियों की कुल संख्या भी बहुत छोटी होगी और इसके फलस्वरूप अनुकूल परिवर्तनों की उत्पत्ति की सम्भावना कम होगी। सारांश यह कि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया की सम्भावना बहुत कम होगी।

केवल समय के व्यतीत होने से ही प्राकृतिक निर्वाचन पर हानिकारक या लाभदायक कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। मैं इस बात को यहाँ इसलिए लिख रहा हूँ कि कुछ लोगों ने भ्रमवश यह लिखा है कि मैंने यह मान रखा है कि जातों के आपरिवर्तन में समय ही सब से अधिक उत्तरदायी है—ऐसा जैसे सभी जीव हरसमय किसी आन्तरिक नियम के अनुसार बराबर बदलते रहते हैं। समय व्यतीत होने का केवल इतना महत्व है कि इसके द्वारा उपयोगी परिवर्तनों के उत्पन्न होने, छाँटे जाने, एकत्रित होने और स्थायी होने के लिए अच्छा अवसर मिलता है—परन्तु यह महत्व कुछ कम नहीं है। साथ-ही-साथ इसके द्वारा प्रत्येक जीव की गठन पर भौतिक परिस्थितियों के प्रत्यक्ष प्रभाव के लिए भी अधिक अवसर मिलता है।

ऊपर लिखी बातों की सत्यता की परीक्षा किसी छोटे किन्तु पृथक् प्रदेश के जीवों के निरीक्षण के द्वारा सन्भव है। कोई छोटा समुद्री द्वीप ऐसा क्षेत्र हो सकता है, अगर इसमें पाये जाने वाले जीवों में से अधिकांश जातियाँ ऐसी हैं जिनकी उत्पत्ति यहीं हुई है, अन्यत्र कहीं नहीं। जैसे हम बाद में भौगोलिक वितरण के अध्याय में देखेंगे, ऐसे कुछ द्वीप हैं। स्पष्ट है कि यदि पृथक्करण से नयी जातों की उत्पत्ति में विशेष सहायता मिलती है, तो इन द्वीपों में इनकी संख्या बहुत होनी चाहिए, किन्तु इस प्रकार के अध्ययन में बड़े धोखे की सम्भावना है। जातों की उत्पत्ति के लिए अनुकूल परिस्थितयों की जाँच करने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे किसी द्वीप की तुलना या किसी भी क्षेत्र की तुलना अन्य किसी देश से की जाय, जिसके इतिहास का हमको कुछ ज्ञान हो। अर्थात् जब तक हमको कोई दो क्षेत्र ऐसे न मिल जायँ जिनमें वर्तमान जीवों की उत्पत्ति के लिए बराबर समय मिला हो, तब तक हम यह नहीं कह सकते कि किस क्षेत्र की सम्पूर्ण अवस्थाएँ जातों की उत्पत्ति के लिए अधिक अनुकूल हैं।

हालाँकि पृथक्करण नयी जातों की उत्पत्ति के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, फिर भी मैं समझता हूँ कि क्षेत्र का बड़ा होना उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है, विशेष कर नयी जातों के विस्तृत होने और उनके स्थायी होने के लिए किसी बड़े और खुले हुए क्षेत्र में अनुकूल परिवर्तनों की उत्पत्ति के लिए तो अनुकूल अवसर होंगे ही, क्योंकि क्षेत्र के बड़े

होने के कारण उसमें जातों की जन-संख्या भी बहुत बड़ी होगी। चूँकि वहाँ पायी जाने वाली जातों की संख्या बहुत बड़ी होगी इसलिए वहाँ जीवन सम्बन्धी परिस्थितियाँ भी बहुत जटिल होंगी और यदि कुछ जातें किसी प्रकार आपरिवर्तित होकर उन्नति कर जाती हैं तो अन्य जातों के लिए भी उन्नति करना आवश्यक हो जाएगा; अन्यथा उनका नाश हो जाएगा। साथ ही जैसे ही किसी नयी जात में कुछ विशेष उन्नति होगी, उसका विस्तार उस बड़े अवरोधरहित, खुले क्षत्र में होने लगेगा और इस प्रकार अन्य जीवों से उसकी प्रतियोगिता प्रारम्भ हो जाएगी। यह सम्भव है कि ऐसे कुछ बड़े क्षेत्र, जो आज अविभक्त जान पड़ते हैं, किसी समय कई अलग-अलग टुकड़ों के बने रहे हों, जो बाद में पृथ्वी के धरातल में अन्तर होने से एक हो गये हों। ऐसी दशा में सम्भव है कि इस प्रकार के प्रत्येक टुकड़े पर पृथक्करण का एक जैसा प्रभाव हुआ हो और फिर इन टुकड़ों के मिल जाने से यह प्रभाव बहुत बढ़ जाएगा। इस प्रकार मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि हालांकि छोटे, पृथक् क्षेत्र कुछ विषयों में नयी जातों के निर्माण के लिए बहुत उपयुक्त होंगे, फिर भी इस तरह का आपरिवर्तन बड़े क्षेत्रों में अधिक तेजी से होगा। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बड़े क्षेत्रों में उत्पन्न नये भेद अनेक प्रतियोगियों पर विजय प्राप्त करने के बाद अधिक विस्तार में फैलेंगे और इस प्रकार अधिक-से-अधिक संख्या में जातों और भेदों को जन्म देंगे। इस प्रकार जीव-संसार का इतिहास बदलने में इनका महत्त्वपूर्ण भाग होगा।

ऊपर दिये हुए मत के आधार पर कदाचित हम कुछ ऐसे तथ्यों को समझने का प्रयत्न कर सकते हैं, जिनकी चर्चा भौगोलिक वितरण के अध्याय में फिर से की जाएगी। उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया के छोटे महाद्वीप पर यूरेशिया के बड़े महाद्वीप की अपेक्षा अधिक प्राचीन जीवों का पाया जाना। किसी छोटे महाद्वीप पर जीवन-संघर्ष अपेक्षाकृत बहुत कम विकट होगा और इसलिए वहाँ आपरिवर्तन और विनाश दोनों ही कम होंगे। यही कारण है जिससे आसवल्ड हीर के अनुसार मडायरा की वर्तमान वनस्पति बहुत-कुछ यूरोप के तृतीय युग की लुप्त वनस्पति से मिलती-जुलती है। कुल मिलाकर सभी नदियों के घाट, समुद्रों की अपेक्षा अथवा स्थल की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र का निर्माण करते हैं। इसलिए नदियों के जीवों के बीच अन्य वातावरणों की अपेक्षा संघर्ष कम होगा और फलतः इनमें नये प्रकार के जीवों की उत्पत्ति और पुराने जीवों का विनाश बहुत धीरे-धीरे होगा। अतः हम देखते हैं कि नदियों के घाटों में अब भी गैनायड (Ganoid) मछलियों की सात जातियाँ पायी जाती हैं, जो किसी प्राचीन युग में बहुसंख्यक थीं किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में अब लुप्त हो चुकी हैं। इसी प्रकार नदियों में ही आरनाइथारिन्कस (Ornithorhynchus) तथा लेपिडोसाइरेन (Lepidosiren)

नामक विचित्र मछलियाँ पायी जाती हैं, जो जीवाश्मों की भाँति प्राणियों के ऐसे समूहों के बीच सम्बन्ध का संकेत करती हैं, जो एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् जान पड़ते हैं। इन विचित्र प्राणियों को जीवित जीवाश्म (living fossiles) कहा जा सकता है। किसी छोटे बन्द क्षेत्र में रहने के कारण जहाँ प्रतियोगिता साधारण थी, ये आज तक जीवित बच गये हैं।

आइये, इस विषय की जटिलता को ध्यान में रखते हुए प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा नयी जातों की उत्पत्ति के लिए अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों की संक्षेप में पुनरावृत्ति करें। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि स्थलीय जीवों के लिए स्थायी होने और दूर तक विस्तृत होने के योग्य नयी जातों की उत्पत्ति के लिए ऐसे बड़े महाद्वीप सब से उपयुक्त होंगे, जिनमें कालान्तर में धरातल सम्बन्धी परिवर्तन कई बार हुए हों। तब यह समस्त क्षेत्र एक बड़े स्थल प्रदेश के रूप में रहा होगा; इस पर अनेक प्रकार के बहुसंख्यक जीव रहे होंगे, जिनके बीच कठिन प्रतियोगिता रही होगी। बीच-बीच में धरातल के धँस जाने से बाद में जब इस महाद्वीप में कई बड़े पृथक् द्वीप बन जाते हैं, तो भी प्रत्येक द्वीप पर प्रत्येक जात के काफी सदस्य बच जाएँगे। अब इनके बीच भौतिक अवरोधों के कारण न तो संकरण होगा और न एक द्वीप के जीव दूसरे द्वीप पर जा सकेंगे जिससे हर द्वीप का प्राप्य स्थान वहीं के पुराने निवासियों के आपरिवर्तन से भरेगा और नये आपरिवर्तनों के सम्पूर्ण और पक्के होने के लिए काफी समय मिलेगा, जिससे नये भेद बनेंगे। यदि यह धँसाव फिर उठ जाता है और द्वीप एक दूसरे से मिल कर पुनः महाद्वीप बनाते हैं, तो फिर प्रतियोगिता विकट हो जाएगी, और इस नयी परिस्थिति में सब से उन्नतिशील भेदों को ही सुविधा होगी और उनका विस्तार होगा। जैसे-जैसे इनका विस्तार होगा, कम विकसित जीवों का विनाश होगा, जिसमें इस नये महाद्वीप के निवासियों की संख्या का अनुपात बदल जाएगा, प्राकृतिक निर्वाचन का कार्य अर्थात् जीवों में और भी अधिक उन्नति के लिए अवसर होगा, और नयी जातों का निर्माण हो सकेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राकृतिक निर्वाचन का कार्य बड़ी धीमी गति से होता है। यह तभी कार्य कर सकता है, जब किसी प्रदेश में ऐसा स्थान हो जिसका उपयोग वहाँ के निवासी किसी प्रकार के आपरिवर्तन के द्वारा ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हों। बहुधा इस तरह का स्थान तभी प्राप्य होगा जब उस स्थान में कुछ भौतिक परिवर्तन होंगे, और साधारणतः भौतिक परिवर्तन बड़े धीरे-धीरे होते हैं। भौतिक परिवर्तनों के साथ ही यह भी आवश्यक है कि आस-पास के प्रदेशों से अधिक अनुकूलित जीव उस प्रदेश में न आने पाएँ, जिससे स्थानीय निवासियों को परिवर्तन का अवसर मिले। जैसे-

जैसे कुछ पुराने निवासियों में आपरिवर्तन होगा वैसे-वैसे उस प्रदेश के अन्य निवासियों के परस्पर सम्बन्ध भी बदलेंगे। इसके फलस्वरूप कुछ और भी नये स्थान बनेंगे जिनको अधिक अनुकूलित जीव भर सकेंगे। किन्तु यह सभी क्रियाएँ बड़ी धीमी गति से होंगी। यह सही है कि किसी भी जात के सभी सदस्य एक दूसरे से कुछ अंश तक भिन्न होते हैं किन्तु सभी अंगों में उपयोगी अन्तर हों जिससे सम्पूर्ण गठन नयी परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हो, ऐसा बहुत समय के बाद ही होता है। बहुधा स्वतंत्र रूप से अन्त:संकरण होने के कारण भी इस प्रकार की प्रगति में बहुत रुकावट पड़ती है। ऐसा कहा जा सकता है कि रुकावट डालने वाले ये कारण इतने शक्तिशाली हो सकते हैं कि उनकी क्रिया के फलस्वरूप प्राकृतिक निर्वाचन का प्रभाव ही मिट जाएगा। मैं यह अवश्य विश्वास करता हूँ कि प्राकृतिक निर्वाचन का कार्य बहुत धीरे-धीरे, लम्बी अवधियों पर और किसी भी प्रदेश के कुछ ही सदस्यों पर होगा। पर मैं यह नहीं मानता कि बाधाओं के फलस्वरूप प्राकृतिक निर्वाचन रुक ही जाएगा। भूतत्व-शास्त्र के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि संसार के जीवों में जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे बहुत धीरे-धीरे और रुक-रुक कर हुए हैं।

निर्वाचन की क्रिया धीमी हो सकती है। किन्तु यदि शक्तिहीन मनुष्य कृत्रिम निर्वाचन के द्वारा बहुत कुछ कर सकता है, तो कोई कारण नहीं, कि इतने लम्बे समय में विभिन्न जीवों में, एक दूसरे के प्रति तथा जीवन की अनेक भौतिक परिस्थितियों के प्रति, अनुकूलन न हो और इस प्रकार के परिवर्तन की कोई सीमा हो। दूसरे शब्दों में, कोई कारण नहीं कि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा क्रमश: योग्यतम जीवों का ही अति-जीवन न हो।

प्राकृतिक निर्वाचन के फलस्वरूप विनाश

इस विषय की विस्तारपूर्वक विवेचना भूतत्त्व-शास्त्र के अध्याय में की जाएगी, किन्तु प्राकृतिक निर्वाचन से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यहाँ भी इसकी चर्चा करना आवश्यक है। प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया पूर्णतया किसी प्रकार लाभदायक परिवर्तनों के संरक्षण के द्वारा होती है जिससे वे स्थायी हो जाते हैं। सभी जीवों की वृद्धि तेजी से गुणोत्तर रीति से होती है। अत: प्रत्येक क्षेत्र पूरी तरह निवासियों से भरा होता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे उपयुक्त जीवों की संख्या में वृद्धि होगी वैसे-वैसे कम उपयुक्त या अनुपयुक्त, जीवों की संख्या गिरती जाएगी या वे विरले हो जाएँगे। और भूतत्व शास्त्र हमको यह बताता है कि जीवों का विरलापन अन्त में उनके विनाश का कारण होता है। यह समझना आसान है कि जिस जात के कुछ ही सदस्य

किसी प्रदेश में रह जाएँगे, ऋतुओं की प्रकृति में परिवर्तन होने पर, या थोड़े समय के लिए शत्रुओं की संख्या बढ़ने पर उनके विलुप्त होने की सम्भावना बढ़ जाएगी। इतना ही नहीं, जैसे-जैसे नये-नये प्रकार के जीव उत्पन्न होंगे, वैसे-वैसे कई पुराने प्रकार के जीवों का विनाश होगा क्यों कि हम यह नहीं विश्वास कर सकते कि संसार में जातों की संख्या की वृद्धि की कोई सीमा नहीं। भूतत्व-शास्त्र से ही हमको यह भी स्पष्ट पता चलता है कि जातों की संख्या में वास्तव में असीम वृद्धि नहीं हुई और हम अभी यह समझने का प्रयास करेंगे कि सारे संसार में जातों की संख्या इतनी अधिक क्यों नहीं हो पायी है।

हमने यह देखा है कि जिन जातों में सदस्यों की संख्या सब से अधिक होती है, एक निश्चित अवधि के भीतर वे ही अधिक-से-अधिक संख्या में अनुकूल परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं: हमारे पास इस बात के निश्चित प्रमाण हैं। दूसरे अध्याय में हमने उन बातों का उल्लेख किया है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भेदों की संख्या सब से अधिक उन जातों में होती है जो सब से अधिक सामान्य और विस्तृत अथवा प्रबल हैं। इसलिए स्पष्ट है कि किसी निश्चित अवधि के भीतर अल्पसंख्यक जातें धीरे-धीरे आपरिवर्तित होंगी, या उन्नति करेंगी जिसका फल यह होगा कि जीवन की होड़ में अधिक सामान्य जातों की आपरिवर्तित और उन्नतिशील संतानों के द्वारा उनकी हार होगी।

ऊपर दिये हुए तर्कों के आधार पर यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि समय व्यतीत होने के साथ-साथ जैसे-जैसे प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा नयी जातों का निर्माण होगा दूसरी जातें वैसे-वैसे अल्पसंख्यक होती जाएँगी और अन्त में लुप्त हो जाएँगी। और जो जातें इन नयी उन्नति करती हुई और आपरिवर्तित होने वाली जातों से अधिक गहरी प्रतियोगिता में पड़ेंगी, उनकी हानि अधिक होगी। जीवन-संघर्ष के अध्याय में हमने यह भी देखा है कि समान संरचना, गठन, स्वभाव आदि होने के कारण एक-दूसरे से बहुत निकट सम्बन्धित जीवों के बीच ही प्रतियोगिता बहुत विकट होती है—जैसे एक ही जात के भेदों के बीच अथवा एक ही जाति या सम्बन्धित जातियों की जातों के बीच। फलतः अपने निर्माण काल में या उन्नति के बीच प्रत्येक भेद या जात साधारणतः अपने निकट सम्बन्धियों को ही सब से अधिक हानि पहुँचाती है और उसका विनाश करती है। वास्तव में मनुष्य द्वारा सुधारी नस्लों के निर्वाचन में भी हम अपने पालतू जीवों के सम्बन्ध में यही क्रिया होते देखते हैं। इस प्रकार के कई विचित्र उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें ढोरों, भेड़ों या दूसरे जानवरों, फूलों आदि के भेदों के नये उन्नतिशील भेद पुराने कम उन्नतिशील सम्बन्धियों का स्थान तेजी से ग्रहण करते हैं। यह इतिहास सिद्ध बात है (मैं इसको एक कृषि सम्बन्धी लेखक के आधार पर लिखता हूँ) कि यार्क शायर की काली प्राचीन गाय का स्थान लम्बे सींग वाली गायों ने ग्रहण

कर लिया था और फिर छोटी सींगों वाले भेद ने ऐसी तेजी से इनका नाश किया जैसे कोई भंयकर रोग हो गया हो।

लक्षणों का अपसरण

'अपसरण' शब्द से मैंने जिस सिद्धान्त को व्यक्त किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है और मेरे विचार में इसके द्वारा कई महत्त्वपूर्ण बातों का स्पष्टीकरण होता है। सब से पहले तो दो या अधिक भेद, चाहे एक-दूसरे से कितने ही स्पष्ट क्यों न हों, और चाहे साधारण अवलोकनों में वे जातों के समान स्पष्ट ही क्यों न जान पड़ते हों, पर वास्तव में भली भाँति जाँच करने पर मालूम होता है कि अच्छी और पक्की जातों की अपेक्षा भेदों के बीच अन्तर बहुत कम होते हैं। ऐसा होने पर भी मेरे विचार में भेद जातों के निर्माण की अवस्थाएँ हैं, और इसीलिए मैंने इनको 'प्रारम्भिक जातों' का नाम दिया है। तो फिर किस प्रकार वे छोटे अन्तर, जिनके कारण हम जीवों को भेद कहते हैं, इतने बढ़ जाते हैं जिनका होना जातों के निर्माण के लिए आवश्यक है। प्रकृति में असंख्य ऐसी जातों के होने से, जिनके बीच के अन्तर महत्वपूर्ण और स्पष्ट हैं, इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि साधारणतः इनका निर्माण भेदों से होता है, विशेषतः जब उनके साथ-ही-साथ हम देखते हैं कि बहुधा भेदों के बीच छोटे और अस्पष्ट भेद होते हैं और जब हम यह समझते हैं कि भेदों से ही जातों का निर्माण होता है। प्रारम्भ में जब किसी भेद का निर्माण होता है तो अकस्मात् उसमें उसके जनक (parent) की तुलना में कुछ सूक्ष्म अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। जब इस भेद की संतानें होती हैं, तो उनमें वे अन्तर तो रहते ही हैं, बहुधा वे कुछ बढ़ जाते हैं। फिर भी केवल इसी रीति से वे बड़े और स्थायी अन्तर नहीं उत्पन्न हो सकते जो साधारणतः जातों के स्तर के लिए आवश्यक हैं।

अपने परीक्षण की साधारण रीति के अनुसार इस विषय को समझने के लिए भी मैंने अपने पालतू जीवों का सहारा लिया और हम देखेंगे कि इनमें भी ऐसे समानान्तर अवलोकन किये जा सकते हैं। यह सभी मान लेंगे कि छोटे सींग वाली तथा हेरफ़ोर्ड गायों अथवा ठेले तथा घुड़दौड़ के घोड़ों या कबूतरों की भिन्न-भिन्न नस्लों में पाये जाने वाले परिवर्तन इतने गहरे हैं कि वे एक ही प्रकार के परिवर्तनों के अकस्मात एकत्रित हो जाने और कई पीढ़ियों में ग्रहण किये जाने से नहीं बन सकते। अभ्यास की बात यह है कि कबूतरों का कोई शौकीन एकाएक यह देखता है कि उसके कबूतरों में से एक ऐसा है जिसकी चोंच साधारण से कुछ छोटी है, दूसरा किसी कबूतर की लम्बी चोंच से प्रभावित होता है। और फिर इस सिद्धान्त के अनुसार कि शौकीन कभी छोटे-मोटे परिवर्तनों पर ध्यान नहीं देते हैं बल्कि बड़े परिवर्तनों का उपयोग करते हैं, ये दोनों ही इन लम्बी

और छोटी चोंच वाले कबूतरों को छाँट लेते हैं और फिर इनकी संतानों में से उनको अलग करते रहते हैं जिनकी चोंचों में क्रमशः ये परिवर्तन और वढ़ते जाते हैं। इसी तरह मान लीजिये कि प्राचीन समय में किसी एक राष्ट्र या प्रदेश के लोगों को तेज दौड़ने वाले घोड़ों की आवश्यकता थी और दूसरे राष्ट्र या प्रदेश के निवासियों को भारी और मजबूत घोड़ों की जरूरत थी। निश्चय ही, जिन घोड़ों को उन्होंने प्रारम्भ में अलग किया होगा, उनमें ये विशेषताएँ बहुत थोड़े अंश में रही होंगी; किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया होगा, एक ओर तेज घोड़ों के छाँटे जाने से, और दूसरी ओर मजबूत घोड़ों के अलग किये जाने से काफी समय के बाद दो उपनस्लों का निर्माण हो गया होगा। फिर कई शताब्दियों के पश्चात् ये उपनस्लें अपने-अपने प्रदेशों की लगभग स्थायी और प्रादेशिक नस्लों का स्थान ले लेती हैं। जैसे-जैसे शेष अन्तर बढ़ते जाते हैं, इन प्रदेशों के बाकी घोड़े, जो न बहुत तेज होंगे और न मजबूत और इसलिए इनको हीन समझा जाएगा, धीरे-धीरे संख्या में कम होते जाएँगे क्योंकि घोड़े पालने वाले इनको पालना बन्द कर देंगे और इनकी संतानें नहीं उत्पन्न करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि पालतू जानवरों में अपसरण का सिद्धान्त काम करने लगता है, जिसके द्वारा आरम्भ में प्रकट होने वाले बहुत सूक्ष्म अन्तर धीरे-धीरे वढ़ते हैं और जिसके फलस्वरूप ऐसी संतानें उत्पन्न होती हैं, जो आपस में एक-दूसरे से तथा माता-पिता से भिन्न होती हैं और अन्त में नस्लों का निर्माण करती हैं।

प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार का सिद्धान्त प्रकृति में कैसे काम करता है? मेरा विश्वास है कि यह बहुत भली-भाँति काम कर सकता है, और करता है; और हालाँकि मुझको यह समझने में समय लगा कि कैसे इसकी क्रिया होती है, किन्तु अब मुझको इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसकी एक ही विधि है। किसी जात की संतानें एक-दूसरे से संरचना, गठन और स्वभाव में जितनी ही भिन्न होंगी उनके लिए यह उतना ही आसान होगा कि प्रकृति के विभिन्न प्राप्य स्थानों का वे उतना ही उपयोग कर सकें; और इस प्रकार जितना ही उनका विस्तार अधिक होगा उतना ही उनकी संख्या में वृद्धि होगी।

सरल प्रकृति के जानवरों में यह बात आसानी से देखी जा सकती है। किसी मांस-भक्षी चौपाये का उदाहरण लीजिए। जिस प्रदेश में वह पाया जाता है, उसमें बहुत दिनों तक रहने के कारण उसकी संख्या एक स्थायी औसत पर पहुँच गयी है, जिसमें साधारण परिस्थिति होने पर विशेष परिवर्तन की सम्भावना नहीं है। अब यदि इसकी संख्या में कोई वृद्धि हो सकती है (जैसा प्रत्येक जीव की प्रकृति होती है) तो केवल उसी दशा में, जब उसकी संतानों में कुछ ऐसे परिवर्तन उत्पन्न हों जिनके फलस्वरूप कुछ संतानें उन जगहों में प्रवेश कर जायँ, जहाँ किसी अन्य जीव का अधिकार हो। उदाहरण के

लिए इनमें से कुछ नये-नये शिकार ग्रहण करने लग जायँ, कुछ पेड़ों पर रहने लग जायँ या पानी में; और इस तरह नये स्थानों पर अधिकार कर लें और कुछ की मांस-भक्षी प्रकृति ही घट जाय। सारांश यह है कि इस विशेष मांस-भक्षी जन्तु की संतानों के स्वभाव और संरचना में जितने ही अधिक परिवर्तन होंगे, उतनी ही अधिक जगहों पर ये अधिकार कर सकेंगे। अब जो बात एक जानवर के विषय में लागू होगी, वही हर समय में हर जानवर के विषय में लागू होगी, क्योंकि जब तक उनमें पूरी तरह के परिवर्तन नहीं होंगे प्राकृतिक निर्वाचन काम नहीं कर सकेगा। यही बात पौधों के साथ भी होगी। प्रयोगों की सहायता से यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि यदि हम किसी एक मैदान में एक विशेष जात की घास लगायें और दूसरे मैदान में कई भिन्न-भिन्न जातों की घास बोयें तो दूसरे मैदान में पौधों की संख्या अधिक होगी और सूखी घास की मात्रा पहले मैदान में अधिक होगी। यही बात गेहूँ के विषय में भी देखी गयी है। यदि दो बराबर खेतों में क्रमशः एक ही भेद के बीज और मिले-जुले भेदों के बीज बोये जायँ तो पौधे दूसरे में और गेहूँ की मात्रा पहले में अधिक होगी। स्पष्ट है यदि घास की एक जात परिवर्तित होती जाय, और हर पीढ़ी में ऐसे भेद छाँटे जायँ जो एक ऐसे लक्षण में भिन्न हों जिसमें घास की जातों में भेद मिलते हैं तो उस जात के सदस्यों की अधिक संख्या एक ही खेत में निर्वाह कर सकेगी। हम यह भी जानते हैं कि प्रतिवर्ष हर भेद और हर जात की घासों के असंख्य बीज उत्पन्न होते हैं और, इस तरह बोये जा रहे हैं। इस प्रकार यह कहना चाहिए कि प्रत्येक भेद या जात निरन्तर अपनी संख्या अधिक से अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करती है। अतः हजारों पीढ़ियों के बाद किसी जात के सब से स्पष्ट भेद की घास को अपनी संख्या बढ़ाने और जीवन-संघर्ष में सफल होने का अवसर सब से अधिक होगा, और इसलिए वह कम स्पष्ट भेदों का स्थान ले लेंगे। इस क्रिया के निरन्तर चलने से जो भेद आपस में पृथक् और स्पष्ट हो जाएँगे, वे ही जातों का स्तर लेंगे।

इस बात का प्रमाण कि किसी भी स्थान में जीवों की अधिक-से-अधिक संख्या का निर्वाह विविध प्राकृतिक परिस्थितियों में तभी सम्भव है, जब जीवों की संरचना में अधिकतम विविधता हो। किसी छोटे क्षेत्र में, विशेषकर जब उसमें चारों ओर से आगंतुक स्वतन्त्रता से आ सकते हों और जहाँ व्यक्तियों के बीच विकट संघर्ष चल रहा हो, वहाँ के निवासियों के बीच हमको अधिक-से-अधिक परिवर्तन दिखाई पड़ेंगे। उदाहरण के लिए मैंने यह देखा कि तीन फीट चौड़े और चार फीट लम्बे घास के मैदान में, जो कई वर्षों से बिल्कुल एक ही प्रकार की परिस्थिति में था, बीस जात के पौधे थे और ये अट्ठारह जातियों तथा आठ गणों में रखे जा सकते थे। इससे यह पता चलता है कि

ये पौधे एक-दूसरे से कितने भिन्न थे। यही बात छोटे और एक जैसे द्वीपों के पौधों तथा कीटों के विषय में भी सत्य है, तथा मीठे पानी के छोटे तालाबों में भी यही बात पायी जाएगी। कृषकों का अनुभव है कि वे अपने खेतों में फसलों की ऐसी उलट-फेर के द्वारा अधिक-से-अधिक अन्न उपजा सकते हैं, जब अलग-अलग फसलों के पौधे बिल्कुल भिन्न गणों के हों। प्रकृति में एक प्रकार से एक साथ ही इस तरह का हेर-फेर होता रहता है। अधिकतर जन्तु और पौधे, जो किसी छोटे जमीन के टुकड़े में आस-पास करीब-करीब रहते हैं, वे (यदि इस टुकड़े की प्रकृति किसी प्रकार विचित्र न हुई तो) उसी टुकड़े पर ही रह सकते हैं, और यह कहा जा सकता है कि वे सभी इस पर स्थान पाने के लिए प्रयत्न-शील होंगे। किन्तु जैसा देखा गया है कि ऐसी विकट प्रतियोगिता होने पर, संरचना, स्वभाव, गठन आदि के परिवर्तनों के कारण ही कुछ जीव इस प्रकार विस्तृत हो सकेंगे और साधारणतः जिन जीवों में इस तरह के परिवर्तन दिखाई पड़ेंगे वे अलग-अलग जातों और गणों में रखे जा सकेंगे।

यही सब सिद्धान्त मनुष्य के द्वारा विदेशों में पौधों के देशीयकरण पर भी लागू होंगे। साधारणतः ऐसी आशा की जा सकती है कि जिन पौधों का किसी देश में सफलतापूर्वक देशीयकरण हो सकता है वे उस देश के मूल निवासियों के निकट सम्बन्धी होंगे, क्योंकि हमारा साधारण विश्वास यह है कि किसी भी देश के पौधे विशेषतः उसी देश की जलवायु के लिए उपयुक्त होते हैं। किन्तु होता कुछ और ही है और डि कैन्डोल ने अपनी प्रशंस-यनी पुस्तक में कहा है कि बाहर से आकर देशीयकरण करने वाले पौधों में मूल निवासियों की अपेक्षा नयी जातियाँ अधिक होती हैं, तथा नयी जातें कम। एक उदाहरण लीजिए, अपनी पुस्तक 'Manual of the Flora of the Northern United States' के अन्तिम संस्करण में डा० आशा ग्रे ने २६० देशीयकरण किये हुए पौधों की सूची दी है, जो कुल मिला कर १६२ जातियों में रखे जा सकते हैं। इस बात से यह स्पष्ट है कि बाहर से आये हुये ये पौधे एक-दूसरे से बहुत भिन्न प्रकृति के हैं। इसके अतिरिक्त वे देशी पौधों से भी बहुत भिन्न हैं क्योंकि इन १६२ आगंतुक जातियों में से कम-से-कम १०० जातियाँ पहले से उस देश में नहीं थीं। इसके अर्थ यह हैं कि अमरीका की मूल वनस्पतियों में काफी बड़े अनुपात में नयी जातियों का आगमन हुआ है। यदि हम उन पौधों तथा जानवरों की प्रकृति पर विचार करें, जिन्होंने किसी नये देश में सफलतापूर्वक वहाँ के मूलनिवासियों के साथ संघर्ष किया है और अन्त में जिनका देशीयकरण हो गया है, तो हमको इस बात का कुछ मोटा अन्दाज लग सकता है कि इस तरह की प्रतियोगिता का सामना करने के लिए मूल निवासियों में किस प्रकार के परिवर्तनों का होना आवश्यक है जिनके द्वारा वे स्वयं अतिजीवन में सफल हो सकें। और कम-से-कम हम इस नतीजे

पर तो अवश्य ही पहुँचेंगे कि उनकी संरचना में ऐसे विभेदों का होना, जिनको जाति के बीच के अन्तरों का स्तर दिया जा सके, निश्चय ही लाभदायक होगा।

किसी क्षेत्र के निवासियों में संरचनात्मक परिवर्तनों के होने से जो सुविधा होगी उसकी तुलना किसी सदस्य के शरीर के विभिन्न अंगों में श्रम-विभाजन से हुई सुविधा से की जा सकती है। इस विषय का मिल्ने एडवंड्स ने बड़ी योग्यता से प्रतिपादन किया है। किसी शरीर-शास्त्री को इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि किसी जन्तु का आमाशय केवल सामिष या निरामिष भोजन पचाने के लिए ही विशषतः अनुकूलित है, तो वह इन विशेष प्रकार के भोजनों का अधिक से अधिक उपयोग करेगा। इसी प्रकार किसी क्षेत्र की सामान्य मितव्ययिता में वहाँ के जन्तु और पौधे एक-दूसरे से जितने ही भिन्न होंगे और जितने ही अच्छी तरह वे भिन्न-भिन्न भागों के लिए अनुकूलित होंगे उतनी ही बड़ी संख्या इस क्षेत्र में अपना निर्वाह कर सकती है। जन्तुओं का एक ऐसा समह जिसके विभिन्न सदस्यों की गठन एक-दूसरे से बहुत भिन्न नहीं होगी, वह बाहर से आये ऐसे किसी समूह का सामना नहीं कर सकता जिसमें संरचना की ऐसी भिन्नता पर्याप्त मात्रा में होगी। उदाहरण के लिए, यह बहुत सन्देहजनक है कि आस्ट्रेलिया के मार्सूपियल (Marsupial) जिनके चार वर्गों में आपस में बहुत ही कम अन्तर है और जिनमें हमारे मांसभोजी पागुर करने वाले तथा बिलों में रहने वाले स्तनियों के समान विभाजन नहीं पाये जाते, कभी इन प्राणियों का सामना कर सकेंगे। आस्ट्रेलिया के स्तनी जन्तुओं में हम देखते हैं कि विभेदीकरण की क्रिया बहुत प्रारम्भिक और अपूर्ण अवस्था में है।

प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया का लक्षणों के विचलन तथा विलुप्तता के द्वारा किसी सामान्य पूर्वज की संतति पर संभाव्य प्रभाव

ऊपर दिये हुए संक्षिप्त उल्लेख के आधार पर अब हम यह मान सकते हैं कि किसी एक जात की आपरिवर्तित संतानें आपस में संरचना के विषय में एक दसरे से जितनी ही भिन्न होंगी, उतना ही वे सफल होंगी, और इस प्रकार अन्य जीवों द्वारा अधिकृत जगहों में वे उतना ही अधिक फैल सकेंगी। अब हम यह देखेंगे कि लक्षणों के विचलन से लाभ होने का सिद्धान्त प्राकृतिक निवार्चन तथा विलुप्ता के सिद्धान्तों के साथ मिलकर किस प्रकार कार्य करता है।

इस जटिल विषय को समझने में संलग्न चित्र से हमको सहायता प्राप्त होगी। मान लीजिए कि 'का' से 'डा' तक दिये अक्षर एक ऐसी जाति की जातों के लिए हैं जो अपने ही देश में बड़ी संख्या में पायी जाती हैं। मान लीजिए कि ये जातें

का खा गा घा चा छा जा झा टा ठा डा
१
२
३
४
५
६
७
८
९
१०
११
१२
१३
१४

एक दूसरे से असमान अंशों में मिलती-जुलती हैं, जैसा साधारणतः प्रकृति में होता है तथा जैसा इस चित्र में अक्षरों की असमान दूरियों से स्पष्ट है। मैंने इस जाति को बड़ी कहा है, क्योंकि, जैसा हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं, साधारणतः बड़ी जातियों की जातें एक-दूसरे से छोटी जातियों की जातों की अपेक्षा अधिक भिन्न होती हैं तथा बड़ी जातियों की परिवर्तनशील जातों के अन्तर्गत भेद भी अधिक संख्या में होते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि अल्पसंख्यक तथा सीमित जातों की अपेक्षा बहुसंख्यक तथा भलीभाँति विस्तृत जातों में अधिक परिवर्तन होते हैं। मान लीजिए कि 'का' एक ऐसी जात है जो काफी बहुसंख्यक, विस्तृत और परिवर्तनशील है, तथा यह ऐसी जाति की जात है जो अपने देश में काफी बड़ी है।

'का' से निकल कर जाने वाली असमान लम्बाई की फैलती हुई विन्दु वाली लकीर इसकी संतानों की जगह है। इन संतानों में होने वाले परिवर्तन बहुत सूक्ष्म, किन्तु अनेक प्रकार के हैं और ये एक साथ प्रकट नहीं होते, बल्कि काफी समय के बाद। ये बराबर काल तक बने भी नहीं रहते। इनमें से केवल वे परिवर्तन जो किसी प्रकार लाभदायक हैं बच रहेंगे अथवा उनका प्राकृतिक निर्वाचन होगा। अतः यहाँ 'लक्षणों के विचलन के लाभ' के सिद्धान्त का महत्व दिखाई पड़ता है, क्योंकि इस परिस्थिति में केवल वे ही परिवर्तन बच रहगे या निर्वाचित होंगे जो बहुत भिन्न होंगे। जब कोई विन्दु वाली लकीर किसी बेंड़ी लकीर तक पहुँचती है, और इस स्थान पर और किसी दूसरे अक्षर से नामकरण किया जाता है, तो इसका तात्पर्य यह है कि कालान्तर में परिवर्तन की काफी मात्रा का संग्रह हो चुका है, जिसके फलस्वरूप एक ऐसा स्पष्ट भेद बन गया है जिसको वैज्ञानिक लेखों में स्थान दिया जा सकता है।

चित्र में विभिन्न बेंड़ी लकीरों के बीच के अन्तर एक हजार या उससे भी अधिक पीढ़ियों के द्योतक हैं। एक हजार पीढ़ियों के बाद, मान लीजिए कि जात 'का' के दो काफी स्पष्ट भेद उत्पन्न होते हैं अर्थात् 'क^{१}' और 'ढ^{१}' साधारण रीति से ये दोनों भेद भी ऐसी ही परिस्थिति में रहेंगे जिन परिस्थितियों में स्वयं मूल जात रहती थी। परिवर्तन-शीलता की प्रवृत्ति वंशागत है। ऐसी परिस्थिति में इन भेदों में परिवर्तन उसी प्रकार होंगे, जैसे मूल जात में हुए थे। इसके अतिरिक्त चूँकि इन भेदों में बहुत थोड़े परिवर्तन हुए हैं, इसलिए इनमें भी वे सारी सुविधाएँ वंशागत होंगी, जिनके कारण मूल जात उसी देश के अन्य निवासियों की अपेक्षा संख्या में अधिक हो गयी थी। अतः जिस प्रकार इस जात के बहुसंख्यक होने से स्वयं जाति बड़ी और विस्तृत होगी उसी प्रकार, और उन्हीं सुविधाओं का उपयोग करके, ये भेद बहुसंख्यक होंगे जिससे जात बड़ी हो जाएगी। ये सभी परिस्थितियाँ नये भेदों की उत्पत्ति के लिए अनुकल हैं।

इसलिए अगर ये दोनों भेद परिवर्तनशील होंगे तो अगली हजार पीढ़ियों में सब से अधिक भिन्न परिवर्तन ही निर्वाचित होंगे। इस अवधि के बाद भेद 'क[१]' चित्र के अनुसार दूसरा भेद 'क[२]' उत्पन्न करेगा, जो विचलन के सिद्धान्त के अनुसार 'का[१]' की अपेक्षा 'क[१]' से अधिक परिवर्तित होगा। इसी प्रकार भेद 'ढ[१]' से भी दो भेद उत्पन्न हुए जिनका नाम 'ढ[२]' और 'प[२]' रखा गया है जो एक-दूसरे से तथा 'का' से काफी भिन्न होंगे। इसी प्रकार और इन्हीं अवस्थाओं से, यह क्रिया कितने ही समय तक जारी रखी जा सकती है। कुछ भेद हर एक हजार वर्ष की अवधि के बाद एक ही भेद उत्पन्न करेंगे, किन्तु ज्यों-ज्यों दशा परिवर्तित होती जाएगी, अन्य भेद दो या तीन भेद उत्पन्न करेंगे और कुछ एक भेद भी नहीं उत्पन्न कर सकेंगे। इस प्रकार एक ही पूर्वज की आपरिवर्तित संतानें या भेद संख्या में बढ़ते जाएँगे और उनके लक्षण भिन्न होते जाएँगे। चित्र में यह क्रिया दस हजार पीढ़ियों तक विस्तार में और उसके बाद की और भी ४ हजार पीढ़ियों तक सरल तथा संक्षिप्त रूप में दिखायी गयी है।

किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि मैं यह नहीं मानता कि यह क्रिया, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है, नियमित रूप से होती जाएगी और न यही कि यह निरन्तर चलती रहेगी। बहुत सम्भव है कि प्रत्येक भेद बीच के बहुत लम्बे काल में बिल्कुल नहीं बदलेगा और फिर एकाएक आपरिवर्तित हो जायगा। यह भी आवश्यक नहीं है कि परिवर्तन अधिक होने पर कोई भेद निश्चय ही नष्ट होने से बच जाएगा। यह बहुत सम्भव है कि कोई माध्यमिक भेद बहुत समय तक बना रहे और वह एक से अधिक आपरिवर्तित संतानें उत्पन्न कर सके या एक भी नहीं। इस भिन्नता का कारण यह है कि प्राकृतिक निर्वाचन सदा इन भेदों के निवास स्थान की प्रकृति के अनुसार काम करता है और सम्भव है कि ये स्थान निवासियों से बिल्कुल ही भरे या एकदम खाली हों। वास्तव में, यह जीवों के आपस के जटिल सम्बन्धों पर निर्भर है। किन्तु साधारणतः किसी जात की संतानें एक-दूसरे से जितनी ही भिन्न होंगी, उतने ही स्थानों पर वे अधिकार कर सकेंगी, और उतना ही उनकी आपरिवर्तित संतानें विस्तृत हो सकेंगी। हमारे चित्र में वंशानुक्रम की रेखा समान रूप ही टूटी हुई है, और उन स्थानों पर कुछ अक्षर लिखे हैं जो यह बताते हैं कि इन स्थानों पर कुछ स्पष्ट रूप वन चुके हैं, जिनको भेदों का स्तर दिया जा सकता है। किन्तु ये स्थान काल्पनिक हैं, और वास्तव में इनको प्रत्येक रेखा पर कहीं भी दिखाया जा सकता है, जब यह समझा जा सकता हो कि इतने परिवर्तन संगृहीत हो चुके होंगे कि भेद का निर्माण सम्भव हो।

चूँकि किसी एक सामान्य और विस्तृत जात की आपरिवर्तित संतानें, जो एक बड़ी जात से उत्पन्न हुई हों, ऐसी सभी सुविधाओं के उपयोग करने का प्रयत्न करेंगी

जिनकी सहायता से स्वयं मूल जात सफल हुई थी, इसलिए साधारणतः वे संख्या में भी बढ़ती जाएँगी और उनमें परिवर्तन भी होते जाएँगे। इस बात को चित्र में 'का' से निकलने वाली अनेक विचलित होने वाली शाखाओं के द्वारा दिखाया गया है। यह सम्भव है कि बाद की अधिक उन्नतिशील शाखाओं की आपरिवर्तित संतानें पहले की कम उन्नतिशील शाखाओं का स्थान ग्रहण करेंगी, और इस प्रकार उनको नष्ट कर देंगी। चित्र में इस बात को दिखाने के लिए कुछ निचली शाखाओं को ऊपर की बेंड़ी लकीरों तक नहीं पहुँचने दिया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ उदाहरणों में आपरिवर्तन की क्रिया वंशानुक्रम की एक ही रेखा में सीमित रह जाएँगी और इस प्रकार आपरिवर्तित सन्तानों की संख्या में वृद्धि नहीं होगी, यद्यपि परस्पर परिवर्तन की मात्रा बढ़ जाएगी। चित्र में इस प्रकार का उदाहरण तब दिखाया जा सकता है जब 'का' से निकल कर 'क^{१}' से लेकर 'क^{१०}' तक जाने वाली रेखाओं को छोड़ कर बाकी सभी रेखाओं को मिटा दिया जाये। अंग्रेज़ी घुड़दौड़ के घोड़े और अंग्रेज़ी शिकारी कुत्ते इसी प्रकार धीरे-धीरे अपने मूल भेदों से परिवर्तित होते गये हैं और इस क्रिया में न इनसे कुछ नयी शाखाएँ ही निकली हैं, और न नयी नस्लें ही उत्पन्न हुई हैं।

दस हज़ार पीढ़ियों के बाद मान लीजिए कि जात 'का' से तीन भेद उत्पन्न हुए.—'क^{१०}', 'द^{१०}' तथा 'ढ^{१०}', जो पीढ़ियों के व्यतीत होने के साथ लक्षणों में एक दूसरे से भिन्न होते गये और अन्त में ये अन्तर एक दूसरे से तथा 'का' से काफी असमान हो गये हैं। अगर हम यह समझ लें कि किन्हीं दो बेंड़ी लकीरों के बीच परिवर्तन की मात्रा बहुत अधिक है तो ऊपर लिखे तीनों रूप अब भी केवल काफी स्पष्ट भेदों के स्तर के ही होंगे। किन्तु अगर आपरिवर्तन की क्रिया तेज़ हो जाय और इन बेंड़ी लकीरों के बीच अन्तर की मात्रा बढ़ जाय, तो इन्हीं तीन रूपों के बीच के अन्तर इतने बढ़ जाएँगे कि इनको जातों का स्तर दिया जाएगा। अतः इस चित्र के द्वारा हम उन अवस्थाओं को समझ सकते हैं, जिनके द्वारा भेदों के बीच के छोटे-छोटे अन्तर जातों के बीच के बड़े अन्तरों का रूप ग्रहण करेंगे। अगर यही क्रिया अनेक पीढ़ियों तक चलती रही (जैसा चित्र में संक्षिप्त और सरल रीति से दिखाया गया है) तो ऐसी आठ जातें बन जाएँगी, जिनको 'क^{१४}' और 'ढ^{१४}' का नाम दिया गया है, और जो सभी 'का' से उत्पन्न हुई हैं। मेरे विचार में इसी तरह नयी जातियाँ बनीं, और जातों की संख्या में वृद्धि हुई। किसी बड़ी जात में यह सम्भव है कि एक से अधिक जातें परिवर्तनशील हो जायँ। चित्र में मैंने यह कल्पना की है कि 'का' की भाँति एक दूसरी जात 'झा' ने उन्हीं अवस्थाओं से दस हज़ार पीढ़ियों के बाद दो स्पष्ट भेद या जातें उत्पन्न की हैं, जिनको 'भ^{१०}' और 'य^{१०}' कहा गया है। ये भेद होंगे या जात, यह इस बात पर निर्भर है कि

बेंड़ी लकीरों के बीच के अन्तर कितने बड़े हैं। चौदह हज़ार पीढ़ियों के बाद इस जात से छः नयी जातें बन जाती हैं जिनका नाम 'त^{१४}' से 'य^{१४}' तक रखा गया है। किसी भी जात में ऐसी जातें सबसे बड़ी संख्या में आपरिवर्तित संतानें उत्पन्न करेंगी, जो पहले से ही आपस में एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं क्योंकि प्रकृति में प्राप्य भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थानों का अधिक-से-अधिक उपयोग करने की क्षमता इन्हीं में होगी। इसी-लिए चित्र में मैंने दो बहुत दूर की जातों 'का' और 'ढा' को छाँटा है और यह कल्पना की है कि इन्हीं में परिवर्तनशीलता सब से अधिक होने के कारण इनसे नये भेद और नयी जातें उत्पन्न हुई हैं। हमारे प्रारम्भिक जात की बाकी ९ जातें सम्भवतः बहुत लम्बे और असमान काल तक अपनी ही जैसी संतानें उत्पन्न करती गयीं, जिसको चित्र में कुछ असमान, लम्बी, खड़ी लकीरों के द्वारा दिखाया गया है।

किन्तु आपरिवर्तन की क्रिया के बीच, एक दूसरी ही क्रिया, अपना काम करती जाएगी—और वह है विनाश या विलुप्तता की क्रिया। किसी भी ऐसे क्षेत्र में, जिसमें नये जीवों के लिए स्थान न हो, प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा ऐसे जीवों का निर्वाचन होता जाता है, जिनको जीवन-संघर्ष में अन्य जीवों की अपेक्षा कुछ सुविधा हो। और ज्यों-ज्यों यह निर्वाचित जात उन्नति करेगी, उसकी उन्नतिशील संतानें हर अवस्था में मूल रूप को नष्ट करती जाएँगी और स्वयं उनकी जगह ले लेंगी। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रतियोगिता सदा उन जीवों के बीच सब से विकट होती है, जो संरचना, गठन तथा स्वभाव में एक-दूसरे के बहुत निकट होते हैं अर्थात् जो एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। अतः प्रारम्भिक और वर्तमान के बीच की सभी माध्यमिक अवस्थाएँ, अर्थात् कम उन्नतिशील से बहुत उन्नतिशील के बीच की सभी अवस्थाएँ, तथा स्वयं मूल जात; साधारणतः विलुप्त हो जाती है। कदाचित् यही बात वंशानुक्रम की सम्पूर्ण रेखाओं के साथ होगी और बाद की तथा उन्नतिशील नस्लों के द्वारा ये पराजित होकर नष्ट हो जाएँगी। लेकिन यदि किसी जात की आपरिवर्तित संतानें किसी नये प्रदेश में पहुँच जाती हैं या पुराने प्रदेश के किसी नये भाग के लिए जल्दी अनुकूलित हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप मूलजात तथा उनके बीच प्रतियोगिता नहीं होती, तो दोनों बची रह सकती हैं।

अतः अगर यह मान लिया जाये कि हमारे चित्र के द्वारा आपरिवर्तन की काफी मात्रा व्यक्त होती है तो जात 'का' और प्रारम्भ के सभी भेद विलुप्त हो जाएँगे और उनके स्थान पर आठ नयी जातें (क^{१४} से ढ़^{१४} तक) बन जाएँगी। इसी प्रकार जात 'टा' के स्थान पर छः नयी जातें (त^{१४} से य^{१४} तक) तैयार हो जाएँगी।

किन्तु हम इसके और भी आगे बढ़ सकते हैं। हमारी जाति की मूल जातें,

हमारी कल्पना के अनुसार एक-दूसरे से असमान अंशों में समान हैं, जैसा साधारणतः प्रकृति में पाया जाता है। चित्र में जात 'का', 'खा', 'गा', और 'घा' एक-दूसरे के अधिक निकट हैं, और अन्य जातों से कम निकट। इसी प्रकार जातें 'जा', झा', 'टा', 'ठा' और 'ड' एक दूसरे के अधिक निकट हैं। हमने यह भी माना था कि दोनों जातें 'का' और 'टा' बहुत समान और दूर तक फैली हुई हैं इसका मतलब यह है कि उसी जाति की अन्य जातों की अपेक्षा, प्रारम्भ में इनको कुछ अधिक सुविधाएँ रही होंगी। १४ हज़ार पीढ़ियों के बाद सम्भवतः इनकी १४ आपरिवर्तित सन्तानों ने इनमें से कुछ सुविधाओं को वंशागत किया होगा। साथ ही वंशागत की हर अवस्था में इनमें कुछ आपरिवर्तन और सुधार भी हुए होंगे, जिसके फलस्वरूप अपने प्रदेश में वे अन्य सम-कालीन जातों से भलीभाँति अनुकूलित हो गयी होंगी। इसलिए यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि उन्होंने न केवल अपने उत्पादक मूल जातों 'का' और 'टा' का विनाश किया होगा, और उनका स्थान लिया होगा, बल्कि अन्य कुछ ऐसी मूल जातों का भी जो 'का' और 'टा' से बहुत सम्बन्धित थीं विनाश किया होगा। इस प्रकार हम यह आशा कर सकते हैं, कि १४ हज़ार पीढ़ियों के व्यतीत होने तक बहुत कम मूल जातों की संतानें जीवित रह सकी होंगी। हम ऐसा मान सकते हैं कि 'चा' और 'छा' नामक दो निकट सम्बन्धित जातों में से इस अवस्था तक केवल एक की ही संतानें पहुँची होंगी।

इस प्रकार हमारे चित्र में १४ मूल जातों से प्रारम्भ करने पर अन्त में केवल १५ जातें मिलती हैं। प्राकृतिक निर्वाचन की विचलन की प्रकृति के कारण 'क^{१४}' और 'य^{१४}' जातों के लक्षणों के परस्पर अन्तर प्रारम्भिक ११ जातों के बीच के अधिकतम अन्तर से भी अधिक होंगे, इसके अलावा इन नयी जातों का परस्पर सम्बन्ध भी बहुत भिन्न प्रकार का होगा। 'का' जात की आठ संतानों में से तीन 'क^{१४}', 'घ^{१४}' और 'द^{१४}' एक-दूसरे से काफी निकट होंगी क्योंकि हाल ही में ये तीनों एक पूर्वज 'क^{१०}' के शाखित होने से बनी हैं। किन्तु 'ख^{१४}' और 'छ^{१४}' अपने पूर्वज 'क'^{१५} से अधिक पहले वंशागत हुई थीं, इसलिए इन तीनों जातों की अपेक्षा ये एक-दूसरे से अधिक दूर होंगी। अंत में 'थ^{१४}', 'च^{१४}' और 'ढ^{१४}' का सम्बन्ध एक-दूसरे से काफी निकट होगा। किन्तु चूँकि वे एक-दूसरे से आपरिवर्तन की क्रिया आरम्भ होते ही अलग होने लग गयीं, इसलिए बाकी पाँचों जातों से ये बहुत भिन्न होंगी और इस प्रकार एक अलग उपजाति का निर्माण कर सकती हैं।

'टा' जाति की ६ संततियाँ इसी प्रकार दो पृथक् उपजातियों या जातियों का निर्माण करेंगी। किन्तु चूँकि मूल जाति 'टा' जाति 'का' से बहुत भिन्न थी और दोनों मूल जाति के दो पृथक् किनारों पर थीं इसलिए 'टा' की ६ संततियाँ केवल वंशागत

के ही कारण 'का' की आठ संततियों से बहुत भिन्न होंगी। इसके अतिरिक्त ये दोनों समह अलग-अलग दिशाओं में बढ़ते रहे हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इनके बीच की जातों में जिनके द्वारा 'का' और 'टा' मूल जातों का सम्बन्ध ज्ञात होता था, 'छा' को छोड़ सभी नष्ट हो गयी हैं और उनकी संतानें भी नहीं बच रही हैं; अतः 'टा' से उत्पन्न होने वाली नयी जातें और 'का' से उत्पन्न होने वाली आठ नयी जातें एक दूसरे से इतनी पृथक् होंगी कि उनको दो लगभग असम्बन्धित जातियों में, या उपवंशों में भी रखा जा सकता है।

इस तरह मेरा विश्वास है कि एक ही जाति की दो या दो से अधिक जातों की संतानों में आपरिवर्तन से दो या अधिक जातियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके अन्तर्गत कई जातें हो सकती हैं। फिर ये दोनों मूल जातें कदाचित् स्वयं किसी प्राचीन जाति की एक जात से ही वंशागत होती हैं। हमारे चित्र में यह बात 'का', 'खा' आदि अक्षरों के नीचे बढ़ने वाली लकीरों से दिखायी गयी है, जो आगे बढ़ने पर एक बिन्दु पर मिल जाएँगी। यह बिन्दु उस एक जात का चिह्न है, जिससे बाद की कई जातियाँ और उपजातियाँ उत्पन्न हुई हैं।

कदाचित् यहाँ नयी जाति 'छ^{१४}' के लक्षणों पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। यह जात मूल जात 'छ' से बहुत भिन्न नहीं है और इसमें उसके सभी लक्षण अपरिवर्तित रूप में या बहुत कम परिवर्तित रूप में उपस्थित हैं। इस विशेष जात की बाकी १४ नयी जातों का सम्बन्ध विचित्र और पेचीदा होगा। चूँकि इसका मूल पूर्वज अन्य दो महत्त्वपूर्ण मूल जातों 'का' और 'टा' के बीच मध्यस्थ के रूप में था, जो पूर्णतः लुप्त हो गयी हैं, इसलिए अपने लक्षणों में यह इन दोनों जातों से उत्पन्न दो समूहों के बीच का स्थान ग्रहण करेंगी। लेकिन चूँकि समय व्यतीत होने के साथ ये दोनों समूह अपने पूर्वजों से भिन्न हो चले हैं, इसलिए यह नयी जाति 'छ^{१४}' प्रत्यक्ष रूप से इनके बीच की नहीं होगी बल्कि कुछ अप्रत्यक्ष रूप से इनका आपस का सम्बन्ध स्पष्ट करने में सहायक होगी। हर प्रकृतिवादी इस तरह के अनेक उदाहरणों से परिचित होगा।

हमने कहा है कि चित्र की प्रत्येक दो निकटवर्ती बेंड़ी लकीरों के बीच का स्थान लगभग एक हजार पीढ़ियों का समय बताता है। किन्तु यह पहले की दस लाख या इससे भी अधिक पीढ़ियों की हो सकती है, या पृथ्वी की विभिन्न भौमिक स्तरों को, उनके अनेक विलुप्त जीवों के साथ, बता सकती है। जब हम भूतत्वशास्त्र के अध्याय पर पहुँचेंगे, तो पुनः इसी विषय की चर्चा करेंगे, और तब हम देख सकेंगे कि यही चित्र विलुप्त जीवों के परस्पर सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालता है। हालांकि साधारणतः ये विलुप्त जीव भी उन्हीं गणों, वंशों अथवा जातियों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं,

जो आज भी जीवित हैं, किन्तु इनमें से कई आजकल के जीवों की अपेक्षा कुछ माध्यमिक स्थान रखते हैं। यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जिन प्राचीन युगों में ये विलुप्त जातें पायी जाती थीं, उस समय वंशागति की शाखाएँ एक-दूसरे से बहुत पृथक् नहीं थीं।

मुझको कोई ऐसा कारण नहीं दिखाई पड़ता जिससे हम आपरिवर्तन की क्रिया को जातियों की उत्पत्ति की अवस्था तक ही सीमित रखें। यदि चित्र में हम यह मान लें कि इन बिन्दु वाली फैलती हुई रेखाओं के बीच की दूरी, अर्थात् उनके आपस के अन्तर बहुत अधिक हैं तो 'क^{१४}' से 'द^{१४}' तक के प्राणी, 'ख^{१४}' से 'छ^{१४}' तक के प्राणी तथा 'थ^{१४}' से 'द^{१४}' तक के प्राणी तीन बिलकुल अलग और स्पष्ट जातियों का निर्माण करेंगे। इसी प्रकार 'टा' की संततियों से दो बिल्कुल पृथक् जातियाँ बनेंगी जो 'का' की संततियों से बिल्कुल भिन्न होंगी। इस तरह जातियों के दो स्पष्ट समूह बन जाएँगे, जिनको पारस्परिक अन्तरों के आधार पर वंशों या गणों का स्तर दिया जा सकता है। स्पष्ट है कि ये दो नये वंश या गण एक ही प्रारम्भिक जाति की दो जातों से वंशागत हुए हैं, जो स्वयं किसी एक ही प्राचीन सामान्य जात से उत्पन्न हुए थे।

हम यह देख चुके हैं कि हर प्रदेश में सबसे अधिक भेद अथवा प्रारम्भिक जातें उन जातों से उत्पन्न होती हैं जो स्वयं किसी बड़ी जाति की होती हैं, इसकी आशा भी की जानी चाहिए। चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया ऐसे जीवों के द्वारा होती है जिनको अन्य समकालीन जीवों की अपेक्षा जीवन-संघर्ष में कुछ सुविधा होती है, इसलिए यह मुख्यतः उन्हीं जीवों पर कार्य भी करता है जिनको पहले से ही कुछ सुविधा प्राप्त है। और जब कोई समूह बहुत बड़ा होता है, तो उससे यह पता चलता है कि उसकी जातें किसी ऐसे सामान्य पूर्वज से उत्पन्न हुई हैं, जिसकी किसी सुविधा को इन जातों ने वंशागत किया है। अतः नयी तथा आपरिवर्तित संततियों को उत्पन्न करने के लिए संघर्ष मुख्यतः बड़े समूहों के बीच ही होगा, जो सभी अपनी संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। इस क्रिया में एक बड़ा समूह दूसरे बड़े समूह को धीरे-धीरे पराजित करेगा, उसकी संख्या कम करेगा और इस प्रकार उसमें नये परिवर्तनों के उत्पन्न होने या सुधारों के होने की सम्भावना घटेगी। किसी एक ही बड़े समूह के भीतर वे समूह अधिक सफल होंगे और दूसरे उपसमूहों को नष्ट करेंगे जिनकी उत्पत्ति बाद में हुई होगी, और जिनकी संरचना सम्पूर्ण होगी क्योंकि ये प्रकृति में पुराने उपसमूहों की अपेक्षा नये और अधिक उपयुक्त स्थानों पर अधिकार करेंगे। इस प्रकार क्रमशः छोटे और टूटे हुए समूह और उपसमूह अन्त में नष्ट हो जाएँगे। भविष्य के विषय में भी हम यह कह सकते हैं कि जीवों के ये समूह जो इस समय बड़े और सफल हैं और

जो कम-से-कम भग्न हैं, अर्थात् वे जिनमें अब तक कम-से-कम विनाश हुआ है, वे बहुत समय तक बढ़ते रहे हैं। किन्तु अन्त में किन समूहों की उन्नति होगी, यह मनुष्य नहीं कह सकता, क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसे बहुत से समूह जो किसी समय बहुत उन्नतिशील और विस्तृत थे, इस समय लुप्त हो गये हैं। सुदूर भविष्य के विषय में हम केवल इतना कह सकते हैं कि बड़े समूहों की निरन्तर वृद्धि के कारण अन्त में अनेक छोटे समूह बिल्कुल ही नष्ट हो जाएँगे और उनकी आपरिवर्तित सन्तानें नहीं रहेंगी। इसका फल यह होगा कि किसी काल में पायी जाने वाली अनेक जातों में बहुत थोड़ी ऐसी होंगी जिनकी संतानें दूर भविष्य में मिलेंगी। जब हम वर्गीकरण के अध्याय पर पहुँचेंगे, तो पुनः हम इस विषय पर विचार करेंगे किन्तु यहाँ मैं इतना अवश्य कहूँगा कि चूँकि इस मत के अनुसार अनेक प्राचीन जातों में से केवल कुछ की ही संतानें इस समय जीवित हैं, तथा एक प्राचीन जाति की सभी संततियाँ इस समय एक वर्ग का निर्माण करती हैं, इसलिए यह स्पष्ट है कि इस समय जन्तु तथा वनस्पति साम्राज्यों के प्रत्येक मुख्य विभाग में क्यों इतने थोड़े वर्ग पाये जाते हैं। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हालांकि बहुत प्राचीन जातों में से इनी-गिनी जातों की ही आपरिवर्तित संततियाँ इस समय जीवित हैं, फिर भी बहुत पुराने भूतत्वीय कालों में पृथ्वी अनेक जातियों, वंशों, गणों और वर्गों की जातों से वैसे ही भरी रही होगी, जैसी आज है।

किस अंश तक गठन में उन्नति संभव है

प्राकृतिक निर्वाचन लगभग पूरी तरह ऐसे परिवर्तनों की रक्षा तथा संग्रह के द्वारा होता है जो जीवन के सभी कालों में प्राणियों पर आरोपित सजीव और निर्जीव परिस्थितियों का सामना करने में लाभदायक होते हैं। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि अपनी परिस्थिति के सम्बन्ध में प्रत्येक जीव अधिक-से-अधिक उन्नति करता जाता है। इस उन्नति के फलस्वरूप संसार के अधिकांश प्राणियों की गठन में भी उन्नति होती है। पर अब हम एक बड़े ही पेचीदा विषय में प्रवेश कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि अभी तक प्रकृतिवादी गठन की उन्नति की ही ऐसी कोई परिभाषा नहीं दे पाये हैं जो अधिकांश प्रकृतिवादियों को सन्तोषप्रद जान पड़ती हो। मेरुदण्डधारी प्राणियों में बुद्धि का विकास तथा मनुष्य की संरचना की ओर झुकाव को निश्चय ही हम उन्नति कह सकते हैं। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि डिंबावस्था से प्रौढ़ता तक विकसित होने में किसी प्राणी के विभिन्न अंगों तथा भागों में होनेवाले अन्तर एक प्रकार से तुलना के लिए माप की तरह उपयोग में लाये जा सकते हैं। पर ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं (जैसे कुछ परजीवी क्रस्टेशिया) जिनमें कई अंग विकास काल में पूर्ण

होने के बजाय अपूर्ण हो जाते हैं, और फलतः प्रौढ़ प्राणी किसी प्रकार लार्वा से उच्च नहीं कहे जा सकते। अतः इस विषय में वान वेयर (Von Baer) की माप ही सबसे अच्छी और उपयोगी जान पड़ती है। इसके अनुसार अंगों के संपूर्ण विभेदीकरण (जब तक जीव प्रौढ़ न हो जाय) तथा उनके आपरिवर्तन के द्वारा हम जीवों की उन्नति का अनुमान लगा सकते हैं। मिलने एडवर्ड्स के अनुसार श्रम का कायिक विभाजन ही उपयुक्त माप हो सकता है। किन्तु यदि हम मछलियों जैसे कुछ उदाहरणों पर ध्यान दें, तो यह समझ सकते हैं कि पूरा विषय कितना संदिग्ध है। कुछ वैज्ञानिक उन मछलियों को, जैसे शार्क (sharks) को मछलियों में अधिक उन्नतिशील समझते हैं, क्योंकि वे उभयचरों के बहुत निकट जान पड़ती हैं।* कुछ अन्य वैज्ञानिक साधारण हड्डीदार या टिलियास्ट (teleosk) मछली को उच्चतम मानते हैं, क्योंकि ये अधिक मछली जैसी होती हैं और अन्य मेरुदण्डधारी वर्गों से बहुत भिन्न होती हैं। इससे भी अधिक संशयात्मक यह विषय हमको तब लगेगा जब हम पौधों का उदाहरण लेंगे, जिनमें बुद्धि का प्रश्न नहीं उठता। कुछ वनस्पतिशास्त्री उन पौधों को सबसे उच्च मानते हैं जिनके फूलों में सभी अंग—जैसे अंखुड़िया, पंखुड़ियाँ, परागकेर, गर्भकेसर आदि—पूर्णतः विकसित होते हैं; इसके विपरीत कुछ अन्य वनस्पतिशास्त्री उन पौधों को उच्च मानते हैं जिनके फूलों के कई भाग बहुत आपरिवर्तित और संख्या में कम होते हैं। कदाचित् दूसरे वनस्पतिशास्त्री अधिक ठीक हैं।

यदि हम प्रत्येक जीव के विभिन्न भागों तथा अंगों के प्रौढ़ावस्था में विभेदीकरण तथा विशेषीकरण को ही उच्च गठन की माप समझें (इसके अन्तर्गत बौद्धिक कार्यों के लिए मस्तिष्क की उन्नति भी शामिल है) तो हम देखेंगे कि प्राकृतिक निर्वाचन इस माप को शक्ति प्रदान करता है। सभी शरीरशास्त्री यह मानते हैं कि जहाँ तक विभिन्न अंग अपना कार्य सुचारु रूप से करते हैं, उनका विशिष्टीकरण जीव के लिए लाभदायक है। अतः ऐसे परिवर्तनों का एकत्रीकरण, जिनके द्वारा विशिष्टीकरण होता है, प्राकृतिक निर्वाचन के क्षेत्र में आता है। दूसरी ओर यदि हम यह याद रखें कि सभी जीव संख्या में वेग से बढ़ाना चाहते हैं, और इसलिए सभी अनधिकृत या कम घनी जगहों पर अधिकार कर लेना चाहते हैं, तो हम यह देखेंगे कि प्राकृतिक निर्वाचन के लिए यह संभव है कि

*** वर्तमान ज्ञान के अनुसार शार्क, जो इलैसमोब्रैंक (Elasmobranch) वर्ग में रखे जाते हैं, न तो उभयचर (ऐम्फीबिया) के निकट माने जाते हैं और न उन्नतिशील ही। अनु०**

वह किसी जीव को ऐसी परिस्थिति के भी अनुकूल बना दे जिसमें कई अंग व्यर्थ होंगे। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में जीव के गठन में अवनति होगी। भूतत्वीय क्रम के अध्याय में हम इस बात पर विचार करेंगे कि प्राचीन भूतत्वीय काल से वर्तमान समय तक वास्तव में जीवों की गठन में कुछ उन्नति हुई है अथवा नहीं, और यदि हुई है तो कितनी।

यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि सभी जीव इस प्रकार उन्नति कर रहे हैं तो संसार में असंख्य जीव अब भी कैसे निम्न कोटि के बने हुए हैं और कैसे प्रत्येक वर्ग में कुछ जीव अन्य जीवों से बहुत अधिक विकसित हैं। यह भी पूछा जा सकता है कि क्यों अधिक विकसित जीवों ने हर जगह सभी कम विकसित जीवों को स्थानान्तरित और नष्ट नहीं कर दिया? लैमार्क (Lamarck) प्रत्येक जीव की पूर्णत्व प्राप्त करने की जन्मजात प्रकृति में विश्वास करते थे। और फलतः उनको यह कठिनाई इतनी बड़ी लगी कि उनको यह कल्पना करनी पड़ी कि नये और सरल आकार के जीवों की सृष्टि निरन्तर और एकाएक हुआ क़रती है। भविष्य में क्या होगा, नहीं कहा जा सकता, किन्तु अभी तक विज्ञान उनके इस विश्वास को सही सिद्ध नहीं कर सका है। निम्न कोटि के जीवों के रहने से हमारे सिद्धान्त के मानने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। प्राकृतिक निर्वाचन अथवा योग्यतम के अतिजीवन के सिद्धान्त के अनुसार निरन्तर प्रगति का होना अनिवार्य नहीं है। यह केवल ऐसे परिवर्तनों का उपयोग कर लेता है जो किसी जीव के लिए जीवन के जटिल संबंधों में उपयोगी है। वास्तव में यह पूछा जा सकता है कि किसी सूक्ष्म इन्फ्यूसोरियन (Infusorian) प्राणी के लिए, या आंत्र के किसी कीड़े या केचुए के लिए बहुत ऊँची गठन का होना किस प्रकार लाभदायक होगा? यदि कोई लाभ न होगा, तो प्राकृतिक निर्वाचन उनको कुछ उन्नति करने के बाद या बिना उन्नति के उसी अवस्था में छोड़ देगा, और संभवतः वे युगों तक उसी अवस्था में बने रहेंगे। और भूतत्व-शास्त्र हमको यह बताता है कि कुछ निम्नतम श्रेणी के जीव जैसे, इन्फ्यूसोरिया (Infusoria) और राइज़ोपोडा (Rhizopoda)* बहुत बड़े काल तक अपनी वर्तमान स्थित में रहे हैं। फिर भी यह कहना कि आजतक पाये जाने वाले अधिकांश निम्न कोटि के जन्तु सृष्टि के समय से आज तक बदले ही नहीं, असंगत होगा। जिन प्रकृतिवादियों ने निम्न कोटि के कहे जाने वाले थोड़े से जन्तुओं का

*प्राजीवा (Protozoa) के दो वर्ग। चूंकि प्राजीवा शरीर एक-कोशिकीय होता है इसलिए ये निम्नतम स्तर के जन्तु समझे जाते हैं।

भी विच्छेदन (dissection) किया होगा, वे उनकी अद्भुत और सुन्दर गठन को देखकर चकित रह गये होंगे।

यदि हम किसी एक वर्ग के भीतर गठन के विभिन्न स्तरों को देखें तो भी हमको लगभग ये ही बातें दिखाई पड़ेंगी। उदाहरण के लिए कशेरुकदंडीय प्राणियों में साथ-साथ स्तनियों तथा मछलियों का पाया जाना; मछलियों में शार्क तथा ऐम्फी आक्सस (Amphioxus) का सहजीवन तथा स्तनियों में मनुष्य तथा आरनाइथोरिंकस (Ornythorhynchus) का सहजीवन इन बातों को सिद्ध करते हैं। ऐम्फीआक्शस तो संरचना में इतना सरल है कि अकशेरुकदंडी वर्ग के निकट पहुँच जाता है। पर स्तनी तथा मछली शायद ही कभी एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हों। और इसलिए संपूर्ण स्तनी वर्ग, या इसके कुछ सदस्य अपनी प्रगति के फलस्वरूप कभी भी मछलियों का स्थान नहीं ले सकेंगे। शरीरशास्त्री यह विश्वास करते हैं कि बहुत कार्यशील होने के लिए मस्तिष्क को गरम रक्त में स्नान करना चाहिए। स्पष्ट है पानी में निवास करने पर गर्म रक्त वाले प्राणियों को विशेष असुविधा होगी और उनको श्वास लेने के लिए बराबर पानी के ऊपरी तल तक आना होगा। मछलियों में शार्क वंश के सदस्य ऐम्फीआक्शस का स्थान नहीं लेंगे क्योंकि, जैसा फिट्ज मूलर कहते हैं, दक्षिणी ब्राजील के रेतीले समुद्री किनारे पर इसका एकमात्र प्रतियोगी एक विचित्र एनीलिड है। स्तनीवर्ग के तीन निम्नतम गण (Order) अर्थात् मार्सुपियल, एडेनटेटा तथा रोडेन्ट—दक्षिणी अमरीका के एक ही भाग में अनगिनती बंदरों के साथ-साथ रहते हैं और कोई भी गण एक-दूसरे के लिए बाधक नहीं होता। इस प्रकार चाहे सम्मिलित रूप से संसार भर में गठन में प्रगति हुई हो, और अब भी हो रही हो, फिर भी पूरे जन्तु तथा वनस्पति साम्राज्य में पूर्णता की अनेक अवस्थाएँ होंगी। इसका कारण यह है कि कुछ संपूर्ण वर्गों अथवा उनके कुछ सदस्यों की प्रगति के कारण उन वर्गों का विनाश नहीं होगा जिनके साथ उनकी प्रतियोगिता नहीं होती। जैसा हम बाद में देखेंगे, इनमें से कुछ उदाहरणों में तो निम्न कोटि के प्राणी आज तक इसलिए ज्यों के त्यों बने हैं कि वे कुछ विचित्र या पृथक् वातावरण में रहे हैं जहाँ उनको कम कठिन प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा और जहाँ उनकी संख्या के सीमित होने के फलस्वरूप अनुकूल परिवर्तनों के उत्पन्न होने की संभावना कम रही है।

इस तरह कहना चाहिए कि कई निम्न कोटि के जीव आज तक कई कारणों से बचे आ रहे हैं। कुछ उदाहरणों में अनुकूल वैयक्तिक अन्तर या परिवर्तन उत्पन्न ही नहीं हुए और इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन को कार्य करने तथा ऐसे परिवर्तनों का संग्रह करने का अवसर नहीं मिल सका। संभवतः किसी भी उदाहरण में अधिकतम विकास

के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल सका। कुछ थोड़ से उदाहरणों में गठन में अवनति हुई है। पर मुख्य कारण यह है कि जीवन की सरल परिस्थितियों में उच्च प्रकार का गठन कदाचित् व्यर्थ होता, बल्कि यह भी संभव है कि वह हानिकारक होता क्योंकि जटिल होने के कारण यह शरीर को कोमलता प्रदान करता और उसको हानि पहुँचने की संभावना अधिक रहती।

यदि हम जीवन के प्रारंभ की ओर देखें, जब कि कदाचित् जीवों का आकार सरलतम रहा होगा, तो हमको यह जानने की जिज्ञासा होती है कि प्रगति अर्थात् अंगों के विभेदीकरण की ओर पहला पग कैसे उठा होगा ? संभवत: श्री हरबर्ट स्पेन्सर इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देंगे कि जहाँ एक बार सरल एककोशिकीय जीव वृद्धि या विभाजन के कारण बहुकोशिकीय हुए, अथवा वे किसी धरातल से लग गये, कि उन पर उनका नियम लागू हो जाएगा और उसी के अनुसार उनमें उन्नति होने लगेगी। यह नियम कहता है कि "किसी भी वर्ग की रचना सदृश इकाइयों में प्राथमिक शक्ति के प्रति संबंधों में जितना अन्तर होता है, उसी के अनुपात में उनमें विभेदीकरण भी होता है।" पर दुर्भाग्यवश इस संबंध में हमारे पास कुछ भी तथ्य नहीं है, अत: इस विषय पर कल्पना करना व्यर्थ है। फिर भी यह मान लेना कि उनमें जीवन-संघर्ष नहीं होगा, और इसलिए जब तक बहुत जीव उत्पन्न नहीं हो जाएँगे, तब तक प्राकृतिक निर्वाचन भी नहीं होगा, गलत होगा। किसी पृथक् वातावरण में निवास करने वाले एक ही जात के सदस्यों में भी उत्पन्न होने वाले परिवर्तन लाभदायक हो सकते हैं। और इसलिए इन सदस्यों का पूरा समूह आपरिवर्तित हो सकता है या दो स्पष्ट प्रकार के जीवों का निर्माण हो सकता है। किन्तु जैसा मैंने भूमिका के अंत में लिखा है, जातों की उत्पत्ति के विषय पर बहुत सी बातों के अब तक संदिग्ध रह जाने पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि वर्तमान संसार में रहने वाले जीवों के परस्पर संबंध में हमारा ज्ञान बहुत अधूरा है, और प्राचीन युगों के जीवों के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं।

लक्षणों का अपसरण (divergence)

श्री एच० सी० वाट्सन का विचार है कि मैंने लक्षणों के अपसरण के महत्व का मूल्यांकन आवश्यकता से अधिक किया है (हालांकि जान पड़ता है कि वे इसमें विश्वास करते हैं), और अपसरण का भी इस क्रिया में बड़ा भाग है। यदि दो स्पष्ट, पर सन्निकट, जातियों की दो-दो जातें अलग-अलग अनेक और भिन्न प्राणियों को जन्म दें, तो यह बहुत संभव है कि ये प्राणी एक-दूसरे से इतने मिलते-जुलते हों कि हम उनको एक ही जाति के अन्तर्गत रख दें। ऐसी अवस्था में दो अलग-अलग जातियों की संतति में अपसरण होगा।

किन्तु यदि दो सुदूर जातियों की संतति आपरिवर्तन के कारण एक दूसरे से बहुत मिलती जुलती हो, तो इसका कारण भी अपसरण बताना निश्चय ही बड़ी ज्यादती की बात होगी। एक मणिभ (crystel) पूरी तरह परमाणु शक्ति (molecnlar forces) पर निर्भर होता है, और यदि दो विभिन्न पदार्थों के मणिभ समान हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पर जीवों के विषय में यह याद रखना चाहिए कि उनका आकार असंख्य और जटिल संबंधो पर, अर्थात् नये परिवर्तनों पर निर्भर होता है जिनकी उत्पत्ति के कारणों के बारे में हम बहुत कुछ अनभिज्ञ हैं। इन परिवर्तनों के अतिजीवन और एकत्रीकरण पर ही यह आकार निर्भर है, और इनका अतिजीवन और एकत्रीकरण भौतिक वातावरण तथा प्रतियोगी जीवों पर, और उनसे भी अधिक वंशागति पर निर्भर है। यह बात समझ में नहीं आती कि ऐसे दो जीवों की संतानें, जो मूलतः एक-दूसरे से काफी भिन्न हों, कभी एक-दूसरे के इतने निकट आ जायँ कि उनकी शारीरिक गठन भी एक-दूसरे के समान हो जाय। अगर ऐसा होता तो आनुवंशिक संबंधों के न होने पर भी प्रकृति में हमको बार-बार उसी आकार के जीव दिखाई पड़ते; और अधिकांश प्रमाण इसके विरुद्ध हैं।

श्री वाट्सन को यह भी आपत्ति है कि प्राकृतिक निर्वाचन की उत्तरोत्तर क्रिया तथा लक्षणों के विचलन के फलस्वरूप अनगिनत जातें उत्पन्न हो जायँगी। जहाँ तक केवल अजैविक परिस्थितियों का प्रश्न है; यह संभव है कि काफी जातें शीघ्र ही ताप, आर्द्रता आदि के परिवर्तनों की ओर अनुकूलित हो जायँगी। पर मैं यह स्वीकार करता हूँ कि जीवों का पारस्परिक संबंध अधिक महत्वपूर्ण है और चूँकि किसी प्रदेश में जातों की संख्या बढ़ती जाती है, इसलिए जीवित पदार्थों द्वारा निर्मित परीस्थितियाँ भी जटिल ही होती जाती हैं। फलतः देखते ही ऐसा लगता है कि संरचना के लाभदायक परिवर्तनों की कोई सीमा नहीं है। और इसलिए नयी बनने वाली जातों की संख्या की भी कोई सीमा नहीं है। हम यह नहीं जानते कि जिन क्षेत्रों में जीवों में उर्वरता बहुत है, वे भी विशिष्ट जातों से पूरी तरह भरे पड़े हैं—जैसे आस्ट्रेलिया में केप ऑफ गुड होप में, जहाँ आश्चर्य जनक संख्या में जातें पायी जाती हैं, वहाँ भी कई यूरोपीय पौधों ने घर बना लिया है। किन्तु भूतत्वशास्त्र से हमको यह शिक्षा मिलती है कि तृतीय युग (tertiary period) के प्रारंभिक समय से कवचों (Shells) की संख्या में तथा इसी युग के माध्यमिक काल के स्तनियों की संख्या में अभी तक कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। ऐसी अवस्था में कौन से कारण हैं जिनसे जातों की असीमित संख्या नहीं बनी? किसी भी सीमित क्षेत्र में जीवन की एक सीमित मात्रा (मेरा तात्पर्य जातों की संख्या से नहीं है) ही अपना निर्वाह कर सकती है, और बहुत कुछ यह मात्रा उस प्रदेश की भौतिक परिस्थितियों पर

निर्भर होती है। अतः यदि किसी क्षेत्र में जातों की बहुत बड़ी संख्या होगी तो अवश्य ही इन जातों में से प्रत्येक के सदस्यों की संख्या बहुत थोड़ी होगी। और सदस्यों की संख्या थोड़ी होने पर, वातावरण तथा ऋतुओं में आकस्मिक परिवर्तन होने पर या शत्रुओं की संख्या में वृद्धि होने पर जातों का विनाश हो जाएगा। इस तरह के उदाहरणों में विनाश की क्रिया बड़ी तेजी से होगी; किन्तु जातों की उत्पत्ति धीरे-धीरे ही हो सकती है। उदाहरण के लिए ऐसी किसी स्थिति की कल्पना कीजिये जब इंगलैंड में जितने जीव हैं उतनी ही जातें हों। अब पहली बार ही भयंकर ठंडक या गर्मी पड़ने पर सहस्रों की संख्या में जातों का विनाश हो जाएगा। यदि किसी प्रदेश में जातों की संख्या सीमा से अधिक हो जाएगी तो उसकी गणना विरली जातों में होगी; और कोई भी विरली जात, पहले दिये गये सिद्धातों के अनुसार, किसी अवधि में बहुत कम अनुकूल अन्तर ही उत्पन्न करेगी। नतीजा यह होगा कि नयी जातें उत्पन्न करने की क्रिया बहुत धीमी हो जाएगी। जब कोई जात बहुत अल्पसंख्यक हो जाएगी, तो आपस में ही सन्तातोत्पत्ति के फल-स्वरूप उसका विनाश और भी जल्दी होगा। लेखकों का मत है कि लिथूनिया से जंगली साँड़ों, स्काटलैंड से लाल हिरनों तथा नार्वे से भालुओं की अवनति इसी कारण हुई है। अंत में मेरे विचार में कोई प्रबल जात, जिसने अपने ही प्रदेश में पहले अपने प्रतियोगियों को पराजित किया हो, धीरे-धीरे विस्तृत होती है और अन्य जातों का स्थान लेने का भी प्रयत्न करती है। मेरे विचार में यही सबसे महत्वपूर्ण बात है। डि कैन्डोल ने यह दिखाया है कि जिन जातों में विस्तृत होने की प्रवृत्ति है, वे बहुत अधिक फैलती हैं, और इसलिए वे कई क्षत्रों में कई जातों का नाश करती तथा उनका स्थान ग्रहण करती हैं। इसका प्रभाव यह है कि संसार में जातों की संख्या सीमा से बाहर नहीं जा सकती। हाल में डा० हूकर ने यह दिखाया है कि आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व भाग में जहाँ स्पष्टतया संसार के कई भागों से आक्रमणकारी जीव आये हैं, वहीं के मूलनिवासियों की संख्या बहुत कम हो गयी है। ऊपर दिये गये अनेक कारणों में किसका अपना कितना मूल्य है, यह कहने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा। पर यह स्पष्ट है कि इनकी सम्मिलित क्रिया के फलस्वरूप किसी भी देश में जातों की संख्या अत्यधिक नहीं बढ़ती।

सारांश

यदि जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में, जीव अपनी संरचना के प्रत्येक भाग में वैयक्तिक अन्तर प्रकट करते हैं, जिसमें कोई सन्देह नहीं, यदि, गुणोत्तर गति से वृद्धि के कारण जीवों में किसी अवस्था, ऋतु अथवा वर्ष में विकट जीवन-संघर्ष हो, जिसमें भी कोई सन्देह नहीं—तो, जीवों के परस्पर तथा भौतिक वातावरण को ध्यान में रखते

हुए जिसके कारण संरचना, गठन तथा स्वभाव में असंख्य अनुकूल परिवर्तन होते हैं, जीवों में उनके लिए लाभदायक परिवर्तनों का न होना बड़े ही आश्चर्य की बात होगी। किन्तु यदि जीवों के लिए लाभदायक परिवर्तन होते हैं, तो निश्चय ही इस प्रकार परिवर्तित होने वाले जीवों को जीवन-संघर्ष में अतिजीवित रहने की संभावना सबसे अधिक होगी; और वंशागति के शक्तिशाली सिद्धान्त के अनुसार इनकी संतति में भी वे ही लक्षण होंगे। सुरक्षा के इस सिद्धान्त, अर्थात् योग्यतम के अतिजीवन, को मैंने 'प्राकृतिक निर्वाचन' कहा है। इसके द्वारा प्रत्येक जीव में, उसके जैविक-अजैविक वातावरण के अनुसार सुधार होते हैं; और फलस्वरूप अधिकतर उदाहरणों में गठन में प्रगति होती है। फिर भी निम्न कोटि के सरल जीव भी तब तक वैसे ही बने रहेंगे, जब तक वे अपने जीवन की सरल परिस्थितियों के लिए अनुकूल हैं।

इस सिद्धान्त पर कि प्रत्येक वंशागत लक्षण किसी विशेष अवस्था के पहुँचने पर ही प्रकट होता है, प्राकृतिक निर्वाचन जीवों को उनके बीज, अंडे या शैशवावस्था को भी उसी प्रकार आपरिवर्तित करता है जिस प्रकार प्रौढ़ावस्था को। कई जानवरों में साधारण निर्वाचन को लैंगिक निर्वाचन से विशेष सहायता प्राप्त होती है, क्योंकि इसके द्वारा सबसे अधिक अनुकूलित और शक्तिशाली नर ही अधिक संख्या में संतानें उत्पन्न करेंगे। इसके अतिरिक्त लैंगिक निर्वाचन के द्वारा केवल नरों को ही ऐसे लक्षण मिल सकेंगे जिनके द्वारा वे दूसरे नरों से प्रतियोगिता कर सकेंगे; और फिर ये लक्षण वंशागति के भिन्न-भिन्न नियमों के अनुसार केवल नर, अथवा नर तथा मादा दोनों प्रकार की संतानों में जाएँगे।

वास्तव में इसी रीति से प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के जीव अपने-अपने वातावरण तथा परिस्थिति के अनुकूल हुए हैं या नहीं इस बात का निर्णय इसके बाद के अध्यायों में दिये गये प्रमाणों और दलीलों के आधार पर ही किया जा सकेगा, किन्तु यह तो हम देख ही चुके हैं कि इसके कारण किस हद तक जीवों का विनाश हुआ है! और भूतत्वशास्त्र स्पष्ट यह बताता है कि विश्व के इतिहास में विनाश ने कितना अधिक प्रभाव डाला है। प्राकृतिक निर्वाचन के फलस्वरूप लक्षणों का विचलन भी होता है। जितना ही किसी क्षेत्र के जीव एक-दूसरे से संरचना, स्वभाव तथा गठन में भिन्न होते हैं, उतनी ही अधिक संख्या में उनका निर्वाह उस क्षेत्र में होता है। इस बात का प्रमाण किसी भी छोटे प्रदेश के मूल निवासियों तथा विदेश में अनुकूलित जीवों को देखने से मिलता है। अतः किसी जात की संतति के आपरिवर्तन काल में, जब सभी जातों में अपनी-अपनी संख्या में वृद्धि के लिए निरन्तर संघर्ष होता रहता है, संततियाँ आपस में जितनी भिन्न होती हैं, जीवन-संघर्ष में उनकी सफलता की संभावना उतनी ही

अधिक होगी। इस तरह किसी जाति के भेदों में पाये जाने वाले छोटे-छोटे अन्तर क्रमशः बढ़ते हैं और अन्त में ये अन्तर इतने बड़े हो जाते हैं, जितने उस जाति की विभिन्न जातों के बीच, या परस्पर जातियों के ही बीच होते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि हर वर्ग में साधारण बहुविस्तृत और बड़ी जातियों वाली जातों में ही सब से अधिक परिवर्तन पाये जाते हैं। और ये जातें अपनी संपरिवर्तित संतानों में उन गुणों का संप्रेषण करती हैं जिनके कारण वे स्वयं अपने प्रदेशों में प्रबल रही हैं। जैसा अभी कहा जा चुका है, प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा लक्षणों का विचलन और कम उन्नतिशील तथा मध्यस्थ जीवों का विनाश होता है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर जीवों के परस्पर संबंधों की प्रकृति तथा संसार भर के जीवों के प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के भेदों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। वास्तव में यह बड़ी अद्भुत बात है कि पूरे काल और स्थान में संसार के सभी जानवर तथा पौधे एक दूसरे से इस प्रकार संबंधित होते हैं कि समूह, उपसमूह आदि बनाते हैं। अतः एक ही जात के भेद एक दूसरे से बहुत घनिष्ठता से संबंधित रहते हैं; एक ही जाति के जात उनकी अपेक्षा कम घनिष्ठता से सम्बन्धित रहते हैं जिसके कारण वे उपजाति या विभागों (Sections) का निर्माण करती हैं; अलग-अलग जातियों की जातें उससे भी कम संबंधित रहती हैं। इसी तरह आपस में जातियों में बहुत असमान संबंध होता है और इस प्रकार उपवंश, वंश, गण, वर्ग, उपवर्ग आदि बनते हैं। किसी भी वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न समूह एक पंक्ति में नहीं लगाये जा सकते, बल्कि कुछ विन्दुओं के चारों ओर इकट्ठे होने लगते हैं; ये समूह कुछ दूसरे विन्दुओं के चारों ओर एकत्रित होते हैं और इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। यदि जातों की उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से होती तो इस प्रकार के वर्गीकरण का कोई कारण देना संभव न होता। पर वंशागति तथा प्राकृतिक निर्वाचन की जटिल क्रियाओं के आधार पर यह स्पष्टीकरण संभव है। जैसा हमने चित्र में दिखाया है, इस तरह की क्रिया के साथ लक्षणों का विचलन तथा उनकी विलुप्तता भी होती है।

बहुधा किसी वर्ग के सभी सदस्यों के परस्पर संबंध को एक वृक्ष के रूप में दिखाया जाता है। मैं समझता हूँ कि यह उपमा बहुत कुछ सत्य का संकेत करती है। ऐसा समझा जा सकता है कि हरी और कोंपल सहित टहनियाँ आजकल की जातों का प्रतिनिधित्व करती हैं और पुरानी डालें अनेक पुरानी विलुप्त जातों के समान हैं। प्रत्येक वृद्धिकाल में सभी बढ़ती हुई टहनियाँ चारों ओर शाखाएँ उत्पन्न करना चाहती हैं और आस-पास की टहनियों के ऊपर छा जाना और उनका संहार करना चाहती हैं। यह क्रिया ठीक उसी तरह होती है जिस तरह जातों तथा जातों के समूहों ने सदा ही जीवन-संग्राम में अन्य जातों पर विजय पायी है। जब वृक्ष छोटा था, तो आज की बड़ी-बड़ी डालें

और उनकी शाखाएँ भी हरी टहनियाँ थीं। अनेक शाखाओं के द्वारा प्राचीन तथा नवीन कलिकाओं का संबंध एक प्रकार से लुप्त तथा वर्तमान जीवों के छोटे-बड़े समूहों में वर्गीकृत होने के समान है। जिस समय वृक्ष छोटी झाड़ी के रूप में था, तब की अनेक टहनियों में से केवल एक-दो ही बची हैं और वे आज बड़ी शाखाओं के रूप में हैं; और इन्हीं से अन्य अनेक टहनियाँ उत्पन्न हुईं। इसी तरह प्राचीन भूतत्वीय कालों की इनी-गिनी जातें ही ऐसी हैं जिनसे जीवित तथा आपरिवर्तित संततियों का जन्म हुआ। प्रथम वृद्धि के बाद से वृक्ष की अनेक डालें और शाखाएँ सड़ गयीं और गिर गयीं। भिन्न-भिन्न नाप की ये डालें संपूर्ण गण, वंश और जातियों की भाँति हैं जिनका कोई जीवित प्रतिनिधि अब नहीं बच रहा और जिनसे हम केवल जीवाश्मों के ही द्वारा कुछ हद तक परिचित हैं। जिस प्रकार कभी-कभी हम किन्हीं दो पुरानी शाखाओं के जोड़ से निचली पुरानी डाल से कोई पतली शाखा निकलते देखते हैं, और जो किसी अनुकूल परिस्थिति के कारण अन्त में शिखर तक पहुँच जाती है, उसी तरह कभी-कभी हम आरनाइथा-रिंकस या लेपिडोसाइरेन जैसे जन्तु देखते हैं, वे कुछ हद तक अपने लक्षणों के द्वारा जीवों की किन्हीं दो भिन्न शाखाओं के बीच संबंध स्थापित करते हैं और जो स्वयं सुरक्षित-स्थानों में रहने के कारण बच गयी हैं। जिस तरह एक कलिका वृद्धि के फलस्वरूप अन्य कलिकाओं को जन्म देती है, और यदि वे मजबूत हुईं तो बढ़कर लंबी हो जाती हैं और अन्य कमजोर शाखाओं के ऊपर फैल जाती ह, उसी तरह मेरे विचार में जीवन के वृहत वृक्ष में भी टूटी, मरी हुई शाखाएँ पृथ्वी की गोद में समा गयी हैं और नयी बढ़ती हुई सुन्दर शाखाएँ पृथ्वी के ऊपर फल-फूल रही हैं।

अध्याय पाँच

परिवर्तन के नियम

परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव—प्राकृतिक निर्वाचन के साथ सम्मिलित उपयोग तथा अनुपयोग के प्रभाव; उड़ने तथा दृष्टि के अंग—विदेश की जलवायु सहने की योग्यता उत्पन्न करना—परस्पर-संबंधित परिवर्तन—वृद्धि की क्षतिपूर्ति और मितव्ययिता—मिथ्या परस्पर-संबंध संख्या में अधिक, अविकसित तथा निम्न रूप से संगठित संरचनाएँ परिवर्तनशील होती हैं—असाधारण रीति से विकसित होने वाले अंग अधिक परिवर्तनशील हैं, विशिष्ट लक्षण जातिसूचक लक्षणों से अधिक परिवर्तनशील हैं: गौण लैंगिक लक्षण परिवर्तनशील होते हैं—एक ही वंश की जातें कार्य सदृश रूप से परिवर्तित होती हैं—बहुत समय पहले लुप्त हुए लक्षणों का पुनः प्रकट होना—सारांश

मेरा अब तक का वर्णन ऐसा था जिससे यह जान पड़ता है कि परिवर्तनों का उत्पन्न होना (जो पालतू जानवरों में अधिक सामान्य रूप से और इतनी प्रकार के तथा प्रकृति में उससे कुछ कम होते हैं) अवसर पर निर्भर है। वास्तव में ऐसा कहना बिल्कुल ही ठीक नहीं है, और इससे केवल यह पता चलता है कि प्रत्येक विशिष्ट परिवर्तन के कारण के संबंध में हम बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं। कुछ लेखकों का विश्वास है कि जिस प्रकार किसी संतान का उसके माता-पिता के समान होना प्राणी के जन-नांगों पर निर्भर है, उसी प्रकार वैयक्तिक अन्तरों, अर्थात् संरचना के छोटे-मोटे अंतरों का उत्पन्न होना भी। किन्तु प्राकृतिक अवस्थाओं की अपेक्षा पालतू स्थिति में परिवर्तन और विकृतियों का आधिक्य तथा कम विस्तार वाली जातों की अपेक्षा अधिक विस्तार वाली जातों में परिवर्तनशीलता का अधिक पाया जाना यह सिद्ध करता है कि परिवर्तनशीलता का संबंध जीवन की उन परिस्थितियों से है जिनमें कोई जात कई पीढ़ियों तक रही है। पहले अध्याय में मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि परिवर्तित परिस्थितियाँ दो प्रकार से कार्य करती हैं—प्रत्यक्ष रूप से संपूर्ण शरीर अथवा उसके कुछ अंगों पर ही, तथा अप्रत्यक्ष रूप से जननांगों के द्वारा। प्रत्येक उदाहरण में दो मुख्य बातें कार्य करती हैं। जीव की प्रकृति, जो दोनों में से अधिक

महत्वपूर्ण है, तथा परिस्थिति की प्रकृति। परिवर्तित परिस्थिति के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण निश्चित् या अनिश्चित् परिणाम होते हैं। अनिश्चित परिणाम वाली परिस्थिति में संगठन काफी परिवर्तनशील हो जाता है और इसके फलस्वरूप उनमें बड़ी अस्थिर परिवर्तनशीलता होती है। किन्तु अन्य उदाहरणों में जीवों की प्रकृति ऐसी होती है कि वह आसानी से कुछ विशेष परिस्थिति में निश्चित् परिणाम ही उत्पन्न करती है, जिससे सभी, या लगभग सभी, व्यक्ति एक ही प्रकार से आपरिवर्तित होते हैं।

यह तय करना बड़ा कठिन है कि जलवायु, आहार आदि से संबंध रखने वाली परिवर्तित परिस्थितियों का निश्चित् रूप से कहाँ तक प्रभाव होता है। संभवतः कालान्तर में जितना कुछ स्पष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है, उससे कहीं अधिक प्रभाव हुआ है। किन्तु हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि संरचना के वे असंख्य, जटिल अनुकूलन, जो हम संपूर्ण प्रकृति में विभिन्न जीवों के बीच देखते हैं, केवल ऐसी ही क्रिया के कारण नहीं हो सकते। निम्नलिखित उदाहरणों में परिस्थितियों का किंचित् निश्चित् प्रभाव हुआ जान पड़ता है:—ई० फार्ब्स (E. Forbes) का कहना है कि उत्तर की ओर तथा अधिक गहराई में रहने वाले कवचों* की अपेक्षा दक्षिण में और कम गहरे पानी में रहने वाले कवच अधिक भड़कीले रंगों वाले होते हैं। किन्तु सदा ही ऐसा नहीं होता। श्री गूल्ड (Gould) का विश्वास है कि उसी जात की वे चिड़ियाँ, जो समुद्रतट या द्वीपों पर रहती हैं, कम भड़कीले रंगों वाली होती हैं, और वे जो साफ वायुमंडल में रहती हैं अधिक भड़कीले रंगों वाली होती हैं। इसी तरह मि० वोलास्टन भी समझते हैं कि समुद्रतट का कीटों के रंग पर प्रभाव पड़ता है। 'मोकुइन टैन्डन' ने ऐसे पौधों की एक सूची दी है जिनकी पत्तियाँ समुद्रतट पर उगने पर दलदार हो जाती हैं, किन्तु अन्य जगहों पर उगने पर दलदार नहीं होतीं। ये थोड़े-बहुत परिवर्तनशील प्राणी इसलिए रोचक हैं कि सभी में ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जो एक प्रकार के वातावरण में ही उत्पन्न होते हैं।

जब कोई परिवर्तन किसी जीव के लिए थोड़ा भी उपयोगी होता है, तो यह कहना संभव नहीं होता कि इस परिवर्तन का कितना भाग प्राकृतिक निर्वाचन की ग्राहिणी क्रिया के कारण है और कितना जीवन की परिस्थितियों के निश्चयात्मक प्रभावों के कारण । उदाहरण के लिए 'फ़र' का व्यापार करनेवालों को यह भली भाँति

*shells अर्थात् मालस्का (Mollesca) समुदाय के प्राणी।

मालूम है कि उत्तर की ओर जाने पर जानवरों के बाल अधिक लंबे होते हैं; किन्तु यह कौन कह सकता है कि इस परिवर्तन का कितना भाग अनेक पीढ़ियों में लंबे रोम वाले जानवरों के अतिजीवन के कारण है, और कितना जलवायु के प्रभाव के कारण? विशेषकर इसलिए कि हमारा अनुभव यह है कि हमारे पालतू चौपायों के बालों पर जलवायु का कुछ प्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ता है।

ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे वाह्य वातावरण के बहुत भिन्न होने पर भी किसी एक जात से दो एक समान भेद उत्पन्न हुए हैं। इसके विपरीत कुछ उदाहरण ऐसे भी मिल सकते हैं, जिनमें स्पष्टतया समान वाह्य दशाओं में दो बिल्कुल भिन्न प्रकार के भेद प्रकट हो गये। फिर प्रत्येक प्रकृतिवादी को अनगिनत ऐसे उदाहरण भी मालूम हैं जिनमें बिल्कुल विपरीत परिस्थितियों में रखी जाने पर भी कुछ जातें बिल्कुल नहीं बदलतीं, और बिल्कुल समान संतानें ही उत्पन्न करती हैं। इस तरह के उदाहरणों पर विचार करने पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वाह्य परिस्थितियों के प्रत्यक्ष प्रभाव को परिवर्तन की प्रवृत्ति की अपेक्षा बहुत अधिक महत्व दिया जाय, हालांकि हम इनके कारणों के विषय में बहुत कुछ अनभिज्ञ हैं।

हाँ! एक अर्थ में हम कह सकते हैं कि जीवन की वाह्य दशाएँ न केवल प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तनशीलता के लिए उत्तरदायी हैं, बल्कि प्राकृतिक निर्वाचन के लिए भी, क्योंकि ये दशाएँ ही यह निर्णय करती हैं कि कौन से भेद इन दशाओं में सुरक्षित रहेंगे। लेकिन जब मनुष्य निर्वाचन का कार्य करता है, तो हम स्पष्ट यह देखते हैं कि परिवर्तन के लिए दो बातें आवश्यक हैं—परिवर्तनशीलता का आरंभ तो किसी प्रकार हो जाता है, किन्तु परिवर्तनों को किसी एक दिशा में संग्रहीत करने का कार्य मनुष्य की इच्छा से होता है। पालतू जानवरों के विषय में मनुष्य की इच्छा जो काम करती है, प्रकृति में योग्यतम का अति-जीवन भी वही काम करता है।

प्रकृति के नियंत्रण में अंगों के अधिकाधिक उपयोग या अनुपयोग के प्रभाव

प्रथम अध्याय में जो बातें दी गयी हैं, उनको ध्यान में रखने पर इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि हमारे पालतू जानवरों में कुछ विशेष अंगों के उपयोग के फलस्वरूप वे विशेषकर मजबूत और बड़े हो गये हैं और उसी प्रकार अनुपयोग के फलस्वरूप वे छोटे भी हो गये हैं। और इस तरह के आपरिवर्तन वंशागत होते हैं। स्वतंत्र प्रकृति में हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे हम काफ़ी समय तक उपयोग या अनुपयोग के प्रभाव की जाँच कर सकें, क्योंकि हम मौलिक जीवों के विषय में

अधिक नहीं जानते। फिर भी अनेक जानवरों में कुछ ऐसी संरचनाएँ पायी जाती हैं जिनकी उपस्थिति या आकार को हम अनुपयोग के प्रभाव के आधार पर ही समझ सकते हैं। ओवेन ने कहा है कि प्रकृति में इससे अधिक असंगत कोई बात नहीं हो सकती कि कुछ चिड़ियाँ उड़ न सकती हों—फिर भी ऐसी कई चिड़ियाँ हैं। दक्षिण अमरीका की लंबे शिर वाली बत्तख केवल पानी के ऊपर फड़फड़ा सकती है। उसके पंख लगभग उसी दशा में होते हैं जिनमें पालतू एलिसबरी बत्तख के। कनिंगघम के अनुसार इस पक्षी के बच्चे उड़ सकते हैं किन्तु प्रौढ़ों में यह शक्ति जाती रहती है—यह वास्तव में ध्यान देने योग्य बात है। चूँकि स्थल पर से भोजन ग्रहण करने वाली बड़ी चिड़ियों को उड़ने की तब तक आवश्यकता नहीं होती जब तक उनको किसी विपत्ति से बचाव न करना हो। यह बहुत संभव है कि अनेक छोटे-छोटे द्वीपों पर शिकारी जानवरों के न होने के कारण आजकल की या हाल के युगों में पायी जाने वाली चिड़ियों में अनुपयोग के कारण पंख व्यर्थ हो गये हों, जिससे उनकी लगभग बिना पंख की दशा हो गयी हो। हाँ! शुतुर्मुर्ग चिड़िया महाद्वीपों पर रहती है और इसको ऐसे खतरों का सामना करना पड़ता है जिनसे भागकर वह जान नहीं बचा सकती। किन्तु यह अपने शत्रुओं को टाँगें और पंजे मार कर उनसे आसानी से अपनी रक्षा कर लेती है। संभवतः शुतुर्मुर्ग के पुरखों का स्वभाव आजकल की सारस चिड़िया के स्वभाव से मिलता-जुलता रहा होगा, और चूँकि इतनी पीढ़ियों में इसके शरीर का भार और नाप बहुत बढ़ गया, इसलिए इसकी टाँगों का उपयोग बढ़ता गया और पंखों का घटता गया जिसके फलस्वरूप अन्त में उसकी उड़ने की शक्ति जाती रही।

किरबी (Kirby) का कहना है (और मैंने भी यही देखा है) कि गोबर पर निर्वाह करने वाले अनेक गुबरैलों या बीट्लों (beetles) के नरों की अगली टाँगें टूटी होती हैं। उसने अपने संग्रह के सत्तरह गुबरैलों की जाँच की और उनमें से एक में भी इन टाँगों का चिह्न तक नहीं था। ओनाइटिस एपेलीस (Onites appeles) में ये टाँगें सामान्यतः गिर जाती हैं। और इसके फलस्वरूप उसके अधिकतर उल्लेखों में ये अनुपस्थित बतायी जाती हैं। कुछ जातियों में वे होती तो हैं, किन्तु बहुत छोटी होती हैं। ऐट्यूकस (Ateuchus) या मिश्रियों की पवित्र बीटिल में ये बिल्कुल अनुपस्थित होती हैं। अभी इस बात के पक्के प्रमाण हमारे पास नहीं हैं कि अकस्मात् होने वाले परिवर्तन वंशागत होते हैं। फिर भी ब्राउन-से-कुवर्ड (Brown-Sequard) के अद्भुत अवलोकनों के अनुसार गिनी-पिग में बिच्छेदन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले प्रभाव वंशागत होते हैं—और

इनको ध्यान में रखने पर हम आसानी से ऐसी वंशागति पर अविश्वास नहीं कर सकते। ऐसी परिस्थिति में यही सबसे अच्छा होगा कि ऐट्यूकस में अगली टाँगों की अनुपस्थिति या कुछ अन्य जातियों में उनके बहुत छोटे होने को हम वंशागत परिवर्तन न कह कर अंगों के निरन्तर अनुपयोग का प्रभाव समझें। स्पष्ट है कि जब बहुत से गुबरैलों में अगली टाँगें गिर जाती हैं तो ऐसा जीवन की बहुत प्रारम्भिक अवस्था में ही होता होगा—और यदि यह सत्य है तो टाँगें इन कीटों के लिए बहुत महत्वपूर्ण या बहुत उपयोगी नहीं होंगी।

कुछ उदाहरणों में संरचना के किसी-किसी ऐसे आपरिवर्तनों को जो पूर्णतः या बहुत-कुछ, प्राकृतिक निर्वाचन के कारण हैं, हम अनुपयोग के आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं। मि० वोलास्टन ने इस अद्भुत् बात का आविष्कार किया है कि मडायरा में पायी जाने वाली बीट्लों की साढ़े पाँच सौ से अधिक जातों में से २०० जातों के पर इतने अविकसित हैं कि वे उड़ नहीं सकतीं, और वहाँ की उन्तीस जातियों में से कम से कम तेईस ऐसी है जिनकी प्रत्येक जात ऐसी है। अब आप निम्नलिखित कई बातों पर ध्यान दीजिये : संसार के कई भागों की बीट्लें बहुधा हवा के झोंके के साथ समुद्र में गिर जाती हैं और नष्ट हो जाती हैं; मि० वोलास्टन के अवलोकन के अनुसार मडायरा की बीट्लें तब तक छिपी रहती हैं जब तक सूरज अस्त नहीं हो जाता और हवा शान्त नहीं हो जाती; मडायरा की तुलना में डेजरट्स के खुले द्वीप में पंखविहीन बीट्लों का अनुपात और भी अधिक होता है; यह अद्भुत बात कि बीट्लों के कई ऐसे समूह, जो संसार के अन्य भागों में बड़ी संख्या में पाये जाते हैं और जिनमें पंखों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है, मडायरा में बिल्कुल नहीं पाये जाते। इन सब बातों से एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मडायरा की बीट्लों की पंखहीन दशा प्राकृतिक निर्वाचन और अनुपयोग के सम्मिलित प्रभाव के कारण है। जैसे-जैसे एक के बाद दूसरी पीढ़ी आती गयी कुछ बीट्लों का उड़ना कम होता गया—चाहे ऐसा उनके पंखों की वृद्धि के निरन्तर कम होने के कारण हो या स्वभाव में शिथिल होने के कारण हो। जैसे-जैसे उनमें यह परिवर्तन होगा, समुद्र में गिरने के विरुद्ध उनकी बचत होती जाएगी। दूसरी ओर जो बीट्लें अधिक उड़ेंगी उनका समुद्र में गिरने के कारण विनाश होता जाएगा। और फलतः अंत में पंखहीन बीट्लें ही बच रहेंगी।

मडायरा के वे कीट् जो स्थल पर आहार नहीं ग्रहण करते—जैसे पुष्पभोजी बीट्ल और तितलियाँ—वे स्वभावतः भोजन प्राप्त करने के लिए अपने पंख को उपयोग में लाते रहे और इसलिए जैसा वोलास्टन का विश्वास है, उनके पंख बने रहे, बल्कि

बड़े हो गये। यह बात प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया के अनुसार है, क्योंकि जब इस महाद्वीप पर प्रथम कीट का आगमन हुआ तो प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उसकी संतानों के पंख बढ़े या घटे यह इस बात पर निर्भर है कि अधिक कीटों की रक्षा वायु के झोंको का सामना करने अर्थात् सफलता से उड़ने पर होती है या उड़ने का प्रयत्न त्याग कर देने पर। यदि एक जहाज किनारे के निकट आकर टूट जाय तो अच्छे तैराकों के लिए यह अधिक सुविधाजनक होगा कि उनको तैरने में और भी अभ्यस्तता हो और खराब तैराकों के लिए यह अच्छा होगा कि वे बिल्कुल ही तैरने का प्रयत्न न करें और उस टूटे हुए जहाज के ही सहारे ठहरे रहें।

छछूंदर तथा कुछ दूसरे बिल बनाने वाले रोडेन्टों (rodents) की आँखें बहुत छोटी होती हैं और कुछ में ये खाल या बालों से ढँकी होती हैं। आँखों की यह दशा कदाचित् अनुपयोग के कारण धीरे-धीरे छोटे होने से हुई है, पर संभवतः उसमें भी प्राकृतिक निर्वाचन सहायक रहा है। दक्षिणी अमरीका में टूको-टूको या टीनोमिस (tuco-tuco or ctenomys) नाम का एक रोडेन्ट पाया जाता है जो छछूंदर से भी अधिक पृथ्वी के भीतर रहने वाला प्राणी है और एक स्पेन निवासी ने जिसने अक्सर इनको पकड़ा था, मुझको बताया कि ये बहुधा अंधे होते हैं। इनमें से एक को मैंने जीवित रख छोड़ा था और वह भी अंधा था। जब बाद में मैंने उसकी चीर-फाड़ की तो पता चला कि उसका अंधापन उसकी पलक के पर्दे या निमीलक पर्दे (nictitating membrane) के बहुत मोटे हो जाने के कारण था। किसी भी जानवर के लिए आँख का सूजना हानिकर होगा और फिर बिलों में रहने वाले प्राणियों के लिए आँखों की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः ऐसी हालत में पलकों का एक-दूसरे के साथ जुड़ जाना और फिर उनपर बालों का बढ़ जाना सुविधा-जनक होगा। इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन आँखों के अनुपयोग के प्रभावों के बढ़ने में सहायता करेगा।

यह भली भाँति विदित है कि कार्निओला (Carniola) और केन्टुकी (Kentucky) की खोहों में रहने वाले कई अलग-अलग वर्गों के कुछ प्राणी अंधे हैं। इनमें से कुछ केकड़ों में आँखों को आधार प्रदान करने वाले वृत्त तो बने रहते हैं किन्तु आँखें नष्ट हो जाती हैं। दूरदर्शी टेलिस्कोप का स्टैन्ड बच गया है और टेलिस्कोप का पता नहीं! अब यह बात तो समझ में आती नहीं कि बेकार होने पर आँखें किसी प्रकार अँधेरे में रहने वाले इन जानवरों के लिए हानिकारक हो सकती हैं—अतः स्पष्ट है कि इनका लोप होना केवल अनुपयोग के ही कारण हो सकता है। खोह के चूहे 'नियोटोमा' (Neotoma) नामक खोह में रहने वाले एक जानवर में आँखें काफी बड़ी

और चमकदार होती हैं। इस जात के दो प्राणियों को प्रोफेसर सिलिमैन (Proffessor Silliman) ने एक खोह के मुँह से लगभग आधे मील की दूरी पर पकड़ा था जिससे कहा जा सकता है कि वे बहुत अधिक दूरी पर नहीं थे। आरम्भ में ये आँखें बेकार थीं किन्तु प्रोफेसर सिलिमैन के अनुसार लगभग एक महीने तक धीरे-धीरे कुछ बढ़ती हुई रोशनी में रखे जाने पर इनको प्रकाश का कुछ आभास होने लगा।

समान जलवायु में चूने की खोहों में जीवन की परिस्थिति जितनी समान होगी, उससे अधिक मिलती-जुलती परिस्थिति की कहीं भी आशा करना कठिन है। अतः यदि हम इस पुराने मत से सहमत हों कि यूरोपीय तथा अमरीकन खोहों के अंधे जन्तुओं की उत्पत्ति अलग-अलग हुई है, तो हमको उनके गठन तथा संबंधों में भी बहुत समता दिखाई पड़नी चाहिए। किन्तु यदि इन भागों की अलग-अलग खोहों के संपूर्ण जन्तुओं की ओर हम ध्यान दें तो हमको यह बात दिखाई नहीं पड़ती। वास्तव में केवल कीटों के ही विषय में शियोटे (Schiodte) ने इस प्रकार लिखा है—

"इसके अतिरिक्त कि हम पूरे व्यापार को स्थानीय दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करें, हमारे पास और कोई चारा नहीं है। और जो समता हमको केन्टुकी के मैमथ (Mammoth) खोह और कार्नियोला की खोहों के कुछ उदाहरणों में दिखाई पड़ती है वह उसी प्रकार की है जैसी यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के सभी जीवों के बीच दिखाई पड़ती है। मेरे विचार में हमको यह मानना चाहिए कि साधारण दृष्टि वाले अमरीकन जानवरों में से कुछ धीरे-धीरे पीढ़ी-पीढ़ी करके बाहरी संसार से केन्टुकी की खोहों में उसी प्रकार गये, जैसे यूरोप में वे वहाँ की खोहों में गये। इस प्रकार स्वभाव के क्रमिक परिवर्तन के कुछ प्रमाण हमारे पास हैं। जैसा शियोटे कहते हैं—"अतः हम अधोभौमिक जन्तुओं को आस-पास के सीमित भौगोलिक क्षेत्रों की शाखाएँ मानते हैं, जो धीरे-धीरे गहराई में चले गये हैं और ज्यों-ज्यों ये अँधेरे में प्रवेश करते गये, उस नयी परिस्थिति के लिए अनुकूलित भी होते गये। कुछ ऐसे प्राणी जो सामान्य प्राणियों से बहुत भिन्न नहीं हैं, प्रकाश से अँधेरे के बीच के परिवर्तन के लिए मध्यस्थ जान पड़ते हैं। इसके बाद वे प्राणी आते हैं जिनकी रचना गोधूलि के समान दशा के उपयुक्त है और सबके अंत में वे आते हैं जो पूरी तरह से अँधेरे में रहने के लिए ही बने हैं और इसलिए जिनकी पूरी रचना कुछ विचित्र है।" यह ध्यान रखना चाहिए कि शियोटे का यह कथन एक ही जात के विभिन्न प्राणियों के लिए नहीं बल्कि अलग-अलग जातों के लिए है। जब तक अनेक पीढ़ियों के बाद, कोई जन्तु बहुत गहराई में पहुँचेगा अनुपयोग के कारण उसकी आँखें लगभग बिल्कुल ही बेकार हो जायँगी और प्राकृतिक निर्वाचन के कारण अनेक अन्य परिवर्तन हो

जायँगे जैसे स्पर्शसूत्र (antennae) या पाल्पाइ (palpi)* की लंबाई में वृद्धि जो अंधेपन की कमी को कुछ हद तक पूरा करते हैं। इन आपरिवर्तनों के होने पर भी हमको यह आशा करनी चाहिए कि अमरीका की खोहों के रहने वाले जानवरों तथा अन्य जानवरों के बीच कुछ संबंध होगा और इसी प्रकार यूरोप की खोहों के जानवरों तथा अन्य जानवरों के बीच संबंध होगा और प्रोफेसर डाना (Professor Dana) के अनुसार कई अमरीकन खोहों के जानवरों के विषय में यह सत्य भी है। इसी प्रकार कई यूरोपीय खोहों के कीट आस-पास के अन्य कीटों से बहुत संबंधित हैं। यदि हम खोहों तथा खोहों के बाहर के जीवों की पृथक् सृष्टि में विश्वास करें तो उनके बीच के इस प्रकार के संबंध को समझना आसान नहीं होगा। साथ ही यदि यूरोप तथा अमरीका की खोहों के जीवों के बीच समानता दिखाई पड़ती है तो केवल इसलिए कि वह संसार के इन दो पृथक् भागों के अन्य जानवरों के बीच की समानता है। बैथिस्किया (Bathyscia) की एक अंधी जात, खोहों से दूर छायादार चट्टानों पर पायी जाती है, अतः स्पष्ट है कि इस विशेष जाति की खोह में भी पायी जाने वाली जातों में दृष्टि की कमी का संबंध अँधेरे में रहने से नहीं है क्योंकि यह स्वाभाविक है कि कोई ऐसा कीट जो पहले से ही दृष्टिविहीन है अँधेरी खोहों के जीवन के लिए बहुत शीघ्र अनुकूलित हो जायगा। एक दूसरी अंधी जाति एनोफ्थैल्मस (Anophthalmus) में एक दूसरे ही ढंग की विचित्रता पायी जाती है। मि० मरे (Mr. Murray) का कहना है कि उसकी जात खोहों के अतिरिक्त कहीं भी नहीं पायी गयी है, फिर भी यूरोप तथा अमरीका की खोहों में पायी जाने वाली जातें एक-दूसरे से पृथक् हैं। संभव है कि इन जातों के पूर्वज, जबकि उनकी आँखें नष्ट नहीं हुई थीं, दोनों महाद्वीपों में पाये जाते थे, बाद में उनकी खोहों में आजकल पायी जाने वाली जातों को छोड़, बाकी प्राणी लोप हो गये। वास्तव में जैसा एगासिज़ (Agassiz) ने अंधी मछली ऐम्बिलयाप्सिस (Amblyopsis) या अंधे रेप्टाइल प्रोटियस (Proteus) के संदर्भ में कहा है, कुछ खोहों के जानवरों की विचित्रता पर आश्चर्य होने के बजाय, मुझको तो यह आश्चर्य होता है कि इन

* स्पर्श सूत्र (antenna) कीटों या अन्य मिलते-जुलते वर्गों के शिर से निकले लंबे प्रवर्ध हैं, जो असंख्य और भिन्न-भिन्न प्रकार के संवेदांगों की उपस्थिति के कारण विशेषतः हृष है इसी प्रकार पैल्प भी अनेक प्रकार के जन्तुओं के शिरों के भिन्न-भिन्न भागों से निकलने वाले हृष प्रवर्ध हैं।

अँधेरे स्थानों में प्रतियोगिता के इतना कम होने पर भी इस तरह के प्राचीन जीवन के और भी अधिक अवशेष क्यों नहीं बच रहे।

परिस्थिति अनुकूलन

पौधों में स्वभाव वंशागत होता है। उदाहरण के लिए फूलने की अवधि, सुप्तावस्था का समय, बीजों के उगने के लिए पानी की आवश्यक मात्रा आदि वंशागत हैं। इन बातों के विचार से मैं परिस्थिति अनुकूलन (acclimatisation) पर कुछ शब्द कहूँगा। यह एक सामान्य बात है कि एक ही जाति की पृथक्-पृथक् जातें गर्म तथा ठंडे देशों में पायी जाती हैं। अतः यदि यह सत्य है कि एक जाति की सभी जातें एक ही जनक रूप की संतति हैं, तो निश्चय है कि इनके निर्माण के लंबे काल में इनका भिन्न-भिन्न जलवायुओं के प्रति अनकूलन हुआ होगा। यह बात सभी जानते हैं कि प्रत्येक जात अपने 'निवास' की जलवायु के लिए पूर्णतः अनुकूलित है। आर्कटिक प्रदेश या समशीतोष्ण प्रदेश की जातें उष्ण क्षेत्र के जलवायु को बर्दाश्त नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार उष्ण जलवायु की जातें ठंडे देश में जीवित नहीं रह सकतीं। कई रसदार पौधे नम जलवायु में नहीं रह सकते। फिर भी किसी विशेष जात के जलवायु के प्रति अनुकूलन को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है। इस बात के प्रमाण ये हैं कि बहुधा हम यह नहीं कह सकते कि बाहर से लाये गये कुछ पौधे किसी विशेष जलवायु में जीवित बचेंगे या नहीं। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न देशों से लाये गये अनेक पौधे और जानवर हमारे देश में स्वस्थ और सफल हैं। वास्तव में प्रकृति में हर जात के किसी क्षेत्र में बहुत कुछ सीमित होने का कारण किसी विशेष जलवायु में अनुकूलित होने के साथ ही (और उससे भी अधिक) अन्य जीवों के साथ की प्रतियोगिता भी है। और फिर चाहे यह अनुकूलन कितना ही घनिष्ठ क्यों न हो, कम-से-कम कुछ पौधों में इस बात का प्रमाण अवश्य मिलता है कि वे स्वभावतः भिन्न-भिन्न तापमानों के लिए अनुकूलित हैं अर्थात् उनका देशीयकरण हो गया है। उदाहरण के लिए, डा० हूकर ने देखा कि उन्होंने हिमालय की भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों से देवदार और रोडोडेन्ड्रान (Rhododendrons) की एक ही जाति के जो बीज इकट्ठा किये थे उनमें इस देश की ठंडक का सामना करने की अलग-अलग शक्ति थी। मि० थ्वेट्स (Mr. Thwaites) ने मुझको सूचना दी है कि उन्होंने इसी ढंग के अवलोकन लंका में किये हैं, और मि० एच० सी० वाट्सन (Mr. H. C. Watson) ने भी एजोर से इंगलैण्ड लायी गयी पौधों की यूरोपीय जातों के विषय में ऐसे ही अवलोकन किये हैं। मैं भी ऐसे कुछ अन्य उदाहरण दे सकता हूँ। जानवरों

की दुनिया से भी ऐसे कई पक्के उदाहरण दिये जा सकते हैं जो ऐतिहासिक काल के भीतर ही गरम से ठंडे देशों में या उसके विपरीत फैल गये हैं। किन्तु हम यह निश्चित् रूप में नहीं कह सकते कि ये जन्तु अपने मूल देश में पूरी तरह अनुकूलित थे कि नहीं, हालाँकि साधारणतः हमको ऐसा ही समझना चाहिए। हम यह भी नहीं जानते कि बाद में वे अपने नये 'निवासस्थानों' में मूल देशों से अधिक और विशेष रूप से अनुकूलित हो गये थे अथवा नहीं।

हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि युगों पहले जब असभ्य आदिम मनुष्य ने पालतू जानवरों के पूर्वजों को पालने के लिए छाँटा था तो इसलिए नहीं कि बाद में ये विभिन्न देशों और जलवायुओं में ले जाये जा सकेंगे, बल्कि इसलिए कि वे उसके लिए लाभदायक थे, और साथ ही इसलिए कि वे परतंत्रता में भी भली भाँति संतानोत्पत्ति कर सकते थे। अतः अब जब हम यह देखते हैं कि इन जानवरों की संतानें तरह-तरह की जलवायु को सह सकती हैं, और यही नहीं इन विभिन्न दशाओं में पूर्णतः उर्वर भी हैं, तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अन्य जानवरों में से अधिकांश जो इस समय प्राकृतिक अवस्था में पाये जाते हैं, पाले जा सकते हैं और वे बिल्कुल भिन्न जलवायुओं में रहने योग्य बनाये जा सकते हैं। किन्तु यह संभव है कि हमारे पालतू जानवरों में से कुछ कई जंगली जानवरों के संक्रमण से उत्पन्न हुए हों; हो सकता है कि आजकल की पालतू नस्लों में से कुछ आर्कटिक तथा उष्ण कटिबन्ध के भेड़ियों के संकरण से उत्पन्न हुई हों। ऐसी दशा में ऊपर दी हुई दलील को बहुत दूर तक खींचना ठीक नहीं जान पड़ता। खेत के तथा घरेलू चूहों को हम पालतू जानवर नहीं कह सकते किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि वे मनुष्य के ही द्वारा संसार के विविध भागों में पहुँचे और इस समय उनका विस्तरण किसी भी दूसरे रोडेन्ट (Rodent) से अधिक है। इस विवरण का एक ही कारण है जहाँ वे एक ओर उत्तर में फारो (Faroe) और दक्षिण में फाकलैंड (Falkland) की ठंडी जलवायु में रह सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर गर्म प्रदेशों के अनेक छोटे-छोटे द्वीपों में भी रह सकते हैं। इसलिए ऐसा लगता है कि प्रारंभिक अवस्थाओं में अधिकांश जानवरों की गठन अनेक जलवायुओं के जीवन के लिए अनुरूप होती है, किन्तु बाद में इनमें से कुछ जानवर किसी विशेष जलवायु के लिए विशेषतया अनुकूलित हो जाते हैं। इस मत के अनुसार यदि मनुष्य अनेक प्रकार की जलवायु बर्दाश्त कर सकता है, या उसके पालतू जानवर भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में रह सकते हैं, या विलुप्त हाथी या गैंडे किसी समय बर्फीले वातावरण में रहते थे और साथ ही इनकी वर्तमान जातें सभी उष्ण या शीतोष्ण प्रदेशों में पायी जाती हैं, तो हमको ये बातें असंगत या विचित्र

नहीं लगनी चाहिए। वास्तव में ये सभी बातें प्राणियों की गठन की आरंभिक परिवर्तनशीलता की उदाहरण हैं, जो कुछ विशेष परिस्थितियों में ही क्रियाशील होती हैं।

यह निर्णय करना अभी संभव नहीं है कि किसी जात का किसी विशिष्ट जलवायु के लिए देशीयकरण कहाँ तक केवल उसकी प्रकृति के ऊपर निर्भर है, कहाँ तक उसके भिन्न-भिन्न गठनों वाले भेदों के प्राकृतिक निर्वाचन के ऊपर निर्भर है और कहाँ तक इन दोनों की सम्मिलित क्रिया पर। तुलना तथा कृषकों के अनुभवों के आधार पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्वभाव या प्रकृति का कुछ प्रभावा होता है। चीनियों के प्राचीन विश्वकोष में भी यह कहा गया है कि जानवरों को एक प्रदेश से दूसरे में ले जाने में स्वभाव का ध्यान रखना चाहिए। यह बहुत संभव जान पड़ता है कि मनुष्य ने सफलतापूर्वक अनेक ऐसी नस्लों और भेदों को छाँटा जो उसके अपने प्रदेश के लिए गठन के आधार पर विशेषतया उपयुक्त थे, और वास्तव में जो सफलता उसको मिली उसका आधार जानवरों का स्वभाव था। साथ ही यह भी निश्चित् है कि प्राकृतिक निर्वाचन उन जानवरों के अतिजीवन में सहायक होगा जो उनके विशेष वातावरण के लिए अनुकूल गठन के साथ ही उत्पन्न हुए थे। अनेक प्रकार के लगाये जाने वाले पौधों से संबंध रखने वाली पोथियों में बहुधा कुछ भेदों के लिए कहा गया है कि वे कुछ जलवायुओं को दूसरी जलवायुओं की अपेक्षा अधिक आसानी से बर्दाश्त कर सकते हैं। यह बात अमेरिका में प्रकाशित फलों के पेड़ों की पुस्तकों में विशेषकर दिखायी गयी है। इनमें कुछ भेदों को खास तौर पर उत्तरी भागों के लिए और अन्य भेदों को दक्षिणी भागों के लिए अच्छा बताया गया है। चूँकि इन भेदों में से अधिकांश की उत्पत्ति हाल में ही हुई है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी गठन के परिवर्तनों का संबंध स्वभाव से है। इस विषय में अलखर शोफा (Jerusalem artichoke) का उदाहरण भी दिया जाता है। इंगलैंड में यह बीजों द्वारा नहीं उत्पन्न किया जा सकता और इसलिए इसके नये भेद नहीं बनाये जा सके हैं। अतः यह कहा जाता है कि चूँकि यह पौधा आज भी उतना ही नाजुक है जितना पहले था, इसलिए इसमें देशीयकरण नहीं हो सकता है। यही बात सिद्ध करने के लिए एक प्रकार की सेम---किडनी सेम (Kidney beam) का उदाहरण बड़ी जोर से दिया जाता है। किन्तु जब तक कोई इस सेम को अनेक पीढ़ियों तक इतनी जल्दी नहीं बोता कि उनमें से अधिकांश पाले में मर जायँ और फिर इने-गिने बचे हुए पौधों के बीज एकत्र करे, उनको संकरण से बचाए और फिर इन्हीं सावधानियों को बरतते हुए पुनः नयी पीढ़ी के पौधे लगाए, तब तक इस संबंध में प्रयोग को ठीक तरह

से किया गया है, यह नहीं कहा जा सकता। फिर यह मानना भी कठिन है कि किडनी सेम के बीजांकुरों की गठन में कभी परिवर्तन ही नहीं होते। अभी हाल में एक लेख में यह बताया गया है कि इसके कुछ बीजांकुर दूसरे बीजाकुरों से अधिक मजबूत होते हैं। मैंने स्वयं भी इस बात के कई उदाहरण पाये हैं।

सभी बातों को ध्यान में रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कुछ उदाहरणों में स्वभाव तथा उपयोग और अनुपयोग ने गठन तथा संरचना के आपरिवर्तन में भी काफी भाग लिया है। किन्तु बहुधा इनके प्रभावों के साथ ही वंशागत परिवर्तनों के प्राकृतिक निर्वाचन का प्रभाव भी सम्मिलित रूप से होता है और कभी-कभी तो प्राकृतिक निर्वाचन का ही भाग प्रबल होता है।

परस्पर संबंधित परिवर्तन

इस अभिव्यक्ति से मेरा तात्पर्य यह है कि किसी जीव की वृद्धि तथा विकास का उसके संपूर्ण गठन से ऐसा गहरा संबंध है कि किसी भाग में छोटे-से-छोटे परिवर्तन के होने तथा प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा उसके संग्रहीत होने से अन्य भाग भी आपरिवर्तित हो जाते हैं। यह विषय जितना ही महत्वपूर्ण है, उतना ही इसके संबंध में हमारा ज्ञान भी अधूरा है और वास्तव में इसके स्पष्टीकरण में इतने तरह-तरह के तथ्य दिये जा सकते हैं कि उनका मतलब ही उलझ जाता है। हम अभी यह देखेंगे कि बहुधा साधारण वंशागति ही परस्पर संबंध का आभास देती है। इसका एक सच्चा उदाहरण यह है कि अगर किसी जीव के लार्वा या उसकी प्रारंभिक अवस्थाओं में संरचना में कुछ परिवर्तन प्रकट होते हैं तो उनका प्रभाव प्रौढ़ जानवर की संरचना पर भी पड़ता है। शरीर के विभिन्न रचना सदृश (homologous) अंग जो विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में एक जैसे होते हैं और जो अवश्यम्भावी रूप से समान वाह्य परिस्थिति से ही प्रभावित होते हैं, साधारणतः एक ही प्रकार से परिवर्तित होते हैं। उदाहरण के लिए किसी भी जानवर के दाहिने तथा बायें भाग साधारणतः समान रूप से परिवर्तित होते हैं। इसी प्रकार बहुधा अगली तथा पिछली टाँगें, बल्कि अवयव और जबड़े साथ-साथ समान रूप से परिवर्तित होते हैं, क्योंकि बहुत से शरीर-शास्त्री निचले जबड़े को अवयवों का रचनासदृश समझते हैं। मुझको इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्राकृतिक निर्वाचन इस प्रकार के परिवर्तनों की प्रवृत्ति के ऊपर नियंत्रण रखता है। उदाहरण के लिए बारहसिंघों का एक ऐसा कुटुम्ब था जिसके एक ही ओर के सींग थे, दूसरी ओर के अनुपस्थित थे, और यदि किसी

प्रकार यह लक्षण उस विशिष्ट नस्ल के लिए उपयोगी होता, तो संभव है कि निर्वाचन के द्वारा यह विचित्रता भी स्थायी हो जाती।

जैसा कुछ लेखकों ने कहा है, रचनासदृश अंगों में बहुधा एक-दूसरे के निकट आने की प्रवृत्ति होती है। बहुधा यह बात साधारण पौधों में देखने में आती है और जब संरचना साधारण ही होती है तब भी रचनासदृश अंगों का सम्मिलन बहुत देखने में आता है। उदाहरण के लिए देखिये प्याज की पंखुड़ियाँ एक-दूसरे से जुड़ कर एक नलिका की रचना करती हैं। फिर कड़े अंगों के आपरिवर्तन का प्रभाव कोमल अंगों पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए कई लेखकों का मत है कि चिड़ियों में श्रोणिमेखला (pelvis) की रचना में विभिन्नता के ही कारण उनके वृक्कों या गुर्दों का आकार भी विभिन्न होता है। कुछ अन्य लेखकों का विचार है कि मनुष्य में माता की श्रोणि की संरचना का प्रभाव शिशु की खोपड़ी के आकार पर दबाव पड़ने के कारण होता है। सर्पों में श्लेगेल (Schlegel) के अनुसार शरीर के आकार और भोजन निगलने की विधि के ऊपर कई अन्तस्त्य अंगों की स्थिति तथा आकार निर्भर हैं।

बहुधा संबंध किस प्रकार का है यह अस्पष्ट ही होता है। जियाफ्राय सेंट हिलेर ने यह बात बड़े प्रभावशाली ढंग से कही है कि कुछ विकृतियाँ अक्सर तथा कुछ दूसरी विकृतियाँ विरले ही साथ-ही-साथ पायी जाती हैं और हम उनके कारण के संबंध में कुछ भी नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए बिल्लियों में पूर्ण श्वेतता तथा नीली आँखों के साथ बहरेपन का लक्षण पाया जाता है, इसी प्रकार हल्का भूरा (tortoise shell) रंग सदा मादापन के साथ पाया जाता है। कबूतरों में टाँगें यदि पर से ढकी होती हैं, तो साथ ही बाहरी अँगुलियों के बीच चमड़ी भी होती है; तथा अंडों से बच्चों के निकलने पर परों की कमी का संबंध प्रौढ़ के रंग से होता है ! इसी प्रकार तुर्की कुत्ते में बालों तथा दाँतों के बीच स्पष्ट संबंध होता है। इन संबंधों से अद्भुत भला और क्या हो सकता है ! दाँतों के संबंध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि स्तनियों के दो गण जिनकी खाल सबसे विचित्र होती है—अर्थात ह्वेल या सिटेशिया (Cetacea) तथा पार्माडिलों, स्केलदार चींटीखोर आदि के गण एडेन्टाटा (Edentata) दाँतों के विषय में भी बहुत असाधारण होते हैं। किन्तु सब मिलाकर इस नियम में इतने अपवाद हैं कि जैसा मि० मिवार्ट (Mr. Mivart) ने कहा है, इसका महत्व बहुत कम हो जाता है।

मेरी समझ में परस्पर संबंध तथा परिवर्तन के नियमों के स्पष्टीकरण के लिए कम्पोजिटी (Compositae) तथा अम्बेलिफेरी (Umbelliferae) वंशों की

पुष्पावलि में बाहरी तथा भीतरी पुष्पों के परिवर्तनों से अधिक उपयुक्त कोई उदाहरण नहीं है, विशेषकर इसलिए कि इसमें पौधे के किसी प्रकार के लाभ का और इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन का प्रश्न नहीं उठता। सभी लोग डेज़ी या गेंदे के पुष्प-विन्यास में बाहरी तथा केन्द्रीय पुष्पकों के अन्तरों को मानते हैं। बहुधा इन अन्तरों के साथ बाह्य या रश्मि पुष्पकों में जननांग भी पूरी तरह या लगभग अनुपस्थित होते हैं। कुछ और पौधों में इसके साथ ही बीजों के आकार में भी अंतर होते हैं। साधारणतः लोग इन अंतरों का कारण पुष्पों पर पड़ने वाले परस्पर दबाव या किसी अन्य अंग का दबाव बताते हैं किन्तु कम्पोजिटी के कुछ बीजों को देखने पर यह विचार ठीक नहीं जान पड़ता। और डा० हूकर (Dr. Hooker) मुझको यह बताते हैं कि अम्बेलिफेरी में तो यह निश्चय है कि जिन जातों के बीजों में सबसे अधिक अन्तर बाहरी तथा केन्द्रीय पुष्पकों में होते हैं, वे कभी भी सबसे घनी पुष्पावलि वाली नहीं होतीं। ऐसा कहा जा सकता था चूँकि बाहर की पंखुड़ियाँ अपनी वृद्धि में बहुत अधिक आहार उपयोग कर लेती हैं, इसलिए इनके जननांगों का विकास नहीं हो पाता पर कुछ कम्पोजिटी की पुष्पावलियों में रश्मि तथा केन्द्रीय पुष्पकों के बीजों में अन्तर होता है जब कि स्वयं पुष्पकों में कोई अन्तर नहीं होता। इससे यह प्रकट है कि जननांगों की वृद्धि की पंखुड़ियों के विकास से इसका कोई संबंध नहीं है। यह बहुत संभव है कि इन सभी अंतरों का संबंध बाहर तथा केन्द्र की ओर के पुष्पकों में खाद्य पदार्थ की भिन्न-भिन्न मात्रा के पहुँचने से है, जो फूल अक्ष के निकट होते हैं, वे असमान रूप से संमित होते हैं। इस बात का एक और भी उदाहरण दिया जा सकता है, जिससे परस्पर संबंध के होने का भी प्रमाण मिलता है। कई पेलार्गोनियमों (palargoniums) में पुष्पावलि के केन्द्रीय पुष्पक की दो ऊपरी पंखुड़ियों में गहरे रंगों के धब्बे गायब हो जाते हैं और जब ऐसा होता है तो साथ ही उससे संबंधित मधुकोष भी लुप्त हो जाता है, जिससे पुष्प पूर्णतः संमित हो जाता है। जब दो पंखुड़ियों में से केवल एक ही के धब्बे गायब होते हैं तो मधुकोष लुप्त तो नहीं होते, पर बहुत छोटे हो जाते हैं।

पंखुड़ियों के विकास के संबंध में स्प्रेन्गेल (Sprengel) का यह विचार ठीक जान पड़ता है कि रश्मि पुष्पक कीटों को आमंत्रित करते हैं जो इन पौधों में संसेचन के लिए बहुत उपयोगी, बल्कि आवश्यक हैं। किन्तु बीजों के विषय में यह असंभव लगता है कि उनके आकार की संरचना का, जिसका पखुंड़ियों के आकार आदि से कोई संबंध सदा नहीं होता, कोई विशेष लाभ हो। फिर भी अम्बेलिफेरी में बीजों के आकार का अंतर इतना स्पष्ट होता है (बाहरी फूलों में बीज अर्थोस्परमस कहलाते हैं और आन्तरिक फूलों के बीज सीलोस्परमस) कि बड़े डि कैन्डोल ने इस गण का प्राथमिक

वर्गीकरण इसी लक्षण के आधार पर किया है। अतः यद्यपि वर्गीकरण के विद्वान् संरचना के आपरिवर्तनों को बहुत ही महत्वपूर्ण समझते हैं, फिर भी हो सकता है कि वे पूर्णतया परिवर्तन तथा परस्पर आपरिवर्तन के नियमों पर आधारित हों और जहाँ तक हम समझते हैं जात के लिए किसी लाभ के न हों।

यह संभव है कि भूल से हम परस्पर संबंध को ऐसे लक्षणों के लिए उत्तरदायी समझ लें जो जात के समस्त समूह में ही पाये जाते हों, और इसलिए जो वास्तव में वंशागति के कारण हैं। हो सकता है कि किसी प्राचीन पूर्वज ने प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा संरचना संबंधी कुछ लक्षण ग्रहण कर लिये हों और हजारों पीढ़ियों के व्यतीत होने के साथ कुछ अन्य और स्वतंत्र आपरिवर्तन उत्पन्न हो गये हों। फिर चूँकि ये दोनों लक्षण साथ-साथ उस पूर्वज की विविध स्वभाव वाली संतानों द्वारा वंशागत होंगे जिससे ऐसी धारणा हो सकती है कि ये दोनों लक्षण परस्पर संबंधित हैं। कुछ अन्य परस्पर संबंध केवल प्राकृतिक निर्वाचन के कार्य करने की रीति के ही कारण बनते हैं। उदाहरण के लिए ऐल्फ्रेड डि कैन्डोल ने बताया है कि पंखदार बीज कभी भी ऐसे फलों में नहीं पाये जाते जो फटते नहीं। मैं इस नियम का स्पष्टीकरण इस प्रकार करता हूँ कि जब तक फल खुलेंगे नहीं प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा बीजों के पंखदार होने की कोई संभावना नहीं होगी। जब तक बीज खुलेंगे नहीं, हवा में उड़ सकने के लिए अधिक अनुकूलित बीजों को अन्य पौधों की अपेक्षा बीजों के विकरण की सुविधा प्राप्त नहीं होगी।

वृद्धि की क्षतिपूर्ति तथा कमी

लगभग एक ही समय पर ज्याफ्राय सेन्ट हिलेर तथा गेटे ने अपने वृद्धि की क्षतिपूर्ति या संतुलन के नियमों का प्रतिपादन किया था। गेटे के अनुसार "एक ओर अधिक व्यय करने के लिए प्रकृति को दूसरी ओर बचत करना पड़ता है।" मेरे विचार में कुछ हद तक यह नियम हमारे पालतू जानवरों के ऊपर लागू होता है। यदि खाद्य पदार्थ किसी भाग या अंग में अधिकता में जाता है तो दूसरे अंग में शायद ही वह अधिकता से जा सकता हो। उदाहरण के लिए ऐसी गाय मिलना कठिन होता है जो स्वयं शीघ्र मोटी हो जाय, और साथ ही दूध भी अधिक दे। पातगोभी के एक ही भेद में काफी मात्रा में पत्तियाँ और साथ ही पर्याप्त मात्रा में तेल वाले बीज नहीं होते। जब हमारे फल नाप में बड़े और गुण में अच्छे हो जाते हैं तो उनमें बीज कम और छोटे हो जाते हैं। इसी प्रकार मुर्गियों में जब खोपड़ी पर परों का गुच्छा होता है तो उनकी कलँगी छोटी होती है, और जब दाढ़ी बड़ी हो जाती है तो गर्दन के नीचे की खाल छोटी हो जाती है।

प्राकृतिक अवस्था में यह कहना तो कठिन है कि यह नियम सभी जीवों पर लागू है, किन्तु कई निरीक्षक विशेषकर वनस्पतिशास्त्री इस नियम में विश्वास करते हैं। फिर भी मैं इसके उदाहरण यहाँ नहीं दूँगा क्योंकि मेरी समझ में ऐसी कोई विधि नहीं है, जिसके द्वारा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा किसी अंग के विकसित होने और इसी क्रिया के द्वारा अथवा अनुपयोग के द्वारा उसके पास के अंगों के प्रह्लासित होने का निश्चय किया जा सके और साथ ही यह कहा जा सके कि विकसित अंग का विकास खाद्य की प्रचुरता और प्रह्लासित अंग का प्रह्लासन खाद्य की कमी के कारण है।

मुझको यह भी संदेह है कि क्षतिपूर्त्ति के कुछ उदाहरणों को तथा कुछ अन्य तथ्यों को मिलाकर एक विस्तृत नियम के अन्तर्गत रखा जा सकता है, अर्थात् प्राकृतिक निर्वाचन सदा गठन के प्रत्येक भाग में अल्पव्ययिता के लिए प्रयत्न होता रहता है। यदि जीव की परिवर्तित परिस्थितियों में लाभदायक होने के पहले ही कोई अंग फिर लाभदायक हो जाता है, तो निर्वाचन द्वारा इसमें प्रह्लासन की प्रवृत्ति होगी क्योंकि जीव के लिए यही अच्छा होगा कि प्राप्त खाद्य का बड़ा भाग इस प्रकार के बेकार अंग के निर्माण में खर्च न हो। इस आधार पर मैं सिरीपीडों (cirripedes) की परीक्षा के बीच देखे गये एक अद्भुत अवलोकन का स्पष्टीकरण कर सकता हूँ और इससे मिलते-जुलते और भी उदाहरण दे सकता हूँ। जब एक सिरीपीड दूसरे के शरीर में परजीवी हो कर अपनी रक्षा करता है तो उसका कवच या ढाल (shell or carapace) बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है। यह बात नर इल्बा (Ilba) में और वास्तव में बड़े अद्भुत रूप में प्रोटियोलीपस (Proteolepas) में देखी जा सकती है। सभी अन्य सिरीपीडों के कवच के निर्माण में शिर के तीन अगले खंड बहुत ही बड़े हो जाते हैं और उनमें पेशियों तथा नाड़ियों का विकास हो जाता है; किन्तु परजीवी, रक्षित प्रोटियोलीपस में शिर का समस्त अगला भाग स्पर्शसूत्रों को आधार प्रदान करने वाले एक छोटे से भाग के रूप में होता है। स्पष्ट है कि एक बड़े किन्तु बेकार अंग का जात के प्रत्येक सदस्य में निर्माण से बचाव होना भी एक बड़ी ही सुविधा की बात होगी। जीवन के संघर्ष में प्रत्येक प्राणी को अपना निर्वाह करना आसान हो जायगा यदि उसके आहार का अधिक भाग व्यर्थ नहीं जाता।

इस प्रकार मेरा अपना विश्वास यह है कि जैसे ही स्वभाव के परिवर्तन के फलस्वरूप किसी जीव के शरीर का कोई भाग बेकार हो जाता है, प्राकृतिक निर्वाचन अंत में उस भाग की हानि करता है, और यह आवश्यक नहीं है कि उसके साथ ही किसी दूसरे अंग में उतनी ही मात्रा में वृद्धि भी हो। इसके विपरीत आवश्यकता होने पर

प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा किसी अंग की हानि हुए विना ही किसी दूसरे अंग की वृद्धि हो सकती है।

प्रगुणित प्रारंभिक तथा अविकसित संरचनाएँ परिवर्तनशील होती हैं

जैसा ज्याफ्रे सेंट हिलेर ने लिखा है, यह एक नियम जान पड़ता है कि किसी भेद या जात में एक ही भाग या अंग शरीर में कई बार पाया जाता है (जैसे सर्पों में कशेरुकें तथा बहुपरागीय पुष्पों में परागकेसर) तो उसकी संख्या परिवर्तनशील होती है; और जब यही अंग कम संख्या में पाया जाता है तो इसकी संख्या स्थायी बनी रहती है। इस लेखक ने तथा अन्य कई वनस्पतिशास्त्रियों ने यह भी कहा है कि अधिक संख्या में पाये जाने वाले अंगों की संरचना में भी बहुत भिन्नता हो सकती है। प्रोफेसर ओवेन (Prof. Owen) की भाषा में किसी अंग का वर्धी पुनरावर्तन (vegetative repitition) उसकी गठन के निम्न कोटि में होने का प्रमाण है। अतः ऊपर दिया हुआ वक्तव्य प्रकृतिवादियों के इस साधारण मत के अनुसार है कि निम्न कोटि के जीव उच्च कोटि के जीवों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होते हैं। मेरे विचार में यहाँ निम्न कोटि के जीवों से उन जीवों का तात्पर्य है जिनके शरीर के विभिन्न अंग विशेष कार्यों के लिए विशेषतः आपरिवर्तित नहीं हैं। और जब तक एक ही अंग को कई तरह के कार्य करना पड़ता है, तो यह समझना आसान है कि यह परिवर्तनशील क्यों बना रहता है, अर्थात् प्राकृतिक निर्वाचन क्यों संरचना में छोटे-से-छोटे परिवर्तन के होने पर उसको बचाता या नष्ट करता है ? कोई साधारण छुरी हर आकार के तथा सभी प्रकार के पदार्थों को काट-छाँट सकती है, किन्तु कोई विशेष यंत्र किसी विशेष कार्य के लिए किसी विशेष प्रकार के पदार्थ को ही काट सकता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि प्राकृतिक निर्वाचन केवल प्रत्येक जीव के हित में तथा उसके द्वारा ही कार्य कर सकता है।

जैसा सभी मानते हैं, प्रारंभिक अंगों का परिवर्तनशील होना आवश्यक है। हम बाद में इस प्रश्न पर पुनः विचार करेंगे। यहाँ मैं केवल इतना ही और भी कहूँगा कि उनकी परिवर्तनशीलता बहुधा उनकी निरर्थकता के कारण है, और इसलिए इनकी संरचना के परिवर्तन में प्राकृतिक निर्वाचन का कोई हाथ नहीं होगा।

किसी जात के एक अंग की तुलना में दूसरी मिलती-जुलती जात में यदि वही अंग असाधारण अंश तक विकसित है, तो वह बहुत परिवर्तनशील होगा

कई वर्ष पहले जब मि० वाटरहाउस (Mr. Waterhouse) ने इस प्रकार की

बात कही थी तो मैं उससे बहुत प्रभावित हुआ था। लगता है प्रोफेसर ओवेन भी इससे मिलते-जुलते निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। पर इस बात की सत्यता पर किसी का विश्वास उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है कि इस संबंध के अनेक अवलोकन भी दिये जायँ। मेरे पास ऐसे अवलोकनों की एक पूरी सूची है फिर भी इसको यहाँ देना संभव नहीं है। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि यह बहुत सामान्य नियम है। वैसे इस प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने में बहुत सी भूलों की संभावना है, किन्तु मैंने उनका भरसक ध्यान रखा है। यह ध्यान रखना चाहिए कि चाहे कोई अंग कितना भी विकसित क्यों न हो यह नियम उस पर तब तक लागू न होगा जब तक इसका विकास किसी एक जात के सदस्यों में अन्य मिलती-जुलती जातों की अपेक्षा बहुत अधिक न हो। उदाहरण के लिए चमगादड़ों के पंख अन्य स्तनियों की अपेक्षा बहुत विचित्र जान पड़ते हैं, किन्तु चूँकि समस्त चमगादड़ समूह में पंख होते हैं इसलिए यह नियम इन पर नहीं लगेगा। यदि किसी जात में अन्य जातों की अपेक्षा पंख भिन्न हों तो अवश्य यह नियम लागू होगा। गौण लैंगिक लक्षणों के असाधारण प्रदर्शन के उदाहरणों में यह निश्चय भली भाँति लागू होगा। हन्टर के अनुसार गौण या द्वितीय लैंगिक लक्षण वे हैं जिनका संबंध किसी विशेष लिंग से हो किन्तु जनन-क्रिया से कोई विशेष संबंध न हो। वैसे यह नियम नर तथा मादा दोनों में ही लग सकता है किन्तु नर में अधिक, क्योंकि मादा में गौण लैंगिक लक्षण शायद ही कभी दिखाई पड़ते हों। चाहे ये गौण लक्षण काफी स्पष्ट हों या नहीं यह नियम इनमें इतनी सरलता से इसलिए लागू होता है कि गौण लैंगिक लक्षण बहुत ही परिवर्तनशील हैं, और इसमें कोई संदेह नहीं है। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि यह नियम केवल गौण लैंगिक लक्षणों के ही मामले में लागू नहीं है। इसका प्रमाण उभयलिंगी सिरीपीडों के अध्ययन से मिलता है। इस गण का अध्ययन करते समय मैंने विशेष करके वाटर हाउस की बात को ध्यान में रखा था और मेरा विश्वास है कि यह नियम उसमें बराबर ठीक तरह से लगता है। भविष्य में मैं इस संबन्ध के अनेक अद्भुत उदाहरणों का उल्लेख करूँगा किन्तु एक उदाहरण यहाँ भी दूँगा क्योंकि इसके द्वारा इस नियम के उपयोग के विस्तार का पता चलता है। चट्टानी बारनेक्ल (rock barnacles) या वृंतहीन सिरीपीड के ढकने के वाल्व (valve) हर दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण अंग हैं और भिन्न-भिन्न जातियों में भी वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न नहीं होते। किन्तु पिरगोमा (Pyrgoma) जाति की अनेक जातों में ये वाल्व एक-दूसरे से बहुत ही भिन्न होते हैं। इनका आकार एक-दूसरे से बहुत भिन्न होता है और कभी-कभी एक सी जात के सदस्यों में इतनी अधिक भिन्नता होती है कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इन अंगों से निर्मित संरचनाएँ एक

ही जात के भेदों में, भिन्न-भिन्न जातियों की जातों की अपेक्षा, अधिक भिन्न होती हैं।

चूँकि किसी एक प्रदेश में एक ही जात के सदस्य एक-दूसरे से बहुत ही कम भिन्न होते हैं इसलिए मैंने उन पर विशेष ध्यान दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस वर्ग में भी यह नियम भली भाँति लागू है। मैं नहीं कह सकता कि यह नियम पौधों में कहाँ तक लागू है और इसके फलस्वरूप इसकी सचाई पर से मेरा विश्वास उठ सकता है। किन्तु पौधों में वैसे ही परिवर्तनशीलता इतनी अधिक होती है कि उनकी परस्पर परिवर्तनशीलता की तुलना कर सकना बहुत कठिन है।

जब हम देखते हैं कि किसी जात में कोई भाग या अंग विशेष प्रकार से और विशेष अंश तक विकसित है तो यह समझा जा सकता है कि वह उस जात के लिए विशेष महत्व का है। पर ऐसी अवस्था में भी ऐसा अंग काफी परिवर्तनशील होता है। ऐसा क्यों है ? यदि हम इस प्रश्न पर इस दृष्टिकोण से विचार करें कि हर जात की सृष्टि स्वतंत्र रूप से हुई है और वह भी उसी रूप में जिस रूप में उनको आज हम देखते हैं, तो हम इस कठिनाई को हल नहीं कर सकते। किन्तु यदि हम यह समझकर आगे बढ़ें कि जातों के समूहों की उत्पत्ति प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा किसी दूसरी पूर्वस्थित जात से हुई है तो कदाचित् कुछ हल संभव है। आइये पहले हम इस समस्या पर कुछ स्थूल विचार करें। यदि हम अपने किसी पालतू जानवर में किसी विशेष अंग या पूरे जानवर की ओर ध्यान देना छोड़ दें (जैसे डोर्किंग मुर्गे में, उसकी कलँगी पर) और किसी प्रकार का निर्वाचन न करें तो कुछ समय बाद वह अंग या पूरी नस्ल की ही समानता नष्ट हो जायगी और कहा जा सकता है नस्ल नष्ट हो रही है। प्रारंभिक अंगों में, ऐसे अंगों में जो किसी विशेष कार्य के लिए विशेषित नहीं हैं तथा बहुरूपक समूहों में भी ऐसे ही उदाहरण देखने को मिलते हैं। इन सब उदाहरणों में या तो प्राकृतिक निर्वाचन तो काम कर नहीं सकता, या इसने कार्य किया नहीं और इसके फलस्वरूप पूरी गठन बदलती हुई स्थिति में रह गयी है। पर हमारा विशेष अभिप्राय इस बात से है कि हमारे पालतू जानवरों में जो लक्षण वर्तमान समय में निर्वाचन के फलस्वरूप काफी तेजी से परिवर्तित हो रहे हैं वे स्वयं परिवर्तनशील हैं। कबूतरों की नस्लों के सदस्यों को देखिये और इस बात पर ध्यान दीजिये कि टम्बलरों की चोंचों, कैरियरों की चोंचों और नाकों, फैनटेलों की चाल और पूँछ में, कितनी अधिक भिन्नता पायी जाती है। और ये ही लक्षण हैं जिन पर अंग्रेज शौकीन अधिक ध्यान दे रहे हैं। वास्तव में किसी उपनस्ल के भीतर भी (जैसे छोटे चेहरे वाले टम्बलर में) सभी लोग यह जानते हैं कि ठीक एक ही प्रकार की चिड़ियों का उत्पन्न करना कितना कठिन है; अनेक कबूतर साधारण से किसी-न-किसी

प्रकार भिन्न होते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि ऐसी अवस्थाओं में दो प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष चलता रहता है—एक ओर नये परिवर्तनों के उत्पन्न होने तथा पूर्णता से दूर जाने की प्रवृत्ति, दूसरी ओर नस्ल को सच्ची बनाये रखने के लिए निर्वाचन की धीमी क्रिया की प्रवृत्ति। कुछ आगे चलकर निर्वाचन ही का पलड़ा भारी हो जाता है, और हमको कभी भी ऐसी असफलता नहीं होती कि अच्छे चेहरे वाली नस्ल से रद्दी टम्बलर कबूतर पैदा हों। फिर भी जब निर्वाचन की क्रिया तेजी से चलती होती है, तब भी उन अंगों में जिनमें आपरिवर्तन हो रहा हो, पर्याप्त मात्रा में परिवर्तनशीलता की आशा की जा सकती है।

आइये अब प्रकृति की ओर देखें। जब किसी जात में उसी जाति की अन्य जातों की अपेक्षा कोई भाग असाधारण रूप से विकसित हो गया हो, तब हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि जिस समय पूरी जाति के सामान्य पूर्वज से विभिन्न जातों की शाखाएँ अलग हुईं तब से अब तक में इस अंग में असाधारण मात्रा में आपरिवर्तन हुआ है। अब चूँकि कोई भी जात शायद ही एक भूतत्वीय काल से अधिक चलती हो, इसलिए यह पूरा समय भी कुछ बहुत अधिक नहीं हो सकता। यदि आपरिवर्तन असाधारण अंश तक होता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस जात में बहुत समय तक परिवर्तनशीलता का गुण बना रहा, जिसका प्राकृतिक निर्वाचन ने इतने समय तक निरन्तर उपयोग किया और अन्त में परिवर्तनों के संग्रह के फलस्वरूप जात का लाभ हुआ। साथ ही चूँकि किसी अंग या भाग विशेष में यह परिवर्तन इतना असाधारण था, और जिस काल तक में यह होता रहा वह आज से बहुत समय पहले नहीं था, तो उसका तात्पर्य यह हुआ कि यह परिवर्तनशीलता अब भी चल रही है। अतः हम अन्य अंगों की अपेक्षा उसी अंग में और भी परिवर्तनों की आशा कर सकते हैं। और मुझको इसमें कोई संदेह नहीं कि यही होता भी है। मुझको इसमें कोई संदेह नहीं कि अंत में प्राकृतिक निर्वाचन तथा अंगों की परिवर्तनशीलता और पुनः मौलिक स्थिति में वापस जाने की प्रवृत्ति के बीच का संघर्ष शान्त हो जायगा और असाधारण रूप से विकसित अंग भी स्थायी हो जायँगे। अतः जब कोई बहुत ही असाधारण अंग लगभग उसी दशा में कई आपरिवर्तित संतानों में वंशागत होता है (जैसे चमगादड़ के पंख) तो हमारे मत के अनुसार वह अंग उसी दशा में पहले भी बहुत लंबे काल में रहा होगा। और इस प्रकार वह अन्य अंगों से अधिक परिवर्तनशील नहीं रह गया है। केवल उन उदाहरणों में जिनमें आपरिवर्तन अभी हाल में ही हुआ है और बहुत असाधारण रूप में हुआ है, हमको काफी मात्रा में 'उत्पादक परिवर्तनशीलता' (productive variability) मिलनी चाहिए। ऐसी दशा में सदस्यों के ठीक ढंग से और ठीक अंश तक परिवर्तित

होने, उनके लंबे अर्से तक निर्वाचित होने से तथा मौलिक दशा की ओर तथा कम आप-रिवर्तित रूप की ओर पलटने वाली प्रवृत्ति वाले सदस्यों के नष्ट किये जाने की क्रिया के द्वारा वह मुख्य परिवर्तन अथवा लक्षण शायद ही स्थायी हो पाया हो।

जात-सूचक लक्षण, जाति-सूचक लक्षणों से अधिक परिवर्तनशील हैं

पिछले शीर्षक के अन्तर्गत जिस सिद्धान्त पर विचार किया गया है, इस शीर्षक के अन्तर्गत हम उसके उपयोग पर विचार करेंगे। यह सभी जानते हैं कि जातसूचक लक्षण जातिसूचक लक्षणों से अधिक परिवर्तनशील होते हैं। मैं एक सरल उदाहरण के द्वारा इसका तात्पर्य समझाऊँगा। यदि फूलों की किसी बड़ी जाति की कुछ जातों में नीले फूल होते हैं, और कुछ में लाल, तो स्पष्ट है कि फूलों का रंग जातसूचक है। और यदि किसी नीली जात में लाल फूल उत्पन्न हो जायें तो किसी को आश्चर्य नहीं होगा। किन्तु सभी जातों में नीले रंग के ही फूल होते हों तो नीला रंग जातिसूचक हो जायगा और तब इस रंग का परिवर्तित होना बड़ी अद्‌भुत बात होगी। मैंने जान बूझकर इस उदाहरण को ही लिया है क्योंकि साधारणतः ऐसे परिवर्तनों में प्रकृतिशास्त्री बहुधा यह कहेंगे कि जातसूचक लक्षण इसलिए जातिसूचक लक्षणों से अधिक परिवर्तनशील हैं, क्योंकि वे अधिकतर ऐसे अंगों से संबंध रखते हैं जो कायिकी की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण नहीं होते। वैसे मैं समझता हूँ कि यह वक्तव्य केवल कुछ हद तक और वह भी अप्रत्यक्ष रूप से ही सही है। किन्तु मैं इस विषय पर पुनः विचार करूँगा जब वर्गीकरण के अध्याय में आऊँगा। अभी यह कहना ही पर्याप्त होगा कि यह दलील हमारे इस उदाहरण में लागू नहीं है। वातस्व में इस बात की पुष्टि के लिए कि साधारण जात-सूचक लक्षण जातिसूचक लक्षणों से अधिक परिवर्तनशील हैं प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। किन्तु प्रकृतिशास्त्र की पुस्तकों में मैंने बहुधा देखा है कि महत्वपूर्ण लक्षणों के विषय में लेखकों का यह अवलोकन है कि जब कोई ऐसा महत्वपूर्ण अंग या भाग, जो साधारणतः जातों के किसी बड़े समूह के समान या स्थायी रहता है, कुछ बहुत निकट जातों में काफी परिवर्तित हो जाता है, तो वह उसी जात के सदस्यों में बहुधा परिवर्तनशील होता है। इस बात से यह सिद्ध होता है कि जब साधारणतः जाति के महत्व का कोई लक्षण अपने महत्व में गिरने लगता है और केवल जात के महत्व का रह जाता है तो चाहे उसका कार्यसंबंधी महत्व समान ही क्यों न बना रहे, वह बहुधा परिवर्तनशील हो जाता है। बहुत कुछ यही बात विकृतियों के संबंध में भी लागू है। कम-से-कम ज्याफ्रे सेंट हिलेर को तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि जितना ही सामान्य रूप से कोई अंग एक ही समूह के भिन्न-भिन्न

जातों में भिन्न होता है, उतना ही वह एक जात के सदस्यों में भी विभिन्न हो सकता है।

यदि हम हर जात की स्वतन्त्र सृष्टि में विश्वास करते हैं, तो हम इस बात का क्या उत्तर दे सकते हैं कि किसी संरचना का वह भाग जो उसी जाति की अन्य स्वतन्त्र निर्मित जातों से भिन्न है वह मिलती-जुलती जातों के कुछ अन्य समान अंगों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील है ? मैं नहीं समझता कि इसका कोई उत्तर दिया जा सकता है। किन्तु यदि हमारा यह मत हो कि जातें केवल अधिक स्पष्ट और स्थायी भेद हैं तो हम यह आशा कर सकते हैं कि जिन भागों या अंगों में अभी हाल के समय तक परिवर्तन हुए हैं, उनमें इस तरह के परिवर्तन अभी भी होते रह सकते हैं। हम इसी बात को कुछ दूसरी प्रकार यूं व्यक्त कर सकते हैं जिन विशेष लक्षणों में एक ही जाति की सभी जातें एक-दूसरे के समान हैं और जिनमें वे मिलती-जुलती जातियों से भिन्न हैं, उनको जातिसूचक लक्षण कहते हैं। ये लक्षण समस्त जाति के एक सामान्य पूर्वज के कारण हो सकते हैं क्योंकि इस बात की संभावना बहुत ही कम है कि प्राकृतिक निर्वाचन कई अलग-अलग स्वभावों की अलग-अलग जातों को एक ही प्रकार से आपरिवर्तित करेगा। अतः चूंकि इन जातिसूचक लक्षणों की वंशागति उस समय के पहले से हो रही है, जब से जातें अपने पूर्वज के मूल रूप से तथा एक-दूसरे से पृथक् होने लगीं, और साथ ही चूंकि बाद के काल में उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ था, या बहुत सूक्ष्म अन्तर हुआ है, इसलिए इस बात की अधिक संभावना नहीं है कि उनमें वर्तमान समय में परिवर्तन होंगे। किन्तु दूसरी ओर जिन लक्षणों में एक ही जाति की जातें आपस में एक-दूसरे से भिन्न होती हैं, उनको जातसूचक लक्षण कहते हैं। और चूंकि अपने सामान्य पूर्वज से अलग होने के बाद के समय से ही जातसूचक लक्षणों में परिवर्तन होते चले आये हैं, इसलिए यह संभव है कि ये अब भी कुछ हद तक परिवर्तनशील हों—कम-से-कम ये शरीर के उन भागों से तो अधिक परिवर्तनशील होंगे ही, जो एक बहुत लंबे काल तक स्थायी बने रहे हैं।

गौण लैंगिक लक्षण परिवर्तनशील होते हैं

विस्तार में गये बिना ही, मैं यह कह सकता हूँ कि लगभग सभी प्रकृतिवादी इस बात से सहमत होंगे कि गौण लैंगिक लक्षण बहुत परिवर्तनशील होते हैं। यह भी लोगों को मान्य होगा कि एक ही समूह की जातों में, शरीर की अन्य रचनाओं की अपेक्षा गौण लैंगिक लक्षणों में अधिक अन्तर होंगे। उदाहरण के लिए मुर्गियों की भिन्न-भिन्न जातों में जिनके नरों में गौण लैंगिक भेद होते हैं, नरों के परस्पर भेदों की तुलना

मादाओं के परस्पर भेदों के साथ कीजिए। इन लक्षणों के मौलिक भदों के कारण ज्ञात नहीं हैं। फिर भी हम यह देख सकते हैं कि क्यों ये लक्षण अन्य लक्षणों की भाँति स्थायी नहीं हो गये हैं। इसका कारण यह है कि इन लक्षणों का संग्रह लैंगिक निर्वाचन के द्वारा होता है जो साधारण निर्वाचन के द्वारा कठिन होता है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप जीवों की मृत्यु नहीं होती बल्कि केवल कम अनुकूल नरों की संतानों की संख्या ही में कमी होती है। चाहे गौण लैंगिक लक्षणों की परिवर्तनशीलता का कारण कुछ ही क्यों न हो, चूँकि वे बहुत परिवर्तनशील हैं, इसलिए लैंगिक निर्वाचन के कार्य के लिए विस्तृत क्षेत्र प्राप्त है और इसलिए अन्य लक्षणों की अपेक्षा संभव है कि यह एक ही समूह की जातों को अधिक भिन्नता प्रदान करे।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि किसी जात के दो लिंगों के बीच गौण लैंगिक भेद शरीर के उन्हीं भागों में दिखाई पड़ते हैं जिनके विषय में उस जाति की विभिन्न जातों के बीच परस्पर अन्तर होते हैं। इस बात के संबंध में मैं दो उदाहरण दूँगा जो मेरी सूची में सबसे ऊपर हैं, और चूँकि इन उदाहरणों में दिये गये अन्तर बड़े ही असाधारण प्रकृति के हैं, इसलिए इनका संबंध आकस्मिक नहीं हो सकता। बीट्लों के कई समूहों में टाँगों के जोड़ों की संख्या का समान होना लगभग लाक्षणिक महत्व का है, किन्तु एन्जिडी (Engidae) वंश में जैसा वेस्टवुड ने कहा है, यह संख्या बहुत भिन्न होती है। यही नहीं इनकी संख्या एक ही जात के दो लिंगों में भी भिन्न होती है। इसी प्रकार हाइमेनाप्टेरा (Hymenoptera) गण में पंखों में नाड़ीविन्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण है, क्योंकि यह काफी बड़े-बड़े समूहों में समान होता है। लेकिन कुछ जातें ऐसी भी हैं जिनमें यह नाड़ीविन्यास न केवल आपस में भिन्न होती हैं, बल्कि एक ही जात के दो लिंग भेदों में भी भिन्न होती हैं। सर जे० लुबाक ने अभी हाल में कहा है कि कई सूक्ष्म क्रस्टेशिया (Crustacea) में इस नियम के बहुत सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। "उदाहरण के लिए पान्टेला (Pontella) में लैंगिक भेद मुख्यत: अग्रस्पर्शसूत्रों (anterior antennae) तथा पाँचवीं टाँगों में ही दिखाई पड़ते हैं और इन्हीं अंगों पर जात भेद भी निर्भर होते हैं।" मेरे मत के अनुसार इस प्रकार के संबंध के अर्थ स्पष्ट हैं: मेरे विचार में एक जाति की सभी जातों की एक सामान्य पूर्वज से वंशागति उतनी ही निश्चय है, जितनी एक जाति की दो लिंगों की वंशागति। फलत: यदि उस सामान्य पूर्वज या उसकी प्रारंभिक संतानों के शरीर का कोई भाग परिवर्तनशील होता है तो यह बहुत संभव है कि प्राकृतिक निर्वाचन तथा लैंगिक निर्वाचन उसमें होने वाले परिवर्तनों का उपयोग करेंगे। इस प्रकार वे विविध जातों को प्रकृति की विविध दशाओं के लिए अनुकूल बनाएँगे अथवा दोनों लिंगों को एक-दूसरों के अनुकूल

बनाएँगे अथवा मादा पर अधिकार करने के लिए नरों को संघर्ष के अनुकूल बनाएँगे।

अतः अन्त में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि जातों तथा जातियों के लक्षणों से संबंधित अनेक नियम एक-दूसरे से संबंधित हैं, जैसे—यह नियम कि जातिसूचक लक्षणों की अपेक्षा अर्थात उन लक्षणों की अपेक्षा जो किसी जाति की मादा जातों में पाये जाते हैं, जातसूचक लक्षण, अर्थात् वे लक्षण जिनके आधार पर जातों के बीच भेद किये जा सकते हैं, अधिक परिवर्तनशील होते हैं; अथवा यह नियम कि जो अंग किसी जात में उसके पूर्वजों की अपेक्षा असाधारण रीति से विकसित होते हैं, वे अधिकतर परिवर्तन-शील होते हैं ; किन्तु यदि कोई अंग जातों के पूरे समूह में सामान्य रूप से पाया जाता है, तो चाहे वह कितनी असाधारण रीति से विकसित क्यों न हो, बहुत कम परिवर्तनशील होता है; यह कि गौण लैंगिक भेद बहुत परिवर्तनशील होते हैं और वे मिलती-जुलती जातों में भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं, तथा यह कि गौण लैंगिक भेद तथा साधारण जातसूचक भेद शरीर के समान अंगों में पाये जाते हैं। इन नियमों के इस प्रकार संबंधित होने का कारण यह है कि —(१) समूह की सभी जातें एक ही पूर्वज की संतानें हैं जिससे उन्होंने बहुत से सामान्य लक्षणों को वंशागत किया है; (२) उन अंगों की अपेक्षा जो बहुत काल पहले निर्मित हुए और बीच में परिवर्तित नहीं हुए वे अंग जो हाल ही में निर्मित हुए हैं और अब तक परिवर्तित होते रहे हैं, संभवतः अब भी परिवर्तित होंगे; (३) समय व्यतीत होने के साथ ही प्राकृतिक निर्वाचन में जीवों की परिवर्तनशीलता तथा विकास की क्रिया में विपर्ययण या वापस जाने की क्रिया प्रवृत्ति के ऊपर अधिकार कर लेती है और उनको रोकती है; (४) साधारण निर्वाचन की अपेक्षा लैंगिक निर्वाचन कम कठोर है, तथा (५)समान अंगों में परिवर्तन प्राकृतिक तथा लैंगिक निर्वाचनों का संग्रह होता है जिससे वे गौण लैंगिक क्रियाओं तथा साधारण क्रियाओं के लिए अनुकूलित हो जाते हैं।

पृथक् जातों में कार्यसदृश परिवर्तन होते हैं जिससे बहुधा किसी जात का एक भेद ऐसे लक्षण प्राप्त कर लेता है जो वास्तव में किसी दूसरे जात का लक्षण है, या किसी प्राचीन पूर्वज के लक्षणों की ओर पुनः उलटता है

इन प्रश्नों को हम बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं यदि हम अपने पालतू जानवरों की नस्लों का अध्ययन करें। काफी दूर के और पृथक् प्रदेशों में पायी जानेवाली कबूतरों की कुछ नस्लों में ऐसी उपनस्लें मिलती हैं जिनके शिर के पर उल्टे होते हैं, और टाँगों

पर, पर होते हैं। ये लक्षण मौलिक पूर्वज कबूतर में नहीं थे। अतः स्पष्ट है कि ये दो अधिक पृथक् नस्लों में उत्पन्न होनेवाले समानान्तर या कार्यसदृश अन्तर हैं। इसी प्रकार 'पाउटर' नस्ल में कभी-कभी चौदह या सोलह पुच्छपरों का होना एक दूसरी नस्ल 'फैन्टेल' में पाये जानेवाले साधारण लक्षण का समानान्तर समझा जा सकता है। मैं समझता हूँ कि इसमें किसी को कोई संदेह नहीं होगा कि भिन्न-भिन्न नस्लों में इस प्रकार के समान अन्तर इसलिए पाये जाते हैं कि कबूतरों की इन सभी नस्लों ने अपने सामान्य पूर्वज से समान गठन तथा परिवर्तन की समान प्रवृत्ति वंशागत की है, जिसके फलस्वरूप अज्ञात किन्तु समान परिस्थितियों के प्रभाव से उनमें समान परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार के समान परिवर्तनों का एक उदाहरण हमको वनस्पति साम्राज्य में स्वेडिश शलजम या रूटा बागा (Rutaa baga) के लंबे तनों (जिनको साधारणतः जड़ कहते हैं) दिखाई पड़ता है। उसकी अलग-अलग किस्मों को वनस्पतिशास्त्री मनुष्य के प्रयत्न द्वारा उत्पन्न नस्ल कहते हैं। ऐसा वास्तव में न हो, तो यह भी दो पृथक् जातों के समान परिवर्तनों का एक उदाहरण हो जायगा और इनमें एक तीसरी जात और भी जोड़ी जा सकती है—अर्थात् साधारण शलजम की। हर एक जात की पृथक् सृष्टि के मत के अनुसार हम इन तीन पौधों में लंबे तनों की समानता का कारण वंशागति की समानता, या समान रीति से परिवर्तित होने की प्रवृत्ति न बताकर सृष्टि की तीन पृथक् किन्तु मिलती-जुलती रचनाएँ बताएँगे। नाडिन (Naudin) ने इससे मिलते-जुलते कई समान परिवर्तनों के उदाहरण लौकी वंश के पौधों में दिये हैं और कई अन्य लेखकों ने अनाज आदि में इनके उल्लेख किये हैं। हाल में मि० वाल्श (Walsh) ने प्राकृतिक दशाओं में ऐसे ही कई उदाहरण कीटवर्ग से बड़ी विद्वत्ता के साथ दिये हैं, इन्होंने इन परिवर्तनों का अपने समान परिवर्तनशीलता के नियम के अनुसार वर्गीकरण भी किया है।

कबूतरों में दूसरी ही बात दिखाई पड़ती है। इनकी सभी नस्लों में कभी-कभी स्लेटी नीले रंग के पक्षी उत्पन्न होते हैं जिनके पंखों पर दो काली धारियाँ होती हैं, कमर सफेद होती है, पूँछ के सिरे पर एक सफेद धारी होती है तथा उसके बाहरी परों का किनारा भी सफेद होता है। ये सभी चिह्न इनके मौलिक पूर्वज, अर्थात् चट्टानी कबूतर में पाये जाते हैं। अतः इससे यह पता चलता है हर नस्ल में इस प्रकार के कबूतरों का पैदा होना उनके विपयर्यण का चिह्न है न कि भिन्न-भिन्न नस्लों में समान अन्तर के उत्पन्न होने का चिह्न। मेरे विचार में हम सभी आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, क्योंकि जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, इस प्रकार के रंगीन चिह्न ऐसी अवस्था में भी उत्पन्न होते हैं, जब दो बिल्कुल ही भिन्न रंगों की नस्लों का संकरण होता है।

और इस उदाहरण में संकरण के कारण कुछ विशेष वंशागति के नियमों के कार्यशील होने के अतिरिक्त और कोई भी बाह्य दशा ऐसी नहीं जान पड़ती जो स्लेटी नीले रंग के पुनः प्रकट होने का कारण हो सके।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अनेक पीढ़ियों—कभी-कभी सैकड़ों पीढ़ियों के व्यतीत हो जाने के बाद भी कुछ लक्षण पुनः प्रकट हों। किन्तु जब एक नस्ल का किसी दूसरी नस्ल से केवल एक ही बार संकरण होता है, तो कई पीढ़ियों तक संतति में बाहरी नस्ल की ओर झुकने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कुछ लोगों के अनुसार एक दर्जन या बीस पीढ़ियों तक यह बात पायी जाती है। साधारण भाषा में, लगभग एक दर्जन पीढ़ियों के बाद किसी पूर्वज के रक्त का संतानों में अनुपात केवल २०४५ में १ रह जाता है। पर केवल इस अनुपात के कारण भी संतति के विपर्यय्ण की प्रवृत्ति बनी रहती है। जिस नस्ल में संकरण न हुआ हो लेकिन जिसमें माता-पिता दोनों ही अपने मौलिक पूर्वज के कुछ लक्षण खो बैठे हों, खोये हुए लक्षणों के पुनः प्रकट होने की प्रवृत्ति, चाहे वह कितनी ही कमजोर या मजबूत क्यों न हो, अनेक पीढ़ियों तक बनी रहती है। और जब किसी नस्ल का खोया हुआ लक्षण कई पीढ़ियों के बाद पुनः प्रकट होता है तो उसका एक ही कारण संभव जान पड़ता है और वह यह नहीं कि कोई सदस्य एकाएक अपने बहुत प्राचीन पूर्वज के लक्षण ग्रहण कर लेता है बल्कि यह कि हर पीढ़ी में यह लक्षण दबा हुआ पड़ा रहता है और फिर किसी विशेष समय में कुछ विशेष प्रकार से, अनुकूल परिस्थितियों के एकत्र होने के कारण फिर विकसित हो जाता है। इस प्रकार 'बार्ब' कबूतर के उदाहरण में, जिसकी नस्ल में नीले रंग के पक्षी शायद ही कभी उत्पन्न होते हों, यह संभव है कि हर पीढ़ी में नीले पर उत्पन्न करने की प्रवृत्ति सुप्तावस्था में ही पड़ी रहती हो। वैसे इस प्रवृत्ति का असंख्य पीढ़ियों में दबी रहना बहुत कुछ असंभाव्य जान पड़ता है, किन्तु यदि आप इसकी तुलना इस बात से कीजिए कि अधिकांश प्राणियों के कुछ बिल्कुल ही बेकार तथा प्रारंभिक अंग भी वंशागत होते हैं, तो फिर ऐसा नहीं जान पड़ता।

चूँकि हम यह अनुमान करते हैं कि किसी जाति की सभी जातें एक ही पूर्वज की संतानें हैं, अतः हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि वे कभी-कभी समान रूप से परिवर्तित होंगी। अतः दो या अधिक जातों के भेद एक-दूसरे के समान हो सकते हैं या किसी एक जात का कोई भेद कुछ लक्षणों में किसी दूसरी जात के समान हो सकता है—क्योंकि हमारे मत के अनुसार यह दूसरी जात भी केवल एक स्पष्ट तथा स्थायी भेद ही है। किन्तु समान प्रकार के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होने वाले लक्षण वास्तव में महत्वपूर्ण नहीं होंगे, क्योंकि कार्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण लक्षणों का अतिजीवन प्राकृतिक

निर्वाचन पर आधारित होता है और प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया जातों के स्वभाव की भिन्नता पर निर्भर है। यह भी आशा की जा सकती है कि एक ही जाति की जातों में कभी-कभी बहुत काल से खोये हुए लक्षणों के विषय में विपर्ययण भी होगा। किन्तु चूँकि हम किसी प्राकृतिक समूह के पूर्वज के विषय में नहीं जानते, इसलिए हमारे लिए समानान्तर तथा विपर्ययित (reversed) लक्षणों के बीच भेद करना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए यदि हम यह नहीं जानते कि चट्टानी कबूतर का पूर्वज उल्टे हुए शिर के बालों वाला या पर सहित टाँगों वाला है, तो हम यह भी नहीं कह सकते कि पालतू कबूतरों की नस्लों में उत्पन्न होने वाले ये लक्षण विपर्ययित लक्षण हैं, या समानान्तर। किन्तु; नीले रंग के साथ ही उत्पन्न होने वाले धब्बों की संख्या आदि के देखने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नीला रंग विपर्ययण का द्योतक है, क्योंकि साधारण परिवर्तन के फलस्वरूप इन दोनों लक्षणों के एक साथ प्रकट होने की संभावना बहुत कम है। हम इस निष्कर्ष पर विशेषतः इसलिए पहुँचते हैं कि, जब अलग-अलग रंगों की नस्लों का संकरण किया जाता है तब भी नीला रंग तथा धब्बे बहुधा प्रकट होते हैं। अतः हालाँकि प्रकृति में यह बात संदेहजनक ही रह जाती है कि कौन लक्षण विपर्ययण के कारण हैं, और कौन से समान परिवर्तनों के कारण, फिर भी हमारे सिद्धान्त के अनुसार कभी-कभी किसी जात की परिवर्तित होने वाली संतानों में ऐसे लक्षण भी उत्पन्न होने चाहिए जो उसी समूह के अन्य सदस्यों में उपस्थित हों। और वास्तव में ऐसा ही होता भी है।

परिवर्तनशील जातों को पहिचानने में इसलिए कठिनाई होती है कि इनके कुछ भेद उस जाति की अन्य जातों की नकल करती हैं। किन्हीं भी दो जातों के बीच के लक्षणों की जातों की एक पूरी सूची तैयार की जा सकती है और इन बीच के जीवों को जातों का स्तर देना बहुत संदेहजनक होता है। इससे यह पता चलता है कि यदि हम इन सब मिलते-जुलते जीवों को स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न जातें न मान लें, तो यह मानना पड़ेगा कि स्वयं परिवर्तित होने में इन्होंने दूसरी जातों के कुछ लक्षण ग्रहण किये हैं। किन्तु समान परिवर्तनों के सबसे अच्छे प्रमाण उन अंगों या भागों से मिलते हैं जो अधिकतर स्थायी बने रहते हैं और केवल जब कभी जब वे परिवर्तित होते हैं तो किसी मिलती-जुलती जात के अंग या भाग के समान हो जाते हैं। मैंने इस प्रकार के उदाहरणों की एक लंबी सूची तैयार की है; किन्तु अन्य कई सूचियों की भाँति मैं इसको भी न देने पर विवश हूँ। मैं केवल इस बात को पुनः कह सकता हूँ कि ऐसे उदाहरण मिलते हैं और कम-से-कम मुझको ये बहुत ही अद्भुत् भी लगते हैं।

फिर भी मैं यहाँ एक विचित्र और जटिल उदाहरण दूँगा जिसमें किसी महत्वपूर्ण

लक्षण से तो संबंध नहीं है किन्तु यह प्राकृतिक तथा पालतू दोनों प्रकार की अवस्थाओं में एक ही जाति की कई जातों में पाया जाता है। यह लगभग निश्चित है कि यह विपर्ययण का उदाहरण है। कभी-कभी गधे की टाँगों में जेब्रा की भाँति बेंड़ी धारियाँ पायी जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ये धारियाँ गधे के बच्चों में सबसे स्पष्ट होती हैं और स्वयं अवलोकन करने पर मुझको भी ऐसा ही लगा। इन धारियों में से वे जो कंधे पर पायी जाती हैं, कभी-कभी दोहरी होती हैं और वे लंबाई तथा आकार में बहुत भिन्न होती हैं । अब सफेद रंग का (भूरे रंग का नहीं) गधे का भी उल्लेख किया गया है जिसमें कंधे वाली धारी नहीं होतीऔर कुछ गहरे रंग के गधों में ये धारियाँ बहुत धूमिल होती हैं या नहीं होतीं। पलास के कूलन (koulan) में बहुधा कंधे पर दोहरी धारियाँ भी देखी गयी हैं। इसी प्रकार मि० ब्लाइथ ने 'हेमियोनस' का एक सदस्य ऐसा देखा है जिसमें एक स्पष्ट धारी कंधे पर होती है, यद्यपि साधारणतः इस नस्ल में ऐसी धारियाँ बिल्कुल नहीं होतीं। मैंने देखा है कि इस जात के बच्चों में टाँगों तथा कंधे दोनों पर ही साधारणतः कुछ धारियाँ होती हैं और कर्नल पूल को इसकी इत्तिला भी दी है। कुआगा नामक नस्ल में जेब्रा की भाँति स्पष्ट धारियाँ होती हैं किन्तु उसकी टाँगों पर धारियाँ नहीं होतीं, लेकिन डा० ग्रे० ने एक सदस्य का चित्र दिया है जिसकी टाँगों पर भी धारियाँ दिखायी हैं।

घोड़े के विषय में मैं यह कह सकता हूँ की इंगलैंड में ही मैंने हर नस्ल में ऐसे उदाहरण एकत्र किये हैं जिनकी रीढ़ पर सभी रंगों की धारियाँ पायी जाती हैं। इसी प्रकार धुँधले काले रंग के, गहरे रंग के या भरे रंग के घोड़ों की टाँगों पर बड़ी धारियों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कभी-कभी धुँधले काले रंग के घोड़ों के कंधों पर हल्की धारियाँ देखी गयी हैं, और ऐसी ही एक बहुत हल्की धारी मैंने 'बे' घोड़ों में भी देखी है। मेरे पुत्र ने मेरे लिए एक गहरे भूरे गाड़ी के बेल्जियन घोड़े का सावधानी से चित्र बनाया है जिसके हर कंधे पर दोहरी धारियाँ थीं और टाँगों पर भी थीं और एक छोटे भूरे वेल्श टट्टू का उल्लेख मुझको प्राप्त है जिसके हर कंधे पर तीन समानान्तर धारियाँ थीं।

भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में 'काठियावाड़ी' नस्ल के घोड़े साधारणतः धारीदार होते हैं; और बिनाधारी के घोड़ों को शुद्ध नस्ल का नहीं समझा जाता। कर्नल पूल ने इस नस्ल की परीक्षा सरकार की ओर से की है और उन्होंने मुझको यह सूचना दी है। इसकी रीढ़ सदा धारीदार होती है, टाँगों पर धारियाँ साधारणतः पायी जाती हैं और कंधे पर बहुधा दोहरी या तेहरी पट्टियाँ होती हैं। इतना ही नहीं, इसके चेहरे के दोनों पार्श्व भी कभी-कभी धारीदार होते हैं। बच्चों में ये धारियाँ बहुत ही स्पष्ट होती हैं

और अक्सर प्रौढ़ घोड़ों में ये गायब हो जाती हैं। कर्नल पूल ने 'ग्र' तथा 'बे' दोनों रंग के काठियावाड़ी घोड़ों के छोटे बच्चों में धारियाँ देखी हैं। मि० एडवर्ड्स द्वारा दी गयी सूचना के आधार पर तो मैं यह भी अनुमान करता हूँ कि इंगलिश घुडदौड़ के घोड़ों के बच्चों में भी प्रौढ़ों की अपेक्षा रीढ़ पर की धारी बहुत अधिक पायी जाती है। मैंने स्वयं हाल में तुर्की घोड़े और फ्लेमिश घोड़ी द्वारा उत्पन्न घोड़ी तथा 'बे' अंग्रेजी घोड़े के द्वारा उत्पन्न एक बच्चे में एक सप्ताह की अवस्था में माथे तथा शरीर के पिछले भाग में जेब्रा की भाँति गहरे रंग की अनेक पतली धारियाँ देखी थीं, और टाँगों पर भी हल्की धारियाँ थीं। बच्चे के बड़े होने पर सभी धारियाँ लुप्त हो गयी थीं। और अधिक विस्तार में न जाकर मैं इतना ही कहूँगा कि मैंने टाँगों तथा कंधे की धारियों के अनेक उदाहरण ब्रिटेन से पूर्वी चीन तक और नार्वे से मलाया द्वीपसमूह तक पाये जानेवाले अनेक उदाहरणों से एकत्र किये हैं। संसार के सभी भागों में ये धारियाँ गहरी तथा हल्की भूरी नस्लों में अधिक पायी जाती हैं। स्पष्ट है कि भूरे रंग में अनेक प्रकार के रंग शामिल हैं जिसमें एक ओर भूरा और काला जैसा रंग होगा और दूसरी ओर बादामी।

मुझको यह ज्ञात है कि इस विषय के लेखक कर्नल स्मिथ यह विश्वास करते हैं कि घोड़ों की विभिन्न नस्लें अलग-अलग मूल जातों से उत्पन्न हुई हैं और उनमें से एक, अर्थात् भूरी जात, धारीदार थी। अतः उनके अनुसार ऊपर लिखी सभी किस्में इस भूरी जात के संकरण से उत्पन्न हुई हैं। किन्तु इस मत को हम आसानी से अस्वीकार कर सकते हैं; क्योंकि हम यह नहीं मान सकते हैं कि संसार के भिन्न-भिन्न तथा दूर स्थित भागों में पायी जाने वाली सभी जातें—जैसे बैल्जियम का गाड़ी का घोड़ा, वेल्स के टट्टू, नार्वे का कॉब (Cob), काठियावाड़ की नस्ल आदि—एक ही कल्पित जात के संकरण से उत्पन्न हुई होंगी।

आइए अब हम इस बात पर विचार करें कि घोड़ा जाति की विविध जातों के संकरण के क्या प्रभाव होंगे। रोलिन का कहना है कि घोड़े तथा गधे के संकरण से उत्पन्न साधारण खच्चर में बहुधा टाँगों पर पट्टियाँ पायी जाती हैं। गोस के अनुसार संयुक्त राज्य के कुछ भागों में दस में से नौ खच्चरों की टाँगें पट्टीदार होती हैं। मैंने एक बार एक ऐसा खच्चर देखा था जिसकी टाँगों की पट्टियाँ इतनी स्पष्ट थीं कि उनको देखकर किसी को यह समझ में आता कि वह ज़ेब्रा की संकर-संतान है। घोड़ों के विषय पर मि० डब्ल्यू० सी० मार्टिन ने अपनी सुन्दर पुस्तक में इसी प्रकार के एक खच्चर की तस्वीर भी दी है। गधे और जेब्रा के प्रसंकरों के चार चित्रों में जिनको मैंने देखा है, टाँगों पर शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट पट्टियाँ थीं और उनमें से एक में कंधे

पर भी दोहरी पट्टी थी। लार्ड मार्टन की सुप्रसिद्ध बादामी घोड़ी तथा धारीदार कुआगा (quagga) घोड़े के प्रसंकर में—तथा बाद में उस घोड़ी और अर्बी काले घोड़े की संतानों में—टाँगों पर की पट्टियाँ शुद्ध कुआगा नस्ल से भी अधिक स्पष्ट थीं। अन्त में इस विचित्र उदाहरण पर भी ध्यान दीजिए। डा० ग्रे ने गधे तथा हेमियोनस से उत्पन्न एक प्रसंकर का चित्र दिया है। उन्होंने मुझको बताया है कि इसी प्रकार के एक और भी प्रसंकर का उनको ज्ञान है। ध्यान दीजिये कि हालाँकि गधों में कभी-कभी केवल टाँगों पर धारियाँ होती हैं और हेमियोनस में वे नहीं होतीं, फिर भी इस प्रसंकर की चारों टाँगों पर धारियाँ थीं और साथ ही उसके कंधों पर तीन छोटी धारियाँ थीं और चेहरे के दोनों ओर भी जेब्रा की भाँति कुछ लकीरें थीं—ठीक डेवनशायर और वेल्स के टट्टुओं की भाँति। चेहरे की धारियों से तो मैं बहुत ही प्रभावित हुआ था और चूँकि उनके प्रकट होने में अवसर का कोई प्रश्न नहीं उठता, इसलिए बाध्य होकर मैंने कर्नल पूल से यह पूछा कि क्या काठियावाड़ की धारीदार नस्ल में भी कभी-कभी चेहरे पर इस प्रकार की धारियाँ प्रकट होती हैं? और जैसा आप ऊपर के उल्लेख से समझ सकते हैं, इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' था।

ऊपर लिखी इन अनेक बातों के विषय में हम क्या कह सकते हैं? हम देखते हैं कि घोड़ा-जाति की कई पृथक् जातें साधारण परिवर्तनों के फलस्वरूप जेब्रा की भाँति टाँगों पर धारीदार या गधों की तरह कंधों पर धारीदार हो जाती हैं। घोड़ों में यह प्रवृत्ति उस समय विशेष प्रकार से प्रबल हो जाती है जब गहरा भूरा रंग प्रकट होता है। यह रंग इस जाति की अन्य जातों के सामान्य रंग से मिलता-जुलता सा होता है। धारियों के प्रकट होने के साथ आकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता और न ही कोई अन्य लक्षण उत्पन्न होता है। इसके अलावा धारियों के उत्पन्न होने की प्रवृत्ति सबसे अधिक प्रबल कई पृथक् जातों के संकरण में दिखाई पड़ती है। अब आप कबूतरों की विभिन्न नस्लों का उदाहरण लीजिये। दो-तीन उपजातों तथा भौगोलिक नस्लों को मिलाकर सभी कबूतर एक ही कबूतर की नीली जात से वंशागत हुई हैं जिस पर कुछ अन्य पट्टियाँ या धब्बे होते हैं। जब कोई नस्ल साधारण परिवर्तन के फलस्वरूप नीलापन ले लेती है, तो निश्चय ही उसमें ये पट्टियाँ और धब्बे भी प्रकट हो जाते हैं किन्तु इसके साथ ही उसकी आकृति और अन्य लक्षणों में कोई अन्य परिवर्तन नहीं होता। जब विभिन्न रंगों की सबसे पुरानी तथा पक्की नस्लों का संकरण किया जाता है तो हम प्रसंकरों में नीले रंग तथा पट्टियों और धब्बों के पुनः प्रकट होने की प्रबल प्रवृत्ति देखते हैं। मैं कह चुका हूँ कि इस तरह के प्राचीन लक्षणों के पुनः प्रकट होने की प्रवृति का संभव कारण यह है कि हर क्रमिक पीढ़ी के बच्चों में

बहुत पहले खोये हुए लक्षणों के पुनः प्रकट होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, और कुछ अज्ञात कारणों से यह प्रवृत्ति कभी-कभी बलवान हो जाती है। अभी हमने यह देखा है कि घोड़ा-जाति की कई जातों में धारियाँ या तो बहुत स्पष्ट हो जाती हैं या प्रौढ़ों की अपेक्षा बच्चों में वे अधिक पायी जाती हैं। अब यदि हम कबूतर के विभिन्न भेदों को जातें मान लें—क्योंकि इनमें से कई तो अनेक शताब्दियों से अपनी ही जैसी संतानें उत्पन्न करती आयी हैं—तो हम देखेंगे कि कबूतरों की नस्लों तथा घोड़ों की जातों में इस विषय में कितनी अधिक समानता है। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं सहस्रों पीढ़ियों पीछे विश्वास के साथ किसी ऐसे जन्तु की कल्पना कर सकता हूँ जो जेब्रा की भाँति पट्टीदार रहा होगा किन्तु अन्य लक्षणों में इससे बहुत भिन्न रहा होगा और यही जन्तु (चाहे वह एक जैसे अथवा विविध प्रकार के जंगली पूर्वजों की संतान रहा हो) हमारे पालतू घोड़े, गधे, हेमियोनस, कुआगा तथा जेब्रा का सामान्य पूर्वज था।

जो लोग यह विश्वास करते हैं कि घोड़ों, गधों आदि की सभी जातों की सृष्टि स्वतंत्र रूप से हुई है, वे ऊपर लिखी बातों के स्पष्टीकरण में यह कहेंगे कि सभी जातों में परिवर्तन की कुछ प्रवृत्ति होती है जो प्राकृतिक तथा घरेलू दोनों ही प्रकार की परिस्थितियों में कार्य करती है और वह भी इस प्रकार कि उस परिवर्तन के फलस्वरूप हर जात में अन्य जातों की भाँति धारीदार जीव उत्पन्न होते हैं; तथा जब संसार के दूर-दूर के भागों की जातों का संकरण होता है तो उसके फलस्वरूप ऐसे प्रसंकरों के उत्पन्न होने की प्रबल प्रवृत्ति होती है जो धारियों के विषय में अपने माता-पिता से नहीं बल्कि जाति की अन्य जातों के समान होती हैं। किन्तु मेरे विचार में इस मत को स्वीकार करने के अर्थ यह हैं कि मिथ्या या अज्ञात तत्व को स्वीकार करने के लिए सत्य का त्याग किया जाय। यह ईश्वर के सभी कृत्यों का मज़ाक बनाना होगा। यदि मैं इस मत पर विश्वास करूँ तो पुराने कास्मोगोनिस्टों (cosmogonists) के इस मत पर भी विश्वास करना चाहिए कि कवचों के अवशेष कभी जीवित नहीं थे, बल्कि उनकी उत्पत्ति पत्थरों में, समद्र के किनारों के निकट पाये जाने वाले कवचों की नकल करने के लिए हुई थी।

सारांश

परिवर्तन के नियमों के विषय में हमारा अज्ञान अत्यधिक है। सौ में एक उदाहरण में भी हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि क्यों कोई भाग बदल गया है। किन्तु जब कभी हम तुलना कर सकते हैं, तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जिन नियमों के आधार पर किसी जात के भेदों के बीच छोटे-मोटे परिवर्तन प्रारंभ में उत्पन्न होते

हैं, उन्हीं के आधार पर किसी जाति की जातों के बीच के अन्तर भी होते हैं। बदली हुई परिस्थितियाँ साधारणतः केवल अस्थायी परिवर्तन ही उत्पन्न करती हैं किन्तु कभी-कभी उनके कारण प्रत्यक्ष और निश्चित प्रभाव भी होते हैं और समय व्यतीत होने के साथ-साथ वे बहुत स्पष्ट भी हो जाते हैं, किन्तु इस बात के हमारे पास यथेष्ट प्रमाण नहीं हैं। अधिकतर उदाहरणों में संरचना संबंधी विचित्रताओं के उत्पन्न करने में स्वभाव का प्रभाव तथा अंगों को शक्तिशाली बनाने या कमजोर करने में उपयोग या अनुपयोग का प्रभाव यथेष्ट होता है। रचनासदृश अंगों में समान परिवर्तन की प्रवृत्ति होती है तथा रचनासदृश भागों में सन्निकट होने की प्रवृत्ति होती है। कड़े तथा वाह्य भागों के आपरिवर्तन कभी-कभी कोमल तथा आंतरिक भागों को भी प्रभावित करते हैं। जब कोई भाग विशेषतः विकसित होता है तो वह आसपास के अंगों से भी खाद्य पदार्थ खींचता है; तथा संरचना का जो भाग बिना जीव को हानि पहुँचाये बच सकता है, वह बच रहता है। प्रारंभिक अवस्था में संरचना के अंतरों का प्रभाव बाद में विकसित होने वाले अंगों पर भी पड़ता है; और निश्चय ही कई परस्पर संबंधी परिवर्तन भी होते हैं, जिनकी वास्तविक प्रकृति हमको ज्ञात नहीं है। बहुसंख्यक अंग संख्या तथा संरचना में परिवर्तनशील होते हैं और कदाचित् उनकी उत्पत्ति ऐसे भागों से होती है जो किसी विशेष क्रिया के लिए विशेषित नहीं होते और इसलिए उनका आपरिवर्तन प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा बहुत नियंत्रित नहीं होता। कदाचित् यही कारण है जिससे निम्न कोटि के जीव, उच्च कोटि के जीवों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होते हैं जिनकी सम्पूर्ण रचना ही बहुत विशेषित होती है। व्यर्थ होने के कारण प्रारंभिक अंग प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा नियंत्रित नहीं रहते, और इसलिए परिवर्तनशील होते हैं। जातसूचक लक्षण—अर्थात् वे लक्षण जिनकी विभिन्नता उस समय से प्रारंभ हुई जब किसी एक ही सामान्य पूर्वज से जातों का पृथक्करण प्रारंभ हुआ—जातिसूचक लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होते हैं, अर्थात् उन लक्षणों से अधिक परिवर्तनशील होते हैं जो बहुत काल से वंशागत हो रहे हैं और एक ही जाति के सदस्यों में उस काल में नहीं बदले हैं। इस विषय में हमने कुछ विशेष अंगों या भागों के अब भी परिवर्तनशील होने की चर्चा की है, क्योंकि हाल तक उनमें परिवर्तन हुए हैं और इसलिए अब भी परिवर्तन हो रहे हैं। किन्तु दूसरे अध्याय में हम यह भी देख चुके हैं कि यही सिद्धान्त संपूर्ण शरीर पर भी लागू है, क्योंकि किसी प्रदेश में जिसमें एक ही जाति की कई जातें पायी जाती हैं—अर्थात् जिनमें पहले बहुत परिवर्तन और विभेदीकरण हो चुके हैं, या जिनमें नयी जातों के निर्माण का कार्य तेजी से हुआ है—उस प्रदेश में तथा उन जातों में हमको अब औसत रूप से अधिकतम भेद

भी मिलते हैं। गौण लैंगिक लक्षण बहुत परिवर्तनशील होते हैं और इस प्रकार के लक्षण एक ही समूह की जातों में सबसे अधिक भिन्न होते हैं। संरचना के एक ही भाग की गठन के परिवर्तनों का एक ही जात के दोनों लिंगों के बीच अन्तर प्रदान करने अर्थात् उनको गौण लैंगिक भेद प्रदान करने में तथा एक ही जाति की जातों को जात-सूचक भेद प्रदान करने में प्रकृति ने लाभ उठाया है। जो अंग या भाग मिलती-जुलती जातों के उन्हीं अंगों या भागों की अपेक्षा अत्यधिक बड़े हो जाते हैं या विचित्र रूप से विकसित होते हैं, निश्चय ही जाति के निर्माण काल के बाद अत्यधिक आपरिवर्तित हुए होंगे। संभवतः इसीलिए अन्य भागों की अपेक्षा अब भी वे बहुत परिवर्तनशील पाये जाते हैं। बात यह है कि परिवर्तनशीलता मन्द गति से स्पष्ट होने वाली तथा लंबे काल तक चलने वाली क्रिया है; और ऐसे उदाहरणों में प्राकृतिक निर्वाचन को और भी अधिक परिवर्तन तथा कम आपरिवर्तित दशा में आपरिवर्तित होने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल सका है। किन्तु जब किसी अत्यधिक विकसित अंग वाली जातें कुछ आपरिवर्तित संतानों की जनक (parent) हो जाती हैं (जो हमारे मत के अनुसार बहुत ही धीमी क्रिया है और जिसके लिए बहुत समय चाहिए), तो चाहे यह जात स्वयं कैसी ही अद्‌भुत रीति से विकसित क्यों न हुई हो, प्राकृतिक निर्वाचन उस अंग को स्थायी लक्षण प्रदान करने में सफल हो चुका होता है। एक ही पूर्वज से लगभग समान संरचना वंशागत करने वाली जातों में, मिलती-जुलती परिस्थितियों से प्रभावित होने पर, स्वभावतः एक ही प्रकार के परिवर्तन पाये जाते हैं, या फिर ये ही जातें कभी-कभी अपने प्राचीन पूर्वजों की ओर विपर्ययित होती हैं, और उनके कुछ लक्षण उनमें प्रकट होते हैं। चाहे विपर्ययण तथा समानान्तर परिवर्तनों के फलस्वरूप नये तथा महत्त्वपूर्ण आपरिवर्तन न उत्पन्न हों, पर ऐसे आपरिवर्तन प्रकृति की सुडौल विभिन्नता को बढ़ाते अवश्य हैं।

माता-पिता तथा संतानों के बीच पाये जाने वाले अनेक सूक्ष्म परिवर्तन का कारण कुछ भी क्यों न हो (निश्चय ही हर उत्तर के लिए कुछ कारण होना चाहिए), इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रत्येक जात की प्रकृति के अनुकूल पाये जाने वाले अनेक तथा महत्व-पूर्ण आपरिवर्तन इन सूक्ष्म किन्तु लाभदायक परिवर्तनों के संग्रह से ही बनते हैं।

अध्याय छः

हमारे सिद्धान्त की कठिनाइयाँ

आपरिवर्तन के साथ वंशागति के सिद्धान्त की कठिनाइयाँ—संक्रामी (transitional) **भेदों की अनुपस्थिति या उनका विरलापन—जीवन की प्रकृति में संक्रमण—एक ही जात में स्वभाव की विभिन्नता—किसी जात में, मिलती-जुलती जातों की तुलना में भिन्न प्रकृति का पाया जाना—अति उत्कृष्टता वाले अंग—संक्रमण की विधियाँ—कुछ कठिन उदाहरण—प्रकृति में उत्प्लवन नहीं होता** (Natura non facit saltum) **का सिद्धान्त—कम महत्व के अंग—सभी दशाओं में उत्कृष्ट अंग नहीं होते—प्ररूप की एकता तथा जीवन की दशाओं के नियम प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अन्तर्गत आते हैं।**

इस अध्याय तक पहुँचने के बहुत पहले ही पाठकों के मन में इस पुस्तक में प्रतिपादित नियमों के विरुद्ध अनेक कठिनाइयाँ उठी होंगी। और मेरे विचार में इनमें से कुछ कठिनाइयाँ तो इतनी गम्भीर हैं कि उन पर विचार करके आज तक मैं कुछ काँप जाता हूँ, किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ इनमें अधिकांश में कोई तथ्य नहीं है और जो कठिनाइयाँ वास्तविक भी हैं उनसे हमारे मत की काट नहीं होती।

इन समस्त कठिनाइयों और आपत्तियों को हम निम्नलिखित मुख्य वर्गों में बाँट सकते हैं—सर्वप्रथम, यदि एक जात दूसरी जात से सूक्ष्म अवस्थाओं के द्वारा उत्पन्न हुई है, तो हर उदाहरण में हमको अनेक क्रमिक रूप क्यों नहीं दिखलाई पड़ते? दूसरे शब्दों में, बजाय इसके कि हम जातों को एक-दूसरे से स्पष्ट देखें, सारी प्रकृति अव्यवस्थित क्यों नहीं है?

दूसरे, क्या यह सम्भव है कि एक जानवर, जिसकी संरचना और प्रकृति किसी विशेष प्रकार की है, किसी दूसरे ऐसे जानवर के आपरिवर्तन से उत्पन्न हुआ हो, जिसकी संरचना और प्रकृति उससे भिन्न हो? उदाहरण के लिए क्या यह सम्भव है कि एक चमगादड़ किसी बिल्कुल भिन्न प्रकार के जानवर से उत्पन्न हुआ है? क्या हम यह विश्वास कर सकते हैं कि एक ओर तो प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा तुच्छ महत्त्व के अंगों का निर्माण हो जैसे, जिर्राफ की पूँछ, जिसकी सहायता से केवल मक्खियाँ उड़ाई

जाती हों; और दूसरी ओर ऐसे अद्‌भुत अंग बनें जैसे आँखें ?

तीसरे, क्या प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा जीवों की प्रवृत्ति (instict) में परिवर्तन हो सकता है या नयी प्रकृति अपनायी जा सकती है ? हम मधुमक्खियों की उस प्रवृत्ति के विषय में क्या कहेंगे, जिसकी सहायता से वे अपने छत्ते के कोष्ठों का निर्माण करती हैं और जिसके निर्माण की क्रिया में ऐसी दक्षता प्रदर्शित करती हैं जो बड़े-बड़े प्रकृतिवादियों के आविष्कारों के लिए आधार का काम करती है ?

चौथे, हम इस कठिनाई का क्या उत्तर दे सकते हैं कि जब दो भेदों का संकरण होता है, तो संतानें उर्वर होती हैं, किन्तु जब जातों का संकरण होता है, तो संतानें सदा वन्ध्य होती हैं।

हम पहली दो कठिनाइयों पर इस अध्याय में विचार करेंगे; कुछ विविध आपत्तियों के विषय में इसके बाद के अध्याय में लिखा जायगा; तथा प्रवृत्ति और संकरण के विषयों पर उसके बाद के दो अध्यायों में विचार होगा।

अस्थायी भेदों की अनुपस्थिति या उनका अल्पसंख्यक होना

चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन पूर्णतः उपयोगी आपरिवर्तनों की रक्षा के ही द्वारा काम करता है, इसलिए पूरी तरह आबाद प्रदेशों में प्रत्येक नया रूप अपने ही कम उन्नतिशील मूल रूपों तथा ऐसे अन्य कम उन्नतिशील जातों का स्थान लेगा, और अन्त में उनको पूरी तरह नष्ट कर देगा जिनके साथ उसकी प्रतियोगिता होती है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक निर्वाचन और विलुप्तता की क्रियाएँ बराबर साथ-साथ चलती रहती हैं। अतः यदि हम किसी जात को इस दृष्टि से देखें कि उसकी उत्पत्ति किसी अन्य अज्ञात जात से हुई है, तो हमको यह पहले से समझ लेना चाहिए कि इस मूल जात का तथा इससे बनने वाली नयी जातों के निर्माण काल में बने अनेक अस्थायी रूप इसी बीच पूर्णतः नष्ट हो गये होंगे।

पर प्रश्न यह उठता है कि, जैसा हमारे मत के अनुसार होना आवश्यक है, यदि ऊपर लिखी निर्माण क्रिया में अनेक अस्थायी रूप उत्पन्न हुए हैं, तो उनको बड़ी संख्या में पृथ्वी के विभिन्न स्तरों में अवशेषों के रूप में क्यों हम नहीं पाते ? वैसे तो इस प्रश्न पर भूतत्वीय रेकार्ड की अपूर्णता के अध्याय में विचार करना ही अधिक सुविधाजनक होगा, फिर भी मैं यहाँ केवल इतना कहूँगा कि इस आपत्ति का केवल यही उत्तर है कि हम जितनी आशा करते हैं उसकी तुलना में ये अवशेष होते ही बहुत कम हैं। पृथ्वी के स्तर एक बड़े संग्रहालय के समान हैं, किन्तु प्रकृति द्वारा एकत्र किये गये इसके भीतर के संग्रह लम्बी अवधियों पर और अपूर्ण ढंग से रखे गये हैं।

यह कहा जा सकता है कि जब किसी क्षेत्र में एक ही समय में अनेक मिलती-जुलती जातें पायी जाती हैं, तो वर्तमान समय में हमको उनके कई अस्थायी रूप प्राप्त होने चाहिए। इसी विषय में एक साधारण उदाहरण लीजिए। जब हम किसी महाद्वीप में उत्तर से दक्षिण की ओर जाते हैं तो साधारणतः हमको कुछ समय के बाद बराबर मिलती-जुलती या ऐसी प्रतिनिधि जातें मिलती हैं, जो इन अलग-अलग क्षेत्रों में प्रकृति में एक ही स्थान ग्रहण करती हैं। बहुधा ये प्रतिनिधि जातें क्षेत्रों की सीमाओं पर एक-दूसरे से मिल जाती हैं और जैसे-जैसे आगे बढ़ने पर एक विशेष जात संख्या में कम होती जाती है दूसरी वैसे-वैसे बढ़ती जाती है और उसका स्थान ग्रहण करती है। किन्तु जिन जगहों पर ये एक-दूसरे से मिलती हैं, वहाँ भी यदि हम उनकी आपस में तुलना करें, तो देखेंगे कि हर छोटे-बड़े लक्षण में एक-दूसरे से वे उतने ही स्पष्ट हैं जितनी अपने विशेष क्षेत्र में होंगी। मेरे सिद्धान्त के अनुसार ये मिलती-जुलती जातें एक ही मूलजात से उत्पन्न हुई हैं, और आपरिवर्तन काल में इनमें से प्रत्येक अपने विशेष क्षेत्र की परिस्थितियों के लिए विशेष प्रकार से अनुकूलित हो गयी है, जिसके फलस्वरूप इसने अपनी मूल जात को, तथा उस मूल जात के समय से वर्तमान समय तक प्रगट होने वाली सभी, अस्थायी जातों को नष्ट कर दिया है और उनका स्थान ग्रहण कर लिया है।

अतः हालाँकि यह सच है कि प्रत्येक जाति के निर्माण में अनेक अस्थायी रूप उत्पन्न हुए होंगे, हमको वर्तमान समय में उनको पाने की आशा नहीं करनी चाहिए। यह सम्भव है कि अवशेषों के रूप में ये भूमि के स्तरों में मिलें। किन्तु मध्यवर्ती क्षेत्रों में, जहाँ जीवन की दशाएँ भी माध्यमिक होंगी, हमको विभिन्न भेदों के बीच सम्बन्ध बताने वाले बीच के रूप क्यों नहीं मिलते ? इस जटिल प्रश्न ने काफी समय तक मुझको चिन्तित किया है, किन्तु मैं समझता हूँ कि इसका स्पष्टीकरण भी बहुत हद तक किया जा सकता है।

सबसे पहले चूँकि कोई क्षेत्र इस समय सम्पूर्ण है इसलिए यह निष्कर्ष निकालने में हमको बहुत सावधानी बरतनी होगी कि बहुत समय से यह इसी स्थिति में है। भू-तत्व-शास्त्र के अध्ययन से हमको यह पता चलता है कि तृतीय काल ((tertiary period) के अन्तिम भाग में भी अधिकांश महाद्वीप अनेक द्वीपों में विभाजित थे और यह सम्भव है कि इनमें से प्रत्येक द्वीप पर अलग-अलग जातों का उद्‌भव हुआ हो, और इस तरह बनी पृथक् जातों के बीच, माध्यमिक भागों में माध्यमिक भेद न पाये जाते हों। बाद में स्थल के आकार तथा जलवायु में परिवर्तन होने से वे बड़े महासागर, जो अत्यन्त विस्तृत हैं, वे उस काल में विभक्त रहे होंगे और इसी प्रकार जो भाग आज

विभक्त हैं, सम्भव है वे पहले जुड़े रहे हों। वैसे तो इस दलील से हमारी कठिनाई से बचने का रास्ता मिलता है, पर मैं इसका अधिक सहारा नहीं लेना चाहता हूँ, क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं कि एक-दूसरे से पूरी तरह जुड़े सम्पूर्ण क्षेत्रों में भी स्पष्ट जातों का निर्माण हुआ है। हाँ इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जो क्षेत्र आज सम्पूर्ण हैं पहले उनके विभक्त होने के कारण, विशेषतः जानवरों के स्वतंत्रतापूर्वक विचरण और संकरण के कारण, नयी जातों के निर्माण में विशेष सहायता मिली है।

यदि हम किसी बड़े क्षेत्र में पायी जाने वाली जातों के वितरण पर ध्यान दें, तो साधारणतः हम देखेंगे कि इस क्षेत्र के काफी बड़े भाग में ये बड़ी संख्या में पायी जाती हैं; और जब हम उसकी सीमाओं की ओर बढ़ते हैं तो एकाएक ये अल्पसंख्यक होती जाती हैं और अन्त में ये बिल्कुल नहीं मिलतीं। अतः किन्हीं भी दो प्रतिनिधि जातों के अपने विशेष क्षेत्र की अपेक्षा उनके बीच का मध्यस्थ भाग बहुत छोटा होता है। यही बात पहाड़ों के जीवों में भी दिखाई पड़ती है और जैसा डि कैन्डोल का कहना है, जब हम यह देखते हैं कि एल्पस पर जाने पर अधिकतर एल्पाइन जातें एकाएक किस प्रकार लोप हो जाती हैं, तो हमको बड़ा आश्चर्य होता है। ई० फोर्ब्स के अनुसार समुद्र में सीप एकत्र करने की क्रिया में भी यही बात देखने में आती है। जो लोग जल-वायु तथा जीवन की अन्य भौतिक दशाओं को ही वितरण के लिए उत्तरदायी समझते हैं, उनको इस प्रकार के अवलोकनों से अवश्य बहुत आश्चर्य होगा क्योंकि जलवायु, ऊँचाई, गहराई आदि के परिवर्तन या उतार-चढ़ाव बहुत धीरे-धीरे होते हैं। किन्तु हमारे लिए यह आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि हम यह देख चुके हैं कि अपने विशेष क्षेत्र में किसी भी जात की संख्या अत्यधिक बढ़ जायगी, यदि उसकी वृद्धि में अन्य प्रतियोगी जातों के कारण रुकावट न हो। हम यह भी जानते हैं कि सभी जातें या तो स्वयं दूसरी जातों पर अपना निर्वाह करती हैं, या स्वयं उनके लिए निर्वाह के काम आती हैं। सारांश यह है, कि प्रत्येक जीव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्य जीवों से बहुत महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रखते हैं; अतः यह स्पष्ट है कि किसी प्रदेश के निवासियों का वितरण केवल अलग-अलग भागों की जलवायु या क्रमशः बदलती हुई भौतिक दशाओं के ऊपर ही निर्भर नहीं होता, बल्कि बहुत कुछ उन जातों की उपस्थिति पर भी जिनके ऊपर वे अपना निर्वाह करते हैं, जिनके द्वारा वे स्वयं नष्ट हो सकते हैं, या जिनसे उनकी प्रतियोगिता होती है। और चूँकि इन सम्बन्धित जातों की प्रवृत्ति एक-दूसरे से पृथक् और स्पष्ट है, और वे एक-दूसरे से ऐसी क्रमबद्ध माध्यमिक अवस्थाओं के द्वारा सम्बन्धित नहीं होती हैं, इसलिए इन जातों से सम्बन्धित अन्य जातों के वित-रण में भी क्रमशः परिवर्तन न होकर एकाएक परिवर्तन होता है, जिसके फलस्वरूप

प्रत्येक जात की सीमा भी स्पष्ट होती है। इसके अतिरिक्त अपने विशेष क्षेत्र की सीमा पर, जहाँ प्रत्येक जात पहले से ही अल्पसंख्यक होगी, वहाँ पर उसके शत्रुओं अथवा शिकार की संख्या में अन्तर होने के कारण इसके सम्पूर्ण विनाश की सम्भावना रहेगी। इस प्रकार इसका भौगोलिक क्षेत्र अर्थात् इसकी सीमा और भी स्पष्ट हो जाएगी।

चूँकि मेरे विचार में भेदों और जातों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, इसलिए जो नियम जातों के वितरण में लागू होगा, वही भेदों के वितरण में भी। अतः यदि किसी बड़े और सम्पूर्ण क्षेत्र में पायी जाने वाली मिलती-जुलती या प्रतिनिधि जातें इस तरह फैली होती हैं कि प्रत्येक का अपना क्षेत्र काफी विस्तृत होता है, और उनके छोटे मध्यस्थ क्षेत्रों में उनकी संख्या एकाएक गिरती जाती है, तो इस प्रकार के बड़े क्षेत्र में किसी परिवर्तनशील जात के होने पर परिस्थिति यह होगी कि प्रत्येक बड़े क्षेत्र में एक स्पष्ट भेद पाया जाएगा, और दोनों के बीच के छोटे मध्यस्थ क्षेत्र में एक तीसरा भेद मिलेगा। स्पष्ट है कि छोटे और सँकरे क्षेत्र में होने के कारण, इस दूसरे अर्थात मध्यस्थ भेद, की संख्या बहुत थोड़ी होगी। जहाँ तक मेरे अवलोकन का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ कि प्रकृति में यही नियम लागू होता है। बैलेनस (Balanus) जाति॰ के स्पष्ट भेदों के बीच मध्यस्थ भेदों के विषय में मैंने इसी नियम के अनुसार अद्भुत उदाहरण देखा है। डा॰ आसा ग्रे, मि॰ वोलास्टन और मि॰ वाट्सन ने मुझको जो सूचनाएँ दी हैं, उनसे भी यही पता चलता है कि जब दो स्पष्ट भेद एक-दूसरे से मिलते हैं तो मध्यस्थ क्षेत्र में पाया जाने वाला, इन दोनों में संबंध स्थापित करने वाला माध्यमिक भेद संख्या में इन भेदों की अपेक्षा बहुत कम होता है। अब यदि हम इन बातों पर विश्वास करते हैं, और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किन्हीं दो भेदों को एक-दूसरे से जोड़ने वाले माध्यमिक भेद मुख्य भेदों की अपेक्षा अल्पसंख्यक होते हैं, तो हमको यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि माध्यमिक भेद क्यों बहुत समय तक जीवित नहीं बने रहते, अर्थात् साधारणतः क्यों माध्यमिक भेद जिन भेदों के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं उनकी अपेक्षा जल्दी नष्ट हो जाते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, जो जातें कम संख्या में पायी जाती हैं उनके विनाश की सम्भावना भी उन जातों की अपेक्षा अधिक होगी, जो अधिक संख्या में पायी जाती हैं; और हमारे जिस विशिष्ट उदाहरण में माध्यमिक रूप को दोनों ओर से दो प्रकार के मिलते-जुलते जीवों के द्वारा विनाश का भय रहेगा। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि दो स्पष्ट भेदों के जातों में परिवर्तित होने की क्रिया में सदा बड़े क्षेत्र में पाये जाने वाले बहुसंख्यक भेदों को, छोटे क्षेत्र में पाये जाने वाले माध्यमिक भेद की अपेक्षा, अतिजीवन की सुविधाएँ अधिक होंगी। कारण यह है कि, जैसा हम

पहले लिख चुके हैं, बड़ी संख्या में पाये जाने वाले जीव एक निश्चित अवधि के भीतर प्राकृतिक निर्वाचन के सफलतापूर्वक काफी कार्य करने के लिए अधिक लाभदायक परिवर्तन उत्पन्न करेंगे, जबकि उसी अवधि में अल्पसंख्यक रूप ऐसे बहुत कम भेद उत्पन्न करेंगे। स्पष्ट है कि कम संख्या में पाये जाने वाले रूपों में आपरिवर्तन और उन्नति मन्द गति से होगी, और इसलिए जीवन की प्रगति में बहुसंख्यक, अथवा सामान्य रूप ही विजयी होंगे, और क्रमशः ये अल्पसंख्यक रूपों का स्थान भी हड़प लेंगे। मेरे विचार में इसी सिद्धान्त के कारण, जैसा दूसरे अध्याय में दिखाया गया है, प्रत्येक प्रदेश में अल्पसंख्यक जातों की अपेक्षा सामान्य जातों में अधिक भेद पाये जाते हैं। कदाचित एक उदाहरण के द्वारा मेरा अभिप्राय स्पष्ट हो जाएगा। मान लीजिए भेड़ों के तीन भेदों की हमको आवश्यकता है—एक ऐसा जो विस्तृत पर्वतीय प्रदेश के जीवन के लिए अनुकूलित हो, दूसरा वह जो अपेक्षाकृत छोटे प्रदेशों अथवा पहाड़ियों के लिए अनुकूलित हो, और तीसरा वह जो विशाल मैदानों के लिए अनुकूलित हो। यह भी मान लीजिए कि इन विविध क्षेत्रों के निवासी निर्वाचन के द्वारा निरन्तर अपनी भेड़ों में उन्नति के प्रयत्न कर रहे हैं। इस उदाहरण में अधिक सम्भावना यही होगी कि पर्वतीय प्रदेशों या मैदानों के भेड़ पालने वाले बड़े-बड़े झुंडों के रखने के कारण अपनी भेड़ों की नस्लों में पहाड़ियों के लोगों की अपेक्षा तेजी से उन्नति कर सकेंगे, क्योंकि पहाड़ियों पर भेड़ों की संख्या कम होगी। नतीजा यह होगा कि पर्वत अथवा मैदान की सुधरी हुई नस्लें कुछ समय में पहाड़ियों की कम उन्नतिशील नस्लों का स्थान ग्रहण करेंगी। इस प्रकार अन्त में दो ऐसी नस्लें एक-दूसरे के सम्पर्क में आ जाएँगी जो आरम्भ में बड़ी संख्या में पायी जाती थीं और इनके बीच में पहाड़ी पर पायी जाने वाली माध्यमिक नस्ल नहीं होगी।

इस प्रकार प्रकृति में स्पष्ट जातों के बनने तथा अनेक परिवर्तनशील और माध्यमिक रूपों के मिटने के निम्नलिखित कारण हैं—सर्वप्रथम, चूँकि परिवर्तनशीलता की क्रिया बहुत धीमी होती है, और प्राकृतिक निर्वाचन तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक लाभदायक परिवर्तन या वैयक्तिक अन्तर प्रगट न हों, और जब तक किसी भी प्रदेश में ऐसी कुछ जगह बची न हो जिसका उपभोग नये बनने वाले भेदों के द्वारा किया जा सकता हो, इसलिए नये भेदों का निर्माण बहुत धीरे धीरे होता है। नये स्थानों का बनना कई बातों पर निर्भर है, जैसे जलवायु में होने वाले अन्तरों का होना या बाहर से उस प्रदेश में नये प्राणियों का आना, और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह कि प्रदेश के कुछ पुराने निवासी धीरे-धीरे परिवर्तित हों जिनसे नये रूप उत्पन्न हों और प्राणियों के बीच नये-नये संबंधों का निर्माण हो। इस प्रकार किसी भी क्षेत्र में,

किसी विशेष काल में, हमको कुछ ही ऐसी जातें दिखाई पड़ेंगी जिनमें स्थायी रूप से कुछ आपरिवर्तन होंगे और वास्तव में हम यही देखते भी हैं।

दूसरे यह कि, आज जिन क्षेत्रों को हम सम्पूर्ण देखते हैं, कुछ ही समय पहले वे कई टुकड़ों में विभक्त रहे होंगे, और उनमें से प्रत्येक में कई अलग-अलग जीव उत्पन्न हुए होंगे। और विशेषतः उन जीवों में जिनमें प्रत्येक बार संतानोत्पत्ति के लिए संयुग्मन आवश्यक होता है, उनमें इस प्रकार के जीवों के लक्षण इतने स्पष्ट हो गये होंगे कि उनको जातों का स्तर दिया गया होगा। ऐसी दशा में पृथ्वी के प्रत्येक अलग टुकड़े पर विविध प्रतिनिधि जातों के बीच माध्यमिक भेदों का निर्माण हुआ होगा, किन्तु प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया के फलस्वरूप ये माध्यमिक भेद मुख्य भेदों के द्वारा नष्ट हो गये होंगे, और इसलिए वर्तमान समय में नहीं पाये जाते होंगे।

तीसरे यह कि, जब किसी सम्पूर्ण क्षेत्र के विभिन्न भागों में दो या दो से अधिक भेदों का निर्माण होता है, तो वहुत सम्भावना यह होती है कि प्रारम्भ में इनके बीच के अर्थात् माध्यमिक क्षेत्रों में माध्यमिक भेद उत्पन्न होंगे; किन्तु ये अधिक समय तक नहीं रह सकते, क्योंकि जैसा कुछ ऐसे कारणों से, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, ये माध्यमिक भेद माध्यमिक क्षेत्रों में, मुख्य भेदों की अपेक्षा, बहुत थोड़ी संख्या में होंगे। केवल इसी कारण से इन माध्यमिक भेदों का आकस्मिक विनाश हो जायगा, और जब प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया के बीच और भी आपरिवर्तन होंगे, तो निश्चय ही मुख्य भेद उनका स्थान लेंगे। इसका कारण यह है कि बड़ी संख्या में पाये जाने के कारण सब मिलाकर मुख्य भेदों में अधिक परिवर्तन होंगे, और इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उनमें अधिक उन्नति होगी; और इस प्रकार उनको अधिक सुविधाएँ प्राप्त होंगी।

अंत में यदि मेरा मत ठीक है तो, किसी एक विशेष काल को ध्यान में न रख कर समस्त काल को ध्यान में रखें तो, निश्चय है कि समय-समय पर किसी भी वर्ग की सभी जातों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले असंख्य माध्यमिक भेदों का निर्माण निश्चय ही हुआ होगा। किन्तु जैसा पहले कई बार कहा जा चुका है, प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया बराबर ही मूल जातों तथा माध्यमिक जातों का विनाश करने का प्रयत्न करती है। अतः इस प्रकार के जीवों की उत्पत्ति का प्रमाण केवल भूतत्वीय अवशेषों के द्वारा ही मिल सकता है, परन्तु जैसा हम बाद में किसी दूसरे अध्याय में देखेंगे, इस प्रकार के अवशेष बहुत अपूर्ण हैं और इनकी रक्षा कहीं-कहीं ही हुई है।

विचित्र स्वभाव तथा संरचना वाले जीवों की उत्पत्ति तथा उनमें परिवर्तन

मेरे मत का विरोध करने वाले बहुधा यह पूछते हैं कि उदाहरण के लिए कैसे एक स्थलीय मांसभुजी जंतु जलचर स्वभाव के जन्तु में परिणित हो सकता है? कठिनाई यह है कि अपने परिवर्तन काल में वह किस प्रकार जीवित रहा होगा ? यह सिद्ध करना आसान है कि वर्तमान समय में भी ऐसे मांसभुजी जन्तु पाये जाते हैं, जो स्थलीय तथा जलचर स्वभाव के बीच के हैं और चूँकि इनमें से प्रत्येक किसी प्रकार के जीवन-संघर्ष की सहायता से ही जीवित रहता है, इसलिए यह भी स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक प्रकृति में अपने विशेष स्थान के लिए भली भाँति अनुकूलित है। उदाहरण के लिए उत्तरी अमेरिका के मुस्टेला विसन (Mustela vison) को देखिये, इसके पैर की अँगुलियों के बीच चमड़ी है और ऊद्‌बिलाव (Otter) से इसके लाल, छोटे-छोटे पाँव और पूँछ में समानता है। गर्मियों में यह जन्तु पानी में डुबकी लगाता है, और मछलियों का शिकार करता है किन्तु लम्बी शरद ऋतु में जमे हुए पानी को छोड़ यह स्थलीय जानवरों की भाँति चूहों का शिकार करता है। इसी तरह यह पूछा जा सकता है कि कैसे एक कीटभक्षी चौपाया उड़ने वाले चमगादड़ में परिवर्तित हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर देना अधिक कठिन होगा, फिर भी मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की कठिनाइयों का कोई महत्व नहीं।

ऐसे अवसरों पर मैं बड़ी कठिनाई में पड़ जाता हूँ क्योंकि हालांकि मैंने अनेक अद्‌भुत उदाहरणों का उल्लेख किया है फिर भी मिलती-जुलती जातों में स्वभाव अथवा संरचना के क्रमवद्ध परिवर्तनों के उदाहरण मेरे पास एक-दो ही हैं। इसी प्रकार एक ही जात के अन्दर स्थायी, या कभी-कभी पायी जाने वाली स्वभाव की विभिन्नताओं के उदाहरण भी कम ही हैं। साथ ही मुझको ऐसा लगता है कि ऐसी कठिनाइयों के सुलझाने के लिए जैसी चमगादड़ के उदाहरण में पायी जाती है, हमारे पास दूसरे प्रकार के उदाहरणों की एक लंबी सूची होना आवश्यक है।

गिलहरियों के वंश की ओर ध्यान दीजिए, इनमें एक ओर हमको ऐसे जन्तु मिलते हैं जिनकी पूँछ नाममात्र के लिए ही चपटी होती है, और दूसरी ओर ऐसे जिनके शरीर का समस्त पिछला भाग चौड़ा हो जाता है और अगल-बगल की खाल भी चौड़ी हो जाती है, जैसा कि हम 'उड़ने वाली गिलहरियों' में देखते हैं। इन दोनों अवस्थाओं के बीच अनेक क्रमिक अवस्थाएँ भी दिखाई पड़ती हैं। उड़ने वाली गिलहरियों में तो टाँगें और पूँछ खाल के एक विस्तृत टुकड़े से जुड़ी होती हैं, जिससे एक

प्रकार की छतरी और पर्दा वन जाता है, जिसकी सहायता से ये गिलहरियाँ अद्भुत सफलता के साथ एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर 'उड़ती' रहती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हर प्रकार की गिलहरी के लिए उसकी संरचना उसके विशेष वातावरण में लाभ-दायक है। कहीं उसके द्वारा वह शिकारी जानवरों या चिड़ियों से अपनी रक्षा करती है, तो कहीं अपना आहार आसानी से जमा करती है, और कहीं-कहीं, जैसा इस विशेष उदाहरण से जान पड़ता है, वह गिरने से ही अपना बचाव करती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है, कि प्रत्येक गिलहरी की संरचना किसी भी परिस्थिति के लिए सर्वोत्तम है। यदि जलवायु या प्रदेश की वनस्पति में किसी प्रकार का अन्तर हो जाय, या प्रदेश में नये शिकारी जानवरों, नये चूहों, गिलहरियों आदि का आगमन हो जाये, या पुराने जन्तुओं में आपरिवर्तन हो जाये तो यह निश्चय है कि यदि गिलहरियों में भी उसी के अनुसार आपरिवर्तन या उन्नति नहीं होती तो उनमें से कुछ की संख्या में कमी हो जायगी या उनका विनाश हो जायगा। अतः मुझको इसमें कोई कठिनाई नहीं दिखाई देती कि जब जीवन की परिस्थितियों में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हों, तो बढ़ते हुए अगल-बगल की खालों वाली गिलहरियों का अति-जीवन होता जाय और अन्त में इन आपरिवर्तनों के लाभदायक होने के साथ-साथ पीढ़ियों के बढ़ने और परिवर्तनों के संग्रहीत होने से एक पूर्णतया सफल 'उड़ने वाली' गिलहरी का निर्माण हो जाये।

अब आप उड़ने वाले 'लीमुर'[1] (flying lemur) या गेलियोपिथीकस (Galeopathecus) का उदाहरण लीजिये। इसको पहले चमगादड़ों के अन्तर्गत रखा जाता था किन्तु अब इन्सेक्टीवोरा (Insectivora) वर्ग में रखा जाता है। इस जानवर में जबड़ों के कोनों से पूँछ के सिरे तक प्रत्येक पार्श्व में एक बहुत चौड़ी खाल होती है जो अवयवों तथा लम्बी अँगुलियों में भी जुड़ी होती है। इस चमड़े से सम्बन्धित अनेक ऐसी मांस पेशियाँ होती हैं जिनकी सहायता से चमड़ी सिकोड़ी या फैलाई जा सकती है। अब गेलियोपिथीकस तथा अन्य इन्सेक्टीवोरा के बीच वायु में उड़ने के लिए संरचनाओं के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ नहीं पायी जातीं, फिर भी यह कल्पना करने में कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती कि जिस प्रकार गिलहरियों में उड़ने वाले अंगों की क्रमिक अवस्थाएँ थीं, वैसी ही इस उदाहरण में भी रही होंगी; और हर अवस्था में पायी जाने वाली संरचनाएँ जन्तु विशेष के लिए विशेष प्रकार की रही

१. मडागास्कर का एक बन्दर जैसा जानवर।

होंगी। मुझको यह मानने में भी कोई बड़ी कठिनाई नहीं जान पड़ती कि गेलियोपिथीकस के अँगुलियों और हाथों को जोड़ने वाली खाल प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा विकसित हुई होगी। और जहाँ तक उड़ने वाले अंगों का सम्बन्ध है, ऐसी संरचनाओं के विकास से चमगादड़ जैसे जानवर का निर्माण हो सकता है। कुछ चमगादड़ों में पंख का चमड़ा कन्धे के सिरे से पिछली टाँगों को शामिल करता हुआ पूँछ तक पहुँच जाता है और ऐसा लगता है कि यह लीमुर की भाँति हवा में 'तैरने' की अपेक्षा हवा में 'फिसलने' के लिए अधिक उपयुक्त है।

अगर पक्षियों की लगभग एक दर्जन जातियाँ आज लुप्त हो जायें, तो भला कौन यह कह सकता है कि ऐसी भी कुछ चिड़ियाँ कभी रही होंगी, जो अपने पंखों का उपयोग केवल फड़फड़ाने के लिए करती होंगी जैसे आइटन (Eyton) की माइक्राप्टेरस (Micropterus) बत्तख; या पानी में पक्षों (fins) की तरह या स्थल पर अगली टाँगों के समान जैसे पेंगुइन चिड़िया में, या शुतुरमुर्ग की तरह पाल (sail) की भाँति; या ऐप्टेरिक्स (Apteryx) की भाँति बिल्कुल ही बेकार होती होंगी। फिर भी इनमें से प्रत्येक चिड़िया के पंख, उसकी अपनी विशेष परिस्थिति में उपयोगी हैं, क्योंकि प्रत्येक इनका उपयोग अपने जीवन के विशेष प्रकार के संघर्ष में करती हैं। हाँ, निश्चय ही इनमें से किसी का पंख हर सम्भव प्रकार की परिस्थिति के लिए पूर्ण उपयुक्त नहीं है। इन बातों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि चिड़ियों के पंखों के जिन विभिन्न आकारों का यहाँ पर उल्लेख किया गया है, ये उन अवस्थाओं का बोध कराते हैं, जिनके द्वारा उड़ने के योग्य सुविकसित पंखों का विकास हुआ है। सम्भवतः ये सभी स्थितियाँ अनुपयोग के कारण उत्पन्न हुई हैं। पर ये उदाहरण इतना अवश्य दिखाते हैं कि संरचना में परिवर्तन के कितने विविध तरीके हो सकते हैं।

हम यह देखते हैं कि साधारणतः पानी में रहने वाले तथा पानी के द्वारा श्वसन करने वाले क्रस्टेशिया (Crustacea) तथा मालस्का (Mollusca) वर्गों के कुछ सदस्य स्थलीय जीवन के लिए अनुकूलित होते हैं। इसी प्रकार तरह-तरह के उड़ने वाले पक्षियों और स्तनियों को, और विविध प्रकार के उड़ने वाले कीटों को देखकर यह सम्भव जान पड़ता है कि उड़ने वाली मछली, जो वर्त्तमान समय में अपने फड़फड़ाते पक्षों की सहायता से वायु में दूर तक फिसलती है, किसी समय सम्पूर्ण पंखों वाली रही होगी। और यदि ऐसा हो जाता तो फिर भला यह कौन अनुमान कर सकता था कि कभी ये जन्तु महान् समुद्रों में रहते होंगे और अपने

उड़ने वाले अविकसित अंगों का उपयोग केवल दूसरी बड़ी मछलियों से अपनी रक्षा के लिए करते रहे होंगे।

जब हम किसी ऐसी संरचना को देखते हैं जो किसी विशेष प्रकृति के लिए पूर्णतया अनुकूलित होती है (जैसे उड़ने के लिए चिड़ियों के पंख) तो हमको सदा यह ध्यान में रखना चाहिए, कि इस संरचना के परिवर्तन की अवस्थाएँ दिखाने वाले जानवर शायद ही आज तक बचे होंगे क्योंकि उन सभी का स्थान बाद के सभी अनुकूलित जानवरों ने ले लिया होगा, जो क्रमशः प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा और भी पूर्ण हो गये होंगे। हम यह भी नतीजा निकाल सकते हैं कि जीवन की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के लिए अनुकूलित संरचना के बीच के परिवर्तनों की अवस्थाएँ प्रारम्भिक कालों में शायद ही बड़ी संख्या में उत्पन्न हुई हों। अतः हम अपने उड़ने वाली मछली के उदाहरण पर पुनः विचार करें, तो ऐसा जान पड़ेगा कि वास्तव में उड़ने योग्य मछलियों के विभिन्न रूपों के विकास की सम्भावना बहुत ही थोड़ी है; अर्थात ऐसी मछलियों के निर्माण की सम्भावना, जो तरह-तरह के शिकार स्थल तथा जल से पकड़ सकती हैं, जब तक उनके उड़ने के अंग पूर्णतया विसित न हो गये हों, जिसके द्वारा अन्य जन्तुओं की अपेक्षा जीवन-संघर्ष में उनको विशेष सुविधा मिलती हो, बहुत कम है। अतः यह स्पष्ट है कि पूर्ण विकसित अंगों वाले जन्तुओं की अपेक्षा परिवर्तन की अवस्थाओं वाले जन्तुओं की संख्या बहुत कम होगी और इसलिए अवशेषों के रूप में उनके पाये जाने की संभावना भी बहुत कम होगी।

अब मैं एक ही जात में परिवर्तन के द्वारा प्राप्त विभिन्न सुविधाओं के दो-तीन उदाहरण दूंगा। हर उदाहरण में प्राकृतिक निर्वाचन के लिए यह आसान होगा कि जन्तु की संचरना को उसके परिवर्तित स्वभाव के अनुसार या उसके अनेक स्वभावों में से किसी एक के अनुसार, अनुकूलित करे। किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि स्वभाव में परिवर्तन पहले और संरचना में बाद में होंगे, या पहले संरचना में सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं जिनके कारण स्वभाव में परिवर्तन हो जाते हैं। हमारे लिए यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है और सम्भव है कि दोनों प्रकार के परिवर्तन साथ-साथ होते हों। परिवर्तित स्वभावों के विषय में उन अनेक ब्रिटिश कीटों का उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा जो आज-कल यहाँ पाये जाने वाले विदेशी पौधों पर, या केवल कृत्रिम पदार्थों पर ही अपना निर्वाह करते हैं। विभिन्न स्वभावों के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। मैंने दक्षिणी अमरीका में बहुधा क्रूर मक्खी पकड़ने वाली चिड़िया सारोफेगस सलफ्यूरेटस (Saurophagus sulphuratus) को देखा है कि वह कभी तो बाज़ की तरह जगह-जगह पर मँडराया करती है, और

कभी पानी के किनारे निश्चल खड़ी रहती है और एकाएक कौड़िल्ले की भाँति पानी में झपटती है। स्वयं हमारे देश में कलाबाज़ी करने वाली चिड़िया 'टिट माउस' या **पारस मेजर** (Parus major) कभी तो डालों पर रेंगती हुई चढ़ती है और कभी छोटी चिड़ियों को खोपड़ी पर मार-मार कर मार डालती है। कभी-कभी मैंने यह चिड़िया 'यू' (Yew) के सदाबहार वृक्ष के मज़बूत बीजों पर ठोकर मारते और उनको तोड़ते देखा है। उत्तरी अमरीका में 'हेरने' (Hearne) ने काले रीछ को घन्टों पानी में मुँह खोल कर तैरते और व्हेल के समान कीड़ों को मुँह से पकड़ते देखा है।*

जब हम किसी जात में ऐसे कुछ सदस्यों को देखते हैं, जिनका स्वभाव उस जात के अधिकांश सदस्यों से भिन्न, या उस जाति की अन्य जातों के स्वभाव से भिन्न, होता है, तो हम यह आशा कर सकते हैं कि ऐसे सदस्यों से ऐसी नयी जातों की उत्पत्ति होगी जिनकी संरचना जात की प्रारूपिक संरचना से भिन्न होगी और स्वभाव उनकी अपेक्षा कुछ विचित्र होगा। प्रकृति में ऐसे कई उदाहरण पाये जाते हैं। वास्तव में अनुकूलन का उदाहरण कठफोड़वा से अधिक अद्‌भुत क्या हो सकता है। यह चिड़िया पेड़ों पर फुदक-फुदक कर चढ़ने और छाल के नीचे से कीड़ों के पकड़ने के लिए कितनी अनुकूलित है ! फिर भी उत्तरी अमरीका में ऐसे कठफोड़वे पाये जाते हैं जो अपना निर्वाह अधिकतर फल खा कर करते हैं, और कुछ के पंख इतने विकसित होते हैं कि वे उड़ते हुए कीड़ों का शिकार करते हैं। ला प्लाटा के मैदानों में, जहाँ एक भी वृक्ष आसानी से नहीं मिलता, एक ऐसा कठफोड़वा **कोलैप्टिस कम्पेस्ट्रिस** (Colaptes compestris) पाया जाता है जिसके पैर की दो अँगुलियाँ आगे की ओर होती हैं, जीभ नुकीली होती है और पूँछ के पर ऐसे नुकीले और कड़े होते हैं कि चिड़िया उनके सहारे सीधी खड़ी हो सकती है, किन्तु इतनी मज़बूत नहीं, जितनी साधारण

***'जातों की उत्पत्ति' के प्रथम संस्करण में इसके बाद निम्नलिखित वाक्य था जो बाद के संस्करणों में निकाल दिया गया था :—**

"इसी प्रकार के स्पष्ट उदाहरण में भी यदि कीटों की मात्रा समान बनी रहे और प्रदेश में पहले से ही कुछ अधिक अनुकूलित प्रतियोगी न रहें, तो भी मेरे विचार में कोई कारण नहीं कि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा रीछों की नस्ल क्रमशः संरचना तथा स्वभाव में और भी जलचर हो जाय तथा इसका मुँह बड़ा होता जाय जब तक कि अंत में यह व्हेल के समान भयानक जन्तु की भाँति न हो जाय।"

कठफोड़ों में होती है, और चोंच सीधी होती है। यह चोंच भी इतनी सीधी नहीं होती है और न इतनी मज़बूत, जितनी साधारण कठफोड़ों में, फिर भी यह काठ फोड़ सकती है। सारांश यह कि हर आवश्यक अंग में यह पक्षी प्रारूपिक कठफोड़ों के समान है। इसका रंग, इसकी कड़ी आवाज़ और इसके उड़ने का ढंग भी साधारण कठफोड़े से इसके सम्बन्ध को सिद्ध करता है। फिर भी यह केवल मेरे ही अवलोकन नहीं हैं, बल्कि आज़ारा (Azara) के विस्तृत अवलोकनों से भी प्रमाणित है कि यह चिड़िया कई प्रदेशों में पेड़ों पर नहीं चढ़ती और अपने घोंसले नदी के किनारे बिलों में बनाती है। कुछ अन्य प्रदेशों में, हडसन के अनुसार, यही चिड़िया पेड़ों पर चढ़ती है और तनों में घोसलों के लिए सूराख बनाती है। इस जात के स्वभाव की विभिन्नता का एक उदाहरण और भी दिया जा सकता है। मेक्सिको के **कोलैप्टिस** की एक जात सख्त लकड़ी में ओक वृक्ष के बीजों को जमा करने के लिए सूराख करती है।

पेट्रेल (Petrel) चिड़िया समुद्री स्वभाव में तथा उड़ने की शक्ति में अद्वितीय है। किन्तु टियारा डेल फोगो के शान्त वातावरण में **पुफिनुरिया बरार्डाइ** (Puffinuria berardi) नामक पेट्रेल साधारण स्वभाव, डुबकी लगाने की अद्‌भुत शक्ति, तथा उड़ने और तैरने की विधि में कुछ ऐसी विचित्र है कि कोई भी उसको आँक (Auk) या ग्रेब (Grebe) समझ लेगा। फिर भी यह पेट्रेल ही है, हालांकि इसके शरीर के कई भाग इस नयी प्रकृति के लिए बहुत आपरिवर्तित हो गये हैं, जबकि ला प्लाटा के कठफोड़े की रचना बहुत थोड़ी आपरिवर्तित है। कैसा भी दक्ष प्रकृतिवादी 'पानी की ऊज़ेल' (Water Ouzel) के मृत शरीर की परीक्षा करेगा, तो वह यह अनुमान नहीं कर सकता कि अपनी प्रकृति के अनुसार यह पानी के नीचे जाती है। फिर भी बुलबुल के वंश से संबंधित यह चिड़िया अपना आहार पानी में डुबकी लगाकर एकत्र करती है, और इतना ही नहीं, पानी के नीचे यह अपने पंखों का उपयोग कर सकती है और अपने पंजों से नीचे के पत्थरों को पकड़ती है। हाइमेनाप्टेरा (Hymenoptera) गण के सभी सदस्य स्थलीय प्रकृति के हैं। किन्तु सरजान लूबक ने यह आविष्कार किया कि एक जाति **प्राक्टोट्रूप्स** (Proctotrupes) जलीय प्रकृति की है। बहुधा इसके सदस्य पानी में चले जाते हैं और टाँगों की सहायता से नहीं, बल्कि पंखों की सहायता से डुबकी लगाते हैं और बहुधा चार-चार घन्टों तक पानी के नीचे रह जाते हैं। फिर भी इस असाधारण स्वभाव के अनुरूप उसकी संरचना में कोई आपरिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता।

जो लोग यह विश्वास करते हैं कि प्रत्येक जीव की सृष्टि उसी रूप में हुई जिसमें आज हम उसको देखते हैं, उनको कभी-कभी यह देख कर अचम्भा अवश्य होगा कि

कुछ जन्तु ऐसे भी हैं जिनके स्वभाव तथा संरचना में अनुरूपता नहीं होती। इससे स्पष्ट और क्या बात हो सकती है कि बत्तखों और हंसों के चमड़ेदार पंजे तैरने के लिए बने हों; फिर भी ऐसे पहाड़ी हंस मिलते हैं, जिनके पंजे तो चमड़ेदार होते हैं, किन्तु वे शायद ही कभी पानी के निकट जाते हों! वास्तव में आदूबान (Audubon) के अतिरिक्त और किसी ने भी फ्रिगेट (Frigate) चिड़िया को समुद्र पर उतरते नहीं देखा, हालांकि इसकी चारों उँगलियाँ, चमड़ेदार होती हैं। दूसरी ओर यद्यपि ग्रेब (Grebe) तथा कूट (Coot) चिड़ियों की अँगुलियों के किनारे केवल पतली छिल्लियों से ढँके होते हैं, फिर भी यह पूरी तरह जलीय स्वभाव की है। इसी प्रकार इससे अधिक स्पष्ट और क्या होगा कि **ग्रालाटोरिस** (Grallatores) की चमड़ी-रहित, लम्बी अँगुलियाँ कीचड़ या तैरते हुए पौधों के ऊपर चलने के लिए बनी हैं। पानी की मुर्गी तथा खेतों में पाये जाने वाले लैंडरेल (Landrail) पक्षी इसी समूह के हैं, किन्तु इनमें से पानी की मुर्गी लगभग उतनी ही जलीय प्रकृति की है जितनी कि कूट चिड़िया और लैंडरेल इतनी स्थलीय प्रकृति की है जितने तीतर या बटेर होते हैं। इस तरह के अनेक उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि जन्तुओं के स्वभाव में तो परिवर्तन हो गया है, किन्तु उसके अनुसार संरचना में परिवर्तन नहीं हुआ है। पहाड़ी हंस में यह कहा जा सकता है कि अँगुलियों की चमड़ी कार्य की दृष्टि से निरर्थक हो गयी है और एक प्रकार से अवशिष्ट मात्र है, हालांकि संरचना की दृष्टि से ऐसा नहीं है। इसके विपरीत फ्रीगेट चिड़िया की अँगुलियों की जुड़ी चमड़ी के विषय में यह कहा जा सकता है कि स्वभाव के परिवर्तन के कारण संरचना सम्बन्धी परिवर्तन प्रारम्भ हो गये हैं।

अलग-अलग जातों की स्वतन्त्र सृष्टि में विश्वास करने वाले यह कह सकते हैं कि ऐसे उदाहरणों में सृष्टिकर्त्ता की यह इच्छा थी कि एक प्रकार का जीव दूसरे प्रकार के जीव का स्थान ग्रहण करे; पर मेरे विचार में यह एक ही बात को भिन्न प्रकार की भाषा में कहना हुआ। जो लोग जीवन-संघर्ष तथा प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं वे यह मानते हैं कि प्रत्येक जीव निरंतर अपनी संख्या में वृद्धि करने का प्रयत्न करता है, और यदि कोई जीव स्वभाव या संरचना में थोड़ा भी परिवर्तित होता है, और इस प्रकार अपने प्रदेश के अन्य निवासियों की अपेक्षा जीवन-संघर्ष में अधिक सफल होता है, तो वह उन अन्य निवासियों का स्थान ले लेगा, चाहे यह स्थान उसके अपने मूल स्थान से कितना ही भिन्न क्यों न हो! अतः उसको यह देख कर कोई आश्चर्य न होगा कि ऐसी हंस और फ्रीगेट चिड़याँ हैं, जिनके पंजों में चमड़ी होती है और फिर भी वे स्थल पर रहती हैं और विरले ही पानी पर

जाती हैं। इसी प्रकार उसको लम्बी अँगुलियों वाली कार्नक्रेक (Corn crake) चिड़ियों को कीचड़ के बजाय हरे-भरे मैदानों में देखकर या कठफोड़ों को ऐसे स्थान पर देख कर, जहाँ एक भी पेड़ न हो, या पानी में डुबकी लगाने वाली थ्रश चिड़िया या हाइमेनाप्टेरा को देखकर कोई आश्चर्य नहीं होगा।

परमोत्कर्ष तथा अत्यन्त जटिल अंग

हमारी आँख में भिन्न-भिन्न दूरी पर स्थित पदार्थों को देख सकने के लिए नाभीयन (focussing) के विविध प्रबन्धों को देख कर, या प्रकाश के भिन्न मात्राओं के प्रवेश या रंग-रूप से संबंधित संवेदों को ग्रहण करने की शक्ति की पूर्ति करने के प्रवन्धों को जानकर भी यह कहना कि आँख का निर्माण प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया के द्वारा हुआ है, मेरी समझ में नितान्त मूर्खता की बात जान पड़ती है। जव पहली बार किसी ने यह कहा कि सूर्य अपने स्थान पर स्थिर है, तथा पृथ्वी उसके चारों ओर घूमती है तो मनुष्य के सामान्य ज्ञान ने यह कहा कि यह झूठ है, किन्तु विज्ञान इस सिद्धान्त पर आधारित नहीं किया जा सकता कि जनता जो बात कहती है वही सत्य है। बुद्धि यह कहती है कि यदि सरल तथा अत्यन्त अपूर्ण अवस्था की आँख से लेकर सम्पूर्ण तथा जटिल अवस्था तक की आँखों की विभिन्न अवस्थाएँ दिखायी जा सकती हैं और प्रत्येक अवस्था उस विशेष जीव के लिए लाभदायक होती है, जिसमें वह पायी जाती है, जैसा कि वास्तव में होता है; यदि यह दिखाया जा सकता कि आँख में परिवर्तन हो सकते हैं और यह परिवर्तन वंशागत होते हैं; तथा यदि यह दिखाया जा सकता कि जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में आँखों में होने वाले परिवर्तन उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, तो चाहे हमारे लिए यह कल्पना करना कितना भी कठिन हो, पर वास्तव में यह विश्वास करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि, प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा सम्पूर्ण तथा जटिल आँख का निर्माण हो सकता है। हमारे लिए यह बात विशेष महत्त्व की नहीं है कि कैसे कोई नाड़ी (nerve) पहली बार प्रकाश के लिए संवेदनीय हुई, उसी प्रकार जैसे हमारा इससे सम्बन्ध नहीं कि स्वयं जीवन का प्रारम्भ कैसे हुआ। किन्तु मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि यदि ऐसे सूक्ष्मतम प्राणियों में, जिनमें नाड़ियाँ नहीं पायी जातीं, प्रकाश का संवेद ग्रहण करने की शक्ति होती है, तो यह भी सम्भव है कि जीवरस का कुछ संवेदनीय भाग एकत्र होकर नाड़ियों का निर्माण कर ले जो प्रकाश के लिए विशेषतः संवेदनीय हो।

यह समझने के लिए कि किसी जात का कोई अंग पूर्णता प्राप्त करने के लिए किन-किन अवस्थाओं से होकर विकसित हुआ है, यह आवश्यक है कि हम केवल उसके

पूर्वजों की सीधी परम्परा के सदस्यों की परीक्षा करें। किन्तु यह शायद ही सम्भव हो सके। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम उसी समूह की अन्य जातियों या जातों को, अर्थात एक ही पूर्वज की अन्य समानान्तर संततियों को देखें, जिससे जहाँ तक सम्भव हो सके परिवर्तन की विविध अवस्थाओं का हमको अनुमान हो सके। यह सम्भावना बराबर बनी रहती है कि परिवर्तन की कुछ अवस्थाएँ किसी जात में बिना अधिक परिवर्तन के वंशागत हुई हों। इस प्रकार कभी-कभी तो भिन्न-भिन्न वर्गों में भी किसी अंग की अवस्था देखने से इस बात पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना रहती है कि यह अंग किन अवस्थाओं के द्वारा अपनी उत्कृष्टता की अवस्था को प्राप्त हुआ है।

सरलतम अवस्था में जिस अंग को हम आँख कह सकते हैं उसकी संरचना में एक दृष्टि नाड़ी (optic nerve) होती है, जो चारों ओर से रंगि कोशिकाओं से घिरी होती है तथा पारभास (translucent) त्वचा से ढकी होती है; किन्तु उसमें लेंस या भुजायिता (refractivity) सम्बन्धी अंग नहीं होते। मि० एम० जूरदेन (Mr. M. Jourdain) के अनुसार तो हम आँख के विकास के सम्बन्ध में एक सीढ़ी और भी नीचे जा सकते हैं, और तब देखेंगे कि यह रंगि कोशिकाओं का एक समूहमात्र है जो साधारण कोशिकाओं के नीचे स्थित है और इसमें तंत्रिकाओंका नाम नहीं होता। ऐसी सरल संरचना की आँखों से साफ देखने का काम नहीं हो सकता, और इनके द्वारा केवल अँधेरे और उजाले में भेद किया जा सकता है। इसी लेखक के वर्णन के अनुसार कुछ तारा मछलियों (star-fishes) में नाड़ियों को घेरने वाली रंगि कड़िकाओं के स्तर में छोटे गढ़े होते हैं, जिनमें एक पारदर्शक, अर्ध-ठोस पदार्थ भरा होता है, जो ऊपर की ओर उच्च प्राणियों के कार्निया की भाँति उभरा होता है। उनका विचार है कि इस प्रबन्ध के द्वारा ऐसी आँखों में प्रतिबिम्ब तो नहीं बनता, किन्तु इसके द्वारा प्रकाश की किरणें अधिक मात्रा में एकत्र हो जाती हैं, जिससे उनकी उपस्थिति का ज्ञान आसानी से होता है। वास्तव में किरणों के इस प्रकार एकत्रीकरण की क्रिया से वास्तविक तथा प्रतिबिम्ब बनाने वाले नेत्र के निर्माण में प्रथम किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण प्रगति होती है; क्योंकि इसके बाद यदि हम दृष्टिनाड़ी का सिरा किरणों को एकत्र करने वाले यन्त्र से ठीक दूरी पर रख सकें तो इसके ऊपर प्रतिबिम्ब बनने लगेगा। अधिकतर निम्न कोटि के प्राणियों में इसी बात की कमी होती है। कुछ में नाड़ी का सिरा शरीर में बहुत गहराई पर होता है, और कुछ में त्वचा के बहुत निकट।

आर्टीकुलाटा (Articulata) के महान् वर्ग में सरलतम अवस्था में नेत्र में

केवल एक दृष्टि नाड़ी होती है, जो रंगि कणों से घिरी होती है। इस प्रकार कुछ हद तक तारा (pupil) जैसी संरचना का निर्माण होता है, किन्तु इसमें किरणों के नाभीयन के लिए लेन्स आदि अंग नहीं होते। कीटों के सम्बन्ध में अब हम भली भाँति यह जानते हैं कि उनके संयुक्त नेत्रों के बाहर की ओर पाये जाने वाले कार्निया के असंख्य सूक्ष्म क्षेत्र लेन्स का काम करते हैं, और नेत्रिकाओं के भीतर कणिकाओं में आपरिवर्तित नाड़ी तन्तु होते हैं। किन्तु आर्टीकुलाटा में ये अंग इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं कि मूलर (Muller) ने प्रारम्भ में इसके चार मुख्य वर्ग तथा सात उपवर्ग किये थे, जिनमें से एक वर्ग संग्रहीत सरल नेत्रों (aggregated, simple eyes) वाला था।

यद्यपि इन बातों को यहाँ काफ़ी संक्षेप में दिया गया है, फिर भी हम निम्नकोटि के जन्तुओं में आँखों की रचना की विविधता पर विचार करें और यह ध्यान रखें कि आजकल के सभी जीवित-जन्तुओं की संख्या विलुप्त हो गये जन्तुओं की अपेक्षा कितनी छोटी है तो यह समझने में कोई कठिनाई नहीं दिखाई पड़ती कि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा प्रारम्भ में रंगि से ढका, और पारदर्श झिल्ली से आवेष्ठित दृष्टि नाड़ी जैसा सरल यन्त्र किस प्रकार इतना उत्कृष्ट हो गया हो जैसा आजकल आर्टीकुलाटा वर्ग के प्राणियों में है।

यदि इस पुस्तक को अन्त तक पढ़ने के बाद पाठक यह देखते हैं कि ऐसे अनेक तथ्य जिनका स्पष्टीकरण किसी अन्य रीति से सम्भव नहीं है, वे प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा आपरिवर्तन के सिद्धान्त की सहायता से समझे जा सकते हैं, अथवा जो आँखों के विषय में ऊपर लिखी बातों को मानने को तैयार हैं, वे इस दिशा में एक पग और भी आगे जा सकते हैं। उनको यह भी मान लेना चाहिए कि चील की जैसी उत्कृष्ट संरचना वाली आँख भी इसी तरह बनी होगी, हालांकि उसके निर्माण की विविध अवस्थाओं से हम पूरी तरह अपरिचित हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि आँख के आपरिवर्तित होने तथा साथ ही उसके एक उत्कृष्ट यन्त्र बने रहने के लिए कई परिवर्तनों का साथ-साथ होना आवश्यक होगा, जो प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा सम्भव नहीं होगा। किन्तु पालतू जानवरों के परिवर्तन पर विचार करते समय यह दिखाने की चेष्टा की गयी है कि यह मानना आवश्यक नहीं है कि यदि आपरिवर्तन बहुत सूक्ष्म और क्रमिक थे, तो उनका साथ-साथ होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त सम्भव है कि कई प्रकार के आपरिवर्तनों के द्वारा एक ही कार्य हो सके। वालेस ने कहा है कि "यदि लेन्स का नाभि (focus) बहुत अधिक या कम है, तो वह घनत्व के परिवर्तन अथवा लेन्स की वक्रता में परिवर्तन

के द्वारा ठीक किया जा सकता है। यदि वक्रता अनियमित है और किरणें एक ही विन्दु के ऊपर केन्द्रित नहीं होतीं तो वक्रता को नियमित करने से बहुत सुधार हो सकता है। इस प्रकार पुतली का सिकुड़ना तथा आँख में पेशीयगति का होना दृष्टि के लिए आवश्यक नहीं है, यह केवल कुछ ऐसे सुधार हैं जो उस यन्त्र के निर्माण की किसी भी अवस्था में किये जा सकते थे। जन्तु समुदाय के सब से बड़े विभाजन अर्थात वर्टिब्राटा में हम अत्यन्त सरल रचना की आँख भी देखते हैं, जैसी कि एम्फीऑक्सस में पायी जाती है। यह पारदर्श चर्म की छोटी थैली-जैसी संरचना है, जो रंगि से आस्तरित है और जिसमें एक नाड़ी उपस्थित है। इसमें और कोई भाग नहीं होता। मछलियों तथा उरगों (reptiles) में जैसा ओवेन (Owen) ने कहा है, दृष्टि सम्बन्धी अंग बड़े ही विविध हैं। वरचाऊ (Virchow) जैसे सुविख्यात वैज्ञानिक के अनुसार यह ध्यान देने की बात है कि मनुष्य में भी सुन्दर स्फटिक लेन्स भ्रूण में चर्म कोशिकाओं के संग्रह से बनता है जो एक थैली जैसे चर्म के भंज में पाये जाते हैं तथा विट्रेयस काय (vitreous body) भ्रूण के अधिचर्म ऊतक से बनती है। फिर भी आँख जैसी अदभुत, और उत्कृष्टता में अपूर्व अंग के निर्माण के विषय में सही नतीजे पर पहुँचने के लिए आवश्यक है कि कल्पना से बहुत काम न लिया जाय, बल्कि बुद्धि से। और इस विषय में हमारे अवलोकन इतने अपर्याप्त हैं कि मुझको यह देखकर आश्चर्य नहीं होता कि बहुत से लोग इसके निर्माण का श्रेय प्राकृतिक निर्वाचन को देने में अब भी हिचकिचाते हैं।

आँख की तुलना दूरदर्शी यंत्र से करना आवश्यक जान पड़ता है। हम जानते हैं कि दूरदर्शी यन्त्र की उन्नति अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्तियों के कठिन प्रयत्न के द्वारा ही सम्भव हुई और स्वभाविक है कि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि आँख का निर्माण भी बहुत-कुछ इसी प्रकार हुआ होगा, किन्तु यह निष्कर्ष भ्रमात्मक हो सकता है। हम को यह समझने का क्या अधिकार है कि सृष्टिकर्त्ता भी मनुष्य की भाँति बौद्धिक शक्ति के द्वारा भी काम करता है? यदि हम आँख की तुलना काशिकीय यंत्रों (optical instruments) से करें तो हमको किसी ऐसी संरचना की कल्पना करनी पड़ेगी जो पारदर्श ऊतक के मोटे स्तर की बनी हो, जिसके भीतर का स्थान किसी तरल पदार्थ से भरा हो तथा उसमें प्रकाश के लिए संवेदनीय एक नाड़ी जुड़ी हो। फिर हमको यह भी अनुमान करना पड़ेगा कि इस पारदर्श पदार्थ के प्रत्येक भाग का घनत्व निरन्तर बदलता रहेगा, जिसके फलस्वरूप अलग-अलग मोटाई तथा घनत्व की कई परतें उसमें अलग हो जायँगी जो एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न फासलों पर स्थित होंगी और प्रत्येक स्तर के तल का आकार बदलता रहेगा। इसके अतिरिक्त हमको यह

भी अनुमान करना पड़ेगा कि प्राकृतिक निर्वाचन अथवा योग्यतम के अतिजीवन जैसी कोई शक्ति सदा इन पारदर्श स्तरों में होने वाले सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परिवर्तनों को ध्यान से देखती रहती है और यदि ये परिवर्तन विभिन्न परिस्थितियों में किसी प्रकार अधिक स्पष्ट चित्र बनाते हैं, तो वह उनकी रक्षा करती है। यह अनुमान करना भी आवश्यक होगा कि यह यंत्र अपनी प्रत्येक अवस्था में करोड़ों की संख्या में बनेगा और जब तक उसमें किसी प्रकार की उन्नति नहीं होगी तब तक बना रहेगा। जब उसमें किसी प्रकार की उन्नति हो जाएगी, तो उन्नतिशील अवस्था की संख्या में वृद्धि होगी और उसके पहले की अवस्था का विनाश हो जाएगा। जीवित प्राणियों में ये सूक्ष्म अन्तर परिवर्तनों के द्वारा होंगे, संख्या की वृद्धि पीढ़ियों में जनन-क्रिया के द्वारा होगी, तथा प्राकृतिक निर्वाचन योग्यता से हर प्रकार के उपयोगी लक्षणों को छाँटता रहेगा। अगर यही क्रिया करोड़ों वर्ष तक चलती रहे, और हर वर्ष अनेक प्रकार की करोड़ों संतानों की उत्पत्ति होती रहे, तो क्या यह सम्भव नहीं है कि जिस प्रकार सृष्टिकर्त्ता के कार्य मनुष्य के कार्यों से बहुत अच्छे होते हैं, उसी प्रकार जीवित दृष्टि-यंत्र काँच के बने यंत्रों से बहुत सफल बन सकें।

संक्रमण की विधियाँ

यदि यह दिखाया जा सकता कि ऐसा कोई जटिल अंग था जिसका निर्माण अनगिनती क्रमिक, सूक्ष्म आपरिवर्तनों से नहीं हो सकता तो मेरा सिद्धान्त चूररचूर हो जायगा; किन्तु मुझको एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिल सका । इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे बहुत से अंग पाये जाते हैं, जिनके निर्माण की क्रमिक अवस्थाओं से हम परिचित नहीं हैं। यदि हम विशेषकर ऐसी पृथक की हुई जातों को देखें जिनके आस-पास मेरे सिद्धान्त के अनुसार, विनाश बहुत अधिक संक्रामक हुआ है, तो निश्चय ही कई अंगों की अवस्थाएँ पाने में बहुत कठिनाई होगी। यदि हम ऐसे अंग को देखें जो किसी अंग के सभी सदस्यों में पाया जाता है, तो भी हमको ऐसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि यह अंग मूलतः बहुत काल पहले बन चुका होगा, उसके बाद ही वर्ग के सभी सदस्यों का विकास हुआ होगा। अतः उस प्रारम्भिक परिवर्तन की अवस्थाओं को प्राप्त करने के लिए, जिनसे होकर इस अंग का विकास हुआ है, हमको बहुत ही प्राचीन पूर्वजों की खोज करनी होगी। और इन अवस्थाओं का विनाश बहुत दिन पहले हो चुका है।

वास्तव में इस नतीजे पर पहुँचने में, कि कोई अंग बिना किसी प्रकार की परिवर्तनों की अवस्थाओं से गुज़रे ही बन सका होगा, हमें बहुत ही सावधानी से काम

लेना चाहिए। निम्न कोटि के प्राणियों के ऐसे असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें एक ही अंग एक ही समय में बिल्कुल भिन्न प्रकार के कार्य करता हो। उदाहरण के लिए, ड्रैगन-फ्लाई के लार्वा तथा कोबाइटीज (Cobites) मछली में आहार-नाल के द्वारा पाचन, श्वसन तथा उत्सर्जन की क्रियाएँ होती हैं। हाइड्रा में पूरा प्राणी एकदम उलट जा सकता है, जिससे उसके भीतर के स्तर बाहर, बाहर के स्तर भीतर हो जाते हैं, और तब बाहर का स्तर पाचन का काम करेगा तथा आमाशय के द्वारा श्वसन होगा। ऐसे उदाहरणों में यदि विशेषीकरण के द्वारा प्राणी को किसी प्रकार का लाभ होगा तो प्राकृतिक निर्वाचन ऐसे अंगों को किसी विशेष कार्य के लिए अनुकूलित करेगा जो पहले एक से अधिक कार्य करते थे, और इस प्रकार धीरे-धीरे इसकी सरंचना में परिवर्तन हो जायँगे। हम ऐसे अनेक पौधों को जानते हैं, जो एक ही समय में बराबर कई प्रकार के पुष्प उत्पन्न करते हैं। यदि इन पौधों में एक ही प्रकार के पुष्प उत्पन्न होने लगें, तो एकाएक ही इन जातों के लक्षणों में भारी अन्तर हो जाएँगे। पर यह भी सम्भव है कि यदि किसी पौधे पर दो प्रकार के पुष्प उत्पन्न होते हैं तो इसलिए कई क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा उसके फूलों में यही भिन्नता प्रारम्भ हुई है और बहुत सम्भव है कि कुछ और भी उदाहरणों में इसी प्रकार विभेदन होने लग जाय।

यह भी सम्भव है कि दो अलग-अलग अंग अथवा दो अलग-अलग रूपों का एक ही अंग किसी जीव में एक साथ एक ही कार्य करने लग जाय। आकार में परिवर्तन की यह बहुत महत्त्वपूर्ण विधि है। एक उदाहरण लीजिए। ऐसी अनेक जल श्वसनिका या गिल सहित मछलियाँ हैं जो पानी में घुली हुई आक्सीजन के द्वारा श्वसन करती हैं, किन्तु साथ ही उनके शरीर में तैरने में मदद करने के लिए हवा की थैली होती है जिसकी सहायता से वे स्वतन्त्र वायु का भी उपयोग करती हैं*। यह अंग अनेक संवाहनीय विभाजकों द्वारा विभाजित होता है, और इसमें वायु पहुँचने के लिए वायुनलिका होती है। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण वनस्पति साम्राज्य से लीजिए। कमज़ोर पौधे तीन प्रकार से अपने सहारे पर चढ़ते हैं—कुछ कुंतलित रूप से लिपट कर, कुछ अपनी संजनियों (tendrils) द्वारा सहारे को पकड़ कर, और कुछ वायवीय जड़ों की सहायता से। ये तीनों विधियाँ साधारणतः पौधों के तीन विभागों में पायी जाती

* **बाद की अनेक खोजों के आधार पर अब जन्तु-वैज्ञानिक यह विश्वास नहीं करते कि यह थैली श्वसन का कार्य करती है। —अनु०**

हैं। किन्तु कुछ पौधे ऐसे भी हैं जिनमें साथ ही दो या कभी-कभी तीनों विधियाँ देखने में आती हैं। ऐसे सभी उदाहरणों में दो इस प्रकार के साथ पाये जाने वाले अंगों में से एक आपरिवर्तित हो जाता है, और इस प्रकार उस विशेष कार्य को करने के लिए उत्कृष्ट हो जाता है, और दूसरा अंग या तो क्रमशः नष्ट हो जाता है या वह किसी बिल्कुल ही भिन्न कार्य के लिए आपरिवर्तित हो जाता है।

तैरने वाली थैली का उदाहरण एक प्रकार से बहुत अच्छा है, क्योंकि यह स्पष्ट रूप से इस महत्त्वपूर्ण बात का प्रमाण देता है कि कोई अंग मूलतः जिस कार्य के लिए निर्मित हुआ हो (जैसे यहाँ तैरने के लिए) वह बाद में एक दूसरा ही और बिल्कुल भिन्न कार्य, अर्थात श्वसन-क्रिया, करने लगता है। इतना ही नहीं, यह थैली कई उदाहरणों में श्रवण-क्रिया में भी सहायक कार्य करने लगी है। सभी विद्वान् यह मानते हैं कि तैरने की थैली उच्च वर्टिब्रेट प्राणियों के फेफड़ों से बिल्कुल मिलती-जुलती है; अर्थात ये दोनों रचना सदृश अंग हैं। अतः यह संदेह करने का कोई कारण नहीं कि वास्तव में यह थैली फेफड़ों में परिणत हो सकती है, अर्थात ऐसे अंग में परिणत हो सकती है, जिसका एकमात्र कार्य श्वसन-क्रिया ही है।

इस मत के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि वास्तविक फेफड़ों वाले सभी वर्टिब्रेट जन्तु किसी ऐसे प्राचीन किन्तु अज्ञात पूर्वज से वंशागत हुए हैं, जिसमें प्रारम्भ में तैरने का कोई अंग अर्थात यह थैली उपस्थित थी। इसी मत के आधार पर और जैसा ओवेन द्वारा दिये गये इन अंगों के वर्णन से हम इस विचित्र बात को भी समझ सकते हैं कि हमारे भोजन आदि का प्रत्येक कण, जिसको हम निगलते हैं, श्वास-नाल के छिद्र के ऊपर से हो कर गुज़रता है। स्पष्ट है कि इस क्रिया में बराबर यह भय रहता है कि भोजन के कण अथवा पानी की बूँदें फेफड़े में चली जायँ, यद्यपि अधिकतर प्राणियों में ग्लाटिस जैसा सुन्दर यन्त्र भोजन का मार्ग निर्देशित करने के लिए उपस्थित है। उच्च वर्टिब्रेटों में गिल या श्वसनिकाएँ बिल्कुल ही नष्ट हो गयी हैं; किन्तु इनकी भ्रूणावस्थाओं में गर्दन के अलग-अलग कई छोटे चिन्ह या छिद्र होते हैं। और इसी प्रकार धमनियों का मार्ग भी किसी समय गिलों की उपस्थिति की ओर संकेत करता है। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि गिल, जो इन प्राणियों में बिल्कुल नष्ट हो गयी हैं, कम-से-कम कुछ जीवों में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा कुछ और कार्य करने लगी हों। उदाहरण के लिए लंडायस (Landois) ने यह दिखाया है कि कीटों के पंख श्वास-नालों से विकसित हुए हैं। इस प्रकार यह बहुत सम्भव है कि इस विशाल वर्ग में जो अंग किसी समय श्वसन का कार्य करते थे, बाद में उड़ने वाले अंगों में परिणित हो गये हों।

अंगों के परिवर्तन पर विचार करने में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बहुत सम्भव है कि इनके कार्य में भी परिवर्तन हो गया हो। मैं इस बात का एक दूसरा उदाहरण देता हूँ। सवृन्त सिरीपीडों में त्वचा की दो भंजें होती हैं जिनमें एक चिपचिपे पदार्थ के कारण अंडे तब तक रखे रहते हैं जब तक वे टूट नहीं जाते। इन सिरीपीडों में गिल नहीं होते और समस्त शरीर की खाल तथा थैलियाँ श्वसन का कार्य करती हैं। बैलेनिडी (Balanidae) वंश के वृन्तहीन सिरीपीडों में इस प्रकार अंडों की रक्षा करने वाले यन्त्र नहीं होते; इनके अंडे थैली के भीतर ऐसे ही पड़े रहते हैं, किन्तु थैली के मुँह पर बड़ी, मुड़ी हुई झिल्लियाँ होती हैं जिनका सम्बन्ध थैली तथा शरीर के अन्य भागों के रक्त-संवाहकों से होता है और सभी अधिकारी यह मानते हैं कि ये झिल्लियाँ गिलों का काम करती हैं। मेरे विचार में ऐसी परिस्थिति में इसमें किसी को सन्देह नहीं होगा कि एक वंश में अंडों की रक्षा करने वाले यन्त्र दूसरे वंश की झिल्लियों के बराबर हैं, और वास्तव में एक रचना दूसरे में क्रमशः घुल-मिल जाती है। इस तरह इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि खाल की वे दो भंजें जो आरम्भ में केवल अंडों की रक्षा का कार्य करती थीं, धीरे-धीरे श्वसन-क्रिया में सहायक हुईं और अन्त में प्राकृतिक निर्वाचन की सहायता से उनकी नाप में वृद्धि हुई तथा चिपचिपे पदार्थ की उत्पत्ति रुकी, जिससे ये गिलों में ही परिवर्तित हो गयीं। यदि सभी सवृन्त सिरीपीडों का विनाश हो जाय (वृन्तहीन सिरीपीडों की अपेक्षा वास्तव में इनका विनाश अधिक हुआ है) तो भला कौन इस बात का अनुमान कर सकता है कि वृन्तहीन वंश में पायी जानी वाली गिलें किसी समय अंडों की रक्षा का काम करती थीं।

अवस्था में परिवर्तन की एक विधि और भी हो सकती है और वह जनन काल के जल्दी प्रारम्भ हो जाने या स्थगित होने के द्वारा। अभी हाल में युनाइटेड स्टेट्स में प्रोफ़ेसर कोप तथा कुछ अन्य लेखकों ने इस बात पर खास तौर से जोर दिया है। यह अब भली भाँति ज्ञात है कि कुछ जन्तुओं में बड़ी थोड़ी अवस्था में ही जनन-शक्ति का विकास हो जाता है और इनमें से कुछ तो प्रौढ़ लक्षणों के प्रकट होने के पहले ही जनन करने लगते हैं। यदि यह शक्ति किसी जात में पूरी तरह विकसित हो जाय तो यह बहुत सम्भव है कि प्राणी की प्रौढ़ अवस्था अन्त में लुप्त ही हो जाय। और यदि इस प्रकार के उदाहरण में लार्वा प्रौढ़ से विशेष प्रकार से भिन्न हो तो ऐसी परिस्थिति में जात के लक्षण बहुत-कुछ बदल जायँगे तथा उनकी विकास की दृष्टि से अवनति हो जायगी। फिर कई प्राणी प्रौढ़ावस्था पर पहुँचने के बाद भी लगभग जीवन भर बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए स्तनधारियों में अवस्था के साथ-साथ खोपड़ी का आकार भी बदलता रहता है। डाक्टर म्यूरी ने इस बात के कई अद्भुत उदाहरण सीलों

(Seals) में दिये हैं। सभी जानते हैं कि किस प्रकार अवस्था बढ़ने के साथ-साथ बारहसिंघों के सींग अधिकाधिक शाखित होते जाते हैं और चिड़ियों के पर परिवर्तित हो जाते हैं। प्रोफ़ेसर कोप का कहना है कि छिपकलियों के वर्ग के कई प्राणियों के दाँत आयु बढ़ने के साथ-साथ आकार में बदलते जाते हैं। फ्रिट्ज़ मूलर के अनुसार क्रस्टेशिया में केवल छोटे-मोटे अन्तर ही नहीं होते, बल्कि कुछ महत्त्वपूर्ण अंग प्रौढ़ता प्राप्त होने के बाद नये लक्षण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं और इनमें से प्रत्येक में जनन की अवस्था के खिसक जाने पर प्रौढ़ के लक्षण आपरिवर्तित हो जाएँगे। यह भी असम्भव नहीं है कि इस अवस्था के जल्दी आ जाने पर कई प्रारम्भिक अवस्थाएँ संक्षिप्त हो जाएँगी और अन्त में लुप्त हो जाएँगी। यह कहना कठिन है कि वास्तव में अवस्था-परिवर्तन की इस आकस्मिक विधि से जातों का कभी निर्माण हुआ है अथवा नहीं। किन्तु यदि ऐसा हुआ है तो यह सम्भव है कि मूलत: युवा तथा प्रौढ़ अवस्थाओं अथवा प्रौढ़ तथा वृद्धावस्थाओं के अन्तर क्रमिक अवस्थाओं से उत्पन्न हुए हैं।

प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त की विशेष कठिनाइयाँ

यद्यपि हमको इस निष्कर्ष पर पहुँचने में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए कि कोई अंग क्रमबद्ध सूक्ष्म परिवर्तन की अवस्थाओं के द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकता फिर भी कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें हमको कई विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

एक विकट कठिनाई नपुंसक कीटों के विषय में है। यों बहुधा नर तथा मादा कीटों की तुलना में ये भिन्न प्रकार के होते हैं। किन्तु इस उदाहरण के विषय में हम अगले अध्याय में लिखेंगे। मछलियों के विद्युत-अंगों के विषय में भी विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि यह अनुमान करना असम्भव है कि इन विलक्षण अंगों का निर्माण किन अवस्थाओं के द्वारा हुआ होगा। किन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि हम यह भी नहीं जानते कि इनका उपयोग क्या है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिम्नोटस (Gymnotpus) तथा टारपीडो (Torpedo) मछलियों में ये रक्षा के शक्तिशाली अंगों का काम करते हैं और कदाचित शिकार पकड़ने में भी सहायक हैं। किन्तु मैटूची (Matteucci) के अवलोकन के अनुसार इससे मिलता-जुलता पूँछ पर स्थिति एक अंग मछली के बहुत उदीप्त किये जाने पर भी विद्युत नहीं उत्पन्न करता। डा० आर० एम० डोनेल के अनुसार 'रे' मछली के शिर के पास एक अंग होता है जिसमें विद्युत नहीं उत्पन्न होती। फिर भी यह अंग टारपीडो की विद्युत

संरचना के रचना सदृश अंग हैं। साधारणतः लोग यह मानते हैं कि इन विद्युत अंगों तथा साधारण पेशियों की सूक्ष्म रचना, नाड़ियों के वितरण तथा रासायनों के प्रभावों के विषय में बहुत समता है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि साधारण पेशिय-संकोच में भी हलका विद्युत-प्रवाह होता है, और जैसा डाक्टर रैडक्लिफ कहते हैं, विश्रामावस्था में टारपीडो के विद्युत-यन्त्र में जो प्रवाह होगा वह हर प्रकार से विश्रामावस्था में किसी पेशी तथा नाड़ी में होने वाले प्रवाह के समान होगा और इस प्रकार टारपीडो का प्रवाह विचित्र न हो कर पेशी तथा चालक नाड़ी के प्रवाह का एक रूप हो सकता है। वर्तमान अवस्था में हम इन अंगों के उपयोग के विषय में तथा वर्तमान विद्युत मछलियों के पूर्वजों के विषय में इतना कम जानते हैं कि इससे अधिक स्पष्टीकरण सम्भव नहीं जान पड़ता फिर भी यह कहना कठिन है कि इन अंगों की उत्पत्ति में परिवर्तन की उपयोगी अवस्थाएँ नहीं हो सकतीं।

इन अंगों के विषय में एक और विकट कठिनाई सामने आती है। ये अंग लगभग एक दर्जन प्रकार की मछलियों में मिलते हैं जिनमें से अधिकांश में आपस में कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। जब कोई अंग एक ही वर्ग के कई सदस्यों में, विशेष कर अलग-अलग स्वभाव के सदस्यों में, मिलता है तो साधारणतः हम यह कहते हैं कि ऐसा उनके एक ही पूर्वज से वंशागति के कारण है; और यदि वर्ग अथवा वंश के कुछ सदस्यों में अंग अनुपस्थित है तो हम उसका कारण प्राकृतिक निर्वाचन अथवा अनुपयोग बताते हैं। अतः यदि विद्युत-अंग किसी एक ही प्राचीन पूर्वज से वंशागत हुए होते तो हम इस बात की आशा करते कि सभी विद्युत मछलियाँ एक-दूसरे से विशेष प्रकार से सम्बन्धित होंगी; किन्तु बात ऐसी नहीं है। भूतत्व-शास्त्र के अध्ययन से किसी प्रकार यह नहीं समझा जा सकता कि किसी समय अधिकांश मछलियों में विद्युत-अंग थे जो बाद की आपरिवर्तित संततियों में नष्ट हो गये। किन्तु जब हम इस विषय पर अधिक ध्यान देते हैं तो हमको सबसे पहले इस बात पर विचार करना पड़ता है कि अलग अलग विद्युत मछलियों के विद्युत-अंग शरीर के अलग-अलग भागों में स्थिति हैं। इतना ही नहीं इनकी संरचनाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरण के लिए इनके स्तरों की व्यवस्था अलग होती है। पासिनी (Pacini) के अनुसार इनमें विद्युत उत्पन्न होने की विधि भी अलग होती है और कदाचित् इनके बीच सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि इनको अलग-अलग भागों से निकलने वाली नाड़ियाँ मिलती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्युत-अंगयुक्त अलग-अलग मछलियों के विद्युत-अंग एक-दूसरे के रचना सदृश (homologues) नहीं हैं, बल्कि केवल कार्य सदृश। और इस लिए कोई कारण नहीं कि हम यह समझें कि इस प्रकार की सभी मछलियाँ एक ही पूर्वज की

संतानें हैं। यदि ऐसा होता तो सभी प्रकार से ये मछलियाँ एक-दूसरे के समान होतीं। इस प्रकार हमारे विचार में यह कठिनाई, कि कोई अंग कई प्रकार की जातों में कैसे उत्पन्न होता है, दूर हो जाती है किन्तु एक दूसरी कठिनाई सामने आती है और वह यह कि अलग-अलग समहों की मछलियों में इन अंगों के विकास के क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा हुआ है।

जिस प्रकार की कठिनाई का सामना हमको मछलियों के विद्युत-अंगों के विषय में करना पड़ता है, लगभग उसी तरह की कठिनाई कीटों के प्रकाशोत्पादक अंगों के विषय में भी करना पड़ता है। ये अंग भी कीटों के अलग-अलग और बहुधा असम्बन्धित वंशों में मिलते हैं, शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में स्थिति होते हैं और उनके विषय में हमारा ज्ञान भी नहीं के बराबर है। इस प्रकार के और भी कितने उदाहरण दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए पौधों में पराग के बड़ी मात्रा का, चिपकने वाली ग्रन्थि सहित, वृन्त के ऊपर स्थिति होना, आरकिस (Orchis) तथा ऐस्क्लेपियस (Asclepias) दोनों में पाया जाता है। किन्तु ये दोनों जातियाँ एक-दूसरे से बहुत भिन्न तथा असम्बन्धित हैं। अतः इस उदाहरण में भी इन दोनों जातियों के अंग एक-दूसरे के रचना सदृश नहीं हैं। वास्तव में संगठन के विषय में एक-दूसरे से काफी पृथक् जीवों में बहुधा कुछ मिलते-जुलते तथा विचित्र अंग मिल सकते हैं; किन्तु अध्ययन करने पर मालूम होगा कि चाहे साधारण रूपरेखा अथवा कार्य की दृष्टि से वे एक-दूसरे के समान हों, फिर भी उनके बीच आधारीय अन्तर होंगे। उदाहरण के लिए कट्लफ़िश या सिफैलोपोडा (Cephalopoda) तथा वर्टिब्रेटा के प्राणियों की आँखें विचित्र रूप से समान जान पड़ती हैं क्योंकि यह निश्चय है कि ये दोनों वर्ग एक-दूसरे से इतने पृथक हैं कि इनके बीच कोई समानता एक ही पूर्वज से वंशागति के कारण नहीं हो सकती। मिवार्ट (Mivart) ने इस उदाहरण का उल्लेख मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध कठिनाई दिखाने के विचार से किया है, किन्तु मैं उनकी दलील में कोई तत्व नहीं देखता। दृष्टि के किसी भी अंग के निर्माण में दो भागों का होना आवश्यक है—प्रकाश की किरणों के प्रवेश के लिए पारदर्श त्वचा तथा किरणों के नाभीयन और आँख के पिछले भाग में मूर्ति-निर्माण के लिए किसी तरह का लेन्स। और हेन्सेन (Hensen) की अद्भुत पुस्तक के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट मालूम होता है कि कटलफ़िश तथा वर्ट्रिब्राटा की आँखों में भी इन्हीं ऊपरी समानताओं के अतिरिक्त और कोई समानता नहीं है। मेरे लिए इस विषय की गहराई में जाना अभी सम्भव नहीं है, किन्तु इन दोनों वर्गों की आँखों के बीच कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तरों का उल्लेख करना फिर भी आवश्यक है। उच्चकोटि की कटलफ़िश का मणिम लेन्स दो भागों

का बना होता है जो एक-दूसरे के पीछे दो अलग-अलग लेन्सों की भाँति स्थिति होते हैं। दोनों लेन्स वर्ट्रिब्रेटा के लेन्सों की अपेक्षा बहुत भिन्न होते हैं। इनका मूर्तिपट या रेटिना बिल्कुल ही भिन्न होता है जिसके प्रारम्भिक भाग वास्तव में उल्टे व्यवस्थित होते हैं और साथ ही एक बड़ा नाड़ी प्रगंड आँखों की झिल्ली में ही स्थिति होता है। इसी प्रकार मांसपेशियों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्य अंगों की रचना भी बिल्कुल ही भिन्न होती है। वास्तव में इन दोनों आँखों के बीच के अन्तर इतने अधिक हैं कि यह कहना भी कठिन है कि दोनों के विविध अंगों का उल्लेख करने में समान पारिभाषिक शब्दों का उपयोग करना कहाँ तक ठीक होगा। यह कहना तो किसी के लिए भी सम्भव है कि इन दो वर्गों में से किसी की आँख का विकास छोटे-मोटे अन्तरों के प्राकृतिक चुनाव के द्वारा नहीं हुआ, किन्तु यदि किसी उदाहरण में तथा किसी विषय में यह क्रिया मान ली जाती है तो किसी अन्य अंग में तथा अन्य वर्ग में भी इसकी सम्भावना मानी जा सकती है। हमारे मत के अनुसार इन दो वर्गों में दृष्टि सम्बन्धी अंगों में पाये जाने वाले अन्तरों का होना कुछ विशेष कठिनाइयाँ नहीं उत्पन्न करता। जिस तरह यह सम्भव है कि दो अलग-अलग व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से एक ही आविष्कार करें, उसी प्रकार इन उदाहरणों में जान पड़ता है कि प्राकृतिक निर्वाचन में भी अलग-अलग प्रकार के प्राणियों के हित में भी तथा लाभदायक परिवर्तनों के उपयोग के द्वारा एक ही प्रकार के अंगों का निर्माण किया है। जहाँ तक कार्य का प्रश्न है, ऐसे पृथक् प्राणियों में, जिनमें वंशागति की कोई भी समानता नहीं है, और इसलिए जिनके किसी अंग में पायी जाने वाली थोड़ी-बहुत समानता वंशागति के कारण नहीं हो सकती, उनमें भी पृथक् रूप से किसी विशेष ध्येय की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र रूप से दो समान अंग बन सकते हैं।

फ़िट्ज मूलर ने, इस पुस्तक में निकाले गये निष्कर्षों की परीक्षा के लिए लगभग मिलती-जुलती दलीलें बड़ी सावधानी और कुशलता के साथ दी हैं। क्रस्टेशिया के कई वंशों में कुछ ऐसी जातें पायी जाती हैं जिनमें वायु-श्वसन के लिए कुछ अंग होते हैं जिनकी सहायता से वे पानी के बाहर रह सकते हैं। इनमें से दो ऐसे वंशों का निरीक्षण मूलर ने विशेष प्रकार से किया है जो एक-दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं। इनकी जातें एक-दूसरे से सभी महत्त्वपूर्ण लक्षणों में, जैसे संवेदांगों तथा परिवहण-संस्थान की रचना में उनके जटिल आमाशय के भीतर रोमों के गुच्छों की उपस्थिति में, जल-श्वसन के अंगों की रचना में और यहाँ तक कि इन अंगों की सफ़ाई के लिए बने सूक्ष्म काँटों की रचना में, समान हैं। अतः यह आशा की जा सकती थी कि इन दोनों वंशों की जो जातें वायु-श्वसन करती है तथा स्थल पर रहती हैं, उनके वायु-श्वसन के अंग एक-दूसरे के समान होंगे। जब सभी अंग एक-दूसरे के इतने

अधिक समान और कभी-कभी अभिन्न हैं. तो केवल ये ही अंग, विशेषत: जब वे एक ही कार्य के लिए हैं, तो एक-दूसरे से भिन्न क्यों होंगे।

फ्रिट्ज़ मूलर का यह कहना है कि मेरे मत के अनुसार इन दो वंशों के बीच संरचना की इतनी अधिक समानता एक ही पूर्वज से उत्पन्न होने के कारण हो सकती है। किन्तु चूँकि इन दो वंशों की अधिकांश जातें तथा अधिकांश क्रस्टेशिया जलचर प्रकृति के हैं, इसलिए यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि इनका समान पूर्वज वायु-श्वसन के लिए अनुकूलित रहा होगा। इसलिए मूलर ने यह आवश्यक समझा कि सभी स्थल 'चर' जातों के वायु-श्वसन सम्बन्धी अंगों की विस्तारपूर्वक परीक्षा की जाय और उन्होंने यह देखा कि अलग-अलग जातों के ये अंग कई महत्त्वपूर्ण बातों में एक-दूसरे से भिन्न हैं, जैसे छिद्रों की स्थिति में, उनके खुलने या बन्द होने की विधि में तथा अन्य कई लक्षणों में। अब यदि हम यह मान लें कि अलग-अलग वंशों की जातें धीरे-धीरे पानी के बाहर रहने के लिए तथा वायु-श्वसन के लिए स्वतन्त्र रूप से अनुकूलित होती रही हैं, तो न केवल ये अन्तर हमारी समझ में आ जाते हैं, बल्कि हम इनकी आशा भी कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि जब कुछ प्राणी अलग-अलग वंशों के हैं तो उनमें कुछ अन्तरों का होना अनिवार्य है; और फिर इस सिद्धान्त के आधार पर कि प्रत्येक परिवर्तन की प्रकृति दो बातों पर निर्भर है—अर्थात् जीव की प्रकृति तथा वातावरण की प्रकृति—उनकी परिवर्तनशीलता भी एक जैसी नहीं होगी। अत: प्रत्येक वंश में प्राकृतिक निर्वाचन को काम करने के लिए भिन्न-भिन्न आधार अर्थात् परिवर्तन प्राप्त होंगे, और इसके फलस्वरूप जिन नयी रचनाओं का निर्माण होगा वे भी एक-दूसरे से भिन्न होंगी। स्वतन्त्र सृष्टि के सिद्धान्त के अनुसार इस तरह के उदाहरणों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। इस प्रकार अपनी महत्त्वपूर्ण दलीलों के आधार पर फ्रिट्ज़ मूलर ने इस पुस्तक में दिये गये मेरे मतों को स्वीकार किया है।

एक दूसरे महान् जन्तुशास्त्री, प्रोफ़ेसर क्लैपरीड (Prof. Claparede) ने भी इसी प्रकार की दलीलें दी हैं और वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उन्होंने यह दिखाया है कि कई पृथक् वंशों तथा उपवंशों की परजीवी किलनियाँ (एकैरीडी, Acaridae) ऐसी हैं जिनमें एक-दूसरे से अटकने के लिए रोम-तन्तु पाये जाते हैं। अलग-अलग समूहों में इनका निर्माण अलग-अलग अंगों के आपरिवर्तन से होता है—किसी में अगली टाँगों के आपरिवर्तन से, किसी में पिछली टाँगों से, किसी में ओठों से, किसी में शरीर के निचले भाग के अथवा पिछले भाग के उपांगों के आपरिवर्तन से। अत: स्पष्ट है कि उनकी उत्पत्ति एक ही पूर्वज से नहीं बल्कि स्वतन्त्र रूप से हुई है।

ऊपर दिये हुए उदाहरण में हम देखते हैं कि एक-दूसरे से बहुत पृथक् तथा लगभग असम्बन्धित जीवों में एक ही ध्येय की प्राप्ति और एक ही कार्य की पूर्ति देखने में समान अंगों के द्वारा होती है, हालांकि ये अंग विकास की दृष्टि से समान नहीं होते। साथ ही प्रकृति का यह साधारण नियम है कि बहुधा निकट सम्बन्धी प्राणियों में भी एक ही ध्येय की प्राप्ति अत्यन्त विविध रीतियों से की जाती है। उदाहरण के लिए देखिए पक्षियों के परदार पंख और चमगादड़ के चमड़े के पंख एक-दूसरे से कितने भिन्न हैं। इसी प्रकार आप देखेंगे कि तितली के चारों पंख, मक्खी के दो पंख और गुबड़ैले के दो कड़े और दो पतले पंख एक-दूसरे से कितने भिन्न हैं। सीपियों के कवच कपाटों की भाँति खुलने, बन्द होने के लिए बने होते हैं, किन्तु इस बात पर ध्यान दीजिए कि उनकी भिन्न-भिन्न जातों में कपाटों के कब्ज़े कितने भिन्न प्रकार के हैं—नुकुला (Nucula) में इसकी रचना एक-दूसरे में फँसने वाले दाँतों की शृंखला के द्वारा होती है और मसेल (Mussel) में यह केवल रज्जु पर आधारित है। इसी प्रकार बीजों का वितरण कई विधियों से होता है—किसी में यह केवल इनकी सूक्ष्मता पर आधारित है, तो किसी में काँटों या परों की रचना पर, किसी में वे इतने हलके होते हैं कि हल्की सी हवा में दूर तक उड़ सकते हैं, तो किसी में फलों में स्वादिष्ट गूदा होता है जिसके कारण जीव-जन्तु उनको खाते हैं और इस प्रकार दूर तक पहुँचाते हैं; किसी में इनका वितरण पक्षियों पर निर्भर करता है, तो किसी में चौपायों पर। इस प्रकार एक ही लक्ष्य अनेक विधियों से प्राप्त किया जा सकता है। चूँकि यह विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है, हम इसका एक और उदाहरण देंगे। कुछ लेखकों का विश्वास है कि जीवों का निर्माण अनेक रूपों में उनके बीच केवल भिन्नता उत्पन्न करने के लिए ही हुआ है, जैसे किसी दुकान में तरह-तरह के खिलौने पाये जाते हैं। किन्तु इस तरह के मत पर विश्वास नहीं किया जा सकता। पृथक् बीजों वाले पौधों में और उनमें जिनके उभयलिंगी होने पर भी पराग-कण गर्भ-नालमुख पर नहीं गिरते उनमें संसेचन के लिए किसी विशेष विधि की आवश्यकता होती है। कुछ पौधों में पराग-कण हल्के होते हैं और चिपकते नहीं और वायु के झोंकों के साथ उड़ कर कभी-कभी गर्भनाल-मुख पर पहुँच जाते हैं। यह विधि ही सब से सरल जान पड़ती है। किन्तु लगभग ऐसी ही सरल किन्तु भिन्न विधि कुछ अन्य पौधों में भी पायी जाती है। इनमें फूल में मधु की बूँद बनती है जिसके कारण इस पर मधुमक्खियाँ अथवा अन्य कीट आमन्त्रित होते हैं और वे पराग-केसर से पराग-कणों को गर्भ-नालमुख तक पहुँचाने का कार्य करते हैं।

इन सरल अवस्थाओं से प्रारम्भ करके हम भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक जटिल विधियों को देखेंगे जिनका निर्माण इसी तरह होता है और जिनके द्वारा एक ही ध्येय

की पूर्ति होती है, किन्तु जिनमें पुष्प के लगभग सभी भागों पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए मधु का निर्माण कई पुष्पों में होता है किन्तु मधु-कोष की रचना भिन्न होती है और उसके साथ ही गर्भ-केसर और पराग-केसर में अनेक प्रकार के आपरिवर्तन होते हैं और कुछ में किसी विशेष भाग की अत्यधिक हृषता या उसके लचीलेपन के कारण इन भागों में विशेष प्रकार की गति होती है जिसके फलस्वरूप कीटों के लिए फंदे तैयार हो जाते हैं और वे पुष्प के भीतर संसेचन की क्रिया पूरी करने के लिए बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार की संरचना से और आगे बढ़ने पर हमको अनुकूलन के और भी अद्भुत उदाहरण मिलेंगे। डाक्टर क्रूगर ने कोरियन्थीज (Coryanthes) में इस तरह के पुष्प का एक उदाहरण दिया है। इस आरकिड के पुष्प की निचली पंखुड़ी (या निचला होंठ) बड़ी और गिलास के आकार की होती है। इसके ऊपर की ओर स्थित दो अन्य पंखुड़ियों से एक तरल पदार्थ बन कर धीरे-धीरे इस गिलास में भरता है, और जब गिलास भर जाता है तो यह तरल पदार्थ एकाएक इसके एक ओर बहता है। इस पंखुड़ी का आधारीय भाग गिलास वाले भाग के ऊपर स्थित होता है और यह स्वयं पोला होता है तथा इसमें दो द्वार होते हैं। इस पोले कोष्ठ के भीतर विचित्र दलदार उभार होते हैं। यदि इस पुष्प में वास्तव में क्या होता है यह किसी ने नहीं देखा हो तो कैसा भी होशियार व्यक्ति इसका अनुमान नहीं कर सकता। डाक्टर क्रूगर के अवलोकन के अनुसार छोटी मधुमक्खियों की भीड़-की-भीड़ इस आरकिड के बड़े पुष्पों पर आती है और मधुमक्खियाँ मधु नहीं चाटतीं बल्कि कोष्ठ के भीतर के उभार खाती हैं। ऐसा करने में वे एक-दूसरे को गिलास के भीतर ढकेल देती हैं। नतीजा यह होता है कि उनके पंख भीग जाते हैं जिनसे वे उड़ नहीं पाती हैं और विवश होकर रेंग कर उनको बाहर आना पड़ता है। डाक्टर क्रूगर ने इस प्रकार मधुमक्खियों का एक निरन्तर क्रम जुलूस की भाँति बाहर निकलते देखा है। बाहर आने का मार्ग सँकरा है और उसकी छत नीची होने के कारण जब कोई मधुमक्खी बाहर निकलती है, तो पहले उसकी पीठ चिपकने गर्भनाल-मुख से रगड़ती है और फिर पराग-केसरों के पुंजों से, और ये मधुमक्खी की पीठ पर चिपक जाते हैं। इस तरह जो मक्खी हाल में फूले हुए फूल में पहले प्रवेश करती है उसकी पीठ पर ही ये अधिक संख्या में चिपकते हैं। डाक्टर क्रूगर ने मेरे पास स्पिरिट में रखी एक ऐसी मक्खी भेजी है जिसको उन्होंने फूल के बाहर निकलते ही पकड़ लिया था और जिसकी पीठ पर पराग-कण बड़ी संख्या में चिपके हुए थे। पराग-कणों से लदी जब यह मधुमक्खी किसी दूसरे फूल पर या उसी फूल पर दूसरी बार पहुँचती है, तो फिर अन्य मक्खियों के द्वारा गिलास में ढकेल दी जाती है, और जब यह उसके बाहर रेंग कर निकलती है तो निश्चय ही यह पहले गर्भनाल-मुख के सम्पर्क में आती है जिससे

पराग के कण इसके चिपकने गर्भनाल-मुख पर रुक जाते हैं और पुष्प का संसेचन होता है। इस प्रकार इस समस्त क्रिया को देखने पर ही हमको पुष्प की विचित्र संरचना तथा उसके तरल उत्पन्न करने वाली पंखुड़ियों, कोष्ठ, गिलास आदि अंगों का उपयोग समझ में आता है। इस पूरी जटिल व्यवस्था का अन्तिम ध्येय मधुमक्खियों द्वारा पुष्प का संसेचन है।

एक दूसरे मिलते-जुलते आरिकड **कैटासीटम** (Catasetum) में पुष्प का संसेचन बिल्कुल भिन्न और विचित्र होता है, यद्यपि उसका परिणाम भी वही है। कोरियनथीज की भाँति मधुमक्खियाँ इसके फूलों पर भी आती हैं और पंखुड़ियों को कुतरती हैं। ऐसा करने में निश्चय ही उनको पुष्प के एक लम्बे नुकीले सेचतन उभार को स्पर्श करना पड़ता है। इस भाग को मैंने स्पर्श-सूत्र (antenna) कहा है। इस स्पर्श-सूत्र को छूने पर किसी प्रकार का संवेद प्रथम प्रकम्पन एक झिल्ली तक पहुँचता है जो तुरन्त फट जाती है। इसके फटते ही एक कमानी की क्रिया से पराग-पुंज तीर की तरह वेग से उचित दिशा में फेंक दिया जाता है और चिपचिपे होने के कारण मधुमक्खी की पीठ से चिपक जाता है। इस प्रकार इस एकलिंगी पुष्प में नर-पौधे के पराग-पुंज मादा पौधे पर पहुँच जात हैं और उसकी गर्भनाल-मुख के सम्पर्क में आते हैं। चूँकि यह भी चिपचिपा होता है, इसलिए इसके सम्पर्क में आने पर पराग-कण यहाँ रुक जाते हैं और अन्त में संसेचन सम्भव होता है।

यह पूछा जा सकता है कि ऊपर दिये हुए या इससे मिलते-जुलते असंख्य अन्य उदाहरणों में एक ही परिणाम पर पहुँचने के लिए किन क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा ये पुष्प इन जटिल अन्तिम अवस्थाओं पर पहुँचे और क्या हम उसके विषय में कुछ समझ सकते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है निश्चय ही इसका उत्तर यह है कि जब एक दूसरे से भिन्न दो जीवों में परिवर्तन होते हैं, तो परिवर्तन कभी भी समान नहीं होंगे और फलतः एक ही लक्ष्य के लिए होने वाले प्राकृतिक निर्वाचन के फल भी समान नहीं होंगे। हमको यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि प्रत्येक सुविकसित जीव कई अवस्थाओं से होकर गुजरा है और प्रत्येक आपरिवर्तित रचना में वंशागति की प्रकृति होती है, जिसके फलस्वरूप कोई भी आपरिवर्तन जल्दी नष्ट नहीं होता बल्कि उसमें बार-बार परिवर्तन होते हैं। इसलिए चाहे किसी अंग का कार्य कुछ भी क्यों न हो अंत में उसकी संरचना अनेक वशांगत परिवर्तनों का जोड़ है। इन परिवर्तनों के ही द्वारा प्रत्येक जात अपने जीवन की विविध और बदलती हुई अवस्थाओं में अनुकूलित होती रही है।

इस प्रकार अंत में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि कई उदाहरणों

में इस बात का अनुमान लगाना भी कठिन होता है कि किन क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा कोई अंग अपनी वर्तमान अवस्था पर पहुँचा है, फिर भी यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि लुप्त हो जाने वाले जीवों की अपेक्षा जीवित और ज्ञात जीव कितने थोड़े हैं तो हमको इस बात पर आश्चर्य होना चाहिए कि कैसे आज हम कुछ अंगों के विकास की अवस्थाओं के बारे में कुछ भी कह सकते हैं। यह सत्य है कि शायद ही किसी जीव में कोई अंग ऐसा बनता हो जिसके विषय में यह कहा जा सकता हो कि इसका निर्माण किसी विशेष कार्य के लिए हुआ है। प्राकृतिक निर्वाचन के पुराने सिद्धान्त "प्रकृति में उत्प्लवन नहीं होता" (Natura non facit saltum) में भी यही विचार प्रकट किया गया है। लगभग सभी अनुभवी प्राकृतज्ञों के लेखों में यह बात मिलती है। मिल्ने एडवर्ड्स ने इसी बात को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि प्रकृति जिस मुक्त रूप से जीवों में विभेद उत्पन्न करती है, नये रूपों के निर्माण में वह उतनी ही कृपण है। स्वतन्त्र सृष्टि के निर्माण के सिद्धान्त के अनुसार हम इस बात का स्पष्टीकरण किसी प्रकार नहीं कर सकते और न हम इस प्रश्न का ही उत्तर दे सकते हैं कि क्यों सृष्टि में एक पृथक् स्थान ग्रहण करने के लिए बने जीवों में आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध कुछ क्रमबद्ध अवस्थाओं के द्वारा होता है अथवा क्यों प्रकृति एक प्रकार की संरचना से दूसरे प्रकार की संरचना पर एकाएक बदलती नहीं। प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि ऐसा क्यों नहीं होता । इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक निर्वाचन केवल सूक्ष्म परिवर्तनों का उपयोग कर ही कार्य करता है। उसके लिए आवश्यक है कि हर प्रगति के लिए वह धीरे-धीरे ही आगे बढ़े न कि एकाएक भीषण परिवर्तनों के द्वारा।

प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा निर्मित, बिना किसी प्रत्यक्ष महत्त्व के अंग

चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन अपना कार्य जीवन तथा मृत्यु, अर्थात् योग्यतम के अति-जीवन, तथा कम उपयुक्त सदस्यों के विनाश के द्वारा करता है, इसलिए मुझको कभी-कभी कम महत्व वाले अंगों की उत्पत्ति तथा निर्माण को समझने में बहुत कठिनाई हुई है। वास्तव में बहुत उपयुक्त तथा जटिल अंगों के विषय में होने वाली कठिनाई से बहुत भिन्न होने पर भी, यह कठिनाई लगभग उसके बराबर है।

सर्वप्रथम किसी भी जीव के सम्पूर्ण व्यवसाय के विषय में हम इतने अनभिज्ञ हैं कि यह कहना कठिन है कि कौन से सूक्ष्म आपरिवर्तन महत्वपूर्ण होंगे और कौन से नहीं। पिछले अध्याय में मैंने फलों से लगे पर या उनके गूदे के रंग, अथवा चौपायों की त्वचा

तथा बालों आदि जैसे सूक्ष्म लक्षणों के उदाहरण दिये थे, जो गठन सम्बन्धी भिन्नताओं से सम्बन्धित होने के कारण, अथवा कीटों के आक्रमणों से सम्बन्धित होने के कारण, निश्चय ही प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया से प्रभावित हो सकते हैं। जिर्राफ की पूँछ की रचना मक्खी उड़ाने के लिए बने कृत्रिम अंग जैसी जान पड़ती है, और प्रारम्भ में कोई यह विश्वास न करेगा कि इस कार्य के लिए इसकी रचना अनेक क्रमिक सूक्ष्म आपरिवर्तनों के द्वारा हुई है जो मक्खी उड़ाने जैसे तुच्छ कार्य के लिए उत्तरोतर ढंग से अधिक उपयोगी हुई होगी। किन्तु इस प्रकर के उदाहरण में भी किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में जल्दी करना उचित नहीं क्योंकि हम जानते हैं कि कम-से-कम दक्षिणी अमरीका में पशुओं का जीवन पूरी तरह कीटों से अपनी रक्षा करने की शक्ति पर निर्भर है। अतः जो सदस्य किसी प्रकार अपनी रक्षा इन तुच्छ शत्रुओं से कर सकते हैं उनको अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैलने का अवसर होगा और अन्य सदस्यों की अपेक्षा जीवन के लिए अधिक सुविधा प्राप्त होगी। कुछ विरले उदाहरणों को छोड़ कर, साधारणतः ऐसा नहीं है कि बड़े चौपाये वास्तव में मक्खियों द्वारा नष्ट हो जाते हों लेकिन उनको निरन्तर कष्ट होता है, जिससे उनकी शक्ति क्षीण होती है और फलतः उनमें रोगों का आक्रमण अधिक होता है, या भोजन की कमी होने पर उनको भोजन तलाश करने में कठिनाई होती है, या वे शिकारी जानवरों से अपनी रक्षा नहीं कर सकते।

कुछ उदाहरणों में यह भी सम्भव है कि जो अंग आज तुच्छ महत्व के हैं, वे ही इन जीवों के प्राचीन पूर्वजों में अधिक महत्व के रहे हों, और किसी काल में धीरे-धीरे बहुत उपयुक्त होने के बाद उसी आकार में सन्तानों में वंशागत हुए हैं, हालांकि अब उनका कोई उपयोग नहीं रह गया है। किन्तु यदि संरचना का कोई परिवर्तन जीव के लिए हानिकारक होगा, तो प्राकृतिक निर्वाचन इसकी वंशागति रोक देगा। इस आधार पर, यह देखते हुए कि जलीय प्राणियों में प्रचलन के लिए पूँछ कितनी महत्वपूर्ण है, हम कई ऐसे स्थलीय प्राणियों में इसकी उपस्थिति समझ सकते हैं, जिनमें फेफड़ों की रचना अथवा आपरिवर्तित रूप में तैरने की थैलियों की उपस्थिति से उनकी जलीय उत्पत्ति का प्रमाण मिलता है। एक बार किसी जलीय जन्तु में सुविकसित पूँछ के बन जाने के बाद फिर उसका उपयोग कई प्रकार से हो सकता है, जैसे मक्खी उड़ाने के लिए, अथवा शिकार पकड़ने में सहायता देने के लिए अथवा मुड़ने में सहायता के लिए जैसा कुत्ते में होता है (हालांकि अंतिम उदाहरण में पूँछ का उपयोग बहुत ही थोड़ा होगा क्योंकि बिना पूँछ का खरगोश और भी शीघ्रता से वापस मुड़ सकता है)।

दूसरी कठिनाई यह है कि हम विविध लक्षणों का महत्त्व निर्णय करने में तथा

यह समझने में कि किस लक्षण का विकास प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा हुआ है, गलती कर सकते हैं। हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुधा जीवों पर जीवन की प्रत्येक बदली हुई परिस्थिति में निश्चयात्मक प्रभाव भी होता है। इसी प्रकार जीवों में स्वतः होने वाले परिवर्तन होते हैं जो मुख्यतः परिस्थिति के ऊपर निर्भर नहीं होते, अथवा बहुत पहले विलुप्त होने वाले लक्षणों का विपर्ययण होता है, या वृद्धि के जटिल नियमों, जैसे परस्पर सम्बन्ध, एक अंग का दूसरे पर दबाव आदि क्रियाओं का प्रभाव पड़ता रहता है। इसी प्रकार अनेक प्राणियों में लैंगिक निर्वाचन की क्रिया होती है, जिसके द्वारा किसी एक लिंग के प्राणियों के लिए उपयोगी लक्षणों का निर्माण होता है और फिर, यद्यपि यह लक्षण दूसरे लिंग के प्राणियों के लिए व्यर्थ होते हैं फिर भी उसमें वंशागत होते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से निर्मित ये विविध लक्षण, चाहे प्रारम्भ में किसी जात अथवा लिंग के लिए लाभदायक न हों, किन्तु बाद में उन्हीं की आपरिवर्तित संततियाँ जीवन की नयी परिस्थितियों अथवा नये प्राप्त हुए प्रकृति के कारण उनका उपयोग करने लगती हैं।

यदि केवल हरे रंग के कठफोड़े ही पाये जाते होते, अथवा हमको यह ज्ञात न होता कि काले अथवा चित्तीदार कठफोड़े भी होते हैं, तो मैं यह कह सकता हूँ कि हम यह समझते कि कठफोड़े का हरा रंग वृक्षों पर जीने वाली इस चिड़िया के लिए शत्रुओं से बचने के लिए सुन्दर अनुकूलन है। फलतः यदि हम इसके हरे रंग को महत्त्वपूर्ण लक्षण समझते, तो इस नतीजे पर पहुँचते कि यह प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया द्वारा ही प्राप्त हुआ है। किन्तु हम यह जानते हैं कि यह हरा रंग मुख्यतः लैंगिक निर्वाचन के कारण है। मलाया द्वीपसमूह में कमज़ोर तने वाला एक ताड़ का वृक्ष पाया जाता है, जो ऊँचे-से-ऊँचे पेड़ों के सहारे चढ़ता है और इसमें उसको अद्‌भुत रचना वाले कुछ काँटों से सहायता मिलती है जो शाखाओं के छोरों पर पाये जाते हैं। निश्चय ही ये काँटे इस वृक्ष के लिए बहुत उपयोगी हैं किन्तु चूँकि इनसे मिलते-जुलते काँटे कई ऐसे वृक्षों में मिलते हैं जो आरोही नहीं हैं, और जो कम-से-कम अफ्रीका और दक्षिण अमरीका की काँटेदार जातों में पौधों की रक्षा चौपायों से करते हैं, इसलिए बहुत सम्भव है कि इस विशेष ताड़ के वृक्ष में भी आरम्भ में इसी अभिप्राय से बने हों लेकिन बाद में जैसे-जैसे पौधा आपरिवर्तित होकर आरोही बनता गया. वैसे-वैसे इसने काँटों का उपयोग भी इसी कार्य के लिए किया और इसलिए इनकी रचना में इस कार्य के लिए विशेष परिवर्तन भी हुआ। साधारणतः लोगों का विश्वास है कि गिद्ध के शिर का नग्न चर्म सड़े-गले पदार्थों में उसके शिर धँसाने के स्वभाव के प्रति प्रत्यक्ष अनुकूलन है। ऐसा सम्भव है, और यह भी सम्भव है कि शिर पर परों की अनुपस्थिति प्रत्यक्ष रूप से सड़ते-गलते

पत्थर्थों का प्रभाव है। किन्तु जब हम यह देखते हैं कि साफ भोजन ग्रहण करने वाली नर टर्की के शिर की खाल भी इसी तरह की है, तो हमको इस तरह के निष्कर्ष निकालने में विशेष सावधानी रखना होगा। स्तनधारियों के बच्चों में खोपड़ी की रचना में प्रसव में सहायता देने के लिए विशेषतः सहायक जोड़ पाये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हड्डियों के बीच के ये जोड़ इस क्रिया के लिए विशेष रूप से सहायक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य हैं और अनुकूलन के कारण हो सकते हैं। किन्तु चूँकि ये जोड़ पक्षियों तथा उरगों के बच्चों की खोपड़ियों में भी पाये जाते हैं, जिनका निर्माण अंडों में होता है, इसलिए बाध्य होकर हमको यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि स्तनधारियों में भी इन संरचनाओं का निर्माण वृद्धि के नियमों के अनुसार हुआ है, किन्तु स्तनधारियों ने इनका उपयोग प्रसव की क्रिया में किया है।

वास्तव में हम प्रत्येक वैयक्तिक अन्तर, अथवा सूक्ष्म परिवर्तन के कारणों के विषय में बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं, और जब हम भिन्न-भिन्न देशों में पाये जाने वाली पालतू जातों की नस्लों की भिन्नताओं पर ध्यान देते हैं, तो यह अज्ञानता और भी स्पष्ट हो जाती है। विशेषकर कम सभ्य देशों की नस्लों पर विचार करने पर, जहाँ नियमित रूप से निर्वाचन का कार्य नहीं हुआ है। असभ्य मनुष्यों द्वारा भिन्न-भिन्न देशों में पाले गये जानवरों को बहुधा अपने जीवन के लिए स्वयं संघर्ष करना पड़ता है। अतः कुछ हद तक इनमें प्राकृतिक निर्वाचन होता है और संरचना संबंधी सूक्ष्म परिवर्तन होने पर अलग-अलग जलवायु में कुछ सदस्य अधिक सफल होते हैं। चौपायों में मक्खियों के आक्रमणों के प्रति दुर्बलता का सम्बन्ध उनके रंग के साथ उसी प्रकार है जैसे कुछ पौधों के विषाक्त प्रभावों का सम्बन्ध है; अतः रंग पर भी प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया का प्रभाव होगा। कुछ प्रकृतिशास्त्रियों का विश्वास है कि आर्द्र जलवायु का प्रभाव भेड़ों के बालों की वृद्धि पर पड़ता है, तथा बालों और सींगों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है। पहाड़ी नस्लें, सदा कम ऊँचाई पर पायी जाने वाली नस्लों से भिन्न होती हैं, और चूँकि पहाड़ी प्रदेशों में जानवरों की पिछली टाँगों पर अधिक जोर पड़ता है, इसलिए पिछली टाँगों तथा कदाचित् श्रोणि की रचना पर पहाड़ी जीवन का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। किन्तु परस्पर सम्बन्धित परिवर्तनों के नियम के अनुसार इन आपरिवर्तनों के साथ-साथ अगली टाँगों तथा शिर की रचना में भी परिवर्तन होंगे। इसी प्रकार श्रोणि के आकार का, दबाव के कारण, विकसित होते हुए भ्रूण की रचना पर प्रभाव पड़ सकता है। कदाचित श्वसन पर अधिक जोर पड़ने के कारण अधिक ऊँचाई पर वृक्ष की नाप पर प्रभाव पड़ेगा और उसमें वृद्धि होगी और यहाँ भी पारस्परिक सम्बन्ध का नियम लागू होगा। इसी प्रकार श्रम की कमी तथा भोजन की

अधिकता का प्रभाव सम्पूर्ण रचना पर बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से होगा। और एच० वान० नाथूसियस (H. Von Nathusius) की सुन्दर पुस्तक के अनुसार सूअरों की नस्लों में महत्त्वपूर्ण आपरिवर्तनों का यही मुख्य कारण है। किन्तु परिवर्तनों के इन अनेक ज्ञात अथवा अज्ञात कारणों के विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही अपूर्ण है, और इन उदाहरणों का उल्लेख मैंने यहाँ केवल यही दिखाने के लिए किया है कि यदि हम अपनी पालतू नस्लों की इन महत्त्वपूर्ण भिन्नताओं का कारण भी नहीं बता सकते, जिनकी उत्पत्ति इने-गिने पूर्वजों से थोड़ी सी पीढ़ियों में हुई है, तो फिर वास्तविक जातों के बीच पायी जाने वाली मिलती-जुलती सूक्ष्म भिन्नताओं पर हमको बहुत ज़ोर नहीं देना चाहिए।

कहाँ तक उपयोगिता का सिद्धान्त सही है ? सुन्दरता कैसे प्राप्त होती है ?

ऊपर लिखी बातों के फलस्वरूप मुझको यहाँ हाल में कुछ प्रकृतिवादियों के उपयोगिता के सिद्धान्त के प्रति किये गये विरोध के विषय में कुछ कहना पड़ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी प्राणी की संरचना सम्बन्धी प्रत्येक छोटे-बड़े लक्षण उसके लाभ के लिए होते हैं। इन आलोचकों के अनुसार ऐसी बहुत सी संरचनाओं का निर्माण भी हुआ है, जो केवल सुन्दरता के लिए हैं और जिनका कारण मनुष्य अथवा सृष्टिकर्ता की इच्छा अथवा जो सृष्टि में जीवों के बीच विविधता उत्पन्न करते हैं। जहाँ तक सृष्टिकर्ता की इच्छा का सम्बन्ध है, यह विषय वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र के बाहर है। मैं यह मानने को तैयार हूँ कि अनेक प्राणियों में ऐसी बहुत सी संरचनाएँ पायी जाती हैं, जो उस जीव के लिए किसी प्रकार उपयोगी नहीं हैं और सम्भव है कि ये संरचनाएँ इनके पूर्वजों के लिए भी व्यर्थ रही हैं। किन्तु इससे यह किसी प्रकार साबित नहीं होता कि इन संरचनाओं का निर्माण केवल विविधता अथवा सुन्दरता के लिए हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि परिवर्तित परिस्थितियों के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण अथवा ऊपर दिये गये आपरिवर्तनों के अनेक कारणों के फलस्वरूप जहाँ एक ओर कुछ लाभदायक परिवर्तन होते हैं, वहाँ उनके साथ-ही कुछ अन्य बड़े अथवा सूक्ष्म परिवर्तन ऐसे भी होते हैं जिनका कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक जीव की सम्पूर्ण रचना का मुख्य भाग केवल वंशागति पर निर्भर है, और इसलिए हालांकि प्रत्येक जीव निश्चय ही अपनी विशेष परिस्थिति के लिए भली भाँति अनुकूलित है फिर भी उसमें हर अवस्था में कई ऐसी संरचनाएँ भी होती हैं जिनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध उसके वर्तमान रहन-सहन से नहीं होता। उदाहरण के लिए कौन यह विश्वास कर सकता है कि पहाड़ी हंस अथवा फ्रिज़ट पक्षी के पैर की

अँगुलियों के बीच की चमड़ी उनके किसी विशेष उपयोग की है। इसी प्रकार हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि बन्दर की बाहु, घोड़े की अगली टाँग, चमगादड़ के पंख, तथा सील के डैनों में पायी जाने वाली मिलती-जुलती हड्डियाँ इन जन्तुओं के विशेष उपयोग की हैं। हम इन संरचनाओं की उपस्थिति अथवा इनके आकार का कारण वंशागति बता सकते हैं, किन्तु निसन्देह चमड़ीदार पैर पहाड़ी हंस तथा फ्रिजेट पक्षी के पूर्वजों के लिए उतने ही उपयोगी थे जैसे वे आज भी अनेक जीवित जलीय पक्षियों के लिए उपयोगी हैं। इसी प्रकार हम यह मान सकते हैं कि सील के पूर्वज में डैने नहीं थे बल्कि पाँच अँगुलियों वाली टाँगें थीं जिनके द्वारा चलने अथवा पकड़ने में सहायता मिलती थी। हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि बन्दर, घोड़े और चमगादड़ के अवयवों में पायी जाने वाली हड्डियाँ प्रारम्भ में उपयोगिता के सिद्धान्त पर सम्भवतः इसी पुराने मछली जैसे पूर्वज के पक्षों की असंख्य हड्डियों की संख्या में कमी होने से बनी थी। यह निश्चय करना सम्भव नहीं है कि इस प्रकार के परिवर्तनों में वाह्य परिस्थितियों के प्रत्यक्ष प्रभाव, स्वतः कहे जाने वाले परिवर्तनों अथवा वृद्धि के जटिल नियमों का अलग-अलग कहाँ तक प्रभाव है। किन्तु ऊपर दिये हुए महत्त्वपूर्ण अपवादों को छोड़ कर, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्रत्येक जीवित प्राणी की संरचना आज अथवा विगत-काल में जीव के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अधिक या कम उपयोगी रही होगी।

इस विश्वास के विषय में कि जीव मनुष्य की प्रसन्नता के लिए सुन्दर बनाये गये हैं, (यह सिद्धान्त हमारे मत के पूर्णतः विरोध में है) मैं सबसे पहले तो यही कहूँगा कि सुन्दरता के आधार, या उनकी पहिचान हमारे विचारों पर है और उसका उस वस्तु विशेष के गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं। क्या सुन्दरता है या क्या नहीं इसका विचार जन्मजात अथवा अपरिवर्तनशील नहीं है। उदाहरण के लिए, हम यही बात भिन्न-भिन्न देशों के मनुष्यों में देखते हैं जिनका स्त्रियों की सुन्दरता के विषय में बिल्कुल ही पृथक् विचार होता है। यदि सुन्दर जीवों की सृष्टि केवल मनुष्य की प्रसन्नता के लिए ही हुई थी, तो यह प्रमाणित करना होगा कि पृथ्वी पर मनुष्य की उत्पत्ति के पहले सुन्दरता कम थी और उसकी उत्पत्ति के बाद बढ़ गयी। क्या ईओसीन काल के सुन्दर कुंतलित तथा नुकीले कवच अथवा सुन्दरता से गढ़े द्वितीय काल के एमोनाइट इसलिए उत्पन्न किये गये थे कि बाद में जब मनुष्य की उत्पत्ति होगी तो वह इन सुन्दर वस्तुओं को काँच के डिब्बों में सँवार कर रखेगा और देखकर प्रसन्न होगा। डायटोमेसी (diatomaceae) के सूक्ष्म सिलिका के बने कवचों से सुन्दर कुछ ही वस्तुएँ होंगी। क्या इनकी सृष्टि इसलिए हुई थी कि बाद में मनुष्य सूक्ष्मदर्शी के द्वारा इसकी परीक्षा करेगा और खुश होगा। इस विशेष उदाहरण में और कई अन्य जीवों में सुन्दरता

केवल वृद्धि की संमिति(symmetry)के कारण है। फूलों की गणना प्रकृति के सबसे सुन्दर पदार्थों में है; किन्तु हरी पत्तियों के बीच स्थिति होने के कारण ये और भी स्पष्ट हो गये हैं, और साथ ही रंग के इस भेद के कारण सुन्दर भी जान पड़ते हैं, और कीट उनको आसानी से देख सकते हैं। मैं इस निष्कर्ष पर इसलिए पहुँचा हूँ कि जिन फूलों में संसेचन वायु की सहायता से होता है, उनमें सदा ही रंगीन पंखड़ियाँ अनुपस्थित होती हैं। कई पौधे स्वभावतः दो प्रकार के फूल उत्पन्न करते हैं—कुछ खुले और रंगीन जिन पर कीट आकर्षित होते हैं, कुछ बन्द और बेरंग के जिनमें मधु भी उत्पन्न नहीं होता और कीट भी आकर्षित नहीं होते। अतः हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यदि पृथ्वी पर कीटों का विकास न होता तो हमारे पौधों पर सुन्दर फूल न लगते होते बल्कि उन पर फर, ओक, नट, घास, स्पीनैक आदि जैसे असुन्दर फूल लगते जिनमें वायु के द्वारा ही संसेचन-क्रिया होती। इसी प्रकार की दलील फलों के विषय में भी दी जा सकती है। स्ट्रोबेरी अथवा 'चेरी' के पूर्ण पके फल स्वाद में भी उतने ही अच्छे होते हैं, जितने देखने में। इसी प्रकार सभी इस बात से सहमत होंगे कि स्पिनडल वुड (Spindle wood) के रंगीन फल या हॉली की लाल चेरी देखने में बहुत सुन्दर होते हैं। किन्तु इस सुन्दरता का महत्त्व केवल इतना ही है कि इसके कारण चिड़ियाँ तथा पशु उनकी ओर आकर्षित होते हैं, तथा इनको खाने के बाद इनके बीजों का वितरण करते हैं। मेरे विचार में अभी तक किसी भी ऐसे फूल या फल का उदाहरण नहीं मिल सका है, जिसमें उनकी सुन्दरता का अथवा उनके भड़कीले रंग का जिनके कारण फल आसानी से बहुत अच्छे दिखाई पड़ते हैं, या उनके सुन्दर स्वाद का कोई और उपयोग हो।

साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि अधिकतर नर जन्तु, जैसे अधिकांश भड़कीले रंग की चिड़ियाँ, कुछ मछलियाँ, उरग तथा स्तनी और कई सुन्दर रंगीन तितलियाँ, सुन्दरता के हेतु ही सुन्दर हैं। किन्तु उनका निर्माण लैंगिक निर्वाचन के द्वारा हुआ है, जिसके अनुसार निरन्तर सुन्दर नरों का चुनाव उस जाति की मादाओं द्वारा हुआ है, न कि मनुष्य की प्रसन्नता के लिए। यही बात पक्षियों के संगीत के विषय में भी है। इन बातों से कदाचित् हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि जन्तु-साम्राज्य के एक बड़े भाग में रंगों अथवा संगीत के स्वरों की सुन्दरता के विषय में लगभग समान प्रकार की प्रकृति पायी जाती है। जब नर की ही भाँति मादा का रंग कुछ सुन्दर होता है, जो बहुधा पक्षियों और तितलियों में देखने में आता है, तो स्पष्टतया यह रंग आरम्भ में नर पक्षियों में लैंगिक निर्वाचन के द्वारा प्रकट होता है, किन्तु बाद में नर और मादा दोनों ही प्रकार की संतानों में वंशागत होता है और केवल नरों में ही सीमित नहीं

रहता। निश्चय ही हम यह नहीं कह सकते कि निम्नकोटि के जीवों तथा मनुष्य में सरलतम रूप में सुन्दरता के ज्ञान की उत्पत्ति अर्थात कुछ विशेष प्रकार के रंग, रूप अथवा ध्वनि से प्रसन्नता की भावना की उत्पत्ति हुई। इसी तरह की कठिनाई सुगन्ध या स्वाद के विषय में भी उत्पन्न होती है, और हम नहीं कह सकते कि इनके ज्ञान का प्रादुर्भाव भी कैसे हुआ। कदाचित् इन सभी उदाहरणों में कुछ हद तक स्वभाव का उत्तरदायित्व है; किन्तु इसके साथ-साथ हर जात के नाड़ी-संस्थान की संरचना में भी इसका प्रारम्भिक कारण निहित होना चाहिए।

प्राकृतिक निर्वाचन किसी जात में ऐसे आपरिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता जो केवल किसी अन्य जात के लिए उपयोगी हों। फिर भी समस्त प्रकृति में यह देखा जाता है कि हर जात निरन्तर दूसरी जातों की संरचना से किसी-न-किसी प्रकार लाभ उठाती है। इसके विपरीत प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा बहुधा कई जातों में ऐसे अंग अवश्य बनते हैं जिनसे दूसरे जानवरों को हानि पहुँचती है। उदाहरण के लिए सर्प के विषैले दाँत, जिनके द्वारा अन्य जानवरों में विष का प्रवेश होता है, या इक्न्यूमान (Ichneumon) के अंड-रोपक, जिनकी सहायता से दूसरे कीटों के शरीर में अंड-रोपण होता है। यदि यह प्रमाणित किया जा सकता कि किसी जात के शरीर का कोई अंग केवल दूसरे जात के लाभ के लिए ही निर्मित हुआ है, तो इससे मेरा सिद्धान्त निर्मूल साबित हो जाएगा, क्योंकि इस प्रकार के अंग प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा नहीं बन सकते। वैसे प्राकृतिक इतिहास की पुस्तकों में ऐसे कई वक्तव्य मिल जाएँगे लेकिन इनमें से कोई भी मुझको महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता। यह सभी मानते हैं कि रैटिल साँप (Rattle snake) में विष के दाँत उसकी अपनी रक्षा तथा शिकार के विनाश के लिए बने हैं, किन्तु साथ ही कुछ लेखकों की धारणा है कि इसी सर्प की पूँछ में जुड़ा रैटिल, जिससे ध्वनि उत्पन्न होती है, इसलिए है कि उसकी ध्वनि के द्वारा वह इन शिकारों को सावधान कर सके अर्थात् इस यंत्र के द्वारा अब वह अपनी ही हानि करता है। यदि यह सत्य है तो यह भी मानना पड़ेगा कि कूदने के पहले बिल्ली अपनी पूँछ भी इसलिए मोड़ती है कि इसके द्वारा वह अपने शिकार अथवा चूहे को सावधान कर दे। मेरे विचार में यह सम्भव है कि रैटिल सर्प रैटिल के द्वारा इसलिए ध्वनि उत्पन्न करता है या नाग सर्प अपना फन इसलिए फैलाता है या पफ-ऐडर (Puff-adder) इसलिए फुँकार मारता है कि इस क्रिया के द्वारा वह कुछ ऐसे पक्षियों या जन्तुओं को सावधान कर दे, जो भयानक-से-भयानक और विषैले-से-विषैले सर्पों पर भी आक्रमण कर सकते हैं। वास्तव में साँप भी उसी सिद्धान्त के अनुसार काम करते हैं जिसके द्वारा कुत्ते को देखने पर मुर्गी अपने पंख फैला देती

है। दुर्भाग्य से उन तमाम विधियों का उल्लेख करने के लिए, जिनसे अनेक जानवर अपने शत्रुओं को भयभीत करते हैं, मेरे पास पर्याप्त स्थान नहीं है।

चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन केवल जीवों के हित में, तथा हित के द्वारा ही, कार्य करता है, इसलिए इस क्रिया के द्वारा कभी किसी प्राणी में उसके लिए लाभदायक संरचनाओं की अपेक्षा, अधिक हानिकारक संरचनाओं का निर्माण नहीं हो सकता। जैसा पेली (Paley) ने कहा है, कोई अंग केवल इसलिए निर्मित नहीं होगा कि उसके द्वारा उस अंग को धारण करने वाले को हानि या पीड़ा हो। यदि प्रत्येक भाग के द्वारा होने वाले लाभ और हानि का लेखा किया जाय तो हम देखेंगे कि इससे लाभ ही अधिक होता है। कुछ समय व्यतीत होने के बाद जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में कोई अंग किसी प्रकार हानिकारक हो जाता है, तो वह आपरिवर्तित हो जायगा और यदि इस हानिकारक अंग का आपरिवर्तन नहीं हो सकता तो अनेक प्राचीन जीवों की भाँति इस जीव का विनाश हो जायगा।

प्राकृतिक निर्वाचन एक ही कार्य करता है। यह प्रत्येक जीव को प्रदेश के ऐसे अन्य जीवों की अपेक्षा जिनसे उनकी प्रतियोगिता होती है, कुछ अधिक उत्कृष्ट बनाता है। और हम देखते हैं कि प्रकृति में उत्कृष्टता की यही माप है। उदाहरण के लिए न्यूज़ीलैंड में पाये जाने वाले जीवों में जो जीव दूसरों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं, वे ही जीव यूरोप से पहुँचाये गये अन्य पौधों अथवा जन्तुओं से पराजित हो रहे हैं। प्राकृतिक निर्वाचन पूर्ण उत्कृष्टता नहीं उत्पन्न कर सकता और जहाँ तक हम समझ सकते हैं प्रकृति में इस स्तर की उत्कृष्टता नहीं पायी जाती। मूलर के अनुसार "मनुष्य की जैसी सुविकसित आँख में भी प्रकाश की किरणों के विचलन को पूरी तरह ठीक करने का प्रबन्ध नहीं है। हेमहोल्ज़ (Helmholtz) की नेत्रों के विषय में खोजों के विरुद्ध कोई आलोचना नहीं कर सकता। मनुष्य के नेत्रों की अद्भुत शक्ति का उल्लेख अपने शक्तिशाली शब्दों में करने के बाद वे लिखते हैं कि मूर्तिपटल पर मूर्ति-निर्माण तथा नेत्र के यन्त्र के सम्बन्ध में हम जो अपूर्णता इसमें देखते हैं, वे उन कमियों की अपेक्षा कुछ भी नहीं हैं, जो चेतनाओं के सम्बन्ध में पायी जाती हैं। हम कह सकते हैं कि प्रकृति ने जान-बूझ कर नेत्र के आकार के सम्बन्ध में ऐसे परस्पर विरोधी तथ्यों का संकलन किया है जिनके द्वारा वाह्य तथा आंतरिक संसारों के बीच किसी प्रकार की एकता के सिद्धान्त का आधार ही मिट जाय।" यदि कुछ कारणों से हम प्रकृति के अनेक अद्भुत यन्त्रों की सराहना करते हैं, तो ये ही कारण हमको यह भी बताते हैं कि जहाँ इस तरह के कुछ यंत्र बहुत उत्कृष्ट हैं, वहाँ कुछ बहुत अपूर्ण भी हैं। उदाहरण के लिए हम मधुमक्खी के दंश को शायद ही उत्कृष्ट कहें, जब हमको

पता चलता है कि अनेक शत्रुओं पर प्रयोग किये जाने पर यह दंश वापस निकाला नहीं जा सकता, और ऐसी दशा में दंश के साथ-ही-साथ मधुमक्खी के आंतरिक अंग भी निकल पड़ते हैं और मधुमक्खी की मृत्यु हो जाती है।

यदि हम यह कल्पना करें कि मधुमक्खियों का दंश उनके किसी प्राचीन पूर्वज में ऐसे यंत्र के रूप में था, जो इस गण के अन्य सदस्यों की भाँति लम्बा, आरी के दाँते की भाँति छेद करने योग्य था, किन्तु प्रारम्भ में पेड़ों में गुलठियाँ उत्पन्न करने के काम में लाया जाता था, किन्तु बाद में यह शत्रुओं के विरुद्ध उपयोग के लिए आपरिर्वातित हुआ पर इस कार्य के लिए उत्कृष्ट नहीं हो सका, तो हम इस बात को समझ सकते हैं कि क्यों कभी-कभी दंश के उपयोग किये जाने पर स्वयं कीट की मृत्यु हो जाती है। अनेक कीटों में नर मादा की ओर उसकी अद्भुत ग्रन्थि के द्वारा आर्कषित होते हैं। निश्चय ही यह प्रशंसनीय है, किन्तु साथ ही इस बात पर ध्यान दीजिए कि कीटों की कुछ जातों में इसीलिए सहस्त्रों नर या ड्रोन (drone) उत्पन्न होते हैं जो अन्य किसी कार्य के लिए व्यर्थ होते हैं और इसलिए वन्ध्य मादाएँ उनका नाश कर देती हैं। इसी प्रकार मधुमक्खी की रानी में अपनी ही मादा संतानों के विरुद्ध ऐसी भीषण घृणा होती है कि निश्चय ही उनके उत्पन्न होते ही वह उनको मार डालती है, या उनके साथ युद्ध करने में स्वयं नष्ट हो जाती है। इस क्रिया की प्रशंसा करना कठिन है लेकिन वास्तव में यह भी उतनी ही प्रशंसनीय है क्योंकि यह भी जात के हित में ही है। प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के लिए मातृ-प्रेम अथवा मातृ-घृणा बराबर है यदि उनके द्वारा जात को लाभ होता है, हालांकि भाग्य से मातृ-घृणा बिरले ही देखने में आती है। वनस्पतियों में हम उन अनेक विधियों की निश्चय ही प्रशंसा करेंगे, जिनके द्वारा उदाहरण के लिए आरकिडों या अन्य पौधों में कीट-परागण होता है; किन्तु क्या फर के पेड़ों में ढेर-के-ढेर पराग की उत्पत्ति की भी हम प्रशंसा करेंगे, जबकि उनमें उस पूरे ढेर में से पराग के एक-दो कण ही संयोग से संसेचन के काम आते हैं।

सारांश; प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अन्तर्गत आने वाले प्रतिरूप की एकता तथा जीवन की दशाओं के नियम

इस अध्याय में हमने कुछ ऐसी कठिनाइयों तथा आपत्तियों पर विचार किया है जो प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के विरुद्ध दी जा सकती हैं। इनमें से कई विचारणीय हैं, किन्तु मैं समझता हूँ कि ऊपर दिये गये तर्कों के द्वारा कई ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है जिनका स्पष्टीकरण स्वतंत्र सृष्टि के मतानुसार नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि किसी भी काल विशेष में जातें अनिश्चित रूप से परिवर्तनशील नहीं

थीं और न ही वे एक-दूसरे से अनेक माध्यमिक अवस्थाओं के द्वारा सम्बन्धित हैं, क्योंकि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया सदा बहुत धीमी होती है और एक समय में उसका प्रभाव इनी-गिनी जातों पर ही होता है। साथ ही प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया का अर्थ ही यही है कि उसके फलस्वरूप बराबर ही पहले पाये जाने वाली तथा माध्यमिक अवस्थाएँ नष्ट होती जायँ। एक-दूसरे से मिलती-जुलती जातें जो इस समय किसी सतत क्षेत्र में पायी जाती हैं, कभी-कभी निश्चय ही उनका निर्माण तब हुआ होगा जबकि यह क्षेत्र कई भागों में बँटा रहा होगा, और जब उसकी जीवन-सम्बन्धी दशाएँ समान अथवा एक-दूसरे से बिल्कुल मिलती-जुलती न रही होंगी। जब किसी सतत क्षेत्र के दो प्रदेशों में दो भेद पाये जाते हैं, तो बहुधा उनके बीच माध्यमिक भेद भी पाये जाएँगे जो माध्यमिक क्षेत्र के लिए उपयुक्त होंगे। किन्तु कुछ कारणों से, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, ये माध्यमिक भेद साधारणतः अन्य प्रमुख भेदों की अपेक्षा अल्प-संख्यक होंगे। अतः जब और भी आपरिवर्तन होंगे, तो बड़ी संख्या में होने के कारण बहुसंख्यक मुख्य भेदों को अल्पसंख्यक माध्यमिक भेद की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ होंगी, और इस प्रकार बहुसंख्यक भेद अल्पसंख्यक भेदों का विनाश करेंगे और उनका स्थान ले लेंगे।

हम इस अध्याय में यह भी देख चुके हैं कि यह निष्कर्ष निकालने में कि एक-दूसरे से पृथक् स्वभाव के जीवों के बीच की अवस्थाएँ नहीं पायी जा सकतीं, हमको बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। उदाहरण के लिए इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि चमगादड़ का विकास ऐसे किसी जन्तु से नहीं हो सकता जो प्रारम्भ में केवल वायु में 'सरकता' रहा होगा, ठीक नहीं होगा।

हम देख चुके हैं कि जीवन की नयी परिस्थितियों में किसी जात के स्वभाव में परिवर्तन हो सकता है। यह भी सम्भव है कि उसके स्वभाव में बहुत विविधता हो, और कम-से-कम कुछ अर्थों में उसका स्वभाव अन्य निकट सम्बन्धी जीवों से बिल्कुल भिन्न हो। अतः यदि हम यह ध्यान में रखें कि हर जीव इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि वह जहाँ भी जीवित रह सकता है, रहे, तो हम यह समझ सकते हैं कि किस प्रकार पंजों की चमड़ियों के साथ पहाड़ी हंस, अथवा स्थल पर रहने वाले कठफोड़े, या पानी में डुबकी लगाने वाली चिड़ियों का विकास हुआ।

वैसे यह विश्वास करना कठिन जान पड़ता है कि नेत्र जैसे उत्कृष्ट अंग का निर्माण प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा हो सकता है। किन्तु यदि हम किसी अंग की जटिलता से सम्बन्धित अनेक अवस्थाओं से परिचित हों, और यह देख सकें कि प्रत्येक अवस्था प्राणी विशेष के लिए उपयोगी है, तो यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि जीवन

की बदलती हुई परिस्थितियों में अंगों में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उत्कृष्टता हो सकती है। जिन उदाहरणों में हमको परिवर्तन की अवस्थाओं, अर्थात माध्यमिक अवस्थाओं का पता नहीं है, उनमें भी एकाएक हमको इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि ऐसी अवस्थाएँ कभी थीं ही नहीं। बहुधा अंगों के रूपान्तरण से हमको इस बात का पता चलता है कि कम-से-कम उनके आकार में कितना परिवर्तन सम्भव है। उदाहरण के लिए, स्पष्टतया मछली के तैरने की थैली वायु-श्वसन से सम्बन्धित फेफड़े में परिवर्तित हो गयी है। बहुधा एक ही अंग एक साथ कई तरह के कार्य करता है, और फिर पूरी तरह, अथवा कुछ हद तक, एक ही कार्य के लिए विशेषित हो जाता है, अथवा एक ही समय में एक ही कार्य दो अलग-अलग अंग करते हैं और इनमें से एक उत्कृष्ट हो जाता है और दूसरा सहायक बना रहता है। इन सब रीतियों से परिवर्तन हो सकता है।

हम यह देख चुके हैं कि एक-दूसरे से बहुत दूर स्थित जीवों में वाह्य रचना में समान तथा एक ही कार्य करने वाले अंग पाये जाते हैं जिनका निर्माण अलग-अलग और स्वतंत्र रूप से हुआ है। किन्तु जब ऐसे अंगों की विस्तारपूर्वक परीक्षा की जाती है तो निश्चय ही उनकी रचना में आधारीय भिन्नताएँ पायी जाती हैं और ऐसा प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार होता है। इसके साथ-ही-साथ यह प्रकृति का साधारण नियम है कि एक ही ध्येय की पूर्ति के लिए विभिन्न प्राणियों में विविध प्रकार के अंग पाये जाते हैं। ऐसा भी इसी महान् सिद्धान्त के अनुसार होता है।

कई उदाहरणों में हमारा ज्ञान इतना सीमित है कि हम यह कह देते हैं कि कोई विशेष अंग अथवा भाग जात की हित की दृष्टि से इतना महत्त्वहीन है कि उसकी संरचना में परिवर्तन के लिए प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा परिवर्तनों का संग्रह नहीं हो सकता। कुछ अन्य उदाहरणों में सम्भवतः आपरिवर्तन, परिवर्तन अथवा वृद्धि के नियम के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण होते हैं, और उनका सम्बन्ध किसी प्रकार के लाभ अथवा हानि से नहीं है। किन्तु यह निश्चय है कि बाद में जीव द्वारा ऐसी संरचनाओं का भी उपयोग किया जाता है, जिसके फलस्वरूप जीवन की नयी परिस्थितियों में उनमें और भी आपरिवर्तन होते हैं। कभी-कभी कोई ऐसा अंग, जो किसी समय उपयोगी था, बाद में महत्त्वहीन हो जाने पर भी बना रहता है, किन्तु उसके अनुपयोगी होने के कारण ही यह स्पष्ट है कि उसकी वर्तमान अवस्था में उसका निर्माण प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा नहीं हुआ होगा।

किसी भी जात में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा ऐसे अंगों का निर्माण नहीं हो सकता, जो केवल दूसरी जातों की हानि अथवा लाभ के लिए हों, यद्यपि इसके द्वारा ऐसे भागों,

अंगों अथवा स्रावणों की उत्पत्ति हो सकती है जो अन्य जातों के लिए लाभदायक अथवा हानिकारक होने के साथ-साथ उस जीव विशेष के लिए भी लाभदायक हों। प्रत्येक भली भाँति बसे हुए प्रदेश में प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया निवासियों के बीच प्रतियोगिता के द्वारा होती है और इसलिए इसके फलस्वरूप कुछ निवासियों को उस प्रदेश की परिस्थितियों के अनुसार ही जीवन-संग्राम में सफलता मिलती है। अतः किसी छोटे प्रदेश के अल्पसंख्यक निवासी उससे बड़े प्रदेश के बहुसंख्यक निवासियों से पराजित होते हैं। कारण यह है कि बड़े प्रदेश में बड़ी संख्या में तथा विविध प्रकार के सदस्य पाये जाते हैं जिसके फलस्वरूप प्रतियोगिता विकट होती है, और अन्त में उसके फलस्वरूप जीवों में उत्कृष्टता भी अधिक होती है। प्राकृतिक निर्वाचन के फलस्वरूप यह आवश्यक नहीं है कि पूर्ण उत्कृष्टता हो, और जहाँ तक हम देख सकते हैं पूर्ण उत्कृष्टता की आवश्यकता भी हर जीव में नहीं है।

प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के द्वारा हम प्राकृतिक इतिहास की पुरानी लैटिन कहावत "प्रकृति में उत्प्लवन नहीं होता" (Natura non facit saltum) के अर्थ समझ सकते हैं; परन्तु हम केवल संसार के वर्त्तमान निवासियों को ही देखें तो यह कहावत बिल्कुल ठीक नहीं जान पड़ती। हाँ, यदि विगतकाल के जीवों को भी सम्मिलित कर लें तो, हमारे सिद्धान्त के अनुसार यह बिल्कुल सही हो जाती है।

साधारणतः यह सभी मानते हैं कि सभी जीवों का निर्माण दो महान् नियमों के अनुसार हुआ है—प्रतिरूप की एकता तथा जीवन की दशाएँ। प्रतिरूप की एकता का अर्थ यह है कि एक ही वर्ग के जीवों की संरचना में आधारीय समानता होती है और उस समानता से जीवों के स्वभाव का कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरे सिद्धान्त के अनुसार यह एकता वंशागति की एकता पर आधारित है। जीवन की दशाओं से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों का स्पष्टीकरण प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के द्वारा हो जाता है। कारण यह है कि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया या तो हर जीव के परिवर्तनशील अंगों को जीवन के भौतिक अथवा जैयविक दशाओं की ओर अनुकूलित करके होती है या विगत कालों में अनुकूलन के द्वारा। कई उदाहरणों में यह अनुकूलन अंगों के बढ़ते हुए उपयोग अथवा अनुपयोग के द्वारा होता है और उस पर जीवन की वाह्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। हाँ इस तरह के अनुकूलन के साथ ही कुछ हद तक वृद्धि तथा परिवर्तन के अनेक नियमों का भी प्रभाव पड़ता है। अतः वास्तव में जीवन की दशाओं का नियम एक प्रकार से उच्च नियम है जिसके अन्तर्गत विगत परिवर्त्तनों तथा अनुकूलनों के द्वारा प्रतिरूप की एकता का नियम भी सम्मिलित है।

अध्याय सात

प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के प्रति विविध आपत्तियाँ

आयु---सभी आपरिवर्तनों का एक साथ होना आवश्यक नहीं है---ऐसे आपरिवर्तन जिनका प्रत्यक्ष उपयोग नहीं है---क्रमिक विकास-कार्य की दृष्टि से तुच्छ महत्व के लक्षण सब से अधिक स्थायी हैं---उपयोगी लक्षणों की प्रारम्भिक अवस्थाओं के लिए प्राकृतिक निर्वाचन की काल्पनिक अयोग्यता---प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा उपयोगी संरचनाओं की प्राप्ति में बाधा डालने वाले कारण---परिवर्तित कार्यों वाली संरचनाओं की क्रमिक अवस्थाएँ---एक ही स्रोत से उत्पन्न होने वाले, एक ही वर्ग में पाये जाने वाले, एक दूसरे से बहुत भिन्न अंग---बड़े तथा एकाएक होने वाले आपरिवर्तनों में अविश्वास के कारण।

इस अध्याय में मेरे मत के विरुद्ध दी गयी अनेक विविध आपत्तियों पर विचार करूँगा क्योंकि उनके द्वारा पिछले अध्यायों में लिखी कुछ बातों का स्पष्टीकरण हो सकता है। किन्तु इस तरह की सभी आपत्तियों पर ध्यान देना व्यर्थ है, क्योंकि इनमें से कई ऐसे लेखकों द्वारा की गयी हैं जिन्होंने इस विषय को समझने का कष्ट नहीं उठाया है। उदाहरण के लिए एक योग्य जर्मन प्रकृति-वैज्ञानिक का कहना है कि मेरे मत का सबसे कमज़ोर भाग यह है कि सभी जीव अपूर्ण हैं। वास्तव में मैंने यह कहा है कि अधिकांश जीव अपने वातावरण के अनुसार जितने उत्कृष्ट हो सकते हैं, उतने नहीं हैं; और यह बात इस प्रकार सिद्ध है कि कई प्रदेशों के मूलनिवासी विदेशी जीवों द्वारा पराजित हो गये हैं। इसके अतिरिक्त यदि किसी समय कुछ जीव अपने वातावरण में पूरी तरह अनुकूलित भी रहे हों, तो इसके यह अर्थ नहीं कि सदा वे इसी प्रकार अनुकूलित रहेंगे, क्योंकि वातावरण तथा परिस्थितियाँ निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं और साथ-साथ प्रत्येक प्रदेश में पाये जाने वाले जीवों की संख्या तथा रूप में भी परिवर्तन होते हैं। ऐसी दशा में जब तक इन परिवर्तनों के साथ-ही-साथ इस जीव में भी अन्तर न होते जाएँगे, तब तक वह बराबर अनुकूलित ही बना रहेगा।

अभी हाल में एक आलोचक ने कुछ संख्याओं के उल्लेख के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक जात के लिए लंबी आयु बड़ी सुविधा का लक्षण

है, और जो लोग प्राकृतिक निर्वाचन में विश्वास करते हैं, उनको जीवों के वंशक्रम को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि प्रत्येक पीढ़ी में सन्तानों की आयु पूर्वजों की आयु से अधिक हो। किन्तु क्या हमारे आलोचक के लिए यह अनुमान करना असम्भव है कि कोई द्विवर्षीय पौधा, अथवा निम्न कोटि का कोई जन्तु ठंडी जलवायु में प्रत्येक वर्ष जाड़े के मौसम में एक बार नष्ट हो सकता है और फिर भी प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा इनमें कुछ ऐसे लाभदायक लक्षणों का निर्माण हो सकता है जिनकी सहायता से, बीजों अथवा अंडों के द्वारा प्रत्येक वर्ष ये जातें जीवित रह सकती हैं। ई० रे० लैन्कैस्टर ने हाल में इस विषय पर विचार किया है और इसके सभी जटिल अंगों पर ध्यान रखते हुए, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आयु का सम्बन्ध प्रत्येक जात की संरचना से तथा उसकी जननक्रिया और कार्यशीलता से है, और बहुत सम्भव है कि ये सभी बातें बहुत हद तक प्राकृतिक निर्वाचन पर निर्भर हैं।

कुछ लेखकों का यह कहना है कि मिस्र के जिन जन्तुओं अथवा पौधों के विषय में हम कुछ भी जानते हैं उनमें पिछले तीन-चार हजार वर्षों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है; अत: यही बात संसार के अन्य भागों में भी हुई होगी। किन्तु जैसा जी० एच० लिविस ने कहा है, यह दलील आवश्यकता से अधिक बढ़ा दी गयी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मिस्र के स्मारकों पर बने अधिकतर जीवों के चित्रों अथवा सुरक्षित शरीरों से पता चलता है कि उस समय की तथा आज की जातों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, और कुछ तो बिल्कुल ही अभिन्न हैं; पर सभी प्रकृतिवादी यह भी मानते हैं कि इन नस्लों का निर्माण मूल जातों के आपरिवर्तन से हुआ था। हिम युग के प्रारम्भ से अब तक जो अनेक जन्तु बिना परिवर्तन के जैसे-के-तैसे बने हैं, कदाचित् उनका उदाहरण इन मिस्री जीवों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता, क्योंकि इन्होंने जलवायु के भीषण परिवर्तनों का सामना किया है और अपने मूल स्थान से बहुत दूर तक इनका विस्तार भी हुआ है। इसके विपरीत जहाँ तक हम जानते हैं, पिछले कई हजार वर्षों में मिश्र की जलवायु में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। हिम युग से पूर्व तक किसी विशेष आपरिवर्तन का न होना विकास के जन्मजात और आवश्यक होने के नियम के विपरीत पड़ता है, किन्तु यह प्राकृतिक निर्वाचन अथवा योग्यतम के अतिजीवन के सिद्धान्त के विरुद्ध निरर्थक है क्योंकि जहाँ तक हमारे सिद्धान्त का प्रश्न है, जब जीवों में लाभ-दायक परिवर्तन होते हैं, तो उनका संरक्षण होता है, किन्तु ऐसा अनुकूल परिस्थितियों में ही सम्भव है।

प्रसिद्ध पुरातत्वशास्त्री ब्रान इस पुस्तक के अपने जर्मन अनुवाद के अन्त में यह प्रश्न करते हैं कि प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार किस प्रकार कोई भेद

अपने मूल जात के साथ-साथ किसी प्रदेश में रह सकता है? उत्तर स्पष्ट है—यदि मूल जात तथा उसका भेद जीवन की थोड़ी भी भिन्न परिस्थितियों के लिए अनुकूलित होंगे, तो वे साथ-साथ पाये जा सकते हैं। और यदि हम बहुरूपक जातों को जिनकी परिवर्तनशीलता कुछ विचित्र प्रकार की होती है, तथा नाप, रंग आदि से सम्बन्ध रखने वाले अस्थायी भेदों को अलग कर दें तो हम देखेंगे कि स्थायी भेद बहुधा अलग-अलग प्रदेशों में पाये जाते हैं, जैसे अलग-अलग ऊँचाइयों पर, अथवा शुष्क तथा आर्द्र प्रदेशों में। जो जन्तु स्वतन्त्रता से विचरण करते हैं, अथवा जिनमें संकरण बहुत होता है, उनके भेद भी बहुधा पृथक प्रदेशों में पाये जाते हैं।

ब्रान इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि अलग-अलग जातें एक-दूसरे से कभी भी एक ही लक्षण के विषय में भिन्न नहीं होतीं, बल्कि कई अंगों से सम्बन्ध रखने वाले लक्षणों में भिन्न होती हैं। और वे पूछते हैं कि यह कैसे सम्भव है कि किसी जीव की संरचना के कई भाग साथ-साथ परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा आपरिवर्तित हो जाते हैं? किन्तु यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि किसी जीव के सभी अंग एक साथ ही आपरिवर्तित होते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है किसी विशेष प्रयोजन के लिए आवश्यक सबसे विलक्षण आपरिवर्तन क्रमिक परिवर्तनों के द्वारा उत्पन्न होते हैं और सूक्ष्म होने पर पहले वे एक अंग में प्रकट होते हैं, फिर दूसरे अंग में। और चूँकि वे सभी एक साथ ही वंशागत होते हैं, इसलिए हमको ऐसा जान पड़ता है, जैसे इन सबका विकास एक साथ ही हुआ होगा। किन्तु इस आपत्ति का सबसे अच्छा उत्तर हमको उन पालतू नस्लों से प्राप्त होता है, जिनका आपरिवर्तन मनुष्य के निर्वाचन के द्वारा किसी विशेष ध्येय के लिए किया गया हो। उदाहरण के लिए घुड़दौड़ अथवा बोझ ढोने वाले घोड़ों, या ग्रे हाउन्ड तथा मैस्टिफ कुत्तों की नस्लों को देखिए। उनके शरीर का पूरा ढाँचा ही नहीं, बल्कि मानसिक लक्षण भी बदल गये हैं। यदि हम उनके परिवर्तन की प्रत्येक अवस्था को समझ सकें तो हमको कई बड़े और अकस्मात होने वाले परिवर्तन देखने को नहीं मिलेंगे बल्कि ऐसे सूक्ष्म परिवर्तन जो पहले एक अंग में प्रकट होंगे और बाद में उसके साथ ही दूसरे अंग में जिससे इन अंगों में उन्नति होगी। जब मनुष्य निर्वाचन की क्रिया को केवल किसी एक विशेष लक्षण के लिए ही उपयोग करता है, तो भी हम देखेंगे कि सदा ही इस विशेष लक्षण अथवा अंग के परिवर्तन के साथ-साथ दूसरे अंग में भी कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाते हैं। पौधों में इसके सबसे अच्छे उदाहरण मिलते हैं और चाहे हम उनके फूल, फल अथवा पत्तियों में से किसी एक में परिवर्तन करना चाहें, हमारे निर्वाचन के फलस्वरूप अन्य भागों में भी कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन कुछ हद

तक परस्पर सम्बन्धित वृद्धि के नियम के अनुसार होते हैं और कुछ हद तक कदाचित् स्वतंत्र परिवर्तनों के कारण।

इसके अतिरिक्त ब्रान ने एक अन्य तथा अधिक गम्भीर आपत्ति की है और हाल में ब्रोका (Broca) ने भी इस पर ज़ोर दिया है, और वह यह कि कई लक्षण किसी तरह भी जीव के लिए उपयोगी नहीं होते और इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा वे प्रभावित नहीं हो सकते। खरगोशों और चूहों की विभिन्न जातों के कान और पूँछ की लम्बाई का उल्लेख ऐसे लक्षणों के उदाहरण के रूप में ब्रान द्वारा दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त कई जन्तुओं में दाँतों के एनैमेल का आकार आदि लक्षण भी इसी प्रकार के हैं। वनस्पति साम्राज्य में ऐसे लक्षणों के विषय में नगेली (Nageli) ने विस्तारपूर्वक अपने निबन्ध में विचार किया है। वे यह मानते हैं कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि पौधों के आपरिवर्तन में प्राकृतिक निर्वाचन का बहुत प्रभाव रहा है, पर साथ ही वे कहते हैं कि अधिकांश वनस्पति वंश एक दूसरे से ऐसे लक्षणों में भिन्न हैं, जिनका उन पौधों के कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे इस बात में विश्वास करते हैं कि हर जीव में प्रगति तथा उत्कृष्टता की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। वे ऊतकों (tissues) में कोशिकाओं की व्यवस्था अथवा अक्ष पर पत्तों की संख्या तथा व्यवस्था का ऐसे उदाहरणों के रूप में उल्लेख करते हैं, जिनके परिवर्तन में प्राकृतिक निर्वाचन का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। मैं समझता हूँ कि फूलों के विभिन्न अंगों की संख्या डिंबों (ovules) की स्थिति और यदि वितरण से कोई सम्बन्ध न हो तो, बीजों के आकार को भी हम ऐसे ही उदाहरणों में सम्मिलित कर सकते हैं।

इस आपत्ति में, वास्तव में, बहुत जोर है, किन्तु मेरे विचार में यह तय करने में कि कौन सी संरचनाएँ किसी जात के लिए आज उपयोगी हैं, और कौन सी नहीं, अथवा कौन सी पहले कभी उपयोगी थीं, हमको बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब शरीर के किसी एक अंग में आपरिवर्तन होता है, तो दूसरे अंगों में भी थोड़ा परिवर्तन अवश्य होगा। इस परिवर्तन के कारण हमको ज्ञात नहीं हैं किन्तु सम्भव है कि विभिन्न अंगों में पहुँचने वाली खाद्य की मात्रा का बढ़ना या घटना, अंगों के एक-दूसरे पर दबाव, किसी अंग के विकास का दूसरे अंग के विकास पर प्रभाव आदि अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं, जिनके द्वारा इस तरह के परस्पर सम्बन्धित परिवर्तन हो सकते हैं। इस तरह के सभी कारणों को हम वृद्धि के नियमों के अन्तर्गत संक्षिप्तता के लिए रख सकते हैं। इनके अलावा हमको कुछ हद तक जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के प्रत्यक्ष प्रभाव और एकाएक कहे जाने वाले परिवर्तनों के लिए भी कुछ अवकाश देना होगा। कलिकाओं में होने वाले परिवर्तन

जैसे साधारण गुलाब पर मॉस रोज़ जैसी कलिकाओं का उत्पन्न होना, या पीच के पौधे पर नेकटरीन का उत्पन्न होना इस तरह के एकाएक होने वाले परिवर्तनों के उदाहरण हैं। किन्तु अगर हम यह ध्यान में रखें कि किस प्रकार विष की अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा से कुछ पौधों में बड़ी ग्रंथियाँ बन जाती हैं तो हम यह समझ सकते हैं कि ऊपर लिये अन्तर भी पौधों के रस में स्थानीय परिवर्तनों के कारण हो सकते हैं और स्वयं रसों के अन्तर परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण हो सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छोटे-से-छोटे वैयक्तिक अन्तरों और बड़े-से-बड़े परिवर्तनों के उत्पन्न होने के लिए कुछ विशिष्ट कारण होने चाहिए और यदि इन अज्ञात कारणों का प्रभाव बराबर पड़ता रहे तो यह स्पष्ट है कि जात का हर सदस्य एक ही प्रकार से आपरिर्वातित हो जाएगा।

मुझको ऐसा लगता है कि इस पुस्तक के पिछले संस्करणों में मैंने आकस्मिक परिवर्तनों को वह महत्त्व नहीं दिया था जो मुझको देना चाहिए था, फिर भी प्रत्येक जात में ऐसी असंख्य संरचनाएँ होती हैं जो उसकी रहन-सहन के लिए इतनी भली भाँति अनुकूलित होती हैं और उनकी उत्पत्ति केवल इसी कारण नहीं हो सकती थी। जबकि निर्वाचन का सिद्धान्त लोगों को भली भाँति स्पष्ट नहीं था उस समय घुड़दौड़ के घोड़े या ग्रे हाउन्ड कुत्ते के अनुकूलित शरीरों को देखकर पुराने प्रकृति वैज्ञानिकों को आश्चर्य होता था, किन्तु अब हम जानते हैं कि हम इनके विकास को एकाएक होने वाले परिवर्तनों के अधार पर नहीं व्यक्त कर सकते। इसी प्रकार अनुकूलन सम्बन्धी अन्य संरचनाओं का स्पष्टीकरण भी इस आधार पर नहीं किया जा सकता।

अच्छा होगा कि ऊपर लिखी बातों के सम्बन्ध में एक-दो उदाहरण दिये जाएँ। यह कहा जा चुका है कि अनेक प्राणियों में ऐसे अंग या भाग होते हैं जिनका कोई उपयोग नहीं होता। कुछ बहुत उच्च प्राणियों में तथा उनमें, जिनके बारे में हमारा ज्ञान पर्याप्त है, अनेक सुविकसित अंग होते हैं और उनका कोई महत्त्व समझ में नहीं आता, किन्तु इनमें से कुछ का उपयोग हाल में विदित हुआ है। कहा जा चुका है कि ब्रान ने चूहों की विभिन्न जातों में कान तथा पूँछ की लम्बाई का उदाहरण ऐसे अंगों के रूप में दिया है जिसका कोई विशेष महत्व नहीं हो सकता किन्तु डा० शाब्ल ने यह दिखाया है कि साधारण घरेलू चूहे के बाह्यकर्ण में असाधारण रूप से नाड़ियाँ पायी जाती हैं जिससे निस्संदेह यह स्पष्ट होता है कि वे स्पर्शांगों का काम करते हैं। स्पष्ट है कि कानों की लम्बाई ऐसा महत्त्वहीन लक्षण नहीं है। हम यह भी देखेंगे कि कम-से-कम कुछ जातों में पूँछ का उपयोग वस्तुओं को पकड़ने के सम्बन्ध में होता है। ऐसी दशा में पूँछ की लम्बाई का सम्बन्ध इस क्रिया में होगा।

नेगली के निबन्ध के आधार पर पौधों के विषय में भी ऐसे कुछ उदाहरणों का उल्लेख करना आवश्यक है। सभी जानते हैं कि ऑरकिड के फूलों में अनगिनती ऐसी अद्‌भुत संरचनाएँ पायी जाती हैं, जिसके विषय में कुछ ही दिन पहले लोगों का यह विचार था कि ये केवल ऐसे संरचना सम्बन्धी अन्तर हैं जिनका कोई विशेष उपयोग नहीं है। किन्तु अब हम जानते हैं कि इनमें से अधिकांश संरचनाएँ पुष्पों के कीट-संसेचन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, और ऐसी दशा में इनका विकास प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा होना सम्भव है। कुछ समय पहले तक कोई यह अनुमान नहीं कर सका था कि द्विरूप तथा त्रिरूप में गर्भकेसर तथा परागकेसर की भिन्न-भिन्न ऊँचाई अथवा उनकी व्यवस्था से पौधों को कोई लाभ हो सकता है, किन्तु यह हम जानते हैं कि उनसे केवल लाभ ही नहीं होता, बल्कि उनका ऐसा होना पौधों की संतानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

पौधों के कुछ सम्पूर्ण समूहों में गर्भाशय के भीतर डिंब कभी सीधे लगे रहते हैं, और कभी लटके रहते हैं और कुछ पौधों के गर्भाशियों में तो एक अंड नीचे सीधा खड़ा रहता है, और दूसरा ऊपर से लटका होता है। आरम्भ में अंडों की स्थिति में ये अन्तर केवल संरचना सम्बन्धी जान पड़ते हैं और उनका कार्य सम्बन्धी कोई महत्त्व नहीं समझ में आता, किन्तु डा० हूकर से मुझको मालूम हुआ है कि बहुधा एक ही गर्भाशय में कुछ पौधों में केवल ऊपरी अंडे और कुछ में केवल नीचे वाले अंडे संसेचित होते हैं, और कौन से अंडे संसेचित होंगे, यह इस बात पर निर्भर होता है कि पराग-नलिका किस दिशा से गर्भाशय में प्रवेश करती है। यदि ऐसा है तो डिब्बों की स्थिति बहुत-कुछ निर्वाचन पर निर्भर होगी और वे क्रमशः ऐसी जगह पर स्थिति होंगे जिससे संसेचन तथा बीज-निर्माण में अधिक सफलता मिलेगी।

अलग-अलग गणों के कई पौधों में साधारण रीति से दो प्रकार के फूल उत्पन्न होते हैं। एक सामान्य संरचना वाला खुला पुष्प और दूसरा अपूर्ण और बन्द। अधिकतर ये दोनों प्रकार के फूल एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं, किन्तु कभी-कभी क्रमिक रूप से ये एक-दूसरे से एक ही पौधे पर मिल जाते हैं। साधारण खुले फूलों में परस्पर संकरण हो सकता है और इस क्रिया से होने वाले सभी लाभ बीजों को प्राप्त होते हैं। किन्तु बन्द और अपूर्ण फूल जात के लिए बड़े महत्त्व के हैं, क्योंकि बहुत थोड़े पराग-कणों के खर्च होने से ही इनमें बीजों की बड़ी संख्या उत्पन्न होती है और उनका अपव्यय नहीं होता। जैसा कहा जा चुका है इन दोनों प्रकार के फूलों की संरचना में बहुत अन्तर होता है। अपूर्ण फूलों की पंखुड़ियाँ बहुत छोटी होती हैं और इनके पराग-कण भी सूक्ष्म होते हैं। **ओनानिस कालमनी** (Ononis columnae) के फूलों के पाँच परागकेसर केवल प्रारम्भिक दशा में रह जाते हैं, और वायला (Viola) की कुछ जातों में तीन

परागकेसर ऐसी दशा में रहते हैं और केवल दो अपना कार्य कर सकते हैं और ये भी बहुत छोटे होते हैं। एक भारतीय वायलेट पौधे के तीस बन्द फूलों में से छः में पंखुड़ियों की संख्या पाँच से घट कर तीन हो गयी थी। ए० डी० जुसू के अनुसार मैलपीझियेसी (Malpighiaccae) के एक भाग में बन्द फूल और भी आपरिवर्तित हो जाते हैं। पंखुड़ियों के सामने पाये जाने वाले इनके पाँचों परागकेसर अविकसित रह जाते हैं और एक छठवाँ परागकेसर विकसित हो जाता है जो एक पंखुड़ी के सामने स्थित होता है। इस जात के सामान्य फूलों में यह परागकेसर नहीं पाया जाता। साथ ही गर्भनाल का विकास भी नहीं होता और गर्भाशयों की संख्या भी पाँच से घट कर तीन रह जाती है। यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा यह सम्भव है कि इन आपरिवर्तित फूलों का खिलना रुक गया हो, और यह भी सम्भव है कि जब फूल बन्द रहने लगे हों, तो अधिक संख्या में परागकणों का होना अनावश्यक हो जाने के कारण उनकी संख्या में कमी हो गयी हो, किन्तु ऊपर दिये आपरिवर्तनों का होना भी प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा बहुत कठिन है, और सम्भावना यही है कि इनकी उत्पत्ति वृद्धि के नियमों पर निर्भर है। परागकेसरों की संख्या में कमी होने तथा फूलों के बन्द होने की क्रिया के बीच कुछ अंगों का निष्क्रिय होना तथा उसके फलस्वरूप कुछ अन्य आपरिवर्तनों का होना भी इन्हीं वृद्धि के नियमों के अन्तर्गत समझा जाएगा।

वृद्धि के नियमों के महत्वपूर्ण प्रभावों का समझना इतना आवश्यक जान पड़ता है कि मैं यहाँ दूसरे प्रकार के कुछ अन्य उदाहरणों का उल्लेख करूँगा। मेरा तात्पर्य ऐसे उदाहरणों से है जिनमें एक ही पौधे पर अलग-अलग जगहों पर होने के कारण एक ही अंग या भाग में अलग-अलग तरह के परिवर्तन होते हैं। शाक्ट के अनुसार कुछ फर के वृक्षों तथा स्पेन के चेस्टनट के वृक्षों में लगभग बेंड़ी तथा खड़ी डालों पर पत्तियों के बीच के कोणों में अन्तर होता है। सामान्य रयू (Rue) के पौधों तथा अन्य पौधों में केन्द्रीय या सबसे ऊपर के पुष्प में पाँच अंखुड़ियाँ और पंखुड़ियाँ होती हैं और उसके गर्भाशय में पाँच विभाजन होते हैं। यह पुष्प सबसे पहले फूलता भी है। पौधे के अन्य सभी पुष्प बाद में फूलते हैं और इनमें चार पंखुड़ियाँ और गर्भाशय के चार विभाजन होते हैं। ब्रिटिश एडोक्सा (Adoxa) में सबसे ऊपर के फूल में दो अंखुड़ियाँ और बाकी अंग चार-चार होते हैं तथा अन्य फूलों में पंखुड़ियाँ तीन और बाकी अंग पाँच-पाँच होते हैं। कई कम्पोजिटी (Compositae) और अम्बेलीफेरी (Umbelliferae) तथा कुछ अन्य पौधों में किनारे के फूलों की पंखुड़ियाँ बीच के फूलों की पंखुड़ियों की अपेक्षा बहुत विकसित होती हैं और बहुधा पंखुड़ियों के विकास के साथ-साथ जननांगों का ह्रास हो जाता है। यह बात बड़ी अद्भुत जान

पड़ती है कि परिधीय तथा केन्द्रीय बीजों के आकार, रंग तथा अन्य लक्षणों में भी बहुत अन्तर होता है। **कार्थेमस** (Carthamus) तथा कुछ अन्य कम्पोजिटी (Compositeae) में केवल केन्द्रीय बीजों में ही रोम होते हैं और **हायोसेरिस** (Hyoseris) के एक ही पुष्पपुंज में तीन प्रकार के फल पाये जाते हैं। ताश (Tausch) के अनुसार कुछ अम्बेलीफेरी (Umbelliferae)) के सदस्यों में बाहर के बीज आर्थोस्परमस (Orthospermous) होते हैं तथा केन्द्रीय बीज सीलोस्परमस (Coelospermous); और डि कैन्डोल ने इस लक्षण को वर्गीकरण के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण बताया है। प्रो० ब्रॉन फ्यूमेरिया (Fumaria) की एक जात का उदाहरण देते हैं जिसके शूकीफल में नीचे की ओर एक बीज वाले अंडाकार, छोटे नट (nut) होते हैं, और ऊपर की ओर के फल दो बीज वाले, लंबे सिलिकुआ (siliqua) होते हैं। इन उदाहरणों में रश्मि-पुष्पकों को छोड़, जिनके कारण फूल भड़कीले और कीटों के लिए आकर्षक हो जाते हैं, बाकी परिवर्तनों का संबंध प्रत्यक्ष रूप से प्राकृतिक निर्वाचन से नहीं जान पड़ता। अतः इन आपरिवर्तनों का संबंध अंगों के परस्पर प्रभाव या पुष्पों की स्थिति से होगा, और इसमें संदेह नहीं कि यदि एक ही पौधे के सभी फूल और पत्तियाँ समान बाह्य तथा आन्तरिक दशाओं से प्रभावित होती हैं तो उनका आपरिवर्तन भी एक ही प्रकार से होगा।

कई अन्य उदाहरणों में हम संरचना संबंधी ऐसे आपरिवर्तन देखते हैं जो केवल ऐसे ही कुछ पौधों में पाये जाते हैं, जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती परिस्थितियों में उगते हैं, अथवा एक ही पौधे के कुछ फूलों को प्रभावित करते हैं; लेकिन इनको वनस्पतिशास्त्री बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं। फिर भी चूँकि ऐसे परिवर्तन पौधों के लिए विशेष लाभदायक नहीं होते, इसलिए उनकी उत्पत्ति संभवतः प्राकृतिक निर्वाचन पर निर्भर नहीं होगी। हम उनकी उत्पत्ति के कारणों से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं, क्योंकि इनकी व्याख्या हम स्थिति की निकटता आदि कारणों के आधार पर नहीं कर सकते। एक ही पौधे पर चार अंगों वाले तथा पाँच अंगों वाले पुष्पों का पाया जाना इतना साधारण है कि उनके उदाहरण देना भी आवश्यक नहीं है।

किन्तु जब अंगों की संख्या बहुत कम होती है तब उनमें इस प्रकार के अन्तर बहुत विरले पाये जाते हैं। डी कैन्डोल के अनुसार **पपावर ब्रक्टियेटम** (Papaver bracteatum) में दो प्रकार के फूल पाये जाते हैं—कुछ में दो अंखुड़ियाँ और चार पंखुड़ियाँ होती हैं, कुछ में तीन अंखुड़ियाँ और चार पंखुड़ियाँ। इसी प्रकार कली के भीतर पंखुड़ियाँ सदा एक विशेष प्रकार से मुड़ी रहती हैं और इसलिए यह एक स्थायी संरचना सम्बन्धी लक्षण है। किन्तु प्रो० आसा ग्रे का कहना है कि **मिमलस** (Mimu-

lus) की कुछ जातों में अंखुड़ियों तथा पंखुड़ियों की व्यवस्था ऐन्टी राइनिडी (Antirrhinideae) की भाँति होती है और कुछ में राइनैनथिडी (Rhinanthideae) की भाँति, हालांकि यह जाति ऐन्टीराइनिडी के अन्तर्ग है। सेन्ट हिलेर इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण देते हैं, ज़ैन्थोज़ाईलान (Zanthoxylon) जाति रस्टेसी (Rustaceae) वंश के एक विभाग के अन्तर्गत रखी जाती है जिसमें एक ही गर्भाशय होता है किन्तु इसकी कई जातों में बहुधा एक ही पौधे अथवा एक ही पुष्पावलि के कुछ फूलों में एक गर्भाशय और कुछ में दो गर्भाशय होते हैं। **हिलियनथीमम** (Helianthemum) के कुछ फलों में एक ही कोष्ठ होता है और कुछ में यह तीन भागों में बँटा होता है। डा० मास्टर्स ने **सेपोनेरिया आफीसिनैलिस** (Saponaria Officinalis) के फूलों में दो प्रकार के जरायुन्यास का उल्लेख किया है—कुछ में सीमान्त और कुछ में स्वतन्त्र केन्द्रीय। दक्षिण की ओर सेन्ट हिलेर ने **गोम्फिया ओलीफारमिस** (Gomphia oleaeformis) के पौधों के दो ऐसे पृथक् रूपों का अवलोकन किया कि उन्होंने प्रारम्भ में इनको पृथक् जातें समझा, किन्तु बाद में उन्होंने दोनों प्रकार के फूलों को एक ही झाड़ी पर उगते देखा, और तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दोनों प्रकार के पुष्प एक ही जात के हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि वनस्पति जगत् में अनेक संरचना सम्बन्धी परिवर्तन ऐसे होते हैं जो वृद्धि के नियमों तथा विभिन्न भागों की परस्पर क्रिया के कारण होते हैं और जिनका प्राकृतिक निर्वाचन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। नेजेली के 'उत्कृष्टता की जन्मजात प्रवृत्ति' के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि क्या ये परिवर्तन भी उत्कृष्टता की क्रिया के द्योतक हैं और जबकि पौधों में क्रमशः उन्नति और विकास की क्रियाएँ हो रही हैं, बीच में परिवर्तन की ऐसी क्रियाएँ दिखाई पड़ती हैं जिनका वर्तमान समय में कोई उपयोग नहीं जान पड़ता। लेकिन चूँकि इन अंगों में एक ही पौधे पर इतने अन्तर दिखाई पड़ते हैं, इसलिए मैं तो यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि इस प्रकार के आपरिवर्तन पौधों का वर्गीकरण करने में हमको कितनी भी सहायता क्यों न पहुँचाते हों, स्वयं पौधों के लिए उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। किसी जीव में किसी व्यर्थ अंग के निर्माण से ही प्रकृति में उसका स्थान ऊँचा नहीं हो जाता, और ऊपर दिये गये बन्द, अपूर्ण पुष्पों के उदाहरण के समझने में यदि कोई सिद्धान्त लागू किया जा सकता है तो वह उन्नति का सिद्धान्त नहीं है, बल्कि अवनति का है। यही बात परजीवी तथा गिरे हुए जन्तुओं के विषय में भी कही जा सकती है। ऊपर दिये गये आपरिवर्तन वास्तव में किन कारणों से उत्पन्न होते हैं, हम उनके विषय में बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। किन्तु कारण कुछ भी हो, यदि समान रूप से कुछ समय तक वह काम करेगा,

तो निश्चय ही उसका परिणाम भी समान रूप से होगा। और इसलिए किसी प्रभावित जात के सभी सदस्यों के अंग एक ही प्रकार से आपरिवर्तित होंगे।

चूँकि ऊपर दिये लक्षण जातों के कल्याण की दृष्टि से महत्त्वहीन हैं, इसलिए उनमें होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों का संग्रह नहीं होगा, और इस प्रकार प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा ऐसे परिवर्तनों की वृद्धि भी नहीं होगी। इतना ही नहीं, ऐसी कोई संरचना जिसका विकास एक लम्बे काल तक निरन्तर निर्वाचन के द्वारा होता है, किसी कारणवश जब वह जीव के लिए उपयोगी नहीं रह जाती, तो वह परिवर्तनशील हो जाती है। क्योंकि अब इसका नियमन निर्वाचन की शक्ति के द्वारा नहीं होगा। किन्तु जब जीव में वातावरण की प्रकृति के कारण ऐसे आपरिवर्तन होते हैं, जो जात के कल्याण की दृष्टि से महत्त्वहीन हैं, तो सम्भव है कि लगभग उसी अवस्था में वे असंख्य तथा विविध प्रकार से आपरिवर्तित सन्तानों में वंशागत हों। अनेक उदाहरणों में ऐसा देखने में आता है। उदाहरण के लिए अनेक स्तनियों, पक्षियों तथा उरगों के लिए रोम, पर तथा शल्क का होना या न होना किसी विशेष महत्व की बात नहीं है। फिर भी लगभग सभी स्तनियों में रोम, सभी पक्षियों में पर और सभी उरगों में शल्क वंशागत होते हैं। साधारणतः हम ऐसी सभी संरचनाओं को, जो सम्बन्धित जातों में समान रूप से पायी जाती हैं, वर्गीकरण के दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं, और इसलिए साधारणतः हम उनको उन जातों के कल्याण के लिए बहुत आवश्यक समझते हैं। इस तरह मेरा यह विश्वास है कि पत्तियों की व्यवस्था, पुष्प अथवा गर्भाशय के विभाजन, अंड की स्थिति आदि ऐसे कई संरचना सम्बन्धी लक्षण, जिनको हम महत्त्वपूर्ण समझते हैं, प्रारम्भ में परिवर्तनशील लक्षणों के रूप में प्रकट हुए, किन्तु बाद में जीव तथा वातावरण की प्रवृत्ति के प्रभाव से अथवा विभिन्न सदस्यों के परस्पर संकरण से स्थायी हो गये। इस प्रकार इनके निर्माण में प्राकृतिक निर्वाचन का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, क्योंकि इनके द्वारा जातों के कल्याण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और इसलिए इनमें होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों पर निर्वाचन के नियमों का कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार हम इस विचित्र निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्गीकरण के लिए वे लक्षण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जो स्वयं उस जात के लिए लगभग महत्त्वहीन हैं। आरम्भ में यह बात कितनी ही विचित्र क्यों न लगे, जब हम वर्गीकरण से सम्बन्धित वंशागति के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे तब हम देखेंगे कि यह बात वास्तव में इतनी विचित्र नहीं है।

हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि जीवों में उन्नति तथा उत्कृष्टता के लिए कोई विशेष प्रवृत्ति है। फिर भी जैसा हमने चौथे अध्याय में दिखाया है, प्राकृतिक निर्वाचन के निरन्तर प्रभाव से ऐसा होना आवश्क है। अच्छी संरचना अथवा

अच्छे गठन की सबसे अच्छी परिभाषा यह है कि जीव के विभिन्न अंग विभिन्न क्रियाओं के लिए अधिक-से-अधिक कुशल अथवा विशेषित हों। और चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया के द्वारा विभिन्न अंग अपने कार्य अधिक सुचारु रूप से करने के योग्य बनते हैं, इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा बहुत-कुछ इस ध्येय की पूर्ति होती है।

अभी हाल में एक कुशल जन्तुशास्त्री, सेन्ट जार्ज मिवार्ट ने वालेस तथा मेरे द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के विरुद्ध जितनी भी आपत्तियाँ हो सकती हैं, चाहे किसी के द्वारा भी दी गयी हों, सब को एकत्रित करके बड़ी कुशलता से रखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार इकट्ठी की जाने पर ये आपत्तियाँ बहुत जोरदार दिखाई पड़ती हैं; और चूँकि मिर्वाट ने अपने निष्कर्षों के विरोध में दिये जा सकने वाले तथ्यों का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया है, इसलिए मिवार्ट के पाठकों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे इस प्रश्न के दोनों पहलुओं की तुलना कर सकें; विशेष उदाहरणों पर विचार करते समय मिवार्ट ने अंगों के उपयोग अथवा अनुपयोग के प्रभावों को छोड़ दिया है। हालांकि 'पालतूपन की अवस्था में परिवर्तन' के अध्याय में मैंने इस पर विशेष जोर दिया है क्योंकि मैं उसको बहुत महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। इसी प्रकार उन्होंने बहुधा यह मान लिया है कि प्राकृतिक निर्वाचन से अलग बाकी परिवर्तनों को मैं बेकार समझता हूँ, हालाँकि ऊपर दिये लेख में मैंने इस प्रकार के जितने उदाहरण दिये हैं उतने मेरी समझ में किसी अन्य पुस्तक में नहीं मिल सकेंगे। मैं यह नहीं कह सकता कि मेरे सभी निष्कर्ष ठीक ही होंगे; किन्तु मिवार्ट की पुस्तक का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने तथा उसके प्रत्येक अध्याय में दी गयी बातों की तुलना उस सम्बन्ध में अपने उल्लेख से करने के बाद मुझको अपने निष्कर्षों की सत्यता पर जो विश्वास होता है वह पहले कभी नहीं हुआ था।

इस संस्करण में मिवार्ट की सभी आपत्तियों पर विचार किया गया है। कई पाठकों की समझ में मिवार्ट ने एक नयी आपत्ति यह की है कि प्राकृतिक निर्वाचन उपयोगी संरचनाओं की प्रारम्भिक अवस्थाओं का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। यह विषय लक्षणों के क्रमों के विषय से गहरा सम्बन्ध रखता है। इस तरह संरचनाओं में इस प्रकार के परिवर्तन बहुधा कार्यों के परिवर्तन के साथ होते हैं, जैसे तैरने की थैली का फेफड़ों में परिणत होना। इन बातों पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है; फिर भी मैं यहाँ मिवार्ट द्वारा दिये गये कुछ उदाहरणों पर विस्तार में विचार करूँगा। स्थानाभाव के कारण मैं सभी उदाहरणों को न ले सकूँगा, इसलिए उन्हीं उदाहरणों को लूँगा जो अधिक उल्लेखनीय हैं।

अपने भारी शरीर, लम्बी गर्दन, अगली टाँगों, जीभ तथा लम्बे शिर के कारण

जिर्राफ का समस्त शरीर पेड़ों की ऊँची डालों की पत्तियाँ खाने के लिए अनुकूलित है। इस प्रकार यह ऐसा भोजन ग्रहण कर सकता है जो उसी प्रदेश के अन्य खुर वाले जानवरों की पहुँच के बाहर है और इसलिए भोजन की कमी होने पर अथवा सूखा पड़ने पर उसको विशेष सुविधा होगी। दक्षिणी अमेरिका के नियाटा (Niata) के अध्ययन से यह मालूम होता है कि ऐसे अवसरों पर संरचना के छोटे-छोटे अन्तर भी जानवरों की जान बचाने में कितने सहायक हो सकते हैं। अन्य चौपायों की भाँति नियाटा भी घास चरते हैं, किन्तु निचले जबड़े के कुछ बढ़े होने के कारण सूखा पड़ने पर अन्य चौपायों या घोड़ों की भाँति ये चरी, पौधों की मुलायम टहनियाँ आदि नहीं खा सकते, अतः यदि नियाटा पालने वाले उनको आहार न दें तो उनका नष्ट होना स्वाभाविक है। इसके पहले कि मैं मिवार्ट की आपत्तियों का उत्तर दूँ, यह अच्छा होगा कि एक बार फिर हम यह समझने का प्रयत्न करें कि सभी साधारण उदाहरणों में प्राकृतिक निर्वाचन किस प्रकार कार्य करता है। मनुष्य ने कुछ जानवरों का आपरिवर्तन संरचना के विशेष लक्षणों पर ध्यान दिये बिना ही किया है। उसने केवल इतना किया है कि अपने दृष्टि-कोण से अच्छे, अथवा उपयोगी जानवरों का उसने संरक्षण किया और उनका पालन किया है। उदाहरण के लिए घोड़ों या कुत्तों में तेज भागने वाली, मुर्गियों में बड़े अंडे देने वाली आदि संतानों का उसने पालन किया है। इसी प्रकार प्रकृति में जिर्राफ की उन संतानों का संरक्षण हुआ जो ऊँची होने के कारण सूखा पड़ने पर अन्य जिर्राफों की अपेक्षा एक-दो इंच अधिक ऊँचाई पर से पत्तियाँ खा सकती थीं। जब सभी चौपाये, बल्कि सभी जिर्राफ, हरे चारे की खोज में पूरे प्रदेश में घूमेंगे, तो स्पष्ट है कि उन्हीं का संरक्षण होगा जो ऐसा आहार प्राप्त कर सकते हैं, जो किसी और को प्राप्त न हों। प्रकृतिशास्त्र की अनेक पुस्तकों से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक जात के सदस्यों के बीच वैयक्तिक अन्तर होता है। अधिकांश जातों में इस तरह के अन्तर, विशेष कर जब वे नाप-जोख से सम्बन्ध रखते हों, किसी प्रकार लाभदायक नहीं होते किन्तु जिर्राफ के उदाहरण में यह बात नहीं है। इसकी प्रकृति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी वे ही संतानें जीवित बचेंगी जिनके एक या अधिक अंग सामान्य से अधिक होंगे। जब इस प्रकार के सदस्यों में संकरण होगा, तो ऐसी संतानें उत्पन्न होंगी जिनमें ये विचित्रताएँ उपस्थित होंगी, या फिर उनमें इसी प्रकार के लक्षणों के आपरि-वर्तन की प्रवृत्ति होगी। साथ ही वे सदस्य, जिनमें इस तरह के लाभदायक लक्षण नहीं होंगे, प्रतियोगिता में पराजित हो जाएँगे और सम्भवतः उनका विनाश हो जाएगा।

यहाँ हम देखते हैं कि मनुष्य द्वारा निर्वाचन की भाँति इस उदाहरण में यह आवश्यक नहीं है कि एक जोड़ा आपरिवर्तित जानवरों को अन्य जानवरों से पृथक् किया जाय।

प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा सभी उत्तम सदस्यों का संरक्षण होगा; वे अन्य सदस्यों से पृथक् हो जाएँगे, एक-दूसरे से संकरण करेंगे और इस प्रकार हीन प्राणियों का विनाश करेंगे। इस प्रकार यह क्रिया हर प्रकार से मनुष्य द्वारा अनजाने में किये गये निर्वाचन के समान है और जब यह क्रिया बहुत दिन तक चलती रहती है तो उसके द्वारा, तथा अंगों के अधिकाधिक उपयोग के वंशागत प्रभावों की सहायता से, निःसन्देह एक साधारण खुरदार चौपाये से जिर्राफ जैसे प्राणी का विकास हो सकता है।

इस निष्कर्ष के विरुद्ध मिवार्ट को दो आपत्तियाँ हैं। एक यह कि शरीर के बड़ होने के कारण साथ-साथ भोजन की अधिक आवश्यकता होती है। और उनके विचार में यह बहुत संदेहजनक है कि अधिक भोजन की आवश्यकता के रूप में जो कठिनाई खड़ी हो जाती है, भोजन की कमी पड़ने पर लम्बाई के द्वारा होने वाली सुविधा को वह बराबर कर देती है या नहीं। किन्तु चूँकि दक्षिण अफ्रीका में बड़ी संख्या में जिर्राफ जीवित हैं, और यही नहीं, बैलों से बड़े संसार के सब से अधिक विशालकाय बारहसिंघ भी वहाँ पाये जाते हैं, इसलिए इस बात में कैसे संदेह किया जा सकता है कि इनसे छोटे, अर्थात् नाप के आधार पर मध्यस्थ प्राणी भी वहाँ जीवित रहे होंगे, हालांकि वर्तमान समय की भाँति ये प्राचीन जीव भी बड़ी संख्या में यहाँ मरते रहे होंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लम्बाई की वृद्धि की हर अवस्था में जो जीव ऐसे भोजन तक पहुँच जाते रहे होंगे, जिसको अन्य खुरदार चौपाये न प्राप्त कर सकते होंगे, उनको जीवन की विशेष सुविधा रही होगी। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शरीर का बड़ा होना एक दूसरे प्रकार से भी लाभदायक होगा, क्योंकि बाघ को छोड़ यह जानवर अपनी रक्षा अन्य सभी शिकारी जानवरों से बड़े शरीर के द्वारा कर सकते रहे होंगे। और जहाँ तक बाघ का सम्बन्ध है, जैसा चानसी राईट (Chauncey Wright) का कहना है, अपनी लम्बी गर्दन की सहायता से वह चारों ओर सावधानी से देख सकता है। जैसा सर एस० बेकर का कहना है, यही कारण है जिससे जिर्राफ से अधिक कठिन किसी अन्य जानवर का मारना नहीं है। यह जानवर अपनी लम्बी गर्दन का उपयोग सींगसहित शिर को झटके से इधर-उधर हिला कर आक्रमण तथा बचाव के लिए भी करता है। किसी भी जात का संरक्षण शायद ही कभी किसी एक लक्षण की सहायता से होता हो; इसके लिए छोटी-बड़ी अनेक सुविधाओं की आवश्यकता होती है।

इसके बाद मिवार्ट यह पूछते हैं (यह उनकी दूसरी आपत्ति है) कि यदि प्राकृतिक निर्वाचन इतना शक्तिशाली है, और यदि ऊँचाई पर से आहार प्राप्त कर सकना इतना अधिक सुविधाजनक है, तो जिर्राफ के अतिरिक्त अन्य कोई खुरदार चौपाया क्यों लम्बा, चौड़ा तथा लम्बी गर्दन वाला नहीं हो गया? वह यह भी पूछते हैं कि इस

समूह के किसी भी जन्तु में सूँड़ का विकास क्यों नहीं हुआ ? जहाँ तक दक्षिणी अफ्रीका का सम्बन्ध है, जहाँ किसी समय जिर्राफों के अनगिनती झुंड पाये जाते थे, इन प्रश्नों का उत्तर कठिन नहीं है, और एक उदाहरण के द्वारा इनका उत्तर दिया जा सकता है। इंगलैण्ड के प्रत्येक हरे-भरे मैदान में जहाँ पेड़ पाये जाते हैं, हम देखते हैं कि हर पेड़ की निचली डालें एक विशेष ऊँचाई तक सदा ही नंगी रहती हैं, क्योंकि इस विशेष ऊँचाई तक घोड़े तथा गाय-बैल पत्तियों को साफ कर देते हैं। अब यदि ऐसे मैदानों की भेड़ों की गर्दन कुछ लम्बी भी हो जाय तो इससे उनका क्या लाभ होगा ? इसी प्रकार हर प्रदेश में जानवरों की कोई जात एसी होगी जो अन्य जानवरों की अपेक्षा अधिक ऊँचाई तक पत्तियाँ प्राप्त कर सकेगी। यह भी लगभग निश्चित है कि इसी विशेष जात की गर्दन प्राकृतिक निर्वाचन तथा अधिकाधिक उपयोग के कारण और भी अधिक लम्बी हो सकती है। दक्षिणी अफ्रीका में बबूल तथा अन्य पेड़ों की अधिकाधिक ऊँचाई से आहार प्राप्त करने के विषय में प्रतियोगिता जिर्राफों के बीच में ही होगी, न कि जिर्राफ और किसी अन्य जानवर के बीच।

संसार के अन्य भागों में इसी गण (order) के अन्य जन्तुओं की गर्दन लम्बी क्यों नहीं हुई, अथवा उनमें सूँड़ का विकास क्यों नहीं हुआ—इसका स्पष्ट उत्तर देना कठिन है। पर वास्तव में ऐसे प्रश्नों के उत्तर की आशा करना, जैसे मनुष्य के इतिहास में कोई विशेष घटना किसी विशेष देश में क्यों नहीं घटी, जब कि वैसी ही घटना किसी दूसरे देश में घटी—ठीक नहीं जान पड़ता। हम किसी भी देश में पायी जाने वाली जातों की संख्या अथवा उनके विस्तार पर नियन्त्रण रखने वाली विभिन्न दशाओं के विषय में लगभग अनभिज्ञ हैं और हमारे लिए यह अनुमान करना भी असम्भव है कि किसी नये प्रदेश में संरचना सम्बन्धी किसी विशेष प्रकार का अन्तर अधिक लाभदायक होगा। फिर भी सामान्य रीति से हम यह समझ सकते हैं कि लम्बी गर्दन अथवा सूँड़ का विकास न होने के लिए अनेक कारण हो सकते हैं। खुरदार जानवर पेड़ों पर नहीं चढ़ सकते, अतः काफी ऊँचाई पर स्थित आहार तक पहुँच सकने के लिए शरीर का बड़ा होना आवश्यक होगा। और हम यह जानते हैं कि संसार के कुछ क्षेत्रों में, जैसे दक्षिणी अमेरिका में बड़े चौपाये विशेष प्रकार से अल्पसंख्यक हैं, हालांकि वहाँ हरियाली की कोई कमी नहीं, और अन्य क्षेत्रों में, जैसे दक्षिणी अफ्रीका में, यह बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। ऐसा क्यों है, हम नहीं कह सकते और न हम यही कह सकते हैं कि बाद के तृतीय युगों में इस प्रकार के प्राणी वर्त्तमान युग की अपेक्षा क्यों बड़ी संख्या में पाये जाते थे। इन बातों के कारण कुछ भी क्यों न हों यह स्पष्ट है कि संसार के कुछ भाग तथा विश्व इतिहास के कुछ काल जिर्राफ जैसे विशालकाय

चौपायों की वृद्धि के लिए अन्य भागों अथवा अन्य कालों की अपेक्षा अधिक अनुकूल थे।

इस बात के लिए कि किसी जन्तु में कुछ संरचनाओं का विकास विशेष प्रकार से और बहुत अधिक हो, यह आवश्यक है कि उनके कुछ अन्य भाग आपरिवर्तित तथा सहअनुकूलित हों। यद्यपि शरीर का प्रत्येक भाग थोड़ा-बहुत बदलता रहता है, इसके यह मतलब नहीं कि आवश्यक अंगों में सदा ठीक दिशा तथा ठीक अनुपात में ही परिवर्तन हो। पालतू जानवरों की विभिन्न जातों के विषय में हम यह जानते हैं कि उनके अंगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के और भिन्न-भिन्न अंशों तक परिवर्तन होते हैं, तथा कुछ जातें अन्य जातों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होती हैं। यदि उनमें ठीक प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न भी हों, तो यह आवश्यक नहीं कि उन पर प्राकृतिक निर्वाचन का प्रभाव होगा तथा ऐसी संरचनाओं का निर्माण होगा जो उस जात विशेष के लिए स्पष्टतः लाभदायक होंगी। उदाहरण के लिए यदि किसी प्रदेश में सदस्यों की संख्या मुख्यतः इसी बात पर निर्भर हो कि उसके शिकारी जानवरों का बाह्य अथवा आन्तरिक परजीवी प्राणियों द्वारा विनाश हो तो प्राकृतिक निर्वाचन ऐसी अवस्था में कुछ भी न कर सकेगा या उसका प्रभाव भोजन ग्रहण करने वाले अंगों के आपरिवर्तन के विषय में बहुत कम होगा। अंत में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृतिक निर्वाचन बड़ी धीमी क्रिया है और उसके द्वारा किसी प्रकार का प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि लम्बे समय तक एक ही प्रकार की अनुकूल दशाएँ बनी रहें। संसार के कई भागों में खुरदार चौपायों की गर्दन लम्बी क्यों नहीं हुई, अथवा पेड़ों की ऊँची टहनियों से पत्तियाँ खा सकने के लिए उनमें कोई अन्य आपरिवर्तन क्यों नहीं हुआ——इन प्रश्नों का उत्तर ऊपर दिये सामान्य तथा स्थूल कारणों के आधार पर ही दिया जा सकता है।

ऊपर दी हुई आपत्तियों से मिलती-जुलती आपत्तियाँ अन्य कई लेखकों द्वारा भी दी गयी हैं और सम्भव है कि प्रत्येक उदाहरण में ऊपर दिये हुए कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया में बाधक रहे हों। एक लेखक महोदय पूछते हैं कि शुतुर्मुर्ग पक्षी में उड़ने की शक्ति का विकास क्यों नहीं हुआ है। किन्तु एक क्षण विचार करने पर ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि मरुस्थल की विशाल आकार की इस चिड़िया को उड़ने की शक्ति प्रदान करने के लिए कितनी बड़ी मात्रा में भोजन की आवश्यकता होगी। समुद्री द्वीपों पर चमगादड़ तथा सील पाये जाते हैं, इन पर कोई स्थलीय स्तनी नहीं मिलता। फिर भी चूँकि इनमें से कुछ चमगादड़ विचित्र जातों के हैं इसलिए यह निश्चत है कि यह इन्हीं निवासों में बहुत काल से रहते आये होंगे।

अतः सर सी० लियेल यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि इन द्वीपों के चमगादड़ तथा सील की जातों से ऐसे जीवों का विकास क्यों नहीं हुआ जो स्थली जीवन के लिए उपयुक्त हों। वे इसके कुछ कारण भी बताते हैं—स्थली बनने के लिए आवश्यक होगा कि सील पहले बड़ी डीलडौल वाले मांसभक्षी प्राणियों में परिवर्तित हों तथा चमगादड़ स्थली कीटभक्षी जन्तुओं में; किन्तु ऐसे सीलों के लिए द्वीपों पर शिकार न मिलेंगे और ऐसे चमगादड़ों के लिए जमीन के कीड़े भोजन के काम आएँगे, किन्तु इन कीटों का पहले से ही उरगों तथा पक्षियों द्वारा शिकार होगा क्योंकि ये पहले से ही द्वीपों पर पहुँच जाते हैं। आकार का ऐसा क्रमिक परिवर्तन जिसमें प्रत्येक अवस्था परिवर्तित होने वाली जात के लिए लाभदायक हो, केवल कुछ दशाओं में ही उपयोगी हो सकता है। यह सम्भव है कि एक पूर्ण स्थली जीव उथले पानी में कभी-कभी शिकार करके फिर नदियों तथा झीलों में आहार प्राप्त करके अंत में ऐसे पूर्ण जलीय प्राणी में परिवर्तित हो जाय, जो कदाचित् खुले समुद्र में भी जा सके। किन्तु समुद्री द्वीप पर सील को ऐसी लाभदायक परिस्थितियाँ प्राप्त नहीं हो सकेंगी जिनकी सहायता से पुनः वह जलीय प्राणी में परिवर्तित हो सके। जैसा पहले दिखाया जा चुका है, कदाचित् चमगादड़ के पंखों का विकास आरम्भ में एक पेड़ से दूसरे पर उतरने की क्रिया के द्वारा हुआ है और वायु के द्वारा उनके लिए ऐसा करना शत्रुओं से अथवा गिरने से बचने के लिए आवश्यक था। किन्तु जब एक बार वास्तव में उड़ने की शक्ति का विकास हो गया, तो फिर कम-से-कम इन्हीं कारणों के लिए पुनः उड़ने की दृष्टि से कम विकसित अंगों में पंखों का परिवर्तन नहीं हो सकता। हाँ, यह सम्भव है कि कई पक्षियों की भाँति अनुपयोग के कारण उसके पंख छोटे होते जायँ या बिल्कुल नष्ट हो जायँ, किन्तु ऐसी दशा में यह आवश्यक होगा कि पहले चमगादड़ों में स्थल पर पिछली टाँगों के द्वारा तेजी से दौड़ने की शक्ति का विकास हो जाय जिससे वह पक्षियों अथवा अन्य स्थली जीवों के साथ प्रतियोगिता कर सके। ऐसे परिवर्तनों के लिए चमगादड़ बहुत कम उपयुक्त जान पड़ता है। यह कल्पना यहाँ केवल यह दिखाने के लिए की गयी है कि संरचना में कोई ऐसा परिवर्तन, जिसकी हर क्रमिक अवस्था लाभदायक हो; बहुत ही जटिल तथा कठिन होगा। और किसी भी विशेष उदाहरण में ऐसे क्रमिक परिवर्तन के न होने में कोई विचित्रता नहीं है।

अंत में कई लेखकों ने यह प्रश्न किया है कि क्यों कुछ जन्तुओं का मानसिक विकास अन्य जन्तुओं की अपेक्षा अधिक हुआ है, जब कि यह शक्ति सभी जीवों के लिए उपयोगी है? क्यों बन्दरों में मनुष्य जैसी मानसिक शक्ति का विकास नहीं हुआ? इस प्रश्न के कई उत्तर दिये जा सकते हैं, किन्तु चूँकि सभी अनुमान पर ही आधारित हैं और यह

नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कौन सही है, इसलिए उनका यहाँ उल्लेख करना बेकार होगा। वास्तव में जब हम इससे कहीं सरल प्रश्न, अर्थात् आदिम निवासियों की दो नस्लों में से क्यों एक अधिक सभ्य होगी और दूसरी नहीं हो सकती—का उत्तर नहीं दे सकते, तो फिर ऐसे जटिल प्रश्न के उत्तर की आशा नहीं करनी चाहिए। सभ्यता के विकास का सम्बन्ध भी मानसिक शक्ति से है।

अब हम पुनः मिर्वाट की आपत्तियों पर ध्यान देंगे। अपनी रक्षा करने के लिए बहुधा कुछ कीट मुख्यतः हरी या सूखी पत्तियों, पुष्पों, काँटों, चिड़ियों की बीट या अन्य वस्तुओं के आकार के समान होते हैं। कभी-कभी तो यह समानता बहुत गहरी होती है और केवल रंग ही नहीं बल्कि संरचना, बैठने के ढंग आदि से भी सम्बन्ध रखती है। सूखी हुई टहनियों के आकार के निश्चल कैटरपिलर, जो झाड़ियों में पाये जाते हैं और उन्हीं से भोजन प्राप्त करते हैं, इस प्रकार की समानता के उत्तम उदाहरण हैं। चिड़ियों की बीट के समान आकार के जन्तु इसी तरह की समानता के बिरले और अद्भुत उदाहरण हैं। इस विषय पर मिर्वाट कहते हैं, "चूँकि डार्विन के मत के अनुसार जीवों में निरन्तर परिवर्तन की प्रवृत्ति होती है, और चूँकि सूक्ष्म प्रारम्भिक परिवर्तन सभी दशा में होंगे, इसलिए वे एक-दूसरे के प्रवाह को नष्ट कर देंगे और प्रारम्भ में इनके द्वारा एसे अस्थिर आपरिवर्तन होंगे जिनके द्वारा यह असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य जान पड़ता है कि ऐसे सूक्ष्म परिवर्तनों का सहारा लेकर कैसे प्राकृतिक निर्वाचन पत्तियों, बाँस या अन्य पदार्थों के समान आकार के प्राणी बना सकेगा।"

किन्तु ऊपर दिये सभी उदाहरणों में निश्चय ही अपने मौलिक रूप में कीटों में एकाएक वातावरण में सामान्य रूप से पाये जाने वाले किसी पदार्थ से थोड़ी-बहुत समानता उत्पन्न हुई। यदि वातावरण में पाये जाने वाली असंख्य वस्तुओं के रंग-रूप की ओर ध्यान दिया जाय और उनसे उस प्रदेश में पाये जाने वाले असंख्य कीटों की तुलना की जाय तो यह असम्भव नहीं जान पड़ता। चूँकि ऐसी समानता के लिए प्रारम्भ में कुछ स्थूल समानता का होना आवश्यक है, इसलिए यह समझना आसान है कि क्यों बड़े तथा उच्च प्राणियों में विशेष वस्तुओं की ओर इस प्रकार की समानता नहीं दिखाई पड़ती (मेरी जान में एक मछली इस विषय में अपवाद है), बल्कि ये प्राणी बहुधा वातावरण की वस्तुओं से मुख्यतः रंग के मामले में मिलते-जुलते हैं। अगर यह मान लिया जाय कि कोई कीट प्रारम्भ में कुछ हद तक सूखी टहनी या सड़ी पत्ती के समान था और वह कई प्रकार से थोड़ा-बहुत परिवर्तित हुआ, तो यह सम्भव है कि ऐसे सभी परिवर्तन, जिनके कारण यह कीट इन पदार्थों के और भी समान हो जा सकता था, ग्रहण कर लिये गये, क्योंकि इनके द्वारा कीट की रक्षा में सहायता मिली होगी,

तथा अन्य परिवर्तनों का परित्याग हो जायगा और वे नष्ट हो जाएँगे। यदि यह परिवर्तन समान वस्तु के रूप से भिन्नता उत्पन्न करने वाले होंगे तो विशेषतया उनका परित्याग किया जायगा। यदि हम इन समानताओं के कारण प्राकृतिक निर्वाचन के बाहर केवल अस्थिर परिवर्तनशीलता में ढूँढ़ें तो अवश्य ही मिर्वाट की आपत्ति में जोर दिखाई देगा। किन्तु वर्तमान दशा में उसमें कोई जोर नहीं है।

मैं मिर्वाट के मिमिक्री* की उत्कृष्टता के हेतु अन्तिम परिवर्तन की कठिनाई में भी कोई ज़ोर नहीं देखता। इस प्रकार की उत्कृष्टता का एक उदाहरण वालेस ने दिया है। चलने वाला 'तिनका-कीट', **सीरोजइलस लैसरेटस** (Ceroxylus lacratus) जंगरमेनिया या एक प्रकार की काई पर उगे तिनके के इतना अधिक समान है, कि एक डयाक (Dyak) निवासी का यह कहना था कि इस कीट के शरीर पर पायी जाने वाली पत्ती जैसी उभारें वास्तव में काई ही हैं। कई पक्षी तथा अन्य शत्रु कीटों का भक्षण करते हैं और सम्भवतः इन शत्रुओं की दृष्टि हमारी दृष्टि से बहुत तीव्र होती है। अतः समानता की हर अवस्था जिसके द्वारा कोई कीट ऐसे शत्रुओं की दृष्टि से बच सकेगा, ग्रहण की जाएगी और समानता जितनी ही अधिक होगी, कीट के लिए वह उतनी ही लाभदायक होगी। जिस समूह में ऊपर दिया गया कीट आता है यदि उसकी सभी जातों की परस्पर भिन्नता की ओर हम ध्यान दें, तो इसके तल के टेढ़े-मेढ़े होने, या इसके रंग के हरे होने में हमको कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन परिवर्तनों का होना अचम्भे की बात नहीं है, क्योंकि किसी समूह में वे ही लक्षण सब से अधिक परिवर्तनशील होते हैं, जो कई जातों में भिन्न होते हैं तथा जातसूचक लक्षण अथवा वे लक्षण जो समान रूप से कई जातों में पाये जाते हैं सब से अधिक स्थिर होते हैं।

ग्रीनलैंड की व्हेल संसार की एक अत्यन्त अद्भुत जन्तु है और व्हेल-हड्डी अथवा बैलीन (baleen) इस जन्तु की सबसे बड़ी विचित्रता है। बैलीन ऊपरी जबड़े के बाहर दोनों ओर लगभग तीन सौ चपटी हड्डियों का बना होता है, जो मुख के लम्बे अक्ष से आड़ी तथा एक-दूसरे से निकट स्थित होती हैं। इसकी मुख्य पंक्ति के

*** मिमिक्री (Mimicry) अर्थात् किसी एक जात के जन्तुओं का दूसरी जात के जन्तुओं के समान आकार ग्रहण करना, जिससे उसको अपनी रक्षा करने में सहायता हो। बहुधा किसी जन्तु का वातावरण के किसी निर्जीव पदार्थ के समान आकार धारण करने को भी मिमिक्री कहते हैं।**

भीतर कुछ गौण पंक्तियाँ भी होती हैं। सभी हड्डियों के भीतरी किनारे तथा सिरे कड़े काँटों या रोमों की भाँति उभरे होते हैं जिनके द्वारा पूरी तालू ढकी होती है और जो एक तरह के छन्ने का निर्माण करते हैं, जिनमें पानी छनता जाता है और व्हेल का आहार, अर्थात सूक्ष्म प्राणी, रुकते जाते हैं। ग्रीनलैंड की व्हेल की बीच की प्लेट सबसे लम्बी होती है और इसकी लम्बाई दस, बाहर या कभी-कभी पन्द्रह फीट तक हो सकती है। किन्तु सिटेशिया की विभिन्न जातों में इसकी लम्बाई भी भिन्न होती है, तथा स्कोरेस्बी (Scoresby) के अनुसार एक जात में यह चार फीट लम्बी, दूसरे में तीन फीट लम्बी, और तीसरे में १८ इंच लम्बी होती है, तथा **बैलीनाप्टेरा रोस्ट्राटा** (Balaenoptera rostrata) में यह केवल लगभग नौ इंच लम्बी होती है। अलग-अलग जातों में व्हेल-हड्डी का पदार्थ भी भिन्न हो सकता है।

बैलीन के विषय में मिवार्ट कहते हैं कि एक बार इतना विकसित और इतनी बड़ी हो जाने पर कि यह उपयोगी हो जाय, फिर इसका संरक्षण तथा माप में इसका और भी बढ़ना केवल प्राकृतिक निर्वाचन के ही द्वारा हो सकता है; किन्तु विकास की इस पहली उपयोगी अवस्था तक यह संरचना कैसे पहुँचेगी ? इस प्रश्न के उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि बैलीन सहित व्हेल के प्रारम्भिक पूर्वज में बत्तख़ के आकार की चपटी चोंच से मिलता-जुलता मुख क्यों नहीं था ? आखिर व्हेल की भाँति बत्तख़ भी पानी तथा कीचड़ छान कर ही जीवित रहती है और इसीलिए बत्तख़ वंश को क्रिब्लाटोरिस (Criblatores) कहा जाता है जिसका अर्थ है 'छानने वाले'। मैं आशा करता हूँ कि मेरे कहने का अर्थ यह न समझा जायगा कि मेरे विचार में वास्तव में व्हेल के पूर्वजों में बत्तख़ की चोंच के समान चपटे मुख थे । मैं केवल यह दिखाना चाहता हूँ कि ऐसा होना असम्भव नहीं है, और यह हो सकता है कि ग्रीन-लैंड व्हेल के बैलीन की विशाल प्लेट इस प्रकार की चपटी संरचना से कई अवस्थाओं के द्वारा विकसित हो सकती है, और सम्भव है कि ऐसी सभी परिवर्तन की अवस्थाएँ प्राणी के लिए उपयोगी रही हों।

एक दूसरी बत्तख़ **स्पेचुला क्लिपियाटा** (Spatula clypeata) की चोंच व्हेल के मुख की अपेक्षा अधिक सुन्दर तथा संरचना में अधिक जटिल है। परीक्षा करने पर मैंने इस बत्तख़ के ऊपरी जबड़े में दोनों ओर १८८ पतली लचीली प्लेटों की एक कतार देखी जो तिरछी-तिरछी व्यवस्थित थीं तथा प्रत्येक मुख के लम्बे अक्ष के समकोण पर व्यस्थित थीं। ये तालू से निकलती हैं और एक झिल्ली के द्वारा पार्श्वों से जुड़ी होती हैं। इनमें से बीच की प्लेटें सबसे लम्बी (लगभग $\frac{1}{3}$) होती हैं और किनारे के ०.१४ इंच नीचे बढ़ी होती हैं। इनके आधार के पास आड़ी-तिरछी व्यव-

स्थित प्लेटों की एक छोटी गौण क़तार होती है। स्पष्ट है कि इन लक्षणों में ये संरचनाएँ व्हेल के मुख की बैलीन की प्लेटों के समान हैं। किन्तु चोंच के सिरे के निकट ये सीधी तथा नीचे की ओर झुकी होने के बजाय भीतर की ओर झुकी होती हैं, और इस प्रकार उनसे बहुत भिन्न होती हैं। इस बत्तख़ का सम्पूर्ण शिर बहुत बड़ा न होते हुए भी साधारण लम्बाई के **बैलीनाप्टेरा रोस्ट्राटा** के शिर की लम्बाई के लगभग $\frac{१}{१८}$ भाग के बराबर लम्बा होता है। व्हेल की इस जात का बैलीन केवल नौ इंच लम्बा होता है। अतः यदि किसी प्रकार हम इस बत्तख़ के शिर को **बैलीनाप्टेरा** के शिर के बराबर लम्बा कर सकें, तो प्लेटें लगभग ६ इंच लम्बी होंगी, अर्थात् उनकी लम्बाई इस जात के व्हेल के बैलीन की लगभग $\frac{२}{३}$ होगी। इस बत्तख़ के निचले जबड़े की प्लेटों की लम्बाई ऊपर की प्लेटों की लम्बाई के बराबर है, किन्तु उनसे पतली हैं। और इस प्रकार व्हेल के निचले जबड़े से इसकी संरचना बिलकुल भिन्न है क्योंकि व्हेल के निचले जबड़े में बैलीन नहीं होता। साथ ही बत्तख़ के निचले जबड़ों की प्लेटों पर भी बैलीन की प्लेटों की भाँति कड़े रोम होते हैं, जिनके कारण दोनों संरचनाओं में अद्‌भुत समानता है। पक्षियों के एक बिल्कुल अलग वंश की प्रायन (Prion) जाति में केवल ऊपरी जबड़े में ही इस प्रकार की संरचना पायी जाती है और सुविकसित होने के साथ-साथ यह भी किनारे से उभरी होती है। अतः इस विषय में इस पक्षी की चोंच व्हेल के मुख के समान है।

ऊपर दिये गये **स्पेचुला** बत्तख की चोंच के उदाहरण के बाद हम अन्य उदाहरणों को ले सकते हैं। मि सैलिवन द्वारा भेजी सूचनाओं तथा उनके भेजे जन्तुओं की सहायता से इस उदाहरण के बाद हम **मर्गेनेट आर्माटा** (Merganetta armata) की चोंच का उदाहरण ले सकते हैं जिसमें छन्ने का उपक्रम लगभग उतना ही विकसित है; फिर **एक्स स्पोन्सा** (Aix sponsa) के उदाहरण को लेते हुए साधारण बत्तख़ के चोंच के उदाहरण लेंगे। बाद की दी हुई जात में प्लेटें **स्पेचुला बत्तख** की प्लेटों की अपेक्षा बड़ी होती हैं और जबड़े की हड्डी से अच्छी तरह जुड़ी रहती हैं। दोनों ओर इनकी संख्या ५० के लगभग होती है और ये किनारे से उभरी नहीं होतीं। इनके ऊपर की सतह कुछ चौकोर होती है और उन पर कुछ पारभास कड़ा पदार्थ होता है, जिससे भोजन पीसने का काम लिया जा सकता है। निचले जबड़े के किनारे और भी असंख्य पतली उभारें होती हैं जो बहुत कम उभरी होती हैं। इस प्रकार हालांकि यह चोंच स्पैचुला बत्तख़ की चोंच की अपेक्षा छानने के कार्य के लिए बहुत कम अच्छी है, फिर भी जैसा सभी जानते हैं, इस कार्य के लिए इसका उपयोग किया जाता है। सैलविन की सूचना के अनुसार ऐसी अन्य कई जातें भी हैं जिनमें प्लेटों

का विकास साधारण बत्तख की अपेक्षा भी कम होता है किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि उनका उपयोग छानने के लिए किया जाता है अथवा नहीं।

इस वंश के एक दूसरे विभाग की ओर ध्यान दीजिए। मिस्र के हंस चेनालोपेक्स (Chenalopex) की चोंच बहुत-कुछ साधारण बत्तख के समान होती है किन्तु इसमें प्लेटों की संख्या इतनी अधिक नहीं होती और न ये एक-दूसरे से पृथक् होती हैं और न अन्दर की ओर बढ़ी होती हैं। फिर भी मि० ई० बारलेट ने मुझको यह सूचना दी है कि यह हंस भी अपनी चोंच का उपयोग बत्तख की भाँति करता है और चोंच के कोनों से पानी बाहर फेंकता है। किन्तु इसका मुख्य आहार घास है जिसको यह साधारण हंस की भाँति उखाड़ सकता है। साधारण हंस में ऊपरी जबड़े की प्लेटें सामान्य बत्तख से भी बड़ी होती हैं; लगभग सभी एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं, इनकी संख्या केवल २७ होती है और ऊपर की ओर इनमें दाँत जैसे उभार होते हैं। इसके निचले जबड़े के किनारे पर दाँतों के समान संरचनाएँ होती हैं, किन्तु बत्तख की अपेक्षा दाँत अधिक बड़े और नुकीले होते हैं। इसकी ताल अनेक कड़े गोल उभारों से ढकी होती है। किन्तु साधारण हंस अपनी चोंच का उपयोग पानी छानने के लिए नहीं करता बल्कि केवल घास या अन्य वनस्पति को उखाड़ने या काटने के लिए और इस काम के लिए यह इतनी उपयुक्त होती है कि सम्भवतः किसी भी अन्य जन्तु की अपेक्षा वह अधिक महीन घास काट सकता है। मि० बारलेट के अनुसार हंसों की अन्य जातों में सामान्य हंस की अपेक्षा प्लेटें बहुत कम विकसित होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बत्तख-वंश का ऐसा कोई सदस्य, जिसकी चोंच सामान्य हंस की जैसी बनी हो और केवल घास चरने के योग्य हो, या ऐसा कोई सदस्य जिसकी प्लेटें बहुत विकसित न हों, कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के द्वारा मिस्री हंस के आकार की हो जायगी, जो बहुत कुछ सामान्य बत्तख से मिलता जुलता है; तथा अंत में ऐसे ही परिवर्तनों के द्वारा यह स्पैचुला बत्तख में परिणित हो जायगी जिसकी चोंच पूरी तरह पानी छानने के लिए अनुकूलित है, क्योंकि इस बत्तख की चोंच के सिरे के अतिरिक्त अन्य कोई भाग ठोस भोजन पकड़ने या नोचने के योग्य नहीं है। इसी तरह कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के द्वारा हंस की चोंच उसी वंश के मर्गेन्सर (Mer ganser)) जात की चोंच में बदल जाएगी, जिसमें मुड़े हुए दाँत उपस्थित होते हैं और जिसका कार्य बिल्कुल ही भिन्न, अर्थात् जीवित मछली पकड़ना होता है।

अब पुनः व्हेलों की ओर आइये। **हाइपेरूडान बाईडेन्स** ((Hyperoodon bidens) में अच्छे वास्तविक दाँत नहीं होते, किन्तु लासेपीड (Lacepede) के अनुसार इसके तालू में अनेक छोटे, कड़े असमान नोक होते हैं, जिनके कारण

तालू खुरदरी होती है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि सिटेशिया के किसी प्राचीन पूर्वज के तालू में ऐसी ही नोकें उपस्थित थीं किन्तु वे अधिक नियमित रूप से व्यवस्थित थीं और हंस की चोंच के उभारों की भाँति भोजन को पकड़ने अथवा नोचने में सहायक थीं। यदि यह सही हो, तो यह संभव है कि परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन की सहायता से ये नोंके मिस्र के हंस में पायी जाने वाली सुविकसित प्लेटों में परिवर्तित हो गयी हों। ऐसी दशा में उनका उपयोग आहार को पकड़ने तथा पानी छानने, दोनों ही के लिए हुआ होगा। बाद में ये ही संरचनाएँ पालतू बत्तख़ की प्लेटों में बदल गयी होंगी और इस प्रकार इस क्रिया के चलते रहने से अंत में स्पैचुला बत्तख़ की चोंच का निर्माण सम्भव है, जिसमें सारा उपक्रम केवल छानने के लिए उपयुक्त है। इस अवस्था के बाद जिसमें प्लेटों की लम्बाई **बैलीनाप्टेरा रोस्ट्राटा** के बैलीन की प्लेटों की दो तिहाई लम्बी होती हैं, फिर जीवित सिटेसिया की विभिन्न जातों की ऐसी अवस्थाएँ मिलती हैं, जिनके बाद अंत में ग्रीनलैंड व्हेल के बैलीन की विशाल प्लेटों तक हम पहुँचते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक अवस्था कुछ प्राचीन सिटेसिया के लिए थोड़ी-बहुत उपयोगी रही होगी, जिसके विभिन्न भाग विकास के साथ-साथ उसी प्रकार बदलते गये होंगे जिस प्रकार बत्तख़-वंश के विभिन्न सदस्यों की चोंच। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बत्तख़ की हर जात को जीवन के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ता है और उसके शरीर का प्रत्येक अंग उसके जीवन की परिस्थितियों के लिए अनुकूलित होना आवश्यक है।

मछलियों का वंश प्लूरोनेक्टिडी (Pleuronectidae), जिसके अन्तर्गत चपटी मछलियाँ (Flat fishes) रखी जाती हैं, अपने **असंमित** (assymmetrical) शरीर के लिए विख्यात हैं। ये समुद्र के धरातल पर करवट पड़ी रहती हैं—अधिकतर जातें बाईं ओर और कुछ जातें दाहिनी ओर—और बहुधा कुछ प्रौढ़ मछलियाँ उलटी पड़ी रहती हैं। इनका नीचे की ओर का पार्श्व साधारण अवलोकन में सामान्य मछलियों के पृष्ठतल के समान जान पड़ता है। यह सफेद होता है और ऊपरी पार्श्व की अपेक्षा कई प्रकार से कम विकसित होता है, और इस ओर के पार्श्व पक्ष (lateral fins) छोटे होते हैं। किन्तु इनकी संरचना की सबसे बड़ी विचित्रता आँखों के सम्बन्ध में देखी जाती है, क्योंकि इसकी दोनों आँखें शिर के एक ही ओर, अर्थात् ऊपरी ओर, स्थित होती हैं। कम आयु में लगभग पूरा शरीर संमित होता है, शिर के दोनों ओर एक-एक आँख होती हैं और दोनों पार्श्वों का रंग एक जैसा होता है। किन्तु बाद में नीचे की ओर की आँख धीरे-धीरे शिर की

ओर से होती हुई ऊपर की ओर आ जाती है; जैसा पहले समझा जाता था उसके विपरीत यह खोपड़ी के भीतर से होती हुई ऊपर नहीं आतीं। यह स्पष्ट है कि जब तक नीचे की आँख इस प्रकार ऊपर नहीं आ जाती, मछली की विचित्र आदत के कारण उसका कोई उपयोग नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, नीचे रहने पर यह आँख बालू से चुटीली भी हो सकती थी। प्लूरोनेक्टिडी वंश की कई जातें काफ़ी सामान्य रूप में पायी जाती हैं, जिससे स्पष्ट है कि यह पूरा वंश ही इस विचित्र जीवन के लिए अपने चपटे आकार तथा असंमित संरचना के द्वारा अनुकूलित है। इस स्वभाव से दो मुख्य सुविधाएँ प्राप्त होती हैं—यह मछली समुद्र के धरातल से सुगमता से भोजन ग्रहण कर सकती है, और शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकती है। किन्तु जैसा शिओटे का कथन है इस वंश के विभिन्न सदस्य इस विचित्र स्वभाव के अनुकूलन की कई अवस्थाओं का प्रदर्शन करते हैं। इसमें एक ओर तो **हिप्पोग्लासस पिन्गुइस** ((Hippoglossus pinguis) है जिसमें अंडे के बाहर निकलने के पश्चात् मछली में कोई परिवर्तन नहीं होता, और दूसरे सिरे पर रसेल मछली है जो पूरी तरह असंमित है।

मिवार्ट ने भी इस उदाहरण को लिया है और वे कहते हैं कि आँखों की स्थिति में एकाएक कोई परिवर्तन होना सम्भव नहीं जान पड़ता और मैं इस विषय में उनसे सहमत हूँ। फिर वे कहते हैं कि यदि आँखों का स्थान-परिवर्तन धीरे-धीरे हुआ तो यह समझ में नहीं आता कि अपने मूल स्थान से थोड़ा-थोड़ा आँखों के खिसकने से मछली को क्या लाभ हो सकता था? बल्कि इस प्रकार आँखों का धीरे-धीरे खिसकना तो हानिकारक भी हो सकता था। किन्तु मिवार्ट की इस आपत्ति का उत्तर माम (Mam) के सन् १८६७ में प्रकाशित अद्भुत अवलोकनों से मिल जाता है। जब प्लूरोनेक्टिडी वंश की मछलियाँ बहुत छोटी और संमित होती हैं और उनकी आँखें शिर के दोनों ओर बराबरी पर पायी जाती हैं, तब भी उनके शरीर के बहुत गहरे होने के कारण तथा उनके पार्श्व के पक्षतों के छोटे होने तथा तैरने वाली थैली के अनुपस्थित होने के कारण, ये मछलियाँ देर तक सीधी नहीं रह सकतीं। कुछ ही देर में थक जाने के कारण वे समुद्र के तले पर एक पार्श्व के सहारे गिर जाती हैं। माम के अवलोकनों के अनुसार इस तरह पड़े रहने पर ये बहुधा अपनी निचली आँख को ऊपर की ओर ऐंठ कर देखने का प्रयत्न करती हैं और यह क्रिया इतनी जोर से करती हैं कि निचली आँख दृष्टि-कोषों के ऊपरी भाग से छू जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आँखों के बीच के माथे का भाग स्थायी रूप से कुछ पतला हो जाता है। एक अवसर पर तो माम ने देखा कि

एक छोटी मछली अपनी निचली आँख को लगभग ७० अंशों तक ऊपर उठा लेती थी।

हमको यह याद रखना चाहिए कि इस अवस्था में खोपड़ी उपास्थि की बनी होती है और इसलिए काफी लचीली होती है। अतः पेशियों के खिंचाव के फलस्वरूप इसमें आकार-परिवर्तन सम्भव है। यह भी सुविख्यात है कि उच्च प्राणियों में काफी अवस्था हो जाने पर भी, खाल अथवा पेशियों के किसी रोग अथवा दुर्घटना के कारण स्थायी रूप से सिकुड़ जाने पर खोपड़ी के आकार में परिवर्तन हो सकता है। लम्बे कानों वाले खरगोश में यदि एक कान आगे की ओर गिर जाय तो उसके भार के कारण उस ओर की सभी हड्डियाँ आगे की ओर खिंच जाती हैं। माम के अनुसार पर्च सालमन और कई अन्य संमित मछलियों के वच्चे अंडों से निकलने के बाद बहुधा समुद्र-तल पर एक पार्श्व के सहारे पड़े रहते हैं। उन्होंने यह भी अवलोकन किया है कि ऐसी अवस्था में वे बहुधा निचली आँखों से ऊपर की ओर देखने का प्रयत्न करते हैं जिसके फलस्वरूप उनकी खोपड़ी का आकार बहुधा विकृत हो जाता है। लेकिन चूँकि ये मछलियाँ जल्दी ही खड़ी तैरने योग्य हो जाती हैं, इसलिए इनमें कोई स्थायी प्रभाव नहीं होने पाता। इसके विपरीत प्लूरोनेक्टिडी में जैसे-जैसे मछलियों की अवस्था बढ़ती है, उनका शरीर अधिकाधिक चिपटा होता जाता है, और इसलिए वे बराबर ही एक पार्श्व पर पड़ी रहती हैं तथा उनके शिर के आकार तथा आँखों की स्थिति पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। अन्य उदाहरणों की सहायता से हम भली भाँति यह जानते हैं कि विकृतता की प्रवृत्ति वंशागति के द्वारा निश्चय ही बढ़ती है। अन्य प्रकृतिशास्त्रियों के विरोध में शियोटे का विश्वास है कि प्लूरोनेक्टिडी भ्रूणावस्था में भी संमित नहीं होतीं। यदि यह सही हो, तो यह समझना आसान है कि क्यों इसकी कुछ जातें प्रारम्भ में ही स्वभावतः एक पार्श्व के सहारे गिर जाती हैं। इस मत की पुष्टि में माम का कहना है कि **ट्रैकिप्टेरस आर्कटिकस** (Trachypterus arcticus) के प्रौढ़ (यह प्लूरोनेक्टिडी वंश में नहीं है) धरातल पर बायीं ओर पड़े रहते हैं तथा तिरछे तैरते हैं। यह भी कहा जाता है कि इस मछली में शिर के दोनों पार्श्व बिल्कुल समान नहीं हैं। मछलियों के अधिकारी डा० गुन्थर माम के लेख के अन्त में कहते हैं कि इस लेखक ने प्लूरोनेक्टिडी की असाधारण दशा का स्पष्टीकरण बहुत सरल रीति से किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आँख के एक ओर से दूसरी ओर खिसकने की पहली अवस्था जो मिर्वाट के अनुसार हानिकारक होती है और स्वभाव के फलस्वरूप

उत्पन्न हो सकती है चूँकि ये मछलियाँ एक करवट समुद्र के धरातल पर लेटे रहने पर भी दोनों आँखों से ऊपर की ओर देखने का प्रयत्न करती रही होंगी, इसलिए यह प्रथम अवस्था निस्संदेह ऐसी मछलियों के लिए तथा इस सम्पूर्ण जात के लिए उपयोगी होनी चाहिए। इसी तरह इन चपटी मछलियों के मुख के नीचे की ओर मुड़े होने, जबड़े की हड्डियों के नीचे की ओर अधिक मज़बूत होने तथा नीचे की ओर आँख के न होने आदि लक्षणों को भूमि से भोजन ग्रहण करने के स्वभाव के वंशागत प्रभाव समझ सकते हैं। डा० ट्राकेर (Dr. Traquair) इसको अंगों के विशेष उपयोग का वंशागत प्रभाव समझते हैं। साथ ही समस्त शरीर तथा विभिन्न अंगों, जैसे पक्षतों के निचले तल की ओर कम विकसित दशा को अनुपयोग का प्रभाव कहा जा सकता है। यारेल (Yarrell) का विचार है कि नीचे की ओर के पक्षतों का छोटा होना मछली के लिए सुविधाजनक है क्योंकि ऊपरी तल के पक्षत की अपेक्षा इस पक्षत को गतिशील करने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है। सम्भवत: प्लेस मछली में दोनों जबड़ों के ऊपरी आधे में दाँतों का बहुत थोड़ी संख्या में होना (केवल ४ से ७) तथा नीचे के आधे में २५ से ३० दाँतों का होना भी प्रत्येक जबड़े के आधे भाग के अनुपयोग के कारण है। इसी प्रकार अधिकांश मछलियों तथा कई अन्य जन्तुओं में अधर-तल का रंगहीन होना इस बात की ओर संकेत करता है कि चपटी मछली में एक ओर दाहिनी या बायीं ओर रंग का न होना इस भाग पर प्रकाश न पड़ने के कारण है। किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि सील मछली की ऊपरी सतह के सुन्दर रंग, जो समुद्र के रेतीले धरातल के समान है, अथवा कुछ जातों में, जैसा पूशेट (Pouchet) ने दिखाया है, इस तल पर वातावरण के अनुसार रंग बदलने की शक्ति का होना, या टरबाट (Turbot) मछली में ऊपरी भाग पर अस्थि के उभारों का होना प्रकाश के प्रभाव के कारण है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन लक्षणों की उत्पत्ति में, तथा शरीर के आकार के निर्माण में, और अन्य कई विचित्रताओं के उत्पन्न होने में प्राकृतिक निर्वाचन का हाथ है। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, हमको यह बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि अंगों के अधिकाधिक उपयोग अथवा उनके अनुपयोग के वंशागत प्रभाव भी प्राकृतिक निर्वाचन में सहायता प्राप्त करेंगे। इस प्रकार सही दिशा में होने वाले सभी आकस्मिक परिवर्तनों की रक्षा होगी, और इसके साथ-ही-साथ ऐसे सदस्यों की भी रक्षा होगी जो अधिकतम अंश में किसी अंग के उपयोगी तथा अधिकाधिक होने वाले उपयोगों के प्रभाव को वंशागत करेंगे। किन्तु यह निश्चय करना असम्भव है कि इस प्रकार होने वाले परिवर्तन का हर अलग उदाहरण में कितना भाग

उपयोग अथवा अनुपयोग के प्रभाव के कारण है और कितना प्राकृतिक निर्वाचन के कारण।

मैं यहाँ एक ऐसी संरचना का दूसरा उदाहरण दूँगा जो स्पष्टतया केवल उपयोग अथवा स्वभाव के कारण उत्पन्न हुई है। कुछ अमरीकन बन्दरों में पूँछ का सिरा अद्भुत रूप से वस्तुओं को पकड़ सकने के लिए अनुकूलित हो गया है और इसलिए एक प्रकार से पाँचवें हाथ की तरह उपयोग किया जा सकता है। एक समालोचक जो मिवार्ट के लेख की हर बात से सहमत हैं, इस संरचना के विषय में कहते हैं; "यह विश्वास करना असम्भव है कि किसी भी अवस्था में पूँछ के इस उपयोग की प्रारम्भिक प्रवृत्ति से इन जन्तुओं की जीवन-रक्षा में किसी प्रकार की सहायता मिली होगी, अथवा इसके द्वारा संतानों की रक्षा में ही कोई सुविधा हुई होगी।" किन्तु इस प्रकार के विश्वास की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार के कार्य के लिए सम्भवतः स्वभाव ही पर्याप्त है और स्वभाव के अर्थ ही यही हैं कि उससे प्राणी को छोटे और बड़े कुछ लाभ हों। ब्रेम (Brehm) ने देखा कि अफ्रीकी बन्दर **सरकोपिथीकस** (Crecopithecus) के बच्चे माता के अधरतल से हाथों की सहायता से चिपके रहते हैं और साथ-साथ वे अपनी पूँछ माता की पुँछ में फँसाये रहते हैं। प्रो० हेनस्लो (Prof. Henslow) ने खेत के कुछ चूहे, **मुस मेसोरियस** (Mus messorius) पाल रखे थे। संरचना की दृष्टि से इनकी पूँछ पकड़ने के योग्य नहीं होती, किन्तु उन्होंने बहुधा यह देखा कि वे पिंजड़े में रखी किसी झाड़ी की शाखाओं के चारों ओर अपनी पूँछ लपेट लेते थे, जिससे उनको चढ़ने में सहायता मिलती थी। इससे मिलता-जुलता उल्लेख डा० गुन्थर ने मेरे पास भेजा है। उन्होंने एक चूहे को इसी तरह पूँछ लपेट कर उसके सहारे लटकते देखा है। यदि खेत के चूहे में वास्तव में पेड़ पर चढ़ने की प्रवृत्ति विकसित होती, तो सम्भव है कि उसकी पूँछ संरचना की दृष्टि से भी पकड़ने के योग्य होती, जैसा इस गण के कई अन्य उदाहरणों में देखा जाता है। यह कहना कठिन है कि सरकोपिथीकस में इस तरह की पूँछ का विकास क्यों नहीं हुआ है, विशेषकर जब हम उसके बच्चों के स्वभाव की ओर ध्यान देते हैं। किन्तु यह सम्भव है कि इस बन्दर की लम्बी पूँछ, लम्बी उछालें लेते समय सन्तुलन के अंग का काम पकड़ने के अंग की अपेक्षा अधिक करती है।

समस्त स्तनधारी वर्ग में स्तन-ग्रंथियाँ पायी जाती हैं और उनके जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। अतः उनका विकास बहुत ही प्राचीन काल में हुआ होगा और हम निश्चित रूप से इस विषय में कुछ भी नहीं कह सकते। मिवार्ट

पूछते हैं, "क्या कोई यह कह सकता है कि किसी जन्तु का बच्चा कभी एकाएक अपनी माता के अकस्मात बढ़ी हुई चर्म-ग्रन्थि में उत्पन्न होने वाले अपोष्य द्रव की एक बूंद के एकाएक चूसने से ही नष्ट होने से बच गया होगा? और यदि ऐसा हुआ भी हो, तो इस प्रकार के परिवर्तन के पुनः उत्पन्न होने की कितनी सम्भावना है?" किन्तु यह उदाहरण निष्पक्ष रूप से नहीं रखा गया है। अधिकांश विकासवादी यह मानते हैं कि स्तनी किसी मारसूपियल (marsupial)* से वंशागत हुए हैं और यदि यह सत्य है तो स्तन-ग्रन्थियों का विकास पहले मारसूपियल थैली में हुआ होगा। **हिप्पोकैम्पस** (Hippocampus)* मछली में अंडों से निकलने पर कुछ समय तक बच्चे इसी प्रकार की एक थैली में रहते हैं और लाकउड (Lock wood) नामक एक अमरीकी प्रकृति-वैज्ञानिक का विश्वास है कि उसके बच्चे इस थैली में उत्पन्न होने वाले एक उत्स्राजन से अपना पोषण ग्रहण करते हैं। ऐसी अवस्था में क्या यह सम्भव नहीं है कि स्तनियों के प्रारम्भिक पूर्वज में भी बच्चों का इसी प्रकार पोषण हुआ हो? और इस उदाहरण में जिन सदस्यों में किसी ऐसे द्रव का उत्स्राजन हुआ होगा जो कुछ हद तक पोष्य रहा होगा, और इसलिए जो कुछ अंशों तक दूध के समान गुणों वाला होगा, कालान्तर में उन्हीं के बच्चे अधिक संख्या में तथा अधिक पोषित और स्वस्थ रहे होंगे, और इसलिए कम पोष्य उत्स्राजन वाले सदस्यों की अपेक्षा इनके बच्चों को जीवन की सुविधा भी अधिक रही होगी। इस प्रकार स्तन-ग्रन्थियों की रचना सदृश चर्म-ग्रन्थियों में उन्नति हुई होगी, और वे अधिक कार्यशील हो गयी होंगी। फिर विशेषत्व के सिद्धान्त के अनुसार ये ग्रन्थियाँ थैली के भीतर ही किसी विशेष स्थान पर अधिक विकसित हो गयी होंगी, जिससे अंत में स्तन का निर्माण हुआ होगा। किन्तु प्रारम्भ में जैसा हम **आर्निथोरिंकस** (Ornithorhyncus) में देखते हैं, इस अवस्था में स्तन में चूचुक (teats) का विकास नहीं हुआ होगा। किस प्रकार किसी विशेष स्थान पर की ग्रन्थियाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक विकसित हुई होंगी—कुछ हद तक

***हिप्पोकैम्पस** (Hippocampus) **को साधारणतः समद्री घोड़ा** (sea horse) **भी कहते हैं, किन्तु यह मत्स्य** (Pisces) **वर्ग का जन्तु है। खड़े तैरने, और शिर का आकार घोड़े जैसा होने से ही इसको समद्री घोड़ा नाम दिया गया। अपनी पूँछ लपेट कर यह समद्री वनस्पति से अटक जाता है। नर के उदर के नीचे एक थैली होती है जिसमें अंडों का भ्रूण-विकास होता है।**

एक स्थान की वृद्धि की कमी की पूर्ति के लिए, अथवा उपयोग के प्रभाव के कारण अथवा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा---यह मैं नहीं कह सकता।

स्तन-ग्रन्थियों के विकास का कोई उपयोग न होता और न प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा यह विकास सम्भव होता, यदि इस विकास के साथ-साथ बच्चे इन ग्रन्थियों में बने द्रव का उपयोग न कर सकते। और यदि हमको यह समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती कि अंडे के भीतर मुर्गी के छोटे बच्चे अंडे का कवच अपनी चोंच मार कर तोड़ना कैसे सीखते हैं, या अंडों से निकलने के कुछ घंटों बाद ही वे दाने कैसे चुगने लगते हैं, तो यह समझने में भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि स्तनियों के बच्चे किस प्रकार स्वभावतः स्तन से अपना पोषण प्राप्त करना सीख जाते हैं। इस प्रकार के उदाहरणों में यही सम्भव जान पड़ता है कि ये स्वभाव आरम्भ में अधिकतर अभ्यास द्वारा प्राप्त हुए थे, किन्तु बाद में सन्तानों में कम आयु में वंशागत हुए। किन्तु कहा जाता है कि कंगारू का बच्चा दूध नहीं पीता और वह केवल माता के स्तन से चिपका रहता है; और माता में इस बात की शक्ति होती है कि वह अपने निःसहाय अर्धविकसित संतान के मुँह में दूध डाल दे। इस विषय पर मिवार्ट का कहना है कि---"यदि कोई विशेष प्रबन्ध न होता, तो ऐसी अवस्था में दूध के बच्चे के श्वास-नाल में प्रवेश कर जाने के कारण निश्चय ही उसका दम घुट जाता। लेकिन इस बात का विशेष प्रबन्ध है कि इसका स्वर-यंत्र इस तरह से लम्बा होता है कि यह नास्या-मार्ग के पिछले भाग में बढ़ा होता है, और इस प्रकार दूध स्वर-यंत्र के दोनों ओर से होता हुआ भोजन-नलिका में प्रवेश करता जाता है तथा श्वास-वायु स्वतन्त्रता से फेफड़ों में जाती रहती है।" इसके बाद मिवार्ट पूछते हैं कि "किस प्रकार प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा कंगारू के प्रौढ़ में इस पूर्णतया अहानिकारक संरचना का विनाश हो जाता है, और चूँकि अधिकांश दूसरे स्तनी सम्भवतः किसी मारसूपियल से विकसित हुए समझे जाते हैं, इसलिए उनमें भी किस प्रकार इस संरचना का अंत हुआ?" इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जब तक स्वर-यंत्र नास्या-मार्ग में प्रवेश करता रहा, तब तक किसी भी स्तनी में पूरे ज़ोर से आवाज़ नहीं उत्पन्न की जा सकती थी। अब इसमें कोई संदेह नहीं कि आवाज़ अनेक प्राणियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण है। और प्रो० फ्लावर ने तो मुझको यह भी बताया है कि यह संरचना ठोस भोजन के निगलने में भी बहुत बाधक होती है।

अब हम कुछ देर के लिए जन्तु-साम्राज्य के निम्न वर्गों की ओर ध्यान देंगे। एकाइनोडरमेटा समुदाय में (जिसके अन्तर्गत तारा मछली, समुद्री अर्चिन आदि

आते हैं)पेडीसेलारी (pedicellariae) नामक विचित्र अंग होते हैं। पूर्ण विकसित होने पर ये अंग तीन फाँकों वाली चिमटी के आकार के होते हैं, जिसकी प्रत्येक फाँक दाँतेदार होती है, तथा तीनों फाँकें एक डंठल पर सफ़ाई से लगी होती हैं और पेशियों की सहायता से चिमटी की तरह एक-दूसरे पर कसकर बन्द की जा सकती हैं। इन चिमटियों के द्वारा कोई भी वस्तु मज़बूती से पकड़ी जा सकती है और अलेक्ज़ेन्डर अगासिज़ (Alexander Agassiz) ने **एकाइनस** (Echinus) में यह अवलोकन किया कि उसमें एक चिमटी गन्दगी के कण दूसरी चिमटी से ग्रहण करती गयी और इस प्रकार एक विशेष रेखा पर इनका परित्याग कर दिया गया तथा कवच गन्दा नहीं होने पाया। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि सभी प्रकार की गन्दगी दूर करने के अतिरिक्त चिमटियाँ अन्य कार्य भी करती हैं, और स्पष्टतया इनमें से एक कार्य रक्षा का भी है।

अन्य उदाहरणों की भाँति इस अंग के विषय में भी मिवार्ट पूछते हैं, "इन संरचनाओं के निर्माण की प्रारम्भिक अवस्थाओं में इनका क्या उपयोग रहा होगा, तथा किस प्रकार इन प्रारम्भिक अवस्थाओं के द्वारा एकाइनस की रक्षा में सहायता हुई होगी ?" फिर वे कहते हैं, यदि बन्द हो सकने वाली इन चिमटियों का निर्माण एकाएक हो जाता तो भी स्वतन्त्र रूप से गति करने वाले डंठल के बिना ये उपयोगी न हो सकतीं। इसी प्रकार बिना बन्द हो सकने वाली फाँकों के विकास के अकेले डंठल का भी कोई उपयोग न होता। यह भी स्पष्ट है कि कोई भी दो पृथक् तथा सूक्ष्म परिवर्तन अकस्मात् ही एक-दूसरे से इतने सम्बन्धित नहीं हो सकते, और यदि यह नहीं हो सकता, तो फिर इन अंगों का विकास कैसे हुआ ?" मिवार्ट को चाहे यह बात कितनी भी विचित्र लगे, यह सत्य है कि कुछ तारा मछलियों में आधार पर अचल किन्तु गतिशील फाँकों वाली त्रिशंखी चिमटियाँ पायी जाती हैं। और यदि सुरक्षा के कार्य में ये कुछ हद तक भी सहायक हैं, तो इनकी उपस्थिति की बात समझ में आती है। अगासिज़, जिन्होंने इस विषय पर कृपा करके मुझको अनेक सूचनाएँ दी हैं, कहते हैं कि ऐसी भी तारा मछलियाँ पायी जाती हैं जिनमें चिमटी की तीन में से एक फली इतनी छोटी हो जाती है कि अन्य दो फलियों के लिए यह आधार का काम करने लगती है तथा कुछ जातियों में तीसरी फली पूर्णतया अनुपस्थित होती है। पेरियर (M. Perrier) के अनुसार **एकाइनोनियस** (Echinoneus) में कवच के ऊपर दो प्रकार के पेडीसेलारी होते हैं जिनमें से एक प्रकार की एकाइनस जैसी होती है, तथा दूसरी स्पटैंगस (Spatangus) जैसी। इस प्रकार के उदाहरणों

में आकस्मिक परिवर्तन देखने में मिलते हैं क्योंकि अंगों के दो रूपों में से बहुधा एक का विनाश हो जाता है।

अपनी तथा मूलर की खोजों के आधार पर, इन विचित्र अंगों के विकास के सम्बन्ध में अगासिज़ का मत है कि तारा मछली तथा समुद्री अर्चिन दोनों में ही पेडीसेलारी को निश्चय ही आपरिवर्तित शल्यों (spines) के रूप में देखना चाहिए। किसी भी एक जीव में इन अंगों के विकास के इतिहास अथवा साधारण उभारों से शल्यों तथा शल्यों से पूर्ण विकसित त्रिशंखी पेडीसेलारी के विकास के लम्बे तथा पूर्ण क्रम का अध्ययन करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं। वास्तव में इस प्रकार का क्रम साधारण शल्यों तथा पेडीसेलारी के कवचों पर तरह-तरह से आधारित होने के विषय में भी देखा जा सकता है। कुछ तारा मछलियों की जातियों में तो ठीक वे ही क्रम देखने को मिलते हैं जिनको सैद्धान्तिक रूप से हम यह दिखाने के लिए आवश्यक समझते हैं कि पेडीसेलारी केवल शाखित शल्य हैं। इस प्रकार कुछ जातों में हम ऐसे अचल शल्य देखते हैं जिन पर तीन बराबर दूरी की दाँतेदार गतिशील शाखाएँ होती हैं और कुछ ऊँचाई पर इसी शल्य पर तीन दूसरी गतिशील शाखाएँ होती हैं। अब शिखर के करीब पायी जाने वाली शाखाएँ वास्तव में एक अविकसित त्रिशंखी पेडीसेलारी का निर्माण करती हैं और यह पेडीसेलारी एक दूसरी बड़ी निचली पेडीसेलारी के ऊपर स्थिति है। इस उदाहरण में पेडीसेलारी के फली तथा शल्य की गतिशील शाखा के बीच का अन्तर स्पष्ट है। यह सभी मानते हैं कि सामान्य शल्य रक्षा का कार्य करती है। यदि यह सत्य है तो इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि वे शल्य जिनमें दाँतेदार गतिशील शाखाएँ होंगी, वे भी रक्षा का कार्य करेंगी, बल्कि शाखाओं के गतिशील होने पर यह चिमटियों का काम भी कर सकेंगी और इसलिए और भी लाभदायक होंगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि साधारण गतिहीन शल्य से लेकर पेडीसेलारी तक की सभी अवस्थाएँ उपयोगी होंगी।

तारा मछलियों की कुछ जातियों में स्वयं अचल होने अथवा अचल आधार पर स्थित होने के कारण बहुधा ये अंग कुछ लचीले, पेशीयुक्त किन्तु छोटे वृत्त पर स्थित होते हैं। ऐसी दशा में सुरक्षा के अतिरिक्त भी ये कुछ कार्य करते हैं। समुद्री अर्चिन में हम ऐसी अवस्थाओं को देख सकते हैं जिनके द्वारा अचल शल्य अंत में कवच से सन्धि बना लेते हैं और इस प्रकार अंत में गतिशील हो जाते हैं। यदि स्थान होता तो मैं यहाँ पेडीसेलारी के विकास के सम्बन्ध में अगासिज़ के रोचक अवलोकनों का कुछ विस्तृत सारांश देता। जैसा वे कहते हैं कि तारा मछली के

पडीसेलारी तथा एकाइनोडर्म के एक-दूसरे के समान अर्थात् ओफीयूरियनों (Ophiurians) के काँटों के बीच की सभी सम्भव अवस्थाओं का भी उल्लेख किया जा सकता है और इसी प्रकार समुद्री अर्चिन के पेडीसेलारी तथा होलोथूरियनों (Holothurians) के काँटों के बीच की अवस्थाओं का भी।

ज़ुओफाइट (Zoophyte) कहलाने वाले कुछ संयुक्त जन्तु, जैसे पालिज़ोआ, में एविकुलैरिया (avicularia) नामक कुछ विचित्र अंग पाये जाते हैं। विभिन्न जातों में इनकी संरचना बहुत भिन्न होती है। उत्कृष्ट होने पर आकार में वे विचित्र ढंग से गिद्ध की टोंट से मिलते-जुलते हैं। गिद्ध की टोंट के निचले जबड़े की भाँति वे भी गर्दन जैसी एक संरचना पर स्थित होते हैं और गतिशील होते हैं। मैंने एक जात में देखा कि एक ही शाखा पर स्थित सभी एविकुलैरिया बहुधा एक साथ ही आगे-पीछे गति करते हैं तथा लगभग ५ सेकंडों में उनका 'निचला जबड़ा' लगभग ९०° के कोण तक खुल जाता है। इनकी गति के साथ ही पूरी कालोनी हिलने लगती है। जबड़ों को किसी सुई से छूने पर, वे सुई को इतना कसकर पकड़ते हैं कि पूरी शाखा हिल उठती है।

मि० मिवार्ट इस उदाहरण को इसलिए देते हैं कि साधारण धारणा यह है कि आवश्यक रूप से समान अंग जन्तु-साम्राज्य के अलग-अलग विभागों में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा नहीं उत्पन्न हो सकते। पालिज़ोआ के एविकुलैरिया तथा एकाइनोडरमाटा के पेडीसेलैरी ऐसे मिलते-जुलते अंग हैं जो बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के जन्तु-समूहों में पाये जाते हैं। किन्तु जहाँ तक संरचना की बात है मुझको पेडिसेलैरी तथा एविकुलैरिया में कोई समानता नहीं दिखाई पड़ती। एविकुलैरिया तो क्रस्टेशिया के चिमटों या 'पिन्सर' के अधिक समान हैं और यदि मिवार्ट चाहते तो इन अंगों की समानता का उल्लेख करते जो अधिक कठिनाई उत्पन्न करते हैं अथवा एविकुलैरिया तथा पक्षियों के शिर तथा टोंट की समानता का ही उल्लेख करते। मि० बस्क, डा० स्मिथ तथा डा० नित्शे जैसे प्रकृतिशास्त्रियों का विश्वास है (जिन्होंने पालिज़ोआ का गहन अध्ययन किया है) कि एविकुलैरिया तथा ज़ुओफाइट का निर्माण करने वाले अन्य सदस्य या उनकी कोशिकाएँ रचनासदृश हैं तथा कोशिकाओं के गतिशील 'होंठ' या ढकने एविकुलैरियम के निचले गतिशील जबड़ों के बराबर हैं। किन्तु बस्क ऐसे सदस्यों तथा एविकुलैरिया के बीच की परिवर्तन की क्रमिक अवस्थाओं का उल्लेख नहीं कर सकते। अतः यह संभव नहीं है कि इस बात का अनुमान किया जा सके कि किन अवस्थाओं के द्वारा एक दशा दूसरे में परिवर्तित हुई होगी। पर चूँकि हम ऐसी अवस्थाओं

के विषय में अनभिज्ञ हैं अतः इसके यह तात्पर्य नहीं हैं कि वे कभी थी ही नहीं।

चूँकि कुछ अंश तक क्रस्टेशिया के चिमटे तथा पालिज़ोआ के एविकुलैरिया समान हैं और दोनों ही चिमटों का काम करते हैं, इसलिए कदाचित् यह दिखाना अच्छा होगा कि कम-से-कम क्रस्टेशिया के चिमटों के विकास की कई लाभदायक अवस्थाएँ अब भी मिलती हैं। सर्वप्रथम तथा सरलतम दशा में किसी अवयव का अंतिम खंड उसके पहले वाले खंड अथवा सम्पूर्ण अवयव के ऊपर मुड़ जाता है, और इस प्रकार उसकी सहायता से कोई वस्तु पकड़ी जा सकती है। किन्तु साथ ही अवयव चलन-क्रिया में भी सहायक रहता है। दूसरी दशा में अंतिम के पहले के खंड का एक कोना कुछ उभरा होता है और कभी-कभी इस उभार में अनियमित आकार के दाँते भी होते हैं और अंतिम खंड इनके ऊपर भी मुड़ता है। इसी उभार के और भी बड़े होने से तथा साथ ही इसके तथा अंतिम खंड के आकार में कुछ परिवर्तन तथा उन्नति होने से चिमटे और भी अधिक उत्कृष्ट हो जाते हैं और अंत में झींगे के पिन्सर के समान उत्कृष्ट उपक्रम तैयार हो जाता है। इस प्रकार वास्तव में सभी परिवर्तन की अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं।

एविकुलैरिया के अतिरिक्त पालिज़ोआ से वाइब्रेकुला नामक अद्भुत अंग भी पाये जाते हैं। साधारणतः ये कुछ काँटों के बने होते हैं जो आसानी से उद्दीप्त हो जाते हैं और तब गति करते हैं। एक जात में मैंने इनका परीक्षण किया है और मैंने देखा है कि वे कुछ मुड़े होते हैं तथा उनका बाहरी किनारा आरी जैसा होता है। एक कालोनी के सभी वाइब्रेकुला एक साथ ही गति करते हैं जिसके फलस्वरूप पतवारों की भाँति कार्य कर, वे पूरी शाखा को तैरा सकते हैं। जब एक शाखा को इस प्रकार स्लाइड पर रखा गया कि मुख नीचे की ओर हो तो वाइब्रेकुला एक-दूसरे में उलझ गये और उन्होंने स्वतंत्र होने का पूरा-पूरा यत्न किया। ऐसा विश्वास है कि ये अंग सुरक्षा के काम आते हैं और बस्क के अनुसार ऐसा देखा जा सकता है कि निरंतर पालीज़ोअरी के ऊपर हिलते रहते हैं और इस प्रकार किसी भी हानिकारक अथवा अरुचिकर पदार्थ को झाड़ू की भाँति हटाते रहते हैं और इस प्रकार उनकी रक्षा करते हैं। कदाचित् वाइब्रेकुला की भाँति एविकुलैरिया भी सुरक्षा के काम आते हैं, किन्तु सूक्ष्म जन्तुओं को पकड़ते और मारते भी रहते हैं और बाद में इनके मृत शरीर ज़ुआयडों के स्पर्श-सूत्रों की गति की सहायता से दूर हट जाते हैं। कुछ जातों में एविकुलैरिया और वाइ-ब्रेकुला दोनों ही पाये जाते हैं, कुछ में केवल एविकुलैरिया और कुछ में केवल वाइब्रेकुला।

पक्षी के शिर के समान एविकुलैरियम तथा रोम के समान वाइब्रेकुला---इन दोनों संरचनाओं से अधिक भिन्न प्रकार के रूपों के अंगों की कल्पना करना भी कठिन है। फिर भी वे निश्चय ही रचनासदृश हैं और एक ही संरचना से---अर्थात कोशिका सहित ज़ुआयड से---विकसित हुए हैं। यही कारण है जिससे बहुधा ये दोनों अंग एक-दूसरे से मध्यवर्ती अवस्थाओं के द्वारा संबंधित होते हैं। यही बात लेप्रेलिया (Lepralia) की कई जातों में भी देखने में आती है। इनके एविकुलैरिया के जबड़े इतने गतिशील और रोम जैसे होते हैं कि यदि इनमें ऊपरी अर्थात गतिहीन जबड़ा न होता तो यह कहना कठिन होता कि ये संरचनाएँ एविकुलैरियम हैं। संभव है कि वाइब्रेकुला का विकास कोशिकाओं के होठों से बिना बीच की एविकुलैरिया अवस्था के हुआ हो; किंतु यह अधिक संभाव्य जान पड़ता है कि वे इस अवस्था से होकर गुजरे हैं, क्योंकि रूपान्तरण की प्रारंभिक अवस्था में ज़ुआयड की कोशिका का बाकी भाग एकाएक शायद ही नष्ट हो सकता हो। कई उदाहरणों में वाइब्रेकुला के आधार पर एक नाली-दार सहारा होता है जो एविकुलैरिया के गतिशील जबड़े का प्रतिनिधि हो सकता है, हालांकि कई बातों में यह आधार अनुपस्थित होता है। यदि वाइब्रेकुला के विकास का यह मत विश्वसनीय हो, तो बड़ा रोचक भी है, क्योंकि यदि किसी कारणवश एविकुलैरिया वाली सभी पालिज़ोआ की जातें नष्ट हो जायँ, तो कैसा भी कल्पनाशील व्यक्ति हो, कभी भी यह अनुमान नहीं कर सकता कि वाइब्रेकुला मूलतः कभी किसी ऐसे अंग के भाग के रूप में रहे होंगे जिनका आकार पक्षी के सिर या टेढ़ी-मेढ़ी डिबिया जैसा रहा होगा। दो बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के अंगों का इस प्रकार एक ही सूत्र से विकसित होना वास्तव में बहुत रोचक है। और जब किसी कोशिका का होंठ ज़ुआयड की रक्षा का काम कर सकता है, तो यह विश्वास करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि ऐसी सभी अवस्थाएँ जिनके द्वारा होंठ पहले एविकुलैरियम के निचले जबड़े में और फिर लम्बे कड़े रोम में परिवर्तित हुआ होगा, वे अवस्थाएँ भी अलग-अलग परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप से रक्षा का कार्य करती रही होंगी।

वनस्पति-जगत में मिवार्ट केवल दो उदाहरण देते हैं अर्थात आरकिड के फूलों की संरचना तथा अवरोही पौधों की गति। आरकिड के फूलों के विषय में वे कहते हैं---"इनकी उत्पत्ति के कारणों का जो विवरण दिया गया है वह बिल्कुल ही असंतोष-जनक है और इनके द्वारा ऐसी संरचनाओं का प्रारम्भिक सूक्ष्म रूप में निर्माण होना जो केवल तभी उपयोगी हो सकते हैं, जब काफी विकसित हो जायें, बिल्कुल अपर्याप्त हैं। मैंने इस विषय पर अपने दूसरे लेख में विचार किया है। अब यहाँ मैं आरकिड के फूलों की केवल एक ही विचित्रता के विषय में कुछ वर्णन करूँगा, अर्थात उनके पराग-

पुंज के विषय में। पूर्ण विकसित होने पर इसके परागपुंज में परागकणों का एक ढेर होता है जो एक लचीले वृन्त पर लगे होते हैं और स्वयं यह वृन्त एक चिपकने पदार्थ से चिपका होता है। इस विधि से परागपुंज कीटों द्वारा एक गर्भनाल-मुख से दूसरे पर पहुँचते हैं। कुछ आरकिडों में पराग के ढेरों में वृन्त नहीं होते और परागकण कुछ महीन धागों से एक-दूसरे से बँधे होते हैं। इस प्रकार के धागे केवल आरकिडों में ही सीमित नहीं हैं; इसलिए इन पर यहाँ विचार करना आवश्यक नहीं है। फिर भी इतना कहना आवशयक है कि आरकिड पौधों के क्रम में सबसे नीचे की ओर के एक पौधे अर्थात् **साइप्रीपीडियम** (Cypripedium) का अध्ययन करने पर हम यह समझ सकते हैं कि इन धागों का विकास किस प्रकार हुआ होगा। दूसरे आरकिडों में ये धागे परागकणों के ढेरों के एक ओर इकट्ठे हो जाते हैं और इस प्रकार का निर्माण प्रारम्भ होता है। जब वृन्त काफी लम्बा और सुविकसित होता है, तब भी उसकी उत्पत्ति इसी प्रकार होती है। वह उन परागकणों के अध्ययन से सिद्ध हो जाता है जो कभी-कभी केन्द्रीय ठोस भागों में धँसे हुए दिखाई पड़ते हैं।

दूसरी मुख्य विचित्रता अर्थात् वृन्त के सिरे पर पाये जाने वाले चिपकने पदार्थ के विषय में परिवर्तन की अवस्थाओं का भी एक लम्बा क्रम देखा जा सकता है, जिनमें से प्रत्येक अवस्था स्पष्ट रूप से पौधे के लिए उपयोगी है। अन्य गुणों के बहुत से पुष्पों में गर्भनाल के मुख पर एक चिपचिपा पदार्थ निकलता है। कुछ आरकिड के फूलों में भी इसी प्रकार का चिपचिपा पदार्थ उत्पन्न होता है, किन्तु यह तीन गर्भनाल मुखों में से केवल एक ही पर बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न होता है, और सम्भवतः इसी पदार्थ के इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न होने के कारण यह गर्भनाल-मुख वन्ध्य हो जाता है। जब कोई कीट इस प्रकार के फूल पर आता है, तो चिपचिपे पदार्थ का कुछ भाग उसमें लिपट जाता है और साथ-ही-साथ कुछ परागकण भी उसमें लिपट जाते हैं। यह सरल अवस्था कई अन्य प्रकार के सामान्य फूलों में भी पायी जाती है, किन्तु इस अवस्था से अनेक अन्य अवस्थाएँ सम्बन्धित की जा सकती हैं—कुछ जातों में परागकणों का ढेर एक छोटे स्वतन्त्र वृन्त तक पहुँच कर रुक जाता है, कुछ में वृन्त चिपकने पदार्थ से अच्छी तरह जड़ा होता है तथा वन्ध्य गर्भनाल-मुख स्वयं आपरिवर्तित हो जाता है। अन्तिम दशा में पराग-पुंज सब से पूर्ण तथा विकसित होता है। कोई भी व्यक्ति, जो आरकिड के फूलों की स्वयं परीक्षा करेगा, निश्चय ही इन अवस्थाओं को देख सकता है। इस प्रकार के क्रम में एक ओर ऐसे परागकण होंगे जो धागों द्वारा एक-दूसरे से बँधे होंगे तथा गर्भनाल-मुख किसी भी सामान्य पुष्प जैसा होगा तथा दूसरी ओर अत्यन्त जटिल संरचना वाला परागपुंज होगा जो कीटों द्वारा परागण के लिए भली

भाँति अनुकूलित होगा। इस अवलोकन के साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि हर जात की संरचना अथवा इस सम्बन्ध में उसके विकास की अवस्था उसकी सामान्य संरचना को ध्यान में रखते हुए निषेचन के लिए अधिक-से-अधिक अनुकूलित है। इस प्रकार के उदाहरणों में वास्तव में हमको यह जिज्ञासा होनी चाहिए कि हम जिस अवस्था को प्रारम्भिक मानते हैं, स्वयं उसका विकास कैसे होगा? उदाहरण के लिए यह पूछा जा सकता है कि किसी सामान्य फूल का गर्भनाल-मुख चिपचिपा कैसे हुआ? किन्तु चूँकि हम जीवों के किसी भी समूह के सम्पूर्ण इतिहास से परिचित नहीं हैं इसलिए हम इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकते और इनका पूछना व्यर्थ है।

अब हम अवरोही पौधों के प्रश्न पर विचार करेंगे। इनको भी हम एक लम्बे क्रम में रख सकते हैं जिनके एक ओर ऐसे पौधे होंगे जो केवल किसी आधार के चारों ओर लिपटते हैं, बीच में वे जिनको मैं पत्रावरोही (leafclimbers) कहता हूँ और अंत में वे जिनमें संजनियाँ (tendrils) होती हैं। बाद के दोनों उदाहरणों में सामान्य रूप से तनों में लिपटने की शक्ति नहीं रह गयी है, हालांकि वे फिर भी ऐंठ सकते हैं तथा यही गुण संजनियों में भी पाया जाता है। पत्रावरोही दशा से संजनीधारी दशा बहुत निकट है और कुछ पौधे ऐसे हैं, जिनको इन दो में से किसी भी एक वर्ग में रखा जा सकता है। किन्तु जब हम साधारण लिपटने वाली दशा से पत्रावरोही दशा की ओर बढ़ते हैं, तो बीच में एक महत्त्वपूर्ण लक्षण उत्पन्न हो जाता है, अर्थात स्पर्श के लिए हृषता क्योंकि इसी गुण के कारण अंत में पत्तियों अथवा फूलों को वृन्त अथवा इन्हीं के आपरिवर्तन से बनी संजनियों के किसी आधार के सम्पर्क में आने पर वे उसके चारों ओर लिपटने के लिए उत्तेजित होती हैं। इस प्रकार के पौधों पर मेरी पुस्तक का जिन्होंने अध्ययन किया होगा, वे यह मानेंगे कि कार्य अथवा संरचना की दृष्टि से सामान्य लिपटने वाले अवरोही पौधों तथा संजनीधारी पौधों के बीच की सभी अवस्थाएँ जात के हित के लिए बहुत उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए किसी भी लिपटने वाले पौधे के लिए पत्रावरोही होना सुविधा की बात होगी और यह सम्भव है कि इस प्रकार का हर ऐसा पौधा जिसमें लम्बे पत्रवृन्त होते हैं वह पत्रावरोही रूप में विकसित हो जाता, यदि उसके पत्रवृन्तों में स्पर्श के लिए थोड़ी भी हृषता होती।

चूँकि आधार के चारों ओर लिपटना अवरोहण का सब से सरल रूप है, तथा हमारे क्रम का आधार है, इसलिए यह पूछना स्वाभाविक है कि प्रारम्भिक दशा में किस प्रकार पौधों ने यह शक्ति प्राप्त की जिसका बाद में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा अधिक विस्तार तथा सुधार हुआ। लिपटने की शक्ति दो बातों पर निर्भर है—पहली यह कि छोटे होने पर पौधे काफी लचीले हों; किन्तु यह गुण ऐसे बहुत से पौधों में पाया जाता

है जो अवरोही नहीं हैं; दूसरे यह कि वे एक के बाद एक हर बिन्दु पर एक ही दिशा में किसी भी ओर मुड़ सकें। इस प्रकार की गति के द्वारा तने को हर दिशा में झुकना पड़ता है, और वह बराबर लिपटता रहता है। ज्यों ही तने का निचला भाग किसी भी वस्तु के सम्पर्क में आता है, और आगे बढ़ने से रुकता है, उसका ऊपरी भाग मुड़ता और चक्कर मारता है और इस प्रकार अनिवार्य रूप से आधार के चारों ओर लिपट जाता है। हर तने की प्रारम्भिक वृद्धि के बाद उसकी इस प्रकार की गति रुक जाती है। चूंकि कई बिलकुल अलग-अलग वंश ऐसे हैं, जिनकी एक ही जाति तथा एक ही जात में यह शक्ति पायी जाती है, तथा वे अवरोही हो गये हैं, इसलिए यह स्पष्ट है कि उनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् उनका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है न कि किसी एक सामान्य पूर्वज से। अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस प्रकार की गति की थोड़ी-बहुत प्रवृत्ति ऐसे पौधों में भी पायी जा सकती है जो साधारणतः अवरोही नहीं हैं। किन्तु इस प्रवृत्ति के आधार पर प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा काफी प्रगति हो सकती है। जब मैंने यह लिखा था, उस समय मैं केवल एक ही ऐसे उदाहरण से परिचित था और वह था **मॉरेन्डिया** (Maurandia) के छोटे पुष्पवृन्त जो थोड़ा-बहुत तथा अनियमित रूप से अवरोही पौधों की भाँति झुकते हैं किन्तु इस लक्षण का कोई उपयोग नहीं दिखाई पड़ता। कुछ समय बाद **फ्रिट्ज मूलर** ने यह अवलोकन किया कि **अलिस्मा** (Alisma) तथा **लाईनम** (Linum) की एक-एक जात के छोटे तने स्पष्ट रूप से किन्तु कुछ अनिमित ढंग से आधार पर लिपटते हैं। ध्यान रहे कि ये पौधे अवरोही नहीं हैं तथा प्रकृति में बहुत विस्तृत हैं। मूलर यह भी लिखते हैं कि उनका यह विश्वास है कि कई अन्य पौधों में यही बात पायी जाती है। वैसे तो इन पौधों की यह सूक्ष्म गति उनके लिए किसी विशेष महत्त्व की नहीं जान पड़ती, कम-से-कम वे पौधों के अवरोहण के लिए तो निश्चय ही उपयोगी नहीं हैं और अभी हमारा तात्पर्य इसी से है। फिर भी यह स्पष्ट है कि यदि इन पौधों के तने लचीले होते, तथा जिन परिस्थितियों में वे पाये जाते हैं उनमें उनका कुछ ऊँचाई तक अवरोहण उपयोगी होता, तो अनियमित ढंग से थोड़ी-बहुत वेष्टन की शक्ति की वृद्धि होती तथा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा अन्त में ये पौधे पूर्णतया अवरोही हो जाते।

पत्तियों तथा फूलों के वृन्तों तथा संजनियों के विषय में भी वे ही बातें कही जा सकती हैं जो अवरोही पौधों के तनों की गति के विषय में कही गयी हैं। कई अलग-अलग समूहों की असंख्य जातों में इस प्रकार की हृषता पायी जाती है और इसलिए प्रारम्भिक अवस्था में इसको कई ऐसे पौधों में भी होना चाहिए जो अवरोही नहीं हो पाये हैं। एक उदाहरण लीजिए। मैंने देखा है कि मारेन्डिया के पुष्पवृन्त कम आयु

में थोड़ा उस ओर मुड़ जाते हैं जिस ओर वे किसी वस्तु के स्पर्श में आते हैं। आक्ज़ैलिस (Oxalis) की कई जातों में मारेन ने यह देखा कि उसकी पत्तियाँ तथा पत्र-वृन्त बारबार छूने पर अथवा पौधे को हिलाने पर गति करते हैं, विशेषकर कुछ समय धूप में रहने के बाद। मैंने यही अवलोकन आक्ज़ैलिस की कई अन्य जातों में पुनः किया है। कुछ में गति स्पष्ट थी। किन्तु वह छोटी पत्तियों में अधिक अच्छी तरह देखी जाती थी; तथा कुछ में गति बहुत थोड़ी थी। यह बड़े महत्त्व की बात है कि हाफ़-मीस्टर (Hofmeister) जैसे अधिकारी के अनुसार सभी पौधों की छोटी पत्तियाँ तथा तने हिलाये जाने पर गति करते हैं, और हम यह जानते हैं कि अवरोही पौधों में वृद्धि की केवल प्रारम्भिक अवस्था में ही वृन्त तथा संजनियाँ हृष होती हैं।

यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि छूने अथवा हिलाने के कारण होने वाली छोटे तथा पौधों के बढ़ते अंगों की गति कार्य की दृष्टि से पौधों के लिए किसी विशेष महत्त्व की होगी। किन्तु पौधों में विभिन्न उद्दीपनों के प्रति गति करने की शक्ति होती है, और यह बहुत महत्त्व की बात है। उदाहरण के लिए पौधे प्रकाश की ओर अथवा उसके विपरीत दिशा में बढ़ते हैं, अथवा गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध अथवा उसकी ओर बढ़ते हैं। जब किसी जानवर की नाड़ियाँ बिजली अथवा स्ट्रिकनीन से उत्तेजित होती हैं, तो उसके साथ होने वाली गति को आक्समिक कहा जा सकता है, क्योंकि नाड़ियाँ अथवा पेशियाँ इन उद्दीपनों के लिए विशेषतः हृष नहीं हुई हैं। इसी प्रकार पौधों के विषय में ऐसा जान पड़ता है कि चूँकि उनमें कुछ विशेष उद्दीपनों के प्रति गति करने की शक्ति होती है, इसलिए हिलाने अथवा स्पर्श करने पर भी वे उद्दीप्त हो जाते हैं। अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती कि पत्रावरोही तथा संजनीधारी पौधों में इसी प्रवृत्ति से लाभ उठाया गया है, तथा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा इस प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है। किन्तु यह सम्भव है कि ऐसा केवल उन पौधों में हुआ हो, जिनमें लिपटने की शक्ति का विकास पहले ही हो चुका हो और जो अवरोही बन चुके हों।

मैंने ऊपर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि अवरोही पौधों में किस प्रकार अनियमित रीति से चक्रगति की प्रवृत्ति के बढ़ने के कारण लिपटने के गुण का विकास होता है। प्रारम्भ में इस प्रवृत्ति से कोई लाभ नहीं होता और यह गति तथा पौधे को हिलाने या स्पर्श करने के फलस्वरूप होने वाली गति किसी अन्य लाभदायक कार्य के लिए विकसित गति का एक परिणाम है। मैं यहाँ उस प्रश्न के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहता कि अवरोही पौधों के क्रमिक विकास में प्राकृतिक निर्वाचन से भी कुछ सहायता मिली है या नहीं। किन्तु हम यह जानते हैं कि कभी-

कभी होने वाली गतियाँ जैसे पौधों में निद्रावस्था में होने वाली गति, पौधों की प्रकृति पर निर्भर है।

मैं समझता हूँ कि अब मैंने एक प्रकृतिवादी के द्वारा छाँटे गये कुछ ऐसे उदाहरणों पर पर्याप्त, या संभवतः पर्याप्त से भी अधिक, विचार कर लिया है जो यह सिद्ध करने के लिए रखे गये हैं कि प्राकृतिक निर्वाचन लाभदायक संरचनाओं की प्रारम्भिक अवस्थाओं के निर्माण का कारण नहीं हो सकता। लेकिन कदाचित् मैं यह सिद्ध कर सका हूँ कि इस प्रकार की कठिनाई केवल काल्पनिक है। इस बहाने से मुझको संरचना की ऐसी क्रमिक अवस्थाओं पर विस्तारपूर्वक कुछ कहने का अवसर प्राप्त हुआ है जो बहुधा प्रकार्यों के परिवर्तन से संबंध रखती हैं। यह विषय काफी महत्वपूर्ण है और इस पुस्तक के पिछले संस्करणों में इस पर भली भाँति प्रकाश नहीं डाला गया था। अब मैं संक्षेप में ऊपर दिये गये तथ्यों तथा उदाहरणों का सारांश दूँगा।

जिर्राफ़ के विषय में—बहुत लंबी गर्दन तथा टाँगों वाले, और बहुत ऊँचाई तक पहुँचने वाले विलुप्त रूमिनैन्ट जन्तुओं के कुछ सदस्यों के सतत अतिजीवन से, तथा ऐसे रूमिनैन्ट जन्तुओं के सतत विनाश से जो बहुत ऊँचाई से पत्तियाँ नहीं खा सकते थे, आजकल पाये जाने वाले विलक्षण जिर्राफ़ जैसे चौपाये का विकास हुआ। किन्तु सभी अंगों के बहुत काल तक उपयोग किये जाने से और उनकी वंशागति से अंगों के सामंजस्य में निश्चय ही सहायता मिली होगी। ऐसे कई कीटों में जो वनावट में तरह-तरह की वस्तुओं के समान होते हैं, यह विश्वास करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि इस प्रकार के प्रत्येक उदाहरण में अकस्मात किसी सामान्य वस्तु के समान हो जाना ही प्राकृतिक निर्वाचन के कार्य के लिए आधार बन गया होगा, और बाद में ऐसे परिवर्तनों के संरक्षण से जिनके द्वारा इस समानता में वृद्धि हुई हो उसका विकास पूर्ण हुआ होगा। निश्चय ही यह क्रिया बहुत दिनों तक चलती रही होगी, क्योंकि कीटों में परिवर्तन जारी रहे होंगे, तथा समानता ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी होगी तीव्र दृष्टि वाले शत्रुओं से कीट की अधिकाधिक रक्षा होती गयी होगी। व्हेलों की कुछ जातों में तालु पर कुछ कड़ी अनियमित संरचनाओं के निर्माण की प्रवृत्ति होती है। चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उपयोगी परिवर्तनों का संरक्षण होता है, इसलिए यह सम्भव है कि इस तरह की सूक्ष्म संरचनाएँ पहले हंस की चोंच के समान दाँतों, अथवा प्लेट जैसी उभारों में परिणत हो गयी हैं, फिर पालतू बत्तखों के समान छोटी-छोटी प्लेटों में, फिर स्पैचुला बत्तख की जैसी उत्कृष्ट प्लेटों में, और अन्त में बैलीन का निर्माण करने वाली विशाल प्लेटों में, जो ग्रीनलैंड व्हेल में पायी जाती हैं। बत्तखों के वंश में पहले इन सूक्ष्म प्लेटों का उपयोग दाँतों की भाँति किया जाता है, फिर अंशतः

दाँतों की भाँति और अंशतः छन्ने की तरह और अन्त में लगभग पूरी तरह छानने के लिए ही उसका उपयोग किया जाता है।

व्हेल-बोन, अथवा ऊपर लिखी कड़ी प्लेटों जैसी संरचनाओं के विकास में, जहाँ तक हम समझ सकते हैं, स्वभाव अथवा उपयोग का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। दूसरी ओर चपटी मछली की निचली आँख के ऊपर की ओर खिसकने अथवा चीजों को पकड़ने के काम में आनेवाली पूँछ के निर्माण में लगभग पूर्णतः निरन्तर उपयोग ही उत्तरदायी है। हाँ वंशागति इसमें सहायक है। उच्च जन्तुओं की स्तन-ग्रन्थि के विषय में ऐसा सम्भव जान पड़ता है कि प्रारम्भ में मारसूपियल थैली के समस्त तल की चर्म-ग्रन्थि से कोई पोषक द्रव उत्पन्न होता था; बाद में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा इन ग्रन्थियों के कार्य में उन्नति हुई तथा ये एक निश्चित क्षेत्र में सीमित हो गयीं और तब इनमें चूचुक का विकास हुआ। यह समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं है कि किस प्रकार कुछ प्राचीन एकाइनोडर्म की सुरक्षा के काम आने वाले शाखित शल्य प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा तीन शाखा वाली पेडीसेलारी के रूप में विकसित हुए। इसी प्रकार सूक्ष्म उपयोगी आपरिवर्तन के द्वारा क्रस्टेशिया की टाँगों के अन्तिम तथा अन्तिम से पूर्व खंडों से पिंसरों या चिमटों का विकास हुआ। ये टाँगें प्रारम्भ में केवल चलन-क्रिया में काम आती थीं। पालीजोआ के एविकुलैरिया तथा वाइब्रैकुला के रूप में हम दो ऐसे अंगों के उदाहरण देखते हैं जो आकार में एक-दूसरे से बहुत भिन्न होने पर भी एक ही सूत्र से विकसित हुए तथा वाइब्रैकुला के उदाहरण में हम यह भी समझ सकते हैं कि किस प्रकार प्रत्येक क्रमिक अवस्था जन्तु के लिए उपयोगी रही होगी। आरकिड के परागपुंजों में, वे धागे जो प्रारम्भ में पराग-कणों को एक साथ बाँधने का कार्य करते थे बाद में मिलकर काडिक्ल (caudicle) में बदल गये। इसी प्रकार उन अवस्थाओं का भी अनुसरण किया जा सकता है जिनके द्वारा साधारण फूलों के गर्भनाल-मुख से उत्पन्न होने वाला चिपचिपा पदार्थ बाद में काडिक्ल से सम्बन्धित हो गया, तथा ये सारी अवस्थाएँ स्पष्ट रूप से पौधों के लिए उपयोगी रही हैं। अवरोही पौधों के विषय में कुछ देर पहले मैं जो कुछ कह चुका हूँ, उसको दुहराने की आवश्यकता नहीं समझता। बहुधा इस प्रकार के प्रश्न पूछे गये हैं कि यदि प्राकृतिक निर्वाचन इतना अधिक शक्तिशाली है तो किसी विशेष जात में कुछ विशेष संरचनाएँ क्यों नहीं बनीं, जबकि ये संरचनाएँ निश्चय ही जात के लिए सुविधाजनक होतीं? इस प्रकार के प्रश्नों के निश्चित उत्तर की आशा करना ठीक नहीं है, क्योंकि हम किसी जात के प्राचीन इतिहास से परिचित नहीं हैं, और न हम यही जानते हैं कि वर्त्तमान समय में उसकी संख्या अथवा उसका विस्तार किन बातों पर निर्भर है। अतः अधिकांश

उदाहरणों में कुछ सामान्य कारण ही दिये जा सकते हैं। फिर भी इने-गिने उदाहरणों में कुछ विशेष कारण भी बताये जा सकते हैं। किसी जात के जीवन की नयी रहन-सहन के लिए अनुकूलित बनाने के लिए कई आपरिवर्तनों का सामंजस्य होना आवश्यक है, और ऐसा सम्भव है कि एक अथवा अधिक आवश्यक अंगों में सही प्रकार के अथवा पर्याप्त अवस्था तक परिवर्तन नहीं हुए। कई जातों की संख्या में इसलिए वृद्धि रुक गयी होगी कि उनका विनाश ऐसे कारणों से हुआ होगा जिनका उन संरचनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहा हो जिनके विषय में हम यह समझते हैं कि उपयोगी होने के कारण प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उनका विकास होगा। इस प्रकार के उदाहरणों में चूँकि जीवन-संघर्ष ऐसी संरचनाओं पर निर्भर नहीं था, इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उनका निर्माण भी नहीं हुआ। कई उदाहरणों में कुछ विशेष संरचनाओं के विकास के लिए विचित्र प्रकार की जटिल दशाओं का लम्वी अवधि तक होना आवश्यक होता है और सम्भव है कि ऐसी परिस्थितियाँ न घटी हों। यह विश्वास कि हमारे विचार में जो संरचना किसी जात के लिए लाभदायक है वह हर परिस्थिति में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा ही विकसित होगी, इस क्रिया की वास्तविक कार्य-विधि के विरुद्ध है। मिवार्ट यह नहीं कहते कि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा कुछ भी परिवर्तन नहीं होते हैं; किन्तु वे इसको बहुत अपर्याप्त समझते हैं, विशेषकर उन परिवर्तनों के लिए जो मेरे विचार में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा हुए हैं। हम उनकी मुख्य दलीलों पर विचार कर चुके हैं और बाद में बची हुई दलीलों पर भी विचार करेंगे। मेरी समझ में प्राकृतिक निर्वाचन की शक्ति के समर्थन में तथा उन दूसरे कारणों के समर्थन में जो प्राकृतिक निर्वाचन की सहायता करते हैं जो दलीलें दी गयी हैं, वे मिवार्ट द्वारा इनके विरोध में दी गयी दलीलों की अपेक्षा बहुत अधिक ज़ोरदार हैं। मेरे लिए यह भी लिखना आवश्यक है कि यहाँ मैंने जिन तथ्यों तथा दलीलों का उपयोग किया है उनमें से कुछ इसी ध्येय से अभी हाल में 'मेडिको चीरर्जिकल रिव्यू' में छपे एक बड़े सुन्दर लेख में दी गयी हैं।

वर्तमान समय में सभी प्रकृति-विज्ञानी किसी-न-किसी रूप में विकासवाद में विश्वास करते हैं। मिवार्ट यह विश्वास करते हैं कि जातें किसी ऐसी आन्तरिक शक्ति अथवा प्रकृति के द्वारा परिवर्तित होती हैं, जिसके विषय में उनको भी और कुछ ज्ञात नहीं है। सभी विकासवादी यह तो अवश्य मानेंगे कि जातों में परिवर्तित होने की शक्ति है। किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, कि उसके समझने के लिए केवल इतना ही मानना पर्याप्त है कि यह शक्ति सामान्य परिवर्तनशीलता तक ही सीमित है तथा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा अनेक अवस्थाओं से होते हुए इस परिवर्तनशीलता से ही अन्त में प्राकृतिक

नस्लों अथवा जातों की उत्पत्ति हो सकती है। यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जैसे मनुष्य द्वारा निर्वाचन से भली भाँति अनुकूलित पालतू नस्लों का निर्माण होता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इन क्रियाओं का अन्तिम फल यह होगा कि जीवों की संरचना में किसी प्रकार की प्रगति होगी किन्तु कुछ उदाहरणों में अवनति भी होती है।

कुछ अन्य प्रकृतिवादियों की भाँति मिवार्ट यह भी विश्वास करते हैं कि नयी जातों की उत्पत्ति अकस्मात तथा एकाएक प्रकट होनेवाले आपरिवर्तनों के द्वारा होती है। उदाहरण के लिए वे समझते हैं कि तीन अँगुलियों वाले विनष्ट **हिप्पैरियान**(Hipparion) तथा घोड़े के बीच के भेद एकाएक प्रकट हुए। उनके विचार में यह विश्वास करना बहुत कठिन है कि किसी पक्षी के पंख का विकास अकस्मात तथा महत्त्वपूर्ण आपरिर्वतनों के द्वारा न होकर किसी और तरह से हो सकता है और स्पष्टतया चमगादड़ों अथवा **टेरोडैक्टाइल** के पंखों के विषय में भी उनका यही मत होगा। किन्तु मैं इस निष्कर्ष को, जिसके अनुसार जीवों के क्रम में बड़े अन्तर होंगे, सम्भव नहीं समझता हूँ।

क्रमिक तथा मन्द गति से होनेवाली विकास की क्रिया में विश्वास करने वाले भी यह मानते हैं कि जात सूचक परिवर्तन भी ऐसी अकस्मात रीति से उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे कोई भी अन्य सामान्य परिवर्तन प्राकृतिक अथवा पालतूपन की अवस्था में उत्पन्न होते हैं। किन्तु चूँकि जातें पालतूपन की अवस्था में प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होती हैं, इसलिए यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि जितने अकस्मात परिवर्तन पालतूपन की अवस्था में होते हैं, उतने प्राकृतिक अवस्था में भी हुआ करते हैं। फिर पालतूपन की अवस्था में होने वाले कई परिवर्तन लक्षणों के पुन: अपनी मूल दशा में प्रतिवर्तन के कारण हो सकते हैं और यह बहुत सम्भव है कि इस प्रकार जो लक्षण पुन: उत्पन्न होते हैं वे प्रारम्भ में क्रमिक रीति से ही उत्पन्न हुए हों। कुछ इस प्रकार के अकस्मात और बड़े परिवर्तनों को विकृतियाँ (monstrosities) कहा जा सकता है, जैसे छ: अँगुली वाले मनुष्य, ऐनकन भेंड़ें, नियाटा पशु आदि और चूँकि ये स्वाभाविक जातों से बहुत भिन्न हैं इसलिए इनसे हमारी समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। यदि इस प्रकार के अकस्मात परिवर्तनों को छोड़ दिया जाय, तो जो उदाहरण बच जाते हैं, यदि वे प्राकृतिक अवस्था में पाये जाते हों तो अधिक सम्भावना है कि वे संदिग्ध जातें होंगे, जो मूल जातों से घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं। स्वाभाविक जातें उतनी ही अकस्मात रीति से परिवर्तित होती हैं, जितनी कि घरेलू नस्लें तथा उनमें होने वाले परिवर्तन ऐसे अद्‌भुत हैं जैसा मिवार्ट समझते हैं— इन बातों में विश्वास न करने के मेरे निम्नलिखित कारण हैं। हमारा अनुभव है कि अकस्मात होने वाले तथा स्पष्ट परिवर्तन हमारे पालतू जीवों में एक-एक करके तथा लम्बी अवधियों के बाद होते हैं। यदि प्रकृति में भी इसी

प्रकार के परिवर्तन हों तो जैसा पहले कहा जा चुका है, उनका नाश दुर्घटना तथा परस्पर संकरण के द्वारा हो जायगा। वास्तव में यही बात पालतू जीवों के साथ भी होती है और यदि मनुष्य इस प्रकार के अकस्मात परिवर्तनों की विशेष देखरेख न करे तथा अन्य जानवरों से अलग न कर ले तो वे नष्ट हो जाएँगे। अतः मिवार्ट के मत के अनुसार नयी जातों के एकाएक प्रकट होने के लिए यह विश्वास करना आवश्यक है कि कई अद्भुत ढंग से परिवर्तित जीव एक ही क्षेत्र में एक साथ उत्पन्न हो गये। किन्तु मनुष्य द्वारा अनजाने में होने वाले निर्वाचन की भाँति यह कठिनाई भी क्रमिक विकास के सिद्धान्त के आधार पर दूर की जा सकती है, जिसके अनुसार किसी भी लाभदायक दिशा में थोड़ा-बहुत परिवर्तित होने वाले सदस्यों की बड़ी संख्या में रक्षा होती है तथा उसके विपरीत दिशा में बदलने वाले सदस्य बड़ी संख्या में नष्ट होते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि कई जातों का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। कई बड़े प्राकृतिक वंशों की जातें तथा जातियाँ एक-दूसरे से इतना अधिक मिलती-जुलती हैं कि उनमें से कई एक में भेद करना भी कठिन है। किसी महाद्वीप पर उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ने पर अथवा ऊँचाई से नीचे के भागों की ओर बढ़ने पर इस प्रकार की सम्बन्धित अनेक जातें मिलती हैं और कभी-कभी तो पृथक महाद्वीपों पर भी ये दिखाई पड़ती हैं क्योंकि ये महाद्वीप पहले एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। किन्तु इस प्रकार का वक्तव्य देने में मुझको कुछ ऐसे विषयों पर भी लिखना पड़ता है जिन पर मैं बाद में विचार करूँगा। किसी महाद्वीप के चारों ओर के द्वीपों को देखिये और इस बात पर ध्यान दीजिये कि उनके कितने निवासी ऐसे-हैं जिनको अधिक-से-अधिक हम संदिग्ध जातों का स्तर प्रदान कर सकते हैं। इसी प्रकार यदि हम किसी भी क्षेत्र में आज मिलने वाले जीवों की तुलना विगत समय के जीवों से करें, अथवा एक ही भूतत्वीय काल के उपकालों के जीवों की तुलना करें, तो जीवों के अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं होंगे। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अधिकांश जातें वर्तमान समय में पायी जाने वाली अथवा विगत समय की विनष्ट जातों से बहुत घनिष्टता से सम्बन्धित हैं और कोई नहीं कह सकता कि इस प्रकार की जातों का विकास एकाएक हुआ है। हमको यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यदि हम सम्बन्धित जातों के विशेष अंगों पर ध्यान दें,न कि पृथक् जातों पर, तो हम देखगें कि उनमें असंख्य और सूक्ष्म क्रम पाये जाते हैं, तथा इन क्रमों के द्वारा एक-दूसरे से काफी पृथक संरचनाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

वास्तव में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हमारी समझ में तभी आ सकती हैं जब हम उन पर इस सिद्धान्त के आधार पर विचार करें कि जातों का विकास छोटे क्रमों के द्वारा हुआ है। उदाहरण के लिए इस बात का और कोई उत्तर नहीं है कि बड़ी जातों के

बीच अधिक गहरा सम्बन्ध है तथा छोटी जातियों की अपेक्षा उनके अन्तर्गत बड़ी संख्या में भेद पाये जाते हैं और जैसा हम दूसरे अध्याय में दिखा चुके हैं जिस प्रकार जातों के चारों ओर भेदों के समूह होते हैं, उसी प्रकार बड़ी जातियों के अन्तर्गत जातों के छोटे-छोटे समूह होते हैं; अर्थात् कुछ विषयों में भेदों तथा जातों के बीच स्पष्ट समानताएँ हैं। इसी सिद्धान्त के आधार प र हम यह भी समझ सकते हैं कि जातिसूचक लक्षणों की अपेक्षा जातसूचक लक्षण क्यों अधिक परिवर्तनशील होते हैं, तथा किसी जात के वे अंग जो बहुत अधिक अथवा विचित्र प्रकार से विकसित होते हैं वे अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होते हैं। इसी प्रकार के और भी अनेक मिलते-जुलते तथ्य दिये जा सकते हैं।

यद्यपि कई जातों की उत्पत्ति ऐसी ही क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा हुई है जिनके द्वारा सूक्ष्म भेदों के बीच अन्तर किये जा सकते हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि कुछ जातों का विकास अकस्मात् तथा भिन्न रूप से भी हुआ है। किन्तु बिना शक्तिशाली प्रमाण के किसी भी उदाहरण में यह मानना ठीक नहीं कि जैसा चानसे राईट ने कहा है, संदिग्ध तथा कभी-कभी काल्पनिक समानताओं के आधार पर इस मत का ग्रहण किया जाना ठीक नहीं है, और जितनी भी समानताओं का उल्लेख किया गया है, जैसे अनागरिक पदार्थों का अकस्मात् स्फटीकरण आदि, उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। प्रारम्भिक अवलोकनों में एक ही बात ऐसी है जिससे अकस्मात् होने वाले विकास में विश्वास किया जा सकता है, और वह है भूतत्वीय स्तरों में जीवों के नये तथा स्पष्ट रूपों का एकाएक प्रकट होना; किन्तु इस प्रकार के प्रमाण के लिए हमको भूतत्वीय रेकार्ड की पूर्णता पर निर्भर होना होगा जिसका सम्बन्ध पृथ्वी के प्राचीन इतिहास से है। जैसा कई भूतत्ववेत्ता कहते हैं, यह रेकार्ड अपूर्ण है, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि नये जीव विभिन्न स्तरों में इस तरह प्रकट होते हैं, जैसे कि उनका विकास अकस्मात् हुआ हो।

वास्तव में हमारे भूतत्वीय अवशेषों की अपूर्णाता की समस्या को तथा जीवों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले अन्य जीवों के प्राप्त न होने की कठिनाई को आकस्मित विकास के सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती और यदि हम पक्षियों अथवा चमगादड़ों के पंख के एकाएक विकसित होने अथवा हिप्पैरियान के घोड़े में बदलने में विश्वास करें, तो इस प्रकार की अपूर्णता पर हमको ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं होगी, किन्तु फिर भ्रूणशास्त्र इस विश्वास की जड़ काटता है। यह सभी जानते हैं कि भ्रूणों की प्रारम्भिक अवस्थाओं में पक्षी तथा चमगादड़ के पंखों अथवा घोड़े तथा अन्य चौपायों की टाँगों में कोई अन्तर नहीं होता और बाद में उनके बीच के अन्तर बहुत सूक्ष्म

अवस्थाओं में प्रकट होते हैं। इस प्रकार भी भ्रूण सम्बन्धी समानताओं का एक ही कारण बताया जा सकता है, और वह यह कि इन जातों के पूर्वजों में युवावस्था के बाद परिवर्तन प्रारम्भ हुए और फिर ये नये लक्षण संतानों में भी उसी अवस्था में उत्पन्न हुए। अतः भ्रूण पर परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह जात के प्रारम्भिक रूप का द्योतक है। इसी लिए वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्थाओं में वर्तमान जातें प्राचीन और विलुप्त जातों से इतनी अधिक मिलती-जुलती हैं। यदि भ्रूणीय समानताओं के विषय में हमारा यह मत ठीक हो, तो यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि प्राणियों में ऐसे बड़े और आकस्मिक परिवर्तन हुए होंगे जो भ्रूण में किसी रूप में देखे न जा सकते हों।

जो यह विश्वास करेगा कि कुछ प्राचीन जीवों में किसी आन्तरिक शक्ति अथवा प्रवृत्ति के कारण एकाएक परिवर्तन हुए, उसको यह मानना होगा कि कई सदस्यों में एक ही प्रकार के परिवर्तन साथ-साथ हुए होंगे; किन्तु यह कोई नहीं कह सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस प्रकार के परिवर्तन अधिकांश जातों में हुए हैं, वे अकस्मात् और बहुत बड़े नहीं थे। यह मानने वाले को यह भी कल्पना करनी पड़ेगी कि जिस प्राणी में परिवर्तन हुए वह परिवर्तन के पहले अपने वातावरण के लिए भली भाँति अनुकूलित थे, तथा उसके कई अंगों में एक साथ परिवर्तन हुए। यही नहीं एकाएक कई अंगों में परिवर्तन के बाद भी उनका सामञ्जस्य पहले की भाँति बना रहेगा। क्या यह संभव है कि इतने बड़े और महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों तथा अनुकूलन के बाद भी भ्रूण में किसी प्रकार का अन्तर नहीं हुआ। मुझको तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि हम इस प्रकार की सभी बातों में विश्वास कर सकें तो हमको विज्ञान छोड़ कर चमत्कारों पर विश्वास करना पड़ेगा।

अध्याय आठ

सहज प्रवृत्ति

सहज प्रवृत्तियाँ स्वभाव के समान हैं किन्तु उत्पत्ति में उनसे भिन्न हैं—सहज प्रवृत्तियों के क्रम—एफिड तथा चींटियाँ—सहज प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील हैं—घरेलू प्रवृत्तियाँ तथा उनकी उत्पत्ति—कोयल (Cuckoo), मोलो थ्रस, शतुर्मुर्ग तथा परजीवी मधुमक्खियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ—दास बनाने वाली चींटियाँ—छत्ते वाली मधुमक्खियाँ तथा उनकी घर बनाने की प्रवृत्ति—प्रवृत्ति तथा संरचना में साथ-साथ परिवर्तन होना आवश्यक नहीं है—प्रवृत्तियों के प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त में कठिनाइयाँ—नपुंसक अथवा वन्ध्य कीट—सारांश।

कई प्रवृत्तियाँ इतनी अद्भुत हैं कि उनके विकास का प्रश्न कई पाठकों को इतना कठिन जान पड़ेगा कि उनके लिए मेरा समस्त सिद्धान्त ही सम्भवतः उलट-सा जाएगा। मैं आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मानसिक शक्ति की उत्पत्ति से उसी प्रकार मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि स्वयं जीवन की उत्पत्ति से। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल प्रवृत्तियों तथा एक ही वर्ग के जन्तुओं की अन्य मानसिक शक्तियों के विभेदीकरण से है।

मैं प्रवृत्ति (Instincts) की कोई परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं करूँगा। यह स्पष्ट है कि इस शब्द के अन्तर्गत साधारणतः कई अलग-अलग प्रकार की मानसिक क्रियाओं को रखा जाता है। फिर भी इस शब्द से हमारा क्या अभिप्राय है यह हम सभी समझते हैं। उदाहरण के लिए जब यह कहा जाता है कि कोयल प्रवृत्ति-वश संसार के एक भाग से दूसरे भाग को जाती है, या वह दूसरे पक्षियों के घोंसलों में अंडे देती है, तो हम प्रवृत्ति शब्द का अर्थ भली भाँति समझते हैं। ऐसे किसी कार्य को, जिसको कर सकने के लिए हमको अनुभव की आवश्यकता होती है, उसी कार्य को यदि कोई जन्तु, विशेषकर उसका बच्चा, बिना अनुभव के करता है, और जब किसी जात के कई प्राणी उसको एक ही प्रकार से करते हैं और यह नहीं जानते कि वे ऐसा क्यों करते हैं, तो उस कार्य को हम प्रवृत्तिवश कहते हैं। किन्तु मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि इनमें से कोई भी लक्षण अनिवार्य नहीं है। जैसा पियरे हूबर (Pierre Huber) का कहना है, निम्न कोटि के जन्तुओं में भी साधारणतः प्रवृत्तिवश किये गये कार्यों में तर्क तथा निर्णय का कुछ स्थान अवश्य रहता है।

फ्रेडेरिक क्यूवियर (Frederick Cuver) तथा कई पुराने दार्शनिकों ने प्रवृत्ति तथा आदत (habit) को तुलनात्मक बताया है। मेरे विचार में यह तुलना मस्तिष्क की उस दशा के विषय में हमको ठीक-ठीक बताती है जिसके अन्तर्गत प्रवृत्ति-वश कार्य किये जाते हैं, किन्तु इससे इसकी उत्पत्ति के विषय में कुछ भी पता नहीं लगता। कितनी ही आदत सम्बन्धी क्रियाएँ बिना जाने हम करते रहते हैं, अथवा कितनी क्रियाएँ हम अपनी इच्छा के ही विरुद्ध स्वभावतः करते हैं। फिर भी तर्क तथा इच्छाशक्ति से हम उनमें परिवर्तन कर सकते हैं। आदतों का सम्बन्ध बहुधा कुछ अन्य आदतों से, अथवा विशेष समय अथवा शरीर की विशेष अवस्थाओं से हो जाता है। एक बार आदत बन जाने पर बहुधा वह जीवन भर बनी रहती है। इस प्रकार प्रवृत्तियों तथा आदतों के बीच कई समानताएँ बतायी जा सकती हैं। जिस तरह भली भाँति रटे हुए गीत को गाने में एक क्रिया अपने-आप दूसरी क्रिया के बाद होती जाती है, उसी प्रकार प्रवृत्तियों में भी होता है। और जिस प्रकार किसी गीत अथवा रटी हुई किसी कविता के बीच टोके जाने पर शृंखला टूट जाती है, और हमको पुनः प्रारम्भ से ही गीत आरम्भ करना पड़ता है, उसी प्रकार पी० हूबर ने देखा कि यदि कोई कैटरपिलर जो अपने लिए जटिल प्रकार के निवास का निर्माण करता है, यदि इस निर्माण-कार्य की छठवीं अवस्था तक पहुँच चुका हो, फिर किसी ऐसे निवास में रख दिया जाय, जिसका निर्माण केवल तीसरी अवस्था तक हुआ हो, तो हम देखते हैं कि वह चौथी, पाँचवीं और छठवीं अवस्थाओं को पूरा करता है। किन्तु यदि कोई ऐसा कैटरपिलर, जिसने अपना निवास तीसरी अवस्था तक बनाया हो, उसमें से निकाल कर ऐसे निवास में रख दिया जाय जिसमें छठवीं अवस्था तक निर्माण कार्य हो चुका हो, तो भी बजाय उससे लाभ उठाने के वह कुछ परेशान हो जाता है, और फिर तीसरी ही अवस्था से अपना कार्य प्रारम्भ करता है, अर्थात् वह अपने काम को जिस अवस्था तक कर चुका होता है, वहीं से पुनः प्रारम्भ करता है।

यदि हम यह मान लें कि आदतों की वंशागति सम्भव है, तो इस प्रकार की आदत तथा प्रवृत्ति में इतनी अधिक सामानता हो जाती है कि उनमें भेद करना लगभग असम्भव है और यह सिद्ध किया जा सकता है कि कभी-कभी आदतें वंशागत होती हैं। बहुत थोड़े अभ्यास के बाद ही तीन वर्ष की आयु में अच्छी तरह पियानो बजा सकने के बजाय, यदि मोजार्ट* बिना किसी तरह के अभ्यास के कोई राग बजा सकते तो निश्चय ही हम

* मोजार्ट (Mozart) विख्यात संगीतज्ञ जो बचपन से ही सफलता से रागें निर्माण करने लगे थे।

कह सकते थे कि उन्होंने ऐसा प्रवृत्तिवश किया था। किन्तु यह मान लेना बहुत बड़ा भ्रम होगा कि अधिकांश प्रवृत्तियाँ किसी पीढ़ी में आदत के रूप में प्रारम्भ हुई होंगी और फिर बाद की पीढ़ियों में वंशागति के द्वारा प्रवृत्ति में बदल गयीं। यह स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है कि अधिकांश अद्भुत प्रवृत्तियाँ, जिनके विषय में हम भली भाँति जानते हैं, जैसे छत्ते वाली मधुमक्खी अथवा चींटियों की प्रवृत्तियाँ, आदत के द्वारा नहीं बनी होंगी।

इस बात से सभी सहमत होंगे कि किसी जात के जीवन की वर्तमान परिस्थिति में प्रवृत्तियाँ भी उतनी ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होंगी जितनी शारीरिक संरचना। जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों में कम-से-कम यह सम्भव है कि प्रवृत्ति में होने वाले सूक्ष्म आपरिवर्तन भी जात के लिए लाभदायक हों। और यदि यह सिद्ध किया जा सकता कि प्रवृत्तियों में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परिवर्तन भी हो सकते हैं, तो यह सिद्ध करने में कोई कठिनाई न होगी कि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा प्रवृत्तियों के ऐसे परिवंतनों का संरक्षण होगा जो किसी तरह भी जात के लिए लाभदायक होंगे। इसी प्रकार मेरा विश्वास है कि सभी जटिल तथा अद्भुत प्रवृत्तियों की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार शारीरिक संरचना सम्बन्धी आपरिवर्तनों की उत्पत्ति तथा वृद्धि, उपयोग, अथवा आदत के द्वारा होती है तथा अनुपयोग के द्वारा उनमें कमी तथा विनाश होता है, उसी प्रकार प्रवृत्तियों पर भी उपयोग अथवा अनुपयोग का प्रभाव पड़ता है। किन्तु मेरा विश्वास है कि कई उदाहरणों में अभ्यास का प्रभाव उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना प्रवृत्तियों के आपरिवर्तनों के प्राकृतिक निवार्चन के प्रभाव। और प्रवृत्तियों के आपरिवर्तनों की उत्पत्ति के भी वे ही अज्ञात कारण होंगे, जिनके द्वारा शारीरिक संरचना में सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं।

किसी जटिल प्रवृत्ति की उत्पत्ति प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा तभी होगी जब असंख्य सूक्ष्म, किन्तु लाभदायक आपरिवर्तनों का क्रमिक एकत्रीकरण होता है। अतः शारीरिक संरचनाओं की भाँति जटिल प्रवृत्तियों के विकास में भी परिवर्तन की क्रमिक अवस्थाएँ हमको प्रकृति में नहीं मिलेंगी, बल्कि इस प्रकार के परिवर्तन का कुछ प्रमाण वंशागति की समानान्तर रेखाओं में प्राप्त होगा। वास्तविक अवस्थाएँ तो किसी जात के पूर्वजों में ही होंगी जो बहुत समय पहले नष्ट हो गये। किन्तु हम कम-से-कम यह तो सिद्ध कर ही सकते हैं कि किसी प्रकार के क्रमों का होना सम्भव है। यूरोप और उत्तरी अमरीका को छोड़ अन्य स्थानों के जन्तुओं की प्रवृत्तियों के विषय में कोई अध्ययन नहीं हुआ है तथा विनष्ट जातों की प्रवृत्तियों के विषय में हम पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। ऐसी अवस्था में मुझको यह देखकर आश्चर्य होता है कि हम अधिकांश जटिल प्रवृत्तियों के विकास-

क्रम की अवस्थाएँ देख सकते हैं। कभी-कभी एक ही जात के जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं अथवा भिन्न-भिन्न ऋतुओं अथवा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के होने से प्रवृत्ति में परिवर्तन का होना आसान हो जाता है। ऐसी अवस्था में कोई विशेष प्रवृत्ति प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा सुरक्षित रह सकती है और प्रकृति में ऐसी कई जातें पायी जाती हैं जिनमें इस प्रकार की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं।

शारीरिक संरचना की भाँति प्रत्येक जात की प्रवृत्ति भी जात के लिए लाभदायक होती है; किन्तु जहाँ तक हम समझ सकते हैं इनकी उत्पत्ति कभी भी केवल दूसरी जातों के लाभ के लिए नहीं हुई है और यह बात हमारे मत के अनुकूल है। मेरी जान में केवल एक ऐसा उदाहरण है जिसमें कोई जन्तु अन्य जन्तुओं के लाभ के लिए कोई कार्य करता है और वह उदाहरण एफिडों (Aphids) का है; हूबर ने सर्वप्रथम यह अवलोकन किया कि एफिड एक मीठे पदार्थ का उत्स्राजन जानबूझ कर करते हैं जिसको चींटियाँ उपयोग में लाती हैं। एक पौधे पर लगभग एक दर्जन एफिडों का एक झुंड था। मैंने उनके पास से सभी चींटियों को हटा दिया और कई घंटे तक उनके निकट नहीं जाने दिया। इतनी देर के बाद मैं यह समझता था कि निश्चय ही एफिड उत्स्राजन करना चाहेंगे। काफी देर तक मैंने एक लेंस के द्वारा उनका निरीक्षण किया, किन्तु किसी ने यह पदार्थ उत्पन्न नहीं किया। फिर मैंने एक बाल से उनको उसी प्रकार छेड़ा, जैसा मेरे विचार में चींटियाँ अपने स्पर्श-सूत्रों से करती हैं, किन्तु फिर भी उत्स्राजन नहीं हुआ। बाद में मैंने एक चींटी को उनके पास जाने दिया और जिस प्रकार वह तेजी से एफिडों के बीच दौड़ रही थी, उस से यह स्पष्ट था कि उसको यह ज्ञात है कि वह अच्छे-खासे एफिडों के झुंड में पहुँच गयी है। इसने अपने स्पर्श-सूत्रों से एक-एक कर के सभी एफिडों के उदर को छुआ और जैसे ही उनको स्पर्श का आभास हुआ उन्होंने अपना उदर ऊपर उठाया और मीठे रस की एक छोटी बूँद का उत्स्राजन किया जिसको शौक से चींटी ने ग्रहण किया। बहुत छोटी आयु के एफिडों ने भी इसी प्रकार प्रतिक्रिया की जिससे यह स्पष्ट है कि यह क्रिया अनुभव के फलस्वरूप नहीं बल्कि प्रवृत्ति के अन्तर्गत है। हूबर के अवलोकनों से यह सिद्ध है कि एफिडों को चींटियों के लिए अरुचि नहीं है। यदि चींटियाँ उपस्थित नहीं होतीं तो, अन्त में एफिडों को उत्स्राजन करना पड़ता है। किन्तु चूँकि उत्स्राजित रस गाढ़ा होता है, इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं कि उसका हटा दिया जाना एफिडों के लिए सुविधाजनक होता है। अतः सम्भव है कि एफिड केवल चींटियों के लाभ के लिए ही उत्स्राजन नहीं करतीं। यद्यपि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि कोई जन्तु कोई ऐसी क्रिया करता है जो दूसरी जातों के लिए भी उपयोगी हो, फिर भी प्रत्येक जन्तु दूसरे जन्तुओं की प्रवृत्तियों से ठीक उसी प्रकार लाभ उठाने का प्रयत्न करता

है जैसे वह कमजोर शरीर वाले जन्तुओं से लाभ उठाता है। इसी प्रकार हम किसी प्रवृत्ति को पूर्ण नहीं कह सकते। किन्तु चूँकि इस विषय पर तथा अन्य मिलते-जुलते विषयों पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक नहीं है इसलिए हम इनको यहाँ छोड़ देंगे।

चूँकि प्राकृतिक अवस्था में प्रवृत्तियों में कुछ अंश तक परिवर्तनशीलता का होना, तथा इस प्रकार के परिवर्तनों की वंशागति का होना प्राकृतिक निर्वाचन के लिए आवश्यक है, इसलिए इस सम्बन्ध में जितने उदाहरण दिये जा सकते हैं, दिये जाने चाहिए। किन्तु स्थानाभाव के कारण मैं ऐसा नहीं कर सकता। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि प्रवृत्तियों में निश्चय ही परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन विभिन्न मात्रा तथा दिशा में तो हो ही सकते हैं, कभी-कभी इनका पूर्ण अभाव भी हो सकता है। चिड़ियों के घोंसले को देखिये। इनमें होने वाले परिवर्तन बहुधा पक्षी के निवास के देश की दशा अथवा तापक्रम पर निर्भर होते हैं। किन्तु अक्सर हम उसके परिवर्तन के कारणों से बिल्कुल अनभिज्ञ होते हैं। आदुबान (Audubon) ने कई ऐसे अद्‌भुत उदाहरण दिये हैं, जिनसे मालूम होता है कि एक ही जात के पक्षी के घोंसले संयुक्त राज्य के उत्तरी और दक्षिणी भागों में भिन्न होते हैं। कुछ लोग यह पूछते हैं कि यदि प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील हैं, तो मोम की कमी होने पर मधुमक्खियाँ किसी अन्य पदार्थ के छत्ते क्यों नहीं बना सकतीं। किन्तु मधुमक्खियाँ और किस प्राकृतिक पदार्थ का उपयोग कर सकती हैं? मैंने देखा है कि वे सेंदुर से रँगे मोम अथवा चिकनई मिलाकर मुलायम किये गये मोम का बराबर उपयोग कर सकती हैं। ऐन्ड्रू नाइट ने देखा है कि उसकी मधुमक्खियाँ प्राकृतिक स्रोतों को छोड़ छत्ता बनाने के लिए उस सिमेन्ट का उपयोग करने लगीं जो उसने मोम तथा तारपीन मिलाकर पेड़ की कटी-फटी छाल पर लगाया था। हाल में यह दिखाया गया है कि परागकण की खोज करने के बजाय मधुमक्खियाँ प्रसन्नता के साथ जौ के आटे का उपयोग करती हैं। किसी विशेष शत्रु के लिए भय का होना निश्चय ही प्रवृत्ति का लक्षण है, हालांकि अनुभव से उसको बल प्राप्त होता है। पत्तियों को देखने से यह स्पष्ट है कि अनुभव के अतिरिक्त जात के अन्य सदस्यों को किसी जीव से भयभीत होते देखने से भी इस प्रवृत्ति में अन्तर होता है। जैसा मैंने अन्यत्र दिखाया है, मरुभूमि में पाये जाने वाले कई जन्तुओं में मनुष्य के लिए भय धीरे-धीरे उत्पन्न होता है। इस प्रकार का एक उदाहरण हम इंगलैण्ड में भी पाते हैं—हमारी अधिकांश बड़ी चिड़ियाँ छोटी चिड़ियों की अपेक्षा अधिक जंगली होती हैं क्योंकि मनुष्य ने बड़ी चिड़ियों का शिकार अधिक किया है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि जिन द्वीपों पर मनुष्य निवास नहीं करते, उन पर बड़े पक्षी मनुष्य को देखकर भयभीत नहीं होते। महोक चिड़िया, चोटीदार

कौआ इंगलैण्ड में मनुष्य को देखकर इतनी दूर भागते हैं किन्तु नार्वे में महोक तथा मिस्र में चोटीदार कौआ लगभग पालतू होता है।

कई बातों से यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक अवस्था में उत्पन्न एक ही प्रकार के जन्तुओं के मानसिक लक्षण एक-दूसरे से काफी भिन्न हो सकते हैं। इस बात के भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं कि बहुधा जंगली जानवरों में विचित्र स्वभाव देखने में आते हैं और यदि यह स्वभाव उस जन्तु के लिए लाभदायक होता है तो प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उससे नयी प्रवृत्तियों की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु मैं जानता हूँ कि बिना विस्तारपूर्वक कुछ उदाहरणों का उल्लेख किये इस सामान्य वक्तव्य का पाठकों के मस्तिष्क पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस सम्बन्ध में मैं केवल यह आश्वासन फिर से दे सकता हूँ कि बिना पर्याप्त प्रमाण के मैं ऐसी बात नहीं कहूँगा।

पालतू जानवरों में स्वभाव अथवा प्रवृत्ति के वंशागत अन्तर

प्राकृतिक अवस्था में प्रवृत्ति के परिवर्तनों के वंशागति की सम्भावना की पुष्टि हो जायगी यदि हम पालतूपन की अवस्था में कुछ उदाहरणों पर विचार करें। इस प्रकार हम यह देख सकेंगे कि स्वभाव तथा अकस्मात् होने वाले परिवर्तनों का पालतू जानवरों के मानसिक गुणों के आपरिवर्तनों में क्या हाथ हो सकता है। यह सभी जानते हैं कि पालतू जानवरों में मानसिक गुणों के विषय में कितने अन्तर होते हैं। उदाहरण के लिए कुछ बिल्लियाँ स्वाभाविक रूप से बड़े चूहे पकड़ती हैं, और कुछ छोटी चिड़ियाँ, और ऐसा विश्वास है कि ये प्रवृत्तियाँ वंशागत होती हैं। सेंट जॉन के अनुसार एक बिल्ली सदा घर पर शिकार की चिड़िया पकड़ कर लाती है, दूसरी खरहे या खरगोश, और तीसरी दलदल में शिकार कर प्रत्येक रात्रि में चूहे पकड़ती है। वास्तव में अलग-अलग पालतू जानवरों के विषय में ऐसे कई विचित्र उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि स्वभाव की चालाकी आदि की विचित्रता की वंशागति सम्भव है। आइये, हम कुत्तों की अनेक नस्लों के उदाहरण लें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहली ही बार निकाले जाने पर 'प्वाइन्टर' कुत्ते जानवरों पर झपटते हैं; इसी प्रकार 'रेटरीवर' कुत्ते प्रारम्भ से ही वापस पलटना जानते हैं। और 'शेफर्ड' कुत्ते भेड़ों के झुंड पर झपटते नहीं, बल्कि उनके चारों ओर घूमते हैं, मेरे विचार में कुत्तों की क्रियाएँ किसी प्रकार की वास्तविक प्रवृत्तियों से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि छोटे-छोटे कुत्ते भी बिना अनुभव के क्रियाएँ करते हैं। एक जात के सभी जीव एक ही प्रकार क्रिया करते हैं और हालांकि वे यह नहीं जानते कि इस क्रिया के परिणामस्वरूप कोई लाभ होगा फिर भी वे उसको प्रसन्नतापूर्वक करते हैं। वास्तव में ये कुत्ते किसी भी प्रकार के लाभ

का ज्ञान न होने पर भी दौड़ते हैं, यह भी ठीक उसी तरह है जिस तरह सफेद तितली पातगोभी की पत्ती पर अंडे देती है, किन्तु यह नहीं जानती कि इसका क्या लाभ है। यदि हम एक भेड़िया इस प्रकार का देखते जो छोटे होने पर और बिना अनुभव के किसी शिकार की आहट पाने पर मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा हो जाता है और फिर उसकी ओर धीरे-धीरे बढ़ता है और फिर दूसरी प्रकार का भेड़िया ऐसा देखें, जो हिरनों के झुंड को देखकर उन पर झपटने के बजाय उनको घेर कर दूर किसी जगह ले जाता है तो निश्चय ही हम इन क्रियाओं को प्रवृत्ति कहेंगे। यह कहना आवश्यक है कि प्राकृतिक प्रवृत्तियों की अपेक्षा घरेलू प्रवृत्तियाँ कम आपरिवर्तनशील होती हैं, किन्तु उन पर कठिन निर्वाचन का प्रभाव नहीं पड़ा है, और न ही प्राकृतिक प्रवृत्तियों की भाँति उनकी वंशागति बहुत लम्बे काल तक अथवा कठिन परिस्थितियों में हुई है।

ये घरेलू प्रवृत्तियाँ, स्वभाव आदि किस हद तक वंशागत होते हैं, तथा किस प्रकार ये एक-दूसरे से मिल-जुल जाते हैं, इसके विषय में हमको पर्याप्त ज्ञान कुत्तों की विभिन्न नस्लों के परस्पर संकरण से प्राप्त होता है। इस प्रकार हमको यह पता चलता है कि 'ग्रे हाउन्ड' का 'बुलडाग' से संकरण करने पर कई पीढ़ियों तक 'ग्रे हाउन्ड' का साहस प्रभावित रहता है। इसी तरह 'शेफर्ड' कुत्ते का ग्रे हाउन्ड से संकरण करने पर एक ऐसे वंश का निर्माण हो गया है जिसमें खरहों का शिकार करने की प्रवृत्ति विशेषत: उत्पन्न हो गयी है। अतः संकरण द्वारा परीक्षण करने पर पता लगता है कि ये घरेलू प्रवृत्तियाँ बहुत-कुछ प्राकृतिक प्रवृत्तियों के समान हैं जो उन्हीं की भाँति एक-दूसरे से विचित्र रूप से मिल-जुल सकती हैं और वंशागति होने पर कई पीढ़ियों तक माता या पिता की प्रवृत्तियाँ प्रकट होती हैं। उदाहरण के लिए ले राय (Le Roy) ने एक कुत्ते का उल्लेख किया है जिसका परपितामह एक भेड़िया था। इस कुत्ते में भेड़िये के रक्त का केवल एक ही प्रमाण था और वह यह कि बुलाये जाने पर वह अपने मालिक की ओर कभी भी सीधा दौड़ कर नहीं जाता था।

कुछ लोगों के अनुसार पालतू प्रवृत्तियाँ इस प्रकार की क्रियाएँ हैं, जो एक लम्बे काल तक किसी अभ्यास या आदत के वंशागत होने से ही बन जाती हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है। कोई 'टम्बलर' कबूतर को इसके विचित्र रीति से गति करना सिखाने की बात नहीं सोचेगा और न कोई उसको यह सिखा ही सकता है। और मैंने स्वयं देखा है कि इस गति के लिए इस नस्ल के छोटे बच्चे भी उसी तरह अभ्यस्त हैं, हालांकि उन्होंने पहले कभी किसी कबूतर को इस तरह की गति करते नहीं देखा होगा। हम यह विश्वास कर सकते हैं कि कभी किसी एक कबूतर में इस प्रकार की क्रिया करने की हल्की प्रवृत्ति हुई होगी और फिर अनेक पीढ़ियों में भली भाँति इसी क्रिया को कर

सकने वाले कबूतरों के छाँटने से अन्त में आज के 'टम्बलर' का निर्माण हुआ। मि० ब्रेन्ट के द्वारा मुझको यह ज्ञात हुआ है कि ग्लास्गो के निकट ऐसे पालतू 'टम्बलर' पाये जाते हैं कि जो बिना सर के बल पलटे १८ इंच की दूरी तक भी नहीं उड़ सकते। यह सन्देह किया जा सकता है कि यदि किसी कुत्ते में किसी विशेष वस्तु की ओर अग्रसर होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति न होती तो किसी मनुष्य को कुत्तों की एक क्रिया का शिक्षण करने की बात सूझती भी, अथवा नहीं। और जैसा मैं एक बार स्वयं देख चुका हूँ इस प्रकार की प्रवृत्ति कभी-कभी शुद्ध 'टेरियर' नस्ल के कुत्ते में भी देखी जाती थी। जब किसी वस्तु की ओर झपटने की प्रवृत्ति एक बार देख ली गयी तो फिर विधिवत निर्वाचन के द्वारा हर पीढ़ी में शिक्षण के काम को पूरा किया जा सकता है। साथ ही बिना जाने तो निर्वाचन का काम होता ही रहता है क्योंकि जान-बूझकर चाहे नस्ल को सुधारने का प्रयत्न न भी किया जाय, किन्तु जो कुत्ते शिकार अच्छा करते हैं, हर शिकारी उन्हीं को पालना चाहता है। दूसरी ओर कुछ उदाहरणों में केवल आदत का प्रभाव ही पर्याप्त रहा है। सभी जानते हैं कि जंगली खरगोश के बच्चे को पालतू बनाने से अधिक कठिन किसी अन्य जानवर को पालतू बनाना नहीं है, साथ ही पालतू खरगोश के बच्चों की अपेक्षा अधिक पालतू जन्तु शायद ही कोई हो। फिर भी मैं यह कल्पना नहीं कर सकता कि पालतू खरगोशों का निर्वाचन केवल इसीलिए किया गया कि वे पाले जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि निरे जंगलीपन से लेकर भली भाँति पालतू होने तक के अधिकांश परिवर्तन, आदत तथा एक लम्बी अवधि तक वन्दी रहने के कारण हैं।

पालतूपन की स्थिति में स्वाभाविक प्रवृत्तियों का लोप हो जाता है। इस बात का एक अदभुत उदाहरण मुर्गी की उन नस्लों में देखने में आता है, जो अंडों को सेने का काम बिल्कुल नहीं करतीं या बहुत कम करती हैं। बहुत घनिष्ट होने के कारण हम यह नहीं देख पाते कि हमारे पालतू जन्तुओं की मानसिक क्रिया, कितनी तथा कितने स्थायी रूप से आपरिवर्तित हो गयी हैं। कोई यह सन्देह नहीं करेगा कि कुत्तों में मनुष्य-प्रेम ने प्रवृत्ति का रूप ले लिया है। भेड़िये, लोमड़ियाँ, स्यार तथा बिल्ली की कई जातियाँ, पाली जाने पर मुर्गियों, भेड़ों तथा सुअर पर आक्रमण करती हैं और उन कुत्तों में भी जिनके पिल्ले टियारा डेल्फयूगो तथा आस्ट्रेलिया से लाये गये हैं। यहाँ के आदिम निवासी इन पालतू जानवरों को नहीं पालते हैं, उनमें भी यह प्रवृत्ति दूर नहीं की जा सकती। दूसरी ओर हमारे सभ्य कुत्तों को कम आयु में भी यह सिखाने की आवश्यकता नहीं रहती कि पक्षियों, भेड़ों अथवा सुअरों पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-कभी वे इस तरह का आक्रमण अवश्य करते हैं और तब मार खाते हैं। और यदि उनकी यह आदत नहीं सुधरती तो वे नष्ट कर

दिये जाते हैं। इस प्रकार आदत तथा कुछ हद तक निर्वाचन, दोनों के फलस्वरूप हमारे कुत्तों में सभ्य आदतों की वंशागति होती है। दूसरी ओर केवल आदत के ही कारण मुर्गियों में कुत्तों और बिल्लियों का भय नष्ट हो गया है जो निश्चय ही मूल प्रवृत्ति न रही होगी। कैप्टेन हटन ने मुझको सूचित किया है कि जब मूर्गियों के मूल नस्ल **गैलस बन्काइवा** (Gallus bankiva) के बच्चे भारत में इसी मुर्गी के साथ पाले जाते हैं तो प्रारम्भ में ये बिल्कुल जंगली रहते हैं। यही बात इंगलैण्ड में मुर्गियों की सहायता से मोर पालने पर भी देखी जाती है। यह बात नहीं है कि मुर्गियों के बच्चों में सभी प्रकार के भय का नाश हो गया हो बल्कि केवल कुत्ते बिल्लियों का भय नष्ट हुआ है क्योंकि खतरे की सूचना मिलने पर सभी बच्चे, विशेषकर टर्की के बच्चे एकाएक मुर्गियों के नीचे से भागकर झाड़ियों के भीतर छिप जाते हैं। स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति-वश क्रिया इसलिए होती है कि माता मुर्गी उड़कर अपनी जान बचा सके। किन्तु पालतूपन की परिस्थिति में बच्चों में पाये जाने पर यह प्रवृत्ति बिल्कुल ही बेकार हो गयी है, क्योंकि मुर्गियों में अनुपयोग के कारण उड़ सकने की शक्ति का नाश हो चुका है।

अतः हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पालतूपन की परिस्थिति में आदत तथा कुछ हद तक मनुष्य द्वारा निर्वाचन अथवा संग्रह के कारण अनेक पीढ़ियों के बाद नयी प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं, और प्राकृतिक प्रवृत्तियों का लोप होता है। यह क्रिया विचित्र मानसिक आदतों तथा क्रियाओं के द्वारा होती है जिनके प्रारम्भ में उत्पन्न होने को हम अपने अज्ञान के कारण एक प्रकार की अकस्मात् घटना समझते हैं। कुछ उदाहरणों में आवश्यक आदत के ही द्वारा वंशागत मानसिक परिवर्तन हो जाते हैं; कुछ अन्य उदाहरणों में आवश्यक आदतों का कोई प्रभाव नहीं होता और सम्पूर्ण प्रभाव नियमित रूप से अथवा अनजाने में होनेवाले निर्वाचन के कारण ही होते हैं। किन्तु अधिकांश उदाहरणों में आदत तथा निर्वाचन दोनों की क्रिया साथ-साथ होती है।

विशेष प्रवृत्तियाँ

यह समझने के लिए कि प्राकृतिक अवस्था में प्रवृत्तियों का आपरिवर्तन निर्वाचन के द्वारा किस प्रकार हुआ है, कदाचित् सबसे अच्छा यह होगा कि हम कुछ विशेष उदाहरणों पर विचार करें। यहाँ मैं केवल तीन ही उदाहरण लूँगा—अर्थात् वह प्रवृत्ति जिसके द्वारा कोयल अपने अंडे दूसरे पक्षियों के घोंसलों में देती है। कुछ चींटियों की दास बनाने की प्रवृत्ति तथा मधुमक्खियों की छत्ते बनाने की प्रवृत्ति। सभी प्रकृति-

वादियों ने बाद की दोनों प्रवृत्तियों को ठीक ही सभी ज्ञात प्रवृत्तियों से अद्भुत बताया है।

कोयल की प्रवृत्ति—कुछ प्रकृति वैज्ञानिकों का विश्वास है कि कोयल की प्रवृत्ति का संभाव्य कारण यह है कि वह अपने अंडे नित्य न देकर दो-तीन दिनों की अवधि पर देती है। अत: यदि वह अपना घोंसला बनाती और अंडे सेती, तो सबसे प्रारम्भ में दिये गये अंडे कुछ समय के लिये बिना सेये रह जाते, या एक ही घोंसले में विभिन्न आयु तथा अवस्थाओं के अंडे-बच्चे पाये जाते। ऐसा होने पर अंडरोपण तथा बच्चे देने की अवधि बहुत ही लंबी हो जाती, और चूँकि कोयल स्थानान्तरण करती है, इसलिए इससे बहुत ही असुविधा होती। यही नहीं प्रारम्भ में निकले बच्चों की देख-रेख और आहार पहुँचाने का भार केवल नर पक्षी पर ही रह जाता। किन्तु अमरीकी कोयल तो ऐसी ही परिस्थिति में रहती है, क्योंकि वह अपना घोंसला बनाती है, और उसके अंडे एक साथ ही फूटते तथा बच्चे एक साथ ही निकलते हैं। यह बात ज़ोर के साथ कही गयी है कि अमरीकन कोयल भी अपने अंडे दूसरे पक्षियों के घोंसलों में देती है, किन्तु इस वक्तव्य का वैसा ही विरोध भी किया गया है। हाल में आयोवा के डा० मेरेल ने यह बताया है कि एक बार उनको इलिनाय में एक नीलकंठ के घोंसले में एक कोयल तथा एक नीलकंठ के बच्चे साथ-साथ मिले। चूँकि दोनों के पंख भलीभाँति निकल आये थे इसलिए उनको पहिचानने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता था। मैं ऐसी अन्य कई चिड़ियों के उदाहरण भी दे सकता हूँ जो कभी-कभी अपने अंडे दूसरी चिड़ियों के घोंसलों में दे देती हैं। अब थोड़ी देर के लिए यह मान लीजिए कि यूरोपीय कोयल के प्राचीन पूर्वज की आदत अमरीकी कोयल जैसी थी और वह कभी-कभी ही दूसरे किसी पक्षी के घोंसले में अपने अंडे देती थी। यदि जल्दी स्थानान्तरण कर सकने, अथवा किसी अन्य कारण से इस प्राचीन पक्षी को कभी-कभी दूसरे पक्षियों के घोंसले में अंडे देने से सुविधा हुई होगी, या अपने ही घोंसलों में अपनी माता के द्वारा पाले जाने की अपेक्षा दूसरों के घोंसलों में पाले जाने से बच्चे अधिक शक्तिशाली हो गये होंगे, तो उस प्राचीन पक्षी या उसके बच्चों को निश्चय ही इससे कुछ लाभ हुआ होगा। और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी, क्योंकि भिन्न-भिन्न आयु के अनेक बच्चों को पालने से माता तथा उसके बच्चों—दोनों को ही कुछ असुविधा हो सकती है। निर्वाचन के किसी भी अन्य उदाहरण से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार पले बच्चे वंशागति की सहायता से माता की इस प्रारंभिक आदत का अनुकरण करेंगे, और अपनी बारी आने पर स्वयं भी दूसरों के ही घोंसलों में अंडे देंगे, और इस प्रकार अपने बच्चों के पालने में अधिक सफल होंगे। इस क्रिया

के कुछ समय तक चलते रहने पर हमारी कोयल की इस विचित्र प्रवृत्ति का विकास हो जाएगा। हाल में एडाल्फ मूलर ने पर्याप्त प्रमाण के आधार पर यह भी सिद्ध किया है कि कभी-कभी कोयल स्थल पर भी अपने अंडे देती है तथा उनको सेती है और बच्चों को खिलाती है। कदाचित् यह विरली घटना बहुत काल पहले ही नष्ट हुई प्रारंभिक आदत के पुन: प्रकट हो जाने अर्थात विपर्यंयण के कारण है।

कुछ लोंगों ने यह आपत्ति की है कि मैंने कोयल की अन्य संबंधित प्रवृत्तियों और अनुकूलनों की ओर ध्यान नहीं दिया है, हालांकि वे भी निश्चय ही इस आदत से संबंध रखती हैं। किन्तु सभी उदाहरणों में केवल एक ही जात के विषय में ज्ञात किसी प्रवृत्ति पर कल्पना करके हम किसी सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते, क्योंकि हमारे पास पर्याप्त अवलोकनों की कमी है। अभी हाल तक केवल यूरोपीय तथा अपरजीवी अमरीकी कोयल की आदतों के विषय में हम कुछ जानते थे। अब रैमज़े के अवलोकनों के फलस्वरूप तीन आस्ट्रेलियन जातों के विषय में भी हमारे ज्ञान में वृद्धि हुई है। ये तीनों जातें दूसरी चिड़ियों के घोंसलों में अपने अंडे देती हैं। वास्तव में इस सम्बन्ध में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—पहली यह कि कुछ इने-गिने अपवादों को छोड़कर साधारणत: कोयल एक घोंसले में एक ही अंडा देती है, जिसके फलस्वरूप इस बड़े तथा बहुग्राही पक्षी को काफी आहार प्राप्त होता है। दूसरी यह कि इसके अंडे बहुत छोटे होते हैं—साधारणत: ये अंडे लवा के अंडे से बड़े नहीं होते, जो नाप में कोयल की लगभग एक-चौथाई होती है। अंडों का छोटा होना सचमुच ही एक प्रकार का अनुकूलन है, यह इस बात से सिद्ध है कि अपरजीवी अमरीकी कोयल बड़े अंडे देती है। तीसरे यह कि पैदा होने के बाद ही कोयल के छोटे बच्चे की प्रकृति, उसका शारीरिक बल तथा उसके शरीर की रचना ऐसी होती है कि वह उसी घोंसले के मूल पक्षी के बच्चों को घोंसले से बाहर फेंक देता है और वे ठंड तथा भूख से मर जाते हैं। इस बात को कोयल के लिए विशेष सुविधाजनक बताया गया है, क्योंकि इसके द्वारा कोयल के बच्चे को पर्याप्त आहार प्राप्त होता है तथा मूल पक्षी के बच्चे ऐसी आयु में नष्ट हो जाते हैं जब उनके माता-पिता में संतान-प्रेम की भावना की उत्पत्ति अधिक नहीं हुई होती।

आइये, अब कोयल की अमरीकी जातों की ओर ध्यान दें। हालांकि ये चिड़ियाँ साधारणत: एक घोंसले में एक ही अंडा देती हैं, किन्तु कभी-कभी एक ही घोंसले में दो या तीन अंडों का मिलना भी आश्चर्य की बात नहीं है। लाल कोयल में अंडों की नाप बहुत भिन्न होती है और उनकी लम्बाई आठ से दस गुनी तक हो सकती है। स्पष्ट है कि यदि इस जात के लिए अंडों का छोटा होना सुविधाजनक होता, जिसमें वे अपने

पालकों को अधिक सफलतापूर्वक धोखा दे सकतीं या जिसमें वे कम ही अवधि में फूट सकते (ऐसा समझा जाता है की अंडों की माप तथा उनके फूटने की अवधि में संबंध है और अंडे जितने ही छोटे होते हैं वे उतनी ही जल्दी परिपक्व होते हैं), तो यह निश्चित है कि ऐसी कोई नस्ल या जात तैयार हो जाती जिसके अंडे छोटे होते जाते। मि० रैमज़े का कहना है कि आस्ट्रेलियन कोयलों की दो जातों में, जब वे खुले हुए घोंसलों में अंडे देती हैं तो इस बात की स्पष्ट प्रवृत्ति होती है कि वे ऐसे घोंसलों में अंडे दें, जिनमें अपने अंडों के ही समान अंडे पहले से उपस्थित हों। इसी तरह की प्रवृत्ति यूरोपीय जात में भी पायी जाती है किन्तु कभी-कभी वह इससे भिन्न व्यवहार भी करती है और अपने हल्के पीले रंग के अंडे हेज-वार्बलर के घोंसलों में देती है, जिसके अंडे हरापन लिये हुए नीले होते हैं। यदि हमारी कोयल में सदा यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती, तो निश्चय ही अंडे केवल ऐसे ही घोंसलों में रखे जाते जिनके अंडे उसके समान होते। रैमज़े के अनुसार लाल कोयल के अंडे, रंग के विषय में अद्‌भुत रूप से भिन्न होते हैं; अतः रंग तथा नाप के विषय में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा किसी भी सुविधाजनक परिवर्तन का संरक्षण और विकास हो सकता था।

यूरोपीय कोयल के उदाहरण में मूल पक्षी के बच्चे कोयल के बच्चे के अंडे से निकलने के तीन दिन के भीतर ही घोंसले के बाहर फेंक दिये जाते हैं। और चूंकि इस समय कोयल के बच्चे बिल्कुल निःसहाय अवस्था में होते हैं, इसलिए प्रारंभ में मि० गूल्ड का ऐसा विचार था कि स्वयं उन बच्चों के माता-पिता ही उनको बाहर निकाल देते हैं। इस निरीक्षक ने इनमें से एक बच्चे को पुनः घोंसले में रख दिया और वह फिर गिरा दिया गया। किस प्रकार कोयल में इस विचित्र तथा भयंकर प्रवृत्ति का विकास हुआ, यह समझने में मुझको कोई विशेष कठिनाई नहीं जान पड़ती। यदि कोयल के बच्चे के लिए यह आवश्यक है कि वह अधिक-से-अधिक मात्रा में भोजन प्राप्त करे, तो कई पीढ़ियों में धीरे-धीरे उसकी शक्ति, इच्छा तथा संरचना का इसके अनुकूल विकसित होना कोई विचित्र बात नहीं है, क्योंकि जिन बच्चों में ऐसे स्वभाव तथा संरचना का विकास होगा उन्हीं का भली भाँति पालन भी संभव होगा। कदाचित् इस प्रवृत्ति के विकास का पहला पग बच्चे की अनैच्छिक चपलता रही होगी, जबकि वह स्वयं आयु तथा शक्ति में कुछ बढ़ गया होगा। बाद में यह आदत कुछ अधिक गहरी हो गयी होगी तथा अतिजीवन के साथ ही और भी कम आयु की ओर खिसक गयी होगी। जिस प्रकार पक्षियों की कई जातों के बच्चों में अंडों को तोड़ने की आदत का विकास हो सकता है उसी प्रकार कोयल के बच्चों में इस तरह के स्वभाव का। इसी प्रकार जैसा ओवेन ने बताया है, सर्प के बच्चों के ऊपरी जबड़े में एक अस्थायी नुकीले

दाँत का विकास होता है जिसके द्वारा वह अपने मज़बूत अंड-कवच को काटता है। सभी अंग सभी अवस्थाओं में कुछ हद तक परिवर्तित हो सकते हैं अर्थात उनमें वैयक्तिक अंतर होते हैं तथा ये अन्तर उसी अवस्था में या उससे कम अवस्था में वंशागत होते हैं। इस सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं कर सकता। और जिस प्रकार प्रौढ़ का स्वभाव या उसकी संरचना से परिवर्तन संभव है, उसी प्रकार अप्रौढ़ की संरचना या स्वभाव में भी; और प्राकृतिक निर्वाचन के सम्पूर्ण सिद्धान्त के लिए इन दोनों उदाहरणों का व्यवहार समान होना चाहिए।

अमरीकी चिड़ियों की एक स्पष्ट जाति **मोलोथ्रस** (Molothorus) की कुछ जातें जो हमारे यहाँ की स्टार्लिंग से बहुत मिलती-जुलती हैं, कोयल की ही भाँति परजीवी हैं, और उनकी प्रवृत्ति के विषय में इन जातों में स्पष्ट क्रम दिखाई पड़ता है। मि० हडसन जैसे अद्वितीय अवलोकन करने वाले के अनुसार मोलोथ्रस बेडियस के नर तथा मादा दोनों ही झुंडों में रहा करते हैं और कभी-कभी इनके जोड़े भी मिलते हैं। ये चिड़ियाँ या तो अपने घोंसले बनाती हैं या किसी अन्य पक्षी के घोंसले पर अधिकार कर लेती हैं और बहुधा इस क्रिया में मूलनिवासी के बच्चों को निकाल फेंकती हैं। ये बहुधा इसी अधिकार किये हुए घोंसले में अपने अंडे देती हैं या उस घोंसले के ऊपर दूसरा घोंसला बना कर उसमें अंडे देती हैं। साधारणतः ये अपने अंडे सेती हैं और बच्चों का पालन करती हैं। किन्तु मि० हडसन का कहना है कि संभवतः ये भी कभी-कभी परजीवी हो जाती हैं, क्योंकि उन्होंने एक बार इस चिड़िया के छोटे बच्चों को किसी अन्य जात के पक्षी के साथ देखा और बच्चे इस पक्षी से ही चारा पाने की कोशिश कर रहे थे। **मोलोथ्रस** की एक दूसरी जात **मा० बोनारियेन्सिस** की परजीवी प्रकृति और भी अधिक विकसित होती है, किन्तु इसको भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक हमको ज्ञात है यह चिड़िया सदा ही अपने अंडे दूसरी चिड़ियों के घोंसलों में देती है; किन्तु विचित्र बात यह है कि कभी-कभी इनमें से कई एक चिड़ियाँ साथ मिलकर कुछ अजीब भद्दा सा, और टेढ़ा-मेढ़ा घोंसला बनाती हैं जिसके लिए वे साधारणतः बहुत ही गलत स्थान छाँटती हैं, जैसे थिसिल पौधे की पत्तियाँ। किन्तु जहाँ तक मि० हडसन का अवलोकन है, ये कभी भी अपने लिए घोंसलों को बनाने का काम पूरा नहीं करतीं। कभी-कभी ये इतने अधिक अंडे—१५ से २० तक—दूसरी चिड़ियों के घोंसलों में देती हैं कि किसी अंडे से भी बच्चा नहीं निकलता। इसके अतिरिक्त उनमें अंडों में छेद करने की विचित्र आदत होती है—चाहे वे अपने अंडे हों या उस पक्षी के जिसका घोंसला है। बहुधा वे काफ़ी संख्या में अंडों को जमीन पर गिरा देती हैं जिससे वे नष्ट हो जाते हैं। उत्तरी अमरीका की एक तीसरी जात **मोलोथ्रस**

पिकोरिस ने इस विषय में कोयल की भाँति पूर्ण प्रकृति पैदा कर ली है क्योंकि दूसरे पक्षियों के घोंसलों में एक समय में वह एक से अधिक अंडे नहीं देती जिससे उसके बच्चे का पालन भलीभाँति हो सकता है। मि० हडसन विकास में विश्वास करते हैं, किन्तु **मोलोथ्रस बोनारियेन्सिस** की इस अपूर्ण प्रवृत्ति से वे इतने अधिक प्रभावित हुए हैं कि वे मेरे शब्दों को दुहराते हैं और फिर पूछते हैं कि "क्या हम इन आदतों को विशेष प्रकार से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ न समझकर एक सामान्य नियम अर्थात 'परिवर्तन' का एक छोटा परिणाम समझें।"

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कई चिड़ियाँ बहुधा अपने अंडे दूसरी चिड़ियों के घोंसलों में देती हैं। यह प्रकृति गैलिनेसी वंश में भी असामान्य नहीं है और शुतुर्मुर्ग की विचित्र प्रवृत्ति पर कुछ प्रकाश डालती है। इस वंश में कई मादा चिड़ियाँ सहयोग करती हैं और अपने अंडे पहले एक घोंसले में फिर दूसरे में देती हैं। हो सकता है कि इस आदत का कारण यह हो कि वे बड़ी संख्या में अंडे देती हैं, जो कोयल की भाँति, दो-तीन दिनों के अन्तर पर दिये जाते हैं। किन्तु **मोलोथ्रस बोनारियेन्सिस** की भाँति अमरीकी शुतुर्मुर्ग की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास नहीं हुआ है क्योंकि इनकी अच्छी खासी संख्या बहुधा खुले मैदान में अंडे देती है। एक ही दिन ढूँढ़ने पर मैंने कम-से-कम इनके बीस बिखरे हुए अंडे इकट्ठे किये।

कई मधुमक्खियाँ परजीवी होती हैं और बराबर ही अपने अंडे दूसरी प्रकार की मधुमक्खियों के छत्तों में देती हैं। इनका उदाहरण कोयल से भी अधिक अद्भुत है क्योंकि न केवल इनकी प्रवृत्ति ही परजीवी प्रकृति के अनुसार आपरिवर्तित हो गयी है, बल्कि संरचना भी। अतः इनमें पराग इकट्ठा करने के अंग अनुपस्थित होते हैं। स्पष्ट है कि यदि ये अपने छत्ते बनातीं तो बच्चों के लिए इनको खाद्य का संग्रह करना पड़ता। बर्रें जैसे स्फेजिडी वंश के कीट भी इसी प्रकार परजीवी होते हैं। हाल में म० फेबर ने यह दिखाया है कि यद्यपि **टैकिटिस नाइग्रा** (Tachytes nigra) साधारणतः अपने लिए बिल का निर्माण करता है और उसमें अपने लार्वा के लिए अवसन्न का शिकार एकत्र कर रखता है फिर भी यदि इसको कोई बना-बनाया बिल मिल जाता है जिसमें दूसरा कीट खाद्य जमा कर सकता है तो वह उसका पूरा लाभ उठाता है और परजीवी हो जाता है। **मोलोथ्रस** अथवा कोयल की भाँति इस उदाहरण में भी मुझको इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती कि कभी-कभी व्यक्त होने वाली कोई आदत, यदि जात के लिए सुविधाजनक हो, तो वह प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा स्थायी हो जाय, विशेषकर यदि जिस कीट के घोंसले पर इस प्रकार अधिकार कर लिया जाय, वह नष्ट नहीं होता।

दास बनाने की प्रवृत्ति--इस अद्भुत प्रवृत्ति का आविष्कार सर्वप्रथम **फारमिका रूफेसन्स** (Formica rufescens) में पियरे हूबर ने किया था जो अपने पिता से भी अच्छे और सफल निरीक्षक थे। यह चींटी पूर्णतः अपने दासों पर ही निर्भर रहती है और उनकी सहायता के बिना पूरी जात एक वर्ष के भीतर ही विनष्ट हो सकती है। इसके नर तथा इसकी उर्वर मादाएँ किसी तरह का कार्य नहीं करतीं और श्रमिक तथा वन्ध्य मादाएँ शक्तिशाली तथा दास पकड़ने में काफी हिम्मती होने पर भी और कोई कार्य नहीं करतीं। ये न अपने लिए छत्ते ही बना सकती हैं और न अपने लार्वा को आहार ही प्रदान कर सकती हैं। जब किसी तरह इनके छत्ते इनको किसी प्रकार की असुविधा पहुँचाने लगते हैं, और यह आवश्यक हो जाता है कि ये उसको छोड़ दें, तो उस समय वास्तव में इनके दास ही यह निश्चय करते हैं कि इनको कहाँ जाना चाहिए और इतना ही नहीं, ये दास अपने नायकों को अपने जबड़ों से दबाकर ले जाते हैं। नायक कितने अधिक निःसहाय होते हैं इसका पता इस बात से चलता है कि जब हूबर ने तीस नायकों को बिना दास के किन्तु पर्याप्त भोजन के साथ तथा उन्हीं के लार्वा तथा प्युपा के साथ बन्द कर दिया तो भी उन्होंने कुछ नहीं किया। वे स्वयं अपना आहार तक ग्रहण नहीं कर सके और कई भूख के कारण मर गये। फिर हूबर ने उनके साथ केवल एक दास (**फा० चुस्का**) कर दिया। उसने तुरन्त काम करना प्रारम्भ कर दिया, बचे हुए नायकों को खिलाया और इस प्रकार उनकी रक्षा की; फिर उसने कुछ नये घरों का निर्माण किया, लार्वा की देखरेख की और इस प्रकार सब कुछ ठीक कर दिया। इन बातों से अधिक अद्भुत भला और क्या हो सकता है और इन सब के सही होने में कोई संदेह नहीं है। यदि हम किसी अन्य दास बनाने वाली चींटी के विषय में न जानते होते तो यह कल्पना करना भी कठिन होता कि इस प्रकार की अद्भुत प्रवृत्ति का विकास भी संभव है।

इसी प्रकार एक दूसरी जात **फारमिका सैन्गुनिया** में भी पी० हूबर ने पहली बार दास बनाने की प्रकृति का अवलोकन किया। यह जात इंगलैण्ड के दक्षिणी भागों में पायी जाती है और इसकी प्रकृति के विषय में सर्वप्रथम ब्रिटिश म्युजियम के मि० एफ० स्मिथ ने निरीक्षण किया। इस विषय पर तथा अन्य विषयों पर बहुत सी सूचनाएँ देने के लिए मैं उनका बड़ा आभारी हूँ। हालांकि मुझको हूबर तथा स्थिम के वक्तव्यों पर पूरा विश्वास था फिर भी दास बनाने की प्रवृत्ति कुछ ऐसी विचित्र जान पड़ी कि मैंने मन में काफी निराशा लेकर स्वयं कुछ अवलोकन करना चाहा। और यहाँ मैं उन्हीं अवलोकनों का उल्लेख करूँगा जिनको स्वयं मैंने कुछ विस्तार में किया है। मैंने **फा० सैंगुइनिया** के चौदह छत्ते खोले और प्रत्येक में मुझको कुछ दास मिले। दास जात के नर

तथा मादाएँ सदा अपने ही समाजों में पायी जाती हैं कभी भी ये **फा० सैंगुइनिया** के छत्तों में नहीं मिलतीं। दास काले होते हैं और लाल नायकों की अपेक्षा वे लगभग आधे होते हैं, इस तरह दोनों के आकार में बहुत अंतर होता है। जब छत्ते को थोड़ा भी छेड़ा जाता है तो कभी-कभी दास बाहर निकल आते हैं और नायकों की भाँति व्यग्र होकर छत्ते की रक्षा करते हैं। जब छत्ते बहुत अधिक हिलाये या छेड़े जाते हैं और लार्वा तथा प्युपा खुल जाते हैं तो दास बड़ी तेजी से और सहयोग के साथ काम करते हैं और नायकों के साथ मिलकर लार्वा-प्युपा को सुरक्षित स्थानों में ले जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि दास छत्ते में बड़े इतमीनान के साथ रहते हैं। जून तथा जुलाई के महीनों में लगातार तीन वर्षों तक मैंने कई घंटों तक सरे तथा ससेक्स में छत्तों का निरीक्षण किया है और कभी भी मुझको कोई दास छत्ते के भीतर जाता या उसके बाहर आता नहीं दिखाई पड़ा। चूँकि इन महीनों में दासों की संख्या ही बहुत कम होती है इसलिए मैंने सोचा कि संख्या में अधिक होने पर उनका व्यवहार भिन्न होगा, किन्तु मि० स्मिथ मुझको बताते हैं कि उन्होंने सरे तथा हैम्पशायर दोनों ही जगहों में मई, जून तथा अगस्त में भिन्न-भिन्न समय पर छत्तों का निरीक्षण किया है, और हालांकि अगस्त में इनमें दास बड़ी संख्या में होते हैं, फिर भी उन्होंने कभी किसी दास को छत्ते से आते-जाते नहीं देखा है। अतः उनका विश्वास है कि ये दास पूर्णतः घरेलू कामों में ही लाये जाते हैं। किन्तु नायकों को बराबर ही हर प्रकार का भोजन तथा अन्य सामग्री लाते ले जाते देखा जाता है। किन्तु सन् १८६० के जुलाई के महीने में मैंने इनका एक ऐसा समाज देखा जिसमें दासों की बड़ी भारी संख्या थी। इनमें से कुछ दास मालिकों के साथ छत्ते का त्याग कर रहे थे और एक ही मार्ग से होकर वे लगभग २५ गज दूर स्थित एक बड़े लंबे 'फ़र' के वृक्ष की ओर जा रहे थे और उस पर कदाचित् एफिडों या काक्सिडों की तलाश में एक साथ चढ़ रहे थे। हूबर को इस प्रकार के अवलोकनों का बहुत अवसर था और उनके अनुसार स्विटजरलैंड में दास नियमानुसार अपने मालिकों के साथ छत्तों का निर्माण करते हैं और केवल वे ही प्रातः तथा सायंकाल छत्तों का द्वार खोलते हैं। इसके अतिरिक्त हूबर के अनुसार उनका मुख्य कार्य एफिडों को तलाश करना है; कदाचित् इन दो देशों में दासों तथा नायकों की प्रकृति का भेद केवल इस बात पर निर्भर है कि इंगलैण्ड की अपेक्षा स्विटजरलैंड में दास अधिक संख्या में पकड़ जाते हैं।

संयोग से एक दिन मैंने **फा० सैंगुइनिया** के एक समाज को एक छत्ते से दूसरे में स्थानान्तरित होते भी देखा और वास्तव में वह पूरा दृश्य बहुत ही रोचक था, विशेषकर

फा० रूफेसेन्स के विपरीत इस जात में नायकों द्वारा दासों को मुँह में सावधानी के साथ दाबकर ले जाया जाना। दूसरे दिन मेरा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित हुआ कि फिर उसी स्थान पर दर्जनों की संख्या में नायक घूम रहे थे, किन्तु स्पष्टतया वे भोजन की तलाश में नहीं थे। वे दास की जात **फा० फुस्का** के एक स्वतंत्र समाज की ओर अग्रसर हुए और उन्होंने इनको मार भगाया। कभी-कभी तो फुस्का जात की तीन-तीन चींटियाँ एक ही दास बनाने वाली **सैंगुइनिया** चींटी की टाँगों से लिपटी थीं। इस सैंगुइनिया चींटी ने बेदर्दी से अपने छोटे-छोटे शत्रुओं को मारा और उनके मृत शरीरों को खाने के लिए अपने छत्ते में ले गयी। इस प्रकार उनको शिकार लादकर २९ गज की दूरी तय करनी पड़ी। किन्तु वे कोई प्युपा दास बनाने के लिए नहीं ले जा पायीं। तब मैंने एक दूसरे छत्ते से **फा० फुस्का** के कुछ प्युपा खोद निकाले और उनको इस संग्राम-स्थल के निकट एक खाली जगह पर रख दिया। शिकारी शौक से उनको उठा ले गये और कदाचित् वे यह सोचकर प्रसन्न हो रहे थे कि अन्त में वे अपने संग्राम में विजयी हुए।

उन प्युपों के साथ ही मैंने उसी जगह एक दूसरी जात **फा० फ्लावा** के कुछ प्युपा भी रखे, साथ ही इन नन्हीं पीली चींटियों के छत्ते के कुछ छोटे टुकड़े तथा कुछ चींटियाँ भी थीं। मि० स्मिथ के अनुसार कभी-कभी यह जात भी दास बनायी जाती है। हालांकि यह चींटी बहुत छोटी होती है किन्तु साथ ही बड़ी हिम्मती है और अन्य चींटियों पर बड़ी भयानक रीति से आक्रमण करती है। एक उदाहरण में मुझको यह देख कर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि फा० फ्लावा का एक समाज एक पत्थर के नीचे स्थित था और यह समाज स्वयं दास बनाने वाली जात सैंगुइनिया के छत्ते के नीचे था। मैंने अकस्मात् दोनों छत्तों को छेड़ दिया तो देखा कि छोटी चींटियों ने बड़ी चींटियों पर जोरों का हमला कर दिया। मुझको यह जानने की जिज्ञासा हुई कि **फा० सैंगुइनिया** के सदस्य **फा० फुस्का** तथा **फा० फ्लावा** के प्युपों के बीच भेद कर सकते हैं अथवा नहीं, क्योंकि वे **फुस्का** को साधारणतः दास बनाते हैं और **फ्लावा** को बहुत विरले ही पकड़ते हैं क्योंकि वे शीघ्र बहुत क्रुद्ध हो जाते हैं। मुझको यह स्पष्ट पता चला कि वे तुरन्त उनको पहचान लेते हैं। वास्तव में वे **फा० फुस्का** के प्युपों को फौरन पकड़ते हैं और **फा० फ्लावा** के प्युपा या उनके छत्ते की मिट्टी के ही सामने पड़ जाने पर वे एकाएक भयभीत हो जाते हैं और भाग खड़े होते हैं, मगर लगभग १५ मिनट बाद जबकि ये नन्हीं पीली चींटियाँ हट जाती हैं तो फिर उनकी हिम्मत बढ़ जाती है और वे प्युपे उठा ले जाती हैं।

एक सांयकाल मैं **फा० सैंगुइनिया** के दूसरे समाज की ओर गया और मैंने देखा कि

इसकी कई चीटियाँ वापस अपने छत्ते में जा रही थीं और अपने साथ **फा० फुस्का** के कई मृतकों और कई प्युपों को उठाकर ला रही थीं। स्पष्ट था कि यह क्रिया स्थानान्तरण से संबंधित नहीं थी। लगभग ४० फीट तक इस प्रकार लूटपाट से लदी चींटियों की श्रृंखला जा रही थी। इतने फासले के अंत में एक ढूहा था और उसमें से सैंगुइनिया का अंतिम सदस्य एक प्युपा लेकर निकल रहा था। उसके आसपास ही **फा० फुस्का** की कई प्रौढ़ चींटियाँ परेशान घूम रही थीं और एक चीटीं अपनी ही जात का एक प्युपा मुँह में दबाये मिट्टी के एक छोटे ढेर पर बिना हिले-डुले बैठी थी। उसको देखने से ही लगता था कि उसका घर-बार उजड़ गया है। इन चींटियों की उपस्थिति से यह स्पष्ट होता था कि उनका छत्ता भी कहीं निकट ही था।

दास बनाने की अद्भुत प्रवृत्ति से सबंधित ये कुछ तथ्य हैं जिनकी पुष्टि आवश्यकता न होने पर भी मैंने की है। इस संबंध में यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि **फा० सैंगुइनिया** की अपेक्षा **फा० रूफेसन्स** की यूरोपीय जाति की प्रवृत्ति बहुत भिन्न है। **फा० रूफेसन्स** अपने छत्ते नहीं बनाती, अपने स्थानान्तरण के विषय में स्वयं कोई निश्चय नहीं करती, अपने या अपने बच्चों के लिए भोजन एकत्र नहीं करती और न स्वयं ही अपने आप भोजन ग्रहण करती है। इस प्रकार ये पूरी तरह अपने दासों पर ही निर्भर हैं। इसके विपरीत **फारमिका सैंगुइनिया** के पास दासों की संख्या कम होती है, और ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ में तो बहुत ही थोड़ी होती है। अतः नायक ही यह निश्चय करते हैं कि छत्ता कब और कहाँ बने, कब उनको स्थानान्तरण करना चाहिए और जब स्थानान्तरण होता है तो नायक ही दासों को उठाकर ले जाते हैं। स्विटजरलैंड तथा इंगलैण्ड दोनों ही देशों में जान पड़ता है कि दास ही लार्वा की पूरी तरह देखरेख करते हैं और केवल नायक ही दासों को पकड़ने के लिए निकलते हैं। स्विटजरलैंड में दास तथा नायक मिलकर काम करते हैं और साथ-साथ छत्ता बनाने के लिए सामग्री लाते हैं तथा छत्ता बनाते हैं। इसी प्रकार दोनों ही किन्तु दास मुख्य रूप से, एफिडों की देखरेख करते हैं और उनसे रस उपलब्ध करते हैं। इस प्रकार दोनों मिलकर समाज के लिए आहार एकत्र करते हैं। इंगलैण्ड में केवल नायक ही साधारणतः छत्ते के बाहर निर्माण के लिए सामग्री एकत्र करने के लिए जाते हैं। इसी प्रकार अपने लिए तथा दासों के लिए भोजन प्राप्त करने के लिए भी वे ही जाते हैं। स्पष्ट है कि स्विट-जरलैंड की अपेक्षा इस देश में नायकों को दासों से बहुत कम सहायता मिलती है।

मैं इस बात का अनुमान करने का प्रयत्न नहीं करूँगा कि किन अवस्थाओं के द्वारा अन्त में **फारमिका सैंगुइनिया** की इस प्रवृत्ति की व्युत्पत्ति हुई। किन्तु चूँकि दास न बनाने वाली जातों की चींटियाँ भी इधर-उधर पड़े मिलने पर दूसरी जातों के प्यपों

को उठा ले जाती हैं इसलिए यह बहुत संभव है कि आरंभ में केवल भोजन बनाये जाने के लिए संहीत ये प्यूपे कभी-कभी पूर्ण विकसित हो जायँ; और फिर इस प्रकार दूसरी जातों की ये चींटियाँ हो सकता है कि अपनी मूल प्रकृति के अनुसार कार्य करने लग जायँ और कुछ सहायता देने लगें। और यदि उनकी उपस्थित उन चींटियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई जो उनको पकड़कर लायी थीं—अर्थात् यदि उनके लिए यह अधिक सुविधा-जनक सिद्ध हुआ कि प्युपों को पाल लिया जाय तो आरंभ में केवल भोजन के लिए प्युपों को जमा करने की आदत की प्राकृतिक निर्वाचन के प्रभाव से पुष्टि हो जायगी और धीरे-धीरे प्युपों को जमा करने का ध्येय भी बिल्कुल बदल जायगा। एक बार इस तरह की प्रवृत्ति की उत्पत्ति हो जाने के बाद कई अवस्थाओं के द्वारा इसमें वृद्धि हो जायगी। प्रारंभिक अवस्थाओं में **फा० सैंगुइनिया** की ब्रिटिश जात की भाँति वे दासों पर पूर्णतया निर्भर नहीं होंगी किन्तु जैसे-जैसे प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा इस प्रवृत्ति में आपरिवर्तन होता जायगा, दासों पर निर्भरता बढ़ती जायगी और अंत में **फारमिका रूफिसेन्स** जैसी जात का विकास होगा जो हर प्रकार से पूरी तरह दासों पर ही निर्भर है।

मधुमक्खियों की कोष्ठ-निर्माण की प्रवृत्ति—यहाँ मैं इस विषय के विस्तार पर विचार नहीं करूँगा, केवल अपने निष्कर्षों की रूपरेखा का ही उल्लेख करूँगा। वास्तव में छत्ते इतने सुन्दर तथा अपने विशेष प्रयोजन की दृष्टि से इतने अनुकूल होते हैं कि कोई भी व्यक्ति उनको देखने पर उनकी प्रशंसा किये बिना रह नहीं सकता। गणितज्ञों का तो यह कहना है कि मधुमक्खियों ने कोष्ठक निर्माण संबंधी एक गहन समस्या का निवारण कर लिया है और ऐसे छत्तों का विकास कर लिया है कि उसमें मोम की कम-से-कम मात्रा के व्यय के साथ ही मधु की अधिक-से-अधिक मात्रा के संचय का प्रबंध हो गया है। यहाँ तक कहा गया है कि कोई कुशल कारीगर, अपने नाप-जोख के सामान तथा यंत्रों की सहायता के होते हुए भी मोम के इतने सही आकार के कोष्ठक बड़ी कठिनाई से ही बना सकेगा, हालांकि मधुमक्खियों का एक समूह उनका निर्माण कर लेता है। चाहे आप किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति का होना क्यों न मान लें, प्रारंभ में इस बात पर विश्वास करना बहुत कठिन जान पड़ता है कि वे इतने कोणों तथा दीवारों का निर्माण कैसे करती हैं, अथवा वे यही कैसे समझ सकती हैं कि उनके बनाये कोण या दीवारें आदि ठीक-ठीक हैं। किन्तु यह कठिनाई प्रारम्भ में जितनी जान पड़ती है, उतनी वास्तव में है नहीं। यह सारी सुन्दर कारीगरी केवल कुछ साधारण प्रवृत्तियों के ही ऊपर आधारित है।

मैंने इस विषय पर मि० वाटरहाउस के कहने से ही खोज प्रारम्भ की। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि छत्ते के किसी कोष्ठक का आकार निकटतम स्थित अन्य कोष्ठों के

आकार पर निर्भर है। मेरा निम्नलिखित मत एक प्रकार से उनके इस सिद्धान्त का संशोधन मात्र है। आइये हम 'क्रम' (gradation) के विशाल सिद्धान्त पर ध्यान दें और यह देखें कि इसके द्वारा प्रकृति की कार्य-विधि के ऊपर कुछ प्रकाश पड़ता है कि नहीं। इस प्रकार के एक छोटे क्रम के एक छोर पर हम छोटी मधुमक्खियों को पाते हैं जो अपने पुराने और बेकार ककून में मधु भरती हैं और कभी-कभी उनमें मोम की नलिकाएँ जोड़ कर उनको बड़ा कर लेती हैं। इस प्रकार वे मोम के कई छोटे-छोटे अलग, गोल तथा अनियमित कोष्ठक बनाती हैं। क्रम के दूसरे छोर पर छत्ते की मक्खियाँ हैं जो ऐसे कोष्ठकों का निर्माण करती हैं जो सुन्दर छः-पहले होते हैं, दो स्तरों में व्यवस्थित होते हैं तथा एक-दूसरे से मिलकर सुन्दर आकार धारण करते हैं। प्रत्येक कोष्ठक भीतर की ओर कुछ पिरामिड के आकार का होता है और एक ओर के कोष्ठक से संबंधित पिरामिड दूसरी ओर के कोष्ठक में भली भाँति बैठ जाते हैं। इस क्रम के बीच में, जिसके एक सिरे पर छत्ते वाली मधुमक्खियों के सुव्यवस्थित कोष्ठक हैं और दूसरे सिरे पर छोटी मक्खियों के साधारण, अनियमित कोष्ठक हैं, मेक्सिको की **मिलियोना डोमेस्टिका** (Milipona domestica) के कोष्ठक हैं जिनका वर्णन पियरे हूबर ने बड़े विस्तार में किया है। वैसे मिलियोना मक्खी आकार में इन दोनों मक्खियों के बीच में है, फिर भी छोटी मक्खी के अधिक निकट है। यह लगभग बेलनाकार कोष्ठकों का मोम का लगभग नियमित छत्ता बनाती है। इन कोष्ठकों में शिशु पलते हैं, किन्तु इनके अलावा कुछ बड़े कोष्ठक भी होते हैं जिनमें मधु संचित किया जाता है। बड़े कोष्ठक नाप में लगभग बराबर और गोलाकार होते हैं और मिलकर अनियमित पुंजों का निर्माण करते हैं। किन्तु इस विषय में सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये कोष्ठक एक दूसरे के इतने निकट बनाये जाते हैं कि यदि वे बिल्कुल ही गोल बनाये जाते तो इनकी दीवारें एक-दूसरे में धँस जातीं या एक-दूसरे को काटतीं; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता क्योंकि मक्खियाँ बीच-बीच में बिल्कुल सीधी दीवारें बनाती हैं। अतः प्रत्येक कोष्ठक में एक बाहरी गोलाकार भाग होता है और दो, तीन या इससे भी अधिक सीधी दीवारें जिनकी संख्या इस बात पर निर्भर है कि वह कोष्ठक अन्य कितने कोष्ठकों से संलग्न है। जब कोई कोष्ठक तीन कोष्ठकों पर आधारित होता है (गोलों के लगभग एक ही नाप के होने से साधारणतः ऐसा ही होता है), तो ये तीनों धरातल मिलकर एक पिरामिड की संरचना करते हैं। और जैसा हूबर ने कहा है, इस प्रकार की संरचना छत्ते की मधुमक्खी के कोष्ठकों के तीन-पहले पिरामिड जैसे आधार से बहुत मिलती-जुलती है। छत्ते की मधुमक्खी के कोष्ठकों की भाँति, इसमें भी किसी कोष्ठक के तीन धरातल मिलकर अवश्यम्भावी रूप से संलग्न कोष्ठकों के निर्माण में भाग लेते हैं।

यह स्पष्ट है कि **मिलीपोना** मक्खी भी मोम का और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण, अपने श्रम का, कम-से-कम व्यय करती है, क्योंकि इस विधि से निर्माण करने में संलग्न कोष्ठकों की दीवारें दुहरी नहीं होतीं, बल्कि बाहरी गोलाकार भाग की ही तरह बराबर मोटाई की भी होती हैं और ऐसा होते हुए भी प्रत्येक चपटा भाग दो कोष्ठकों का अंग होता है।

इस उदाहरण पर ध्यान देने पर मुझको यह भी सूझा कि यदि **मिलिपोना** ने अपने गोले बराबर-बराबर दूरी पर तथा संयमिति रूप से दोहरी पर्त में बनाया होता तो यह संरचना भी ठीक छत्ते वाली मधुमक्खी के छत्ते जैसी होती। इस विचार के संबंध में मैंने कैम्ब्रिज के ज्यामितिशास्त्री प्रोफेसर मिलर को लिखा और उन्होंने मुझको निम्नलिखित वक्तव्य लिखकर भेजा जिसके विषय में उनकी राय है कि यह बिल्कुल सत्य है :

यदि कुछ बराबर गोले इस प्रकार खींचे जायँ कि उनके केन्द्र दो स्तरों में हों और प्रत्येक का केन्द्र चारों ओर के छः गोलों से अर्धव्यास $\times\sqrt{2}$ या अर्धव्यास $\times 1.41421$ या कुछ कम दूरी पर हों और फिर यदि दोनों स्तरों के अनेक गोलों की काटों के तल देखें जायँ तो छ पहले कोष्ठकों की दोहरी पर्त का निर्माण होगा जो एक-दूसरे से अपने आधारों के द्वारा जुड़े होंगे जो तीन-पहले होंगे। इस प्रकार की संरचना लगभग बिल्कुल ही मधुमक्खी के छत्ते की भाँति होगी। किन्तु प्रोफेसर वाइमन का कहना है कि अनेक नाप-जोखों के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मधुमक्खी की कार्यपटुता के विषय में बहुत अतिशयोक्ति की गयी है; कोष्ठक का प्रारूपिक रूप कुछ भी क्यों न मान लिया जाय, शायद ही कुछ कोष्ठक ठीक उस प्रकार के बनते हों।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि **मिलीपोना** की ही अद्भुत प्रवृत्ति थोड़ी और विकसित हो जाय, तो यह मक्खी भी वैसे ही अद्भुत तथा नियमित छत्ते निर्माण करने लग जायगी। हम को पहले यह मानना पड़ेगा कि **मिलीपोना** में बिल्कुल ही गोल तथा बराबर कोष्ठक बनाने की क्षमता है। चूँकि यह लगभग इस तरह के कोष्ठक ही बनाती है, इसलिए यह अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। साथ ही हम अनेक कीटों को गोल बिल बनाते देखते हैं। यदि **मिलीपोना** अपने रंभाकार कोष्ठकों के बजाय गोल कोष्ठक समतल रीति से सजाए, और साथ ही बहुत कठिन होते हुए भी यदि ये मक्खियाँ यह सही निर्णय कर सकें कि उनको अपने सहकारियों से कितनी दूरी पर, अर्थात् ठीक किस स्थान पर अपना निर्माण-कार्य करना चाहिए, तो स्पष्ट है कि वे कुशल छत्ते बना सकती हैं। और जहाँ तक दूरी तथा दिशा समझने का प्रश्न है, यह सामर्थ्य बहुत कठिन होते हुए भी बहुत हद तक **मिलीपोना** में उपस्थित है क्योंकि जिस

प्रकार के छत्ते वह बनाती है उसमें भी इस ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस तरह मेरे विचार में ऐसी ही प्रवृत्ति में थोड़े-बहुत परिवर्तन व विकास के फलस्वरूप प्राकृतिक निर्वाचन की सहायता से छत्ते की मधुमक्खी को ऐसी अद्भुत् निर्माण-शक्ति प्राप्त हुई है। मैं ऐसी प्रवृत्ति को पक्षी की घोंसला बनाने की प्रवृत्ति से बहुत अद्भुत् नहीं मानता।

इस सिद्धान्त की परीक्षा प्रयोगों द्वारा की जा सकती है। मि० टेगेटमियर के उदाहरण के अनुसार मैंने दोनों छत्तों को एक-दूसरे से अलग कर दिया और उनके बीच मोम की एक लंबी मोटी चौकोर पट्टी रख दी। फौरन मधुमक्खियों ने इसमें छोटे गोल गढ़े बनाना आरंभ कर दिया और जैसे-जैसे ये गढ़े गहरे होते गये, उन्होंने उनको चौड़ा भी कर दिया जिससे अन्त में वे नाँद के आकार के हो गये और किसी सुडौल गोले के भाग लगने लगे जिसका व्यास कोष्ठक के व्यास के बराबर हो। यह अवलोकन विशेषत: रोचक था कि हालांकि कई मक्खियों ने एक साथ अपना कार्य आरंभ किया था फिर भी वे सब एक-दूसरे से इतनी दूरी पर थीं कि गढ़ों की चौड़ाई ऊपर लिखी (अर्थात् कोष्ठक के बराबर), तथा गहराई कोष्ठक के व्यास के $\frac{1}{6}$ के बराबर पहुँचने पर उनके दायरे एक-दूसरे तक पहुँच गये। जैसे ही यह दशा उपस्थित हुई, मक्खियों ने खुदाई का काम रोक दिया और दायरे के ऊपर दीवार बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। अत: प्रत्येक छ-पहले कोष्ठक का निर्माण एक गढ़े की नींव पर हुआ, न कि साधारण कोष्ठकों के तीन-पहली पिरामिड जैसी दीवारों की नींव पर।

फिर मैंने छत्ते में मोम की मोटी, चौकोर तह रखने के बजाय कागज की तरह पतली सिंदूर से रँगी मोम रखी। तुरन्त उसके दोनों ओर मधुमक्खियों ने छोटे गढ़े पहले की ही तरह बनाना प्रारंभ किया किन्तु मोम की तह इतनी पतली थी कि यदि गढ़े उतने ही गहरे खोदे जाते जितने पहले के प्रयोग में तो उनमें छेद हो जाते। किन्तु मक्खियों ने यह नहीं होने दिया और ठीक समय में ही उन्होंने अपना काम बन्द कर दिया जिसके फलस्वरूप कुछ गहरे होने पर ही गढ़ों के तले छिछले हो गये। और जहाँ तक यह अंदाज लगाना संभव था, ये चिकने तले पतले लाल मोम के दूसरी ओर स्थिति गढ़ों के ठीक विपरीत थे। विपरीत गढ़ों के बीच कहीं-कहीं छ-पहले प्लेटों के छोटे-बड़े भाग, छूट गये थे, किन्तु सारी परिस्थिति कृत्रिम होने के कारण पूरा काम कुशलतापूर्वक पूरा नहीं हुआ था। संभवत: मधुमक्खियों ने लगभग इसी गति से गढ़ों के बनाने और मोम के कुतरने का काम मोम के दोनों ओर किया होगा जिससे दोनों ओर के गढ़े समान हों और विपरीत दिशा में उनका निर्माण हो।

अगर हम इस बात पर विचार करें कि पतली मोम कितनी लचीली होती है तो

मुझको इसमें कोई कठिनाई नहीं दिखलाई पड़ती कि मोम के दोनों ओर काम करते समय मधुमक्खियाँ ठीक गहराई तक मोम काटने के बाद अपना काम बन्द कर दें। साधारण छत्तों में मुझको ऐसा नहीं लगता कि मधुमक्खियाँ सदा विपरीत दिशा में एक ही गति से काम कर सकती हैं। क्योंकि मैंने बहुधा काम आरम्भ करने के कुछ ही देर बाद एक ओर अर्द्धनिर्मित कोष्ठिकाएँ देखीं जिसके एक ओर धरातल काफी उन्नत और दूसरी ओर अवनत था। मेरा अनुमान है कि एक ओर काम बड़ी तेजी से और दूसरी ओर धीमी गति से किया गया। एक दूसरे प्रयोग में मैंने इस कृत्रिम छत्ते को वापस रख दिया और कुछ समय तक मधुमक्खियों को उस पर काम करने दिया। फिर जब मैंने कोष्ठिकाओं की परीक्षा की तो देखा कि ये पूर्ण हो गयी हैं और उनको देखकर यह कहना असंभव था कि ये उन्नत दिशा से मोम को काटकर बनायी गयी होंगी। क्योंकि मोम इतनी पतली थी। मेरा अनुमान है कि ऐसी दशाओं में मक्खियाँ विपरीत दिशाओं में खड़ी होकर गरम, लचीली, मोम को दबा कर इच्छानुसार आकार बनाती हैं।

ऊपर लिखे लाल मोम के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि मधुमक्खियाँ अपने लिए मोम की एक पतली दीवार बना सकती हैं तो वह सुडौल कोष्ठिकाएँ भी बना सकती हैं जो एक-दूसरे से ठीक दूरी पर खड़ी होकर एक ही रीति से काम करके और बराबर नाप के गढ़े तैय्यार करके बहुत सुडौल रीति से बनायी जायँगी। किन्तु जैसा कि किसी भी छत्ते के किनारे की परीक्षा करके देखा जा सकता है, मधुमक्खियाँ छत्ते के चारों ओर एक ऊँची-नीची दीवार बनाती हैं और फिर विपरीत दिशाओं से गोलार्द्ध में कुतरती जाती हैं। वे एक साथ ही किसी कोष्ठिका के तिकोने तल का निर्माण नहीं करतीं बल्कि उसकी केवल एक या दो दीवारों का निर्माण करती हैं जो कि उस ओर स्थित होती हैं जिधर छत्ता बढ़ता होता है और जब तक पहली दीवारें पूरी नहीं बन जातीं तब तक यह तल पूरा नहीं होता। इनमें से मेरे कुछ अवलोकन ह्यूबर के वक्तव्यों से भिन्न हैं, किन्तु मुझको अपने अवलोकन के ठीक होने का विश्वास है, और यदि स्थानाभाव न होता तो मैं यह भी सिद्ध करता कि ये अवलोकन मेरे सिद्धान्तों के अनुकूल हैं।

ऊपर का यह कथन कि सर्वप्रथम कोष्ठक मोम की समानान्तर तलों वाली दीवार बनाने से तैयार होते हैं, मेरे अवलोकन के अनुसार सही नहीं है। क्योंकि यह क्रिया सदा मोम की एक दीवार के बनाने के साथ आरम्भ होती है। किन्तु मैं इस प्रश्न के विस्तार में नहीं जाऊँगा। हम देख चुके हैं कि खुदाई का एक भाग भी कोष्ठिका के निर्माण में कितना महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह अनुमान करना भी गलत होगा कि मधु-

मक्खियाँ ठीक स्थान पर मोम की साधारण दीवार नहीं बना सकतीं। मैंने ऐसे बहुत से उदाहरण देखे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वे ऐसा कर सकती हैं। बढ़ते हुए छत्ते के चारों ओर की दीवार में भी कभी-कभी ऐसे घुमाव देखे जा सकते हैं जो भविष्य में बनने वाली कोष्ठिकाओं के तलों के अनुसार होंगे। किन्तु मोम की इस टेढ़ी-मेढ़ी दीवार को प्रत्येक दशा में पूरी होना होगा और इसके लिए दोनों ओर से मोम में गढ़े बनाये जाएँगे। वास्तव में मधुमक्खियों के निर्माण की रीति विचित्र है। वे सदा पहली दीवारें अन्तिम दीवारों की अपेक्षा दस से बीस गुना मोटी बनाती हैं। यह समझने के लिए कि वे किस तरह काम करती हैं, हमको ऐसे राजगीरों की कल्पना करनी होगी जो पहले सीमेन्ट का बड़ा ढेर लगाते हैं और फिर उसको दोनों ओर से बराबरी से जमीन तक काटते जाते हैं जिससे अन्त में बड़ी पतली दीवार बन सकती है। बची हुई सीमेन्ट को वे सदा इकट्ठा करते जाते हैं और दीवार को ऊँची करने के लिए सदा सीमेन्ट रखते जाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ती हुई ऐसी दीवार बन जाती है, जिसके ऊपर की ओर सीमेन्ट लदी रहती है। नयी ढलती हुई, तथा पूर्ण निर्मित कोष्ठि-काओं में ऊपर की ओर इस तरह की मोम एकत्रित रहती है और मक्खियाँ ऊपर रेंग सकती हैं और एकत्र रहती हैं, जिससे भीतर की पतली दीवारें नहीं टूटतीं। प्रोफेसर मिलर ने मेरे लिए यह पता लगाया कि इन दीवारों की मोटाई बहुत भिन्न होती है और छत्ते के बाहर की ओर इनकी मोटाई १/३५२ इंच होती है, जब कि कोष्ठिकाओं के तल की ओर यह मोटाई लगभग ड्योढ़ी अर्थात् १/२३८ इंच होती है। निर्माण के इस अनोखे ढंग से मोम के कम-से-कम खर्च के साथ छत्ता अधिक-से-अधिक मजबूत बनता है।

यह देखकर कि छत्ते के निर्माण में ढेर-की-ढेर मक्खियाँ एक साथ काम करती हैं, पहले तो यह समझने में बड़ी कठिनाई होती है कि कोष्ठिकाओं का निर्माण कसे होता है। एक मधुमक्खी कुछ देर तक एक कोष्ठिका में काम करने के बाद दूसरे में चली जाती है अतः जैसा ह्यूबर का कहना है पहली कोष्ठिका के निर्माण के साथ प्रारम्भ में लगभग बीस मधुमक्खियाँ भाग लेती हैं। मैंने यह बात प्रायोगिक ढंग से इस तरह सिद्ध की कि छत्ते के किनारे की एक कोष्ठिका को लाल पिघले हुए मोम से बंद कर दिया। मैंने देखा कि उसका लाल रंग, मधुमक्खियों ने चारों ओर की कोष्ठिकाओं में ऐसी सूक्ष्म रीति से फैला दिया जैसे कोई कुशल कलाकार ब्रश की सहायता से फैला दे। ऐसा जान पड़ता है जैसे निर्माण का कार्य कई मधुमक्खियों के बीच एक विशेष प्रबन्ध के द्वारा होता है। मधुमक्खियाँ अपनी प्रवृत्ति के कारण एक-दूसरे से बराबर दूरी पर खड़ी होकर, बराबर गढ़े बनाती हैं और फिर उनके ऊपर दीवारों का निर्माण

करती हैं। कठिन अवसरों पर, जैसे कि दो छत्तों के कोण पर जोड़ने में, मक्खियों का प्रयत्न देखकर आश्चर्य होता है। वे बार-बार उसी छत्ते को बनाती और गिराती हैं, और कभी-कभी अन्त में छत्ता उसी प्रकार का होता है जैसा कि प्रारम्भ में था। जब मधुमक्खियों को कोई ऐसा स्थान मिल जाता है, जहाँ ठहरकर वे सुविधापूर्वक काम कर सकती हैं, जैसे किसी लकड़ी के टुकड़े पर जो कि छत्ते के बीच से लगा हो तथा उसका निर्माण लकड़ी के एक ही ओर करना हो, तो ऐसी अवस्था में मक्खियाँ नये षट्कोण की एक दीवार की नींव बिल्कुल ठीक स्थान पर अन्य पूरी बनी हुई कोष्ठिकाओं से उभरी हुई बनाएँगी। यही काफी है कि मधुमक्खियाँ एक-दूसरे से तथा पिछली बनी हुई कोष्ठिका से ठीक दूरी पर खड़ी हो सकें। और तब काल्पनिक गोले बनाकर वे दो अगल-बगल के गोलों के बीच दीवारें बनाती हैं। किन्तु जहाँ तक मैंने देखा है जब तक वे उस कोष्ठिका तथा उसके चारों ओर की कोष्ठिकाओं का निर्माण पूरा नहीं कर लेतीं तब तक कोष्ठिकाओं के कोणों को कुतर कर उनको पूरा नहीं करतीं। कुछ विशेष परिस्थितियों में, दो हाल में आरम्भ की हुई कोष्ठिकाओं के बीच में मोटी भद्दी दीवार बनाने की क्षमता मधुमक्खियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। और इसका प्रभाव ऊपर लिखे सिद्धान्त पर पड़ता है--अर्थात् यह कि बर्रे के छत्ते के बिल्कुल किनारे की कोष्ठिकाएँ बिल्कुल षट्कोण होती हैं। किन्तु इस विषय पर विचार करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। मुझको तो यह समझने में भी कोई विशेष कठिनाई नहीं जान पड़ती है कि कोई अकेला कीट ही यदि बारी-बारी से एक साथ से प्रारम्भ की गयी दो-तीन कोष्ठिकाओं के भीतर और बाहर काम करे तो सदा इन कोष्ठिकाओं के विभिन्न भागों से ठीक दूरी पर खड़े होकर गोले बनाकर अथवा बीच की दीवारें निर्माण करके ठीक षट्कोण कोष्ठिकाएँ कैसे बना सकता है।

चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन, संरचना अथवा प्रवृत्ति के सूक्ष्म अन्तरों के एकत्रीकरण के द्वारा कार्य करता है, और प्रत्येक अन्तर जीव को उसके जीवन की विशेष परिस्थितियों में लाभदायक होता है, अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि निर्माण सम्बन्धी प्रवृत्तियों का एक लम्बा क्रम, जिसकी प्रत्येक अवस्था संरचना की किसी विशेष योजना में सहायक हो, किस प्रकार मधुमक्खी के पूर्वजों के लिए लाभदायक होगा। मेरे विचार में इसका उत्तर कठिन नहीं है। मधुमक्खी अथवा बर्रे की कोष्ठकाएँ क्रमशः मजबूत होती हैं और उनके निर्माण में श्रम, स्थान, तथा सामान की बचत होती है। मोम की रचना के विषय में यह ज्ञात होगा कि बहुधा पर्याप्त मधु प्राप्त करने में मधुमक्खियों को कठिनाई होती है, और मिस्टर टेगेटनियर ने मुझको यह सूचना दी कि लगभग १ पौण्ड मोम बनाने में मधुमक्खियों के एक समाज को १२-१५ पौण्ड सूखी

चीनी की आवश्यकता होती है। स्पष्ट है कि छत्ते का निर्माण करने में तरल अवस्था में उनको मधु की बड़ी भारी मात्रा में आवश्यकता होगी। जाड़ों में बड़ी संख्या में मधु-मक्खियों को जीवित रखने के लिए बड़ी मात्रा में मधु संग्रह करके रखने की आवश्यकता होती है, और यह भली भाँति विदित है कि किसी छत्ते को बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि उसमें मधुमक्खियाँ काफी बड़ी संख्या में हों अतः मधुमक्खियों के किसी बड़े वंश की सफलता के लिए मोम की बचत आवश्यक है जिसके द्वारा मधु तथा मधु एकत्र करने के लिए समय की बचत होगी । हाँ, किसी जात की सफलता के लिए उसके शत्रुओं या परजीवियों की संख्या या अन्य कारणों का भी प्रभाव पड़ेगा इसलिए मधु की मात्रा का प्रभाव कम हो सकता है। किन्तु यह अनुमान करना ठीक ही होगा कि मधु एकत्र करने की शक्ति पर ही मधुमक्खियों की विशेष जात की संख्या निश्चित होगी। हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि चूँकि मधुमक्खियों का एक वंश जाड़ों में जीवित था, इसलिए उसने मधु की काफी मात्रा संग्रह कर रक्खी होगी। अतः यदि इसकी प्रवृत्ति में ऐसा कोई परिवर्तन हो जिसके द्वारा उसकी मोम की कोष्ठिकाएँ या सन्निकट कोष्ठिकाओं के बीच की दीवारें सामान्य हों तो श्रम तथा मोम की यह बचत इस मधुमक्खी के लिए सुविधाजनक होगी। **मिलिपोना** जाति के छत्तों की भाँति, जिसकी कोष्ठिकाएँ एक-दूसरे के बहुत निकट होकर एक समूह बनाती हैं, किसी भी छत्ते के निर्माण में मोम और मेहनत बहुत बचेगी। अब यदि मिलिकोना की कोष्ठिकाएँ वर्तमान कोष्ठिकाओं की अपेक्षा अधिक निकट और सुडौल बनें तो उनको अधिक सुविधा होगी क्योंकि तब कोष्ठिकाओं के गोल तलों के स्थान पर केवल चपटे तल बनने लगेंगे तथा कोष्ठिकाएँ षट्कोण हो जाएँगी। निर्माण की दक्षता की इस अवस्था के आगे प्राकृतिक निर्वाचन से कोई लाभ नहीं होगा। क्योंकि जहाँ तक हम समझ सकते हैं इस प्रकार के छत्ते श्रम तथा मोम की बचत की दृष्टि से परिपूर्ण हैं।

अतः मैं विश्वास करता हूँ कि सभी ज्ञात प्रवृत्तियों में सबसे अद्भुत प्रवृत्ति अर्थात् छत्ते की मधुमक्खी की प्रवृत्ति भी प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा समझी जा सकती है; और इसका विकास भी सरल प्रवृत्तियों में अनेक सूक्ष्म तथा लाभदायक आपरिवर्तनों के द्वारा हुआ है। प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा क्रमानुसार मधुमक्खियों की कोष्ठिकाएँ एक-दूसरे के बराबर-बराबर दूरी पर तथा सन्निकट होती जाती हैं। हाँ, जिस प्रकार मधुमक्खियाँ यह नहीं जानतीं कि कोष्ठिकाओं की दीवारों के बीच के कोण कितने अंशों के हैं, उसी प्रकार वे यह भी नहीं जानतीं कि वे अपने गोले एक-दूसरे से बराबर दूरी पर बना रही हैं या अलग-अलग दूरियों पर। इस प्रकार के प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया के पीछे जो चालक शक्ति काम करती है, वह है लार्वों के लिए मजबूत तथा

ठीक नाप और आकार की कोष्ठिकाओं का निर्माण और साथ-साथ इस कार्य में श्रम तथा मोम की अधिकतम बचत। जिन वंशों ने कम-से-कम मेहनत तथा कम-से-कम मोम तथा मधु के व्यय के बाद अच्छी-से-अच्छी कोष्ठिकाओं का निर्माण किया, उनको सबसे अधिक सफलता मिली और उन्होंने अपनी मितव्ययिता की प्रवृत्ति दूसरे वंशों को प्रदान की जिनको जीवन-संघर्ष में सफल होने के सबसे अधिक अवसर प्राप्त हुए।

प्रवृत्तियों के संदर्भ में प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्तियाँ : नपुंसक और वन्ध्य कीट

ऊपर दिये गये प्रवृत्तियों की व्युत्पत्ति के मत के विरुद्ध यह आपत्ति की गयी है कि "संरचना तथा प्रवृत्ति के परिवर्तन साथ-साथ ही तथा एक-दूसरे के प्रति अनुकूलित हुए होंगे, क्योंकि दो में से किसी एक में आपरिवर्तन हो और उससे दूसरे में परिवर्तन न हो तो यह विषमता जीव के लिए मृत्यु का कारण होगी।" इस आपत्ति का सारा जोर इस कल्पना पर आधारित है कि प्रवृत्ति तथा संरचना के परिवर्तन एकाएक होते हैं। पिछले अध्याय में हम टिटमाउस चिड़िया का उदाहरण ले चुके हैं। यह चिड़िया बहुधा 'यू' वृक्ष के बीज अपने पंजों में पकड़ती है और डाल पर रखकर इस पर अपनी चोंच से तब तक ठोकर मारती है जब तक गूदा निकल न आये। अब बताइये, कि उसकी चोंच के आकार के ऐसे वैयक्तिक अंतरों के प्राकृतिक निर्वाचनों द्वारा संरक्षण होने में क्या कठिनाई होगी, जिनके द्वारा बीजों को तोड़ना आसान होता जाये और अन्त में 'नटहैच' की जैसी चोंच का निर्माण हो जाये, जब कि साथ-ही-साथ स्वभाव मजबूरी अथवा स्वाद में एकाएक होने वाले अन्तरों के कारण चिड़ियाँ अधिकाधिक बीजभक्षी होती जाती हैं? इस उदाहरण में चोंच में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा होने वाले परिवर्तन स्वभाव अथवा रहन-सहन के परिवर्तनों के अनुसार तथा उनके बाद होते हैं। किन्तु मान लीजिए कि चोंच की वृद्धि के साथ-साथ, अथवा किसी अज्ञात कारण से 'टिटमाउस' के पंजे भी बढ़ते जायँ, तो यह असंभाव्य नहीं होगा कि पंजों के बड़े होने के कारण ही यह चिड़िया पेड़ों पर अधिकाधिक ऊँची चढ़ती जाय और अन्त में 'नटहैच' जैसी अद्‌भुत प्रवृत्ति और शक्ति प्राप्त करे। अतः इस उदाहरण में संरचना के क्रमिक आपरिवर्तन के फलस्वरूप स्वभाव में परिवर्तन हुए। एक और उदाहरण लीजिए। जिस प्रवृत्ति के कारण पूर्वी द्वीपों की अबाबील चिड़ियाँ अपने लार की सहायता से घोंसले तैयार करती हैं उससे अधिक अद्‌भुत प्रवृत्तियाँ कुछ ही होंगी। कुछ चिड़ियाँ मिट्टी के घोंसले बनाती हैं और उसको लार से गीला करती हैं और उत्तरी

अमेरिका की एक अबाबील तिनकों के घोंसले तैयार करती है जिनको वह लार से चिपकाती है। अतः यह बहुत संभव है कि अबाबीलों में ऐसी चिड़ियों का प्राकृतिक निर्वाचन होगा जो अधिकाधिक लार उत्पन्न करती हैं और अन्त में एक ऐसी जात का निर्माण हो जिसकी प्रवृत्ति ऐसी हो कि वह अन्य पदार्थों को छोड़ केवल अपनी लार से ही घोंसले तैयार करे। ऐसे ही अनेक उदाहरण होंगे। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि कई उदाहरणों में हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि पहले प्रवृत्ति में परिवर्तन हुए अथवा संरचना में ?

इसमें संदेह नहीं कि ऐसी कई जटिल प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा सकता है जो प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के प्रतिकूल जान पड़ती हैं। उदाहरणों में ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी उत्पत्ति के विषय में हम कुछ कह नहीं सकते; अथवा वे जिनके बीच की अवस्थाओं के विषय में हम अन्धकार में हैं; अथवा वे जो इतनी कम महत्व की हैं कि उन पर प्राकृतिक निर्वाचन का प्रभाव होना कठिन जान पड़ता है ; या वे जो वर्गीकरण की दृष्टि से बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के जन्तुओं में पायी जाती हैं और इसलिए ऐसे जीवों में उनका होना वंशागति के कारण नहीं हो सकता और इसलिए जिनके विषय में यह निश्चित है कि दोनों जीवों में उनका विकास अलग-अलग हुआ होगा। मैं यहाँ इन सभी उदाहरणों पर विचार न करके केवल एक ही कठिनाई के विषय में अपने को सीमित रखूँगा जिसका कोई उत्तर प्रारम्भ में मेरी समझ में नहीं आया और जिसको मैंने अपने सिद्धान्त के लिए घातक समझा था। मेरा तात्पर्य कीट-समाजों में नपुंसकों (neuters) तथा वन्ध्य मादाओं (Sterile females) के होने से है। बहुधा इन नपुंसकों की प्रवृत्ति तथा इनकी संरचना नरों तथा उर्वर मादाओं दोनों से ही भिन्न होती है। फिर भी वन्ध्य होने के कारण ये सन्तानोत्पादन नहीं करते।

इस विषय पर काफी विस्तार में विचार करना चाहिए। किन्तु यहाँ मैं केवल एक ही उदाहरण दूँगा और वह है श्रमिक तथा वन्ध्य चींटियों का। श्रमिक चींटियाँ किस प्रकार वन्ध्य हो गयीं, यह कहना कठिन अवश्य है, किन्तु इतना नहीं जितना संरचना संबंधी किसी अन्य आपरिवर्तन का समझना, क्योंकि यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्राकृतिक अवस्था में कुछ कीट तथा अन्य जन्तु कभी-कभी वन्ध्य हो जाते हैं, और यदि इस प्रकार के कीट सामाजिक होते तो समाज के लिए यह निश्चय ही लाभदायक होता कि प्रतिवर्ष इनकी कुछ सन्तानें ऐसी होतीं जो कामकाज कर सकतीं किन्तु सन्तानोत्पादन न कर सकतीं। इसलिए मुझको यह अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं दिखलाई पड़ती कि इस तरह के आपरिवर्तन, प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा हो जायँ। किन्तु

इस प्रारम्भिक कठिनाई को छोड़कर अब मैं आगे बढ़ता हूँ। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि श्रमिक चींटियाँ नरों तथा उर्वर मादाओं से संरचना में जैसे वक्ष तथा आँखों के आकार में, अथवा पंखों की उपस्थिति में तथा प्रवृत्ति में भिन्न होती हैं। जहाँ केवल प्रवृत्ति का सम्बन्ध है श्रमिकों तथा पूर्ण मादाओं के अन्तर का अधिक उपयुक्त उदाहरण मधुमक्खियों में मिलता है। यदि श्रमिक चींटी या कोई दूसरा नपुंसक कीट कोई साधारण प्राणी होता तो मैं बिना हिचकिचाहट के यह मान लेता कि उसके सभी लक्षण धीरे-धीरे प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा प्राप्त किये गये हैं; अर्थात् कुछ सदस्य कुछ सूक्ष्म उपयोगी आपरिवर्तनों के साथ उत्पन्न हुए और ये आपरिवर्तन संतानों को प्राप्त हुए; दूसरी पीढ़ियों की सन्तानों में प्रकट हुए, इनका निर्वाचन हुआ और इस प्रकार प्राकृतिक निर्वाचन होता गया। किन्तु श्रमिक चींटी एक ऐसा कीट है जो अपने माता-पिता से बहुत भिन्न तथा पूर्ण नपुंसक है। और इसलिए यह अपने अर्जित आपरिवर्तनों अथवा अपनी प्रवृत्तियों को दूसरी पीढ़ी में सन्तानोत्पादन द्वारा प्रदान नहीं कर सकता है। अतः यह पूछा ज़ा सकता है कि इस उदाहरण का प्राकृतिक निर्वाचन के साथ समीकरण कैसे हो सकता है।

सर्वप्रथम हमको यह याद रखना चाहिए कि हमारे पालतू तथा प्राकृतिक जीवों, दोनों में ही ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें अलग-अलग अवस्थाओं अथवा लिंगों से संबंध रखने वाले तरह-तरह के परिवर्तन होते हैं। न केवल हमको ऐसे ही अन्तर दिखाई पड़ते हैं जिनका सम्बन्ध किसी एक लिंगभेद से होता है, बल्कि एक काल विशेष से, जब कि उसके जननांग क्रियाशील रहते हैं। इस तरह के परिवर्तनों के उदाहरण हैं अनेक पक्षियों के जनन काल में पाये जानेवाले रंगीन पंख तथा नर सालमन मछली के कँटियादार जबड़े। गायों की कई नस्लों में बहुधा ऐसे नर पाये जाते हैं जिनकी सींगें कृत्रिम रूप से अधूरी होती हैं। कुछ नस्लों के बैलों की सींगें उसी नस्ल की गायों अथवा साँड़ों से, तथा अन्य नस्लों के बैलों के सींगों से बड़ी होती हैं। अतः मुझको कीट-समाज के कुछ सदस्यों से किसी भी लक्षण के सम्बन्धित हो जाने में कोई विशेष कठिनाई दिखाई नहीं पड़ती; कठिनाई होती है यह समझने में कि रचना के इस तरह सम्बन्धित परिवर्तन, प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा धीरे-धीरे संग्रहीत कैसे हुए हालांकि यह कठिनाई अजेय लगती है, किन्तु यदि इस बात पर ध्यान रखा जाय कि निर्वाचन का सिद्धान्त न केवल अलग-अलग सदस्यों पर बल्कि पूरे समाज पर लागू होता है, तो यह कठिनाई कम ही नहीं हो जाती वरन् इसका पूर्ण समाधान हो जाता है। पूरे समाज पर या कुल में निर्वाचन होने से भी आवश्यक परिणाम हो सकते हैं। गाय-बैल पालने वाले चाहते हैं कि उनके जानवरों का मांस तथा वसा एक-दूसरे में मिल जायँ। मान लीजिए कि

इस प्रकार के एक जानवर का वध हो जाता है फिर भी जानवर पालने वाले को इस बात का विश्वास है कि उसके ऐसे ही जानवर पुन: उसी माता-पिता से प्राप्त हो सकेंगे; और उसको सफलता होती है। वास्तव में निर्वाचन की शक्ति पर इतना भरोसा किया जा सकता है कि लम्बी सींग के बैलों की नस्ल, केवल इस बात पर ध्यान देने से तैयार की जा सकती है कि किन गायों और साँड़ों के सम्मिलन से लम्बी-से-लम्बी सींग के बैल उत्पन्न हो सकते हैं। फिर भी अकेला कोई बैल इस प्रकार की नस्ल नहीं पैदा कर सकता। अच्छा होगा कि यहाँ एक वास्तविक उदाहरण दिया जाय। मसिया वरलो के अनुसार 'स्टॉक' फूल की दोहरी तथा वर्षीय नस्ल को ठीक तरह से और काफी दिनों के निर्वाचन करने के फलस्वरूप, अधिकांश पौधे ऐसे उत्पन्न होते हैं जिनमें दोहरे तथा बिल्कुल ही वन्ध्य फूल निकलते हैं किन्तु उनमें कुछ इकहरे तथा उर्वर पौधे भी होते हैं। नस्ल, इन्हीं उर्वर पौधों के द्वारा ही आगे बढ़ती है, अत: इनकी तुलना उर्वर नर तथा मादा चींटियों से की जा सकती है, तथा दोहरे वन्ध्य पौधों की तुलना नपुंसक चींटियों से। स्टाँक की नस्लों की भाँति सामाजिक कीटों में भी निर्वाचन सदस्यों पर ही नहीं, बल्कि पूरे कुल पर लागू होता है और इसके फलस्वरूप नस्ल का विस्तार होता है। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज के कुछ सदस्यों की वन्ध्यता से सम्बन्धित संरचना तथा प्रवृत्ति के सूक्ष्म परिवर्तन सुविधाजनक सिद्ध हुए हैं। और इसलिए उर्वर नर और मादा सदस्य फलते-फूलते हैं तथा अपनी उर्वर संतानों को ऐसी प्रवृत्ति प्रदान करते हैं कि वे उसी तरह के आपरिवर्तनों के साथ वन्ध्य सदस्य उत्पन्न करें। यह क्रिया कई बार होगी और अन्त में उसी जात की उर्वर तथा वन्ध्य मादाओं के बीच ऐसे स्पष्ट अन्तर हो जाएँगे जैसा कि हम सामाजिक कीटों में देखते हैं। किन्तु अभी हम कठिनाई की पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचे हैं, और वह यह कि कई चीटियों के नपुंसक सदस्य केवल उर्वर नरों तथा मादाओं से नहीं, बल्कि आपस में भी बहुत भिन्न होते हैं, और यह भिन्नता इतनी अधिक होती है कि उनको दो या तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। ये वर्ग एक-दूसरे से क्रमिक रीति से नहीं मिलते बल्कि स्पष्टतया पृथक् होते हैं जैसे दो जातियाँ। **एसीटॉन** (Eciton) चीटियों में श्रमिक तथा सैनिक नपुंसक होते हैं जो जबड़ों की रचना तथा प्रवृत्तियों में एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। **क्रिप्टोसेरस** (Cryptocerus) में एक वर्ग के श्रमिक अपने शिर पर एक विचित्र प्रकार की ढाल रक्खे रहते हैं जिसका कार्य हमको विदित नहीं है। मेक्सिको के **मिरमीसोसिस्टस** (Myrmecocystus) में एक वर्णश्रमिक छत्ता कभी नहीं छोड़ते । इनको दूसरे वर्ण के श्रमिक आहार पहुँचाते हैं। और इनके उदर बहुत बड़े होते हैं और एक प्रकार का मधु उत्पन्न करते हैं जो एफ़िडों को प्राप्त होता है।

इनकी तुलना पालतू गायों से की जा सकती है। इनको हमारी यूरोपीय चींटियाँ बन्दी रखकर रक्षा करती हैं।

कुछ लोग यह सोचेंगे कि प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त में मेरा विश्वास बहुत अटल होने के ही कारण ऐसे अद्‌भुत तथा अकाट्य प्रमाणों के होते हुए भी मैं यह नहीं मानता कि इनसे हमारा सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। केवल एक वर्ण के नपुंसक कीटों वाले सरल उदाहरण में मैं यह दिखा चुका हूँ कि उनमें प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा ही नपुंसक तथा उर्वर वर्णों का भेद उत्पन्न हुआ है। साधारण परिवर्तनों की समता के आधार पर हम कह सकते हैं कि उनके क्रमिक, सूक्ष्म तथा लाभदायक परिवर्तन एक ही छत्ते के सभी नपुंसकों में नहीं उत्पन्न हुए, बल्कि केवल कुछ में, और अधिकाधिक नपुंसकों को उत्पन्न करने वाली मादाओं वाले समाजों के अति जीवन के फलस्वरूप अन्त में सभी नपुंसक एक प्रकार के हो गये। इस मत के अनुसार कभी-कभी एक ही छत्ते के नपुंसक कीटों में हमको क्रमिक अन्तर दिखाई पड़ना चाहिए। और यह बहुधा हम देखते हैं, बल्कि इस बात को ध्यान में रखते हुए कि यूरोप में बहुत थोड़ी नपुंसक चीटियों की ही परीक्षा की गयी है, यह कहना चाहिए कि इस तरह के उदाहरण बहुत हैं। मिस्टर एफ० स्मिथ ने यह दिखाया है कि कई ब्रिटिश चींटियों के नपुंसक एक-दूसरे से नाप तथा रंग में भिन्न होते हैं। और सबसे भिन्न सदस्य उसी छत्ते के अन्य सदस्यों से क्रमिक रीति से सम्बन्धित होते हैं। मैंने स्वयं इस प्रकार के पूर्ण क्रम देखे हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि बड़े या छोटे श्रमिक बहुत बड़ी संख्या में होते हैं और मध्यम नाप वाले बहुत थोड़े होते हैं। **फ़ारमिका फ्लावा** में छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार के श्रमिक होते हैं और कुछ थोड़े बीच के नाप के। इस जात में मिस्टर एफ० स्मिथ ने देखा कि बड़े श्रमिकों में छोटे किन्तु स्पष्ट सरल नेत्र होते हैं जो छोटे श्रमिकों में लगभग अनुपस्थित होते हैं। स्वयं विच्छेदन करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन छोटे श्रमिकों के सरल नेत्र शरीर के अनुपात में ही छोटे नहीं होते बल्कि बहुत अविकसित भी होते हैं। हालाँकि मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता, फिर भी मेरा विश्वास है कि बीच के नाप वाले श्रमिकों के नेत्र लगभग बीच की दशा में होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही छत्ते में दो प्रकार के श्रमिक पाये जाते हैं, जो केवल नाप में ही नहीं बल्कि दृष्टि के अंगों में भी भिन्न होते हैं; और फिर भी एक-दूसरे से एक माध्यमिक अवस्था से सम्बन्धित हैं। थोड़ा विषयान्तर करके मैं यहाँ लिखूँगा कि यदि समाज के लिए छोटे श्रमिक ही सबसे अधिक लाभदायक होते और उन्हीं नर तथा मादाओं का निर्वाचन होता है जो अधिकाधिक संख्या में छोटे श्रमिक उत्पन्न करते; जिसके फलस्वरूप अन्त में सभी श्रमिक इसी प्रकार के हो जाते तो चींटियों

की ऐसी जात उत्पन्न हो जाती जिसके श्रमिक **'मिरमिका'** के जैसे हो जाते। ध्यान रहे, यद्यपि इस जाति के नर तथा मादा में सुविकसित सरल नेत्र पाये जाते हैं किन्तु श्रमिकों में इनके अवशेष भी नहीं होते।

एक और उदाहरण लीजिए। एक ही जात के नपुंसकों के विभिन्न वर्णों के बीच की अवस्थाओं के विषय में मुझको इतना विश्वास है कि मैंने मिस्टर स्मिथ द्वारा दिये गये पश्चिमी अफ्रीका की **'अनोमा'** (Anomna) जाति की चींटी के एक ही छत्ते की अनेक चींटियों की परीक्षा करना स्वीकार किया। इसके श्रमिकों के बीच के अन्तर ठीक उसी प्रकार के थे जैसा हम किसी मकान का निर्माण करने वाले कारीगरों में देखने की आशा करेंगे। मान लीजिए कि इनमें से कुछ मजदूर ५ फीट ४ इंच और कुछ १६ फीट से ऊँचे हैं तथा इनमें से लम्बे कारीगरों के शिर, छोटे कारीगरों की अपेक्षा चौगुना बड़े और जबड़े पाँच गुना बड़े हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिक चींटियों के विभिन्न किस्मों के जबड़े अलग-अलग नाप और आकार के होते हैं तथा उनमें दोनों की संख्या अलग-अलग होती है। हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि हालाँकि श्रमिकों को अलग-अलग नापों के विभिन्न गणों में विभाजित किया जा सकता है, किन्तु उनके जबड़ों के आकार की भाँति, ये गण एक-दूसरे में मिल जाते हैं। मैंने इन गणों के जबड़ों का विच्छेदन किया और सर जे० लूबक ने मेरे लिए चित्र बनाये जिनके आधार पर निश्चयपूर्वक मैं ऊपर लिखी बात कह सकता हूँ। अपनी रोचक पुस्तक **"अमेजन नदियों पर एक प्रकृतिवादी के अवलोकन"** में **मिस्टर थेट्स** ने ऐसे ही उदाहरणों का उल्लेख किया है।

इन तथ्यों के आधार पर मैं विश्वास करता हूँ कि उर्वर चींटियों अथवा माता-पिता पर क्रिया करके प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा ऐसी जात का निर्माण हो सकता है जिसमें नियमित रूप से ऐसे नपुंसक उत्पन्न होंगे; जो बड़े तथा एक ही प्रकार के जबड़े वाले होंगे अथवा छोटे तथा कई प्रकार के जबड़े वाले होंगे अथवा—और यह सबसे कठिन उदाहरण है—जिसमें कुछ श्रमिक एक नाप और आकार के होंगे और कुछ किसी दूसरे आकार के और उनके बीच 'अनोमा' चींटियों की तरह का एक क्रम बन सकेगा जिसके एक छोर पर अधिकाधिक संख्या में उत्पन्न होने वाले गण होंगे।

इसी प्रकार मलाया की कुछ तितलियों का उदाहरण दिया जा सकता है जिनकी मादाएँ नियमित रूप से दो-तीन प्रकार की होती हैं। **मिस्टर वालेस** ने इसका मिलता-जलता स्पष्टीकरण दिया है। कुछ ब्राजील के क्रस्टेशिया में नर दो अलग-अलग रूप के होते हैं। **फ्रिट्ज मुलर** ने इसी प्रकार उसका स्पष्टीकरण किया है। किन्तु यहाँ इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। ऊपर मैंने यह बताया है कि मेरे विश्वास के अनुसार एक ही छत्ते में नपुंसक श्रमिकों के दो पृथक् और भिन्न गणों की

उत्पत्ति कैसे हुई ; जो संरचना तथा आचरण में एक दूसरे तथा माता-पिता से भिन्न होते हैं। हम देखते हैं कि उनकी उत्पत्ति चींटियों के समाज के लिए उसी सिद्धान्त पर लाभदायक है जिस सिद्धान्त पर मनुष्य के समाज में श्रम का विभाजन है। किन्तु चींटियाँ वंशागत प्रवृत्तियों तथा वंशागत अंगों अथवा अस्त्रों से काम लेती हैं, जब कि मनुष्य अपने अर्जित ज्ञान और स्वयं निर्मित अस्त्रों से। फिर भी मुझको यह मानना पड़ेगा कि जब तक मैंने नपुंसक कीटों का अध्ययन नहीं किया था, तब तक प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास होने पर भी मुझको यह आशा न थी कि यह सिद्धान्त इस हद तक उपयोगी और पूर्ण सिद्ध हो सकेगा। इसीलिए मैंने इस उदाहरण पर कुछ विस्तार में यहाँ पर विचार किया है क्योंकि इससे प्राकृतिक निर्वाचन की शक्ति सिद्ध होती है और साथ-ही-साथ इसलिए भी कि अभी तक मेरे मत को जितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है उनमें यही सबसे अधिक गंभीर है। साथ ही यह बात बड़ी रोचक है क्योंकि यह सिद्ध करती है कि जन्तुओं तथा पौधों में आपरिवर्तन की कितनी ही मात्रा सूक्ष्म तथा किसी प्रकार उपयोगी परिवर्तनों के एकत्रीकरण से, बिना अभ्यास अथवा रहन-सहन की सहायता के हो सकती है। रहन-सहन या अभ्यास के कारण श्रमिक अथवा वन्ध्य मादाओं में कोई विचित्र क्रिया कितने ही काल तक क्यों न की हो, उससे नर अथवा उर्वर मादाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और इन्हीं की सन्तानें होती हैं। मुझको आश्चर्य है कि अभी तक किसी ने नपुंसक कीटों के उदाहरणों को लैमार्क के सुविख्यात **'आदतों की वंशागति के सिद्धान्त'** के विरुद्ध क्यों नहीं उपयोग किया ?

सारांश

इस अध्याय में मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हमारे पालतू जन्तुओं के मानसिक गुण एक-दूसरे से भिन्न होते हैं और ये भिन्नताएँ वंशागत होती हैं। और इससे भी संक्षेप में मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राकृतिक अवस्थाओं में, प्रवृत्तियों में भी थोड़ा परिवर्तन होता है। इस बात में किसी को आपत्ति न होगी कि प्रत्येक जीव के लिए प्रवृत्तियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं। अतः जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में, किसी मात्रा में, किसी प्रकार उपयोगी प्रवृत्तियों के सूक्ष्म परिवर्तनों के प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा एकत्रीकरण में विश्वास करने में कोई वास्तविक कठिनाई न होगी। संभवतः कई उदाहरणों में स्वभाव, उपयोग तथा अनुपयोग का भी प्रभाव रहा है। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि इस अध्याय में दिये गये तथ्यों के द्वारा मेरे सिद्धान्त की कुछ विशेष पुष्टि होती है; किन्तु ये कठिनाइयाँ, जहाँ तक मैं समझता हूँ, मेरे

मत के लिए घातक नहीं हैं। दूसरी ओर यह बात कि प्रवृत्तियाँ सदा सम्पूर्ण नहीं होतीं और उनमें भी त्रुटियाँ हो सकती हैं अथवा यह कि ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है जिसकी उत्पत्ति दूसरे जन्तुओं के लाभ के लिए हुई हो यद्यपि कई जन्तु दूसरे जन्तुओं की प्रवृत्तिओं से लाभ उठाते हैं तथा प्रकृतिशास्त्र का यह सिद्धान्त कि 'प्रकृति में **उत्प्लवन नहीं होता'** (Natura non facit saltum) शारीरिक संरचनाओं तथा प्रवृत्तियों दोनों पर ही लागू हों और केवल ऊपर लिखे मत से ही इनका स्पष्टीकरण होता है—यह सब बातें प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त का समर्थन करती हैं।

इस सिद्धान्त की पुष्टि प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ अन्य बातों से भी होती है जैसे कि मिलती-जुलती किन्तु स्पष्ट तथा संसार के विभिन्न भागों में पायी जाने वाली और अलग-अलग परिस्थितियों में रहने वाली जातियों में समान्य प्रवृत्तियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए वंशागति के सिद्धान्तों के आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि क्यों उष्ण दक्षिणी अमेरिका की बुलबुल (थ्रश) ब्रिटिश बुलबुल की ही भाँति अपने घोंसलों को भीतर से मिट्टी से आस्तरित करती है; या कैसे अफ्रीका तथा भारत दोनों के 'हार्नबिल' पक्षी अपनी मादाओं को पेड़ों की खोह में रखकर बन्द कर देते हैं और एक छेद से नर अपनी मादा तथा बच्चों को आहार पहुँचाते हैं; या कैसे उत्तरी अमेरिका की नर 'रेन' (Wron) चिड़िया, ट्रोग्लोडाइटीज (Troglodytes) चिड़िया, बाँग देने के लिए नर 'किटी-रेन' (Kitty-wren) की भाँति घोंसले बनाती है, जब कि यह आदत अन्य किसी पक्षी में नहीं पायी जाती है। अन्त में चाहे यह निष्कर्ष तर्कानुसार न हो, किन्तु मेरे विचार में यह समझना ही ठीक है कि कोयल का कौए के बच्चों को घोंसले से ढकेलना या चींटियों का दास बनाना या इक्न्यूमानिडी (Ichneumonidae) के लार्वा का अन्य कीटों के लार्वा के शरीर में निवास करना आदि-आदि प्रवृत्तियाँ जन्तुओं में विशेष गुणों की सृष्टि के कारण नहीं हैं, बल्कि प्रकृति के एक ही नियम के छोटे-मोटे परिणाम हैं जिनके फलस्वरूप जीवों में प्रगति होती है—अर्थात् प्रगुणन, परिवर्तन तथा सबसे शक्तिवान को जीवित रहने देना तथा दुर्बलों का विनाश।

अध्याय नौ

संकरता

प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों की वन्ध्यता में भेद—वन्ध्यता सम्पूर्ण नहीं होती, बल्कि विभिन्न अंगों की होती है; इस पर निकट परस्पर-संकरण का प्रभाव पड़ता है तथा यह पालतू बनाने की क्रिया से दूर की जा सकती है—प्रसंकरों की वन्ध्यता पर नियंत्रण रखने वाले नियम—वन्ध्यता कोई विशेष गुण नहीं है, बल्कि अन्य परिवर्तनों के कारण होती है तथा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उसका एकत्रीकरण नहीं होता—प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों की वन्ध्यता के कारण—जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों तथा संकरण के प्रभावों की समानता—द्विरूपता तथा त्रिरूपता—भेदों के संकरण और इस प्रकार उत्पन्न हुई संतानों से सदा उर्वरता नहीं बढ़ती—उर्वरता के अतिरिक्त अन्य लक्षणों और जातों तथा भेदों के संकरण से उत्पन्न संतानों की तुलना—सारांश।

साधारणतः प्रकृतिवादियों का मत है कि जातों के परस्पर संकरण से विशेष रूप से वन्ध्य संतानें उत्पन्न होती हैं और इस प्रकार उनके बीच मिश्रण नहीं होता। प्रारम्भ में यह मत ठीक जान पड़ता है क्योंकि यदि साथ-साथ रहनेवाली जातों में आसानी से संकरण संभव होगा तो स्पष्ट है कि वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह पाएँगी। यह विषय हमारे लिए कई प्रकार से महत्वपूर्ण है, विशेषकर इसलिए कि प्रथम बार संकरण होने पर जातों की वन्ध्यता तथा उनकी प्रसंकर संतानों में वन्ध्यता सूक्ष्म अव-स्थाओं के द्वारा नहीं उत्पन्न हो सकती। आगे चलकर मैं इस बात को सिद्ध करूँगा। वास्तव में यह वन्ध्यता संकरण करने वाली जातों के जनन संस्थानों की परस्पर भिन्नताओं के अनेक परिणामों में से एक है।

इस विषय पर विचार करने में बहुधा एक-दूसरे से असाधारण रूप से दो तथ्यों को मिला दिया गया है—अर्थात् प्रथम बार संकरण होने पर जातों की वन्ध्यता तथा इस प्रकार उत्पन्न प्रसंकरों की वन्ध्यता।

यद्यपि अधिकांश विशुद्ध जातों के जननांग स्वस्थ दशा में रहते हैं, पर अन्तः-संकरण होने पर वे संतान नहीं उत्पन्न करते, या बहुत कम संतानें उत्पन्न करते हैं।

इसके विपरीत प्रसंकरों के जननांग कायिकी की दृष्टि से बिल्कुल व्यर्थ होते हैं। यह बात पौधों, तथा जन्तुओं दोनों के ही नरों में देखी जा सकती है। फिर भी जहाँ तक सूक्ष्मदर्शी यंत्र से देखा जा सकता है संरचना की दृष्टि से वे बिल्कुल ही पूर्ण होते हैं। पहली दशा में, अर्थात् जातों के संकरण में भ्रूण का निर्माण करने वाले लैंगिक तत्व पूर्ण होते हैं; दूसरी दशा में, अर्थात् प्रसंकर संतानों में या तो उनका निर्माण बिल्कुल ही नहीं होता, या अपूर्ण होता है। यह अन्तर बहुत महत्वपूर्ण है, विशेषतः जब हम दोनों की वन्ध्यता के कारण जानने का प्रयत्न करते हैं। कदाचित् चूँकि दोनों दशाओं में वन्ध्यता को एक ऐसा गुण मान लिया गया है जो हमारी समझ के बाहर है, इसलिए इस अन्तर पर ध्यान नहीं दिया गया है।

मेरे मत के अनुसार भेदों का संकरण करने पर उनकी उर्वरता और इस तरह उत्पन्न होने वाली संतानों की उर्वरता जातों की वन्ध्यता के समान ही महत्वपूर्ण है। भेदों को सामान्य पूर्वजों से उत्पन्न हुआ माना जाता है। विशेष महत्व की बात यह है कि इसी अन्तर के आधार पर जातों तथा भेदों के बीच विभेद किया जाता है।

वन्ध्यता की अवस्थाएँ

सर्वप्रथम हम जातों के संकरण से उत्पन्न वन्ध्यता तथा उनकी प्रसंकर संतानों की वन्ध्यता पर विचार करेंगे। **कोलरायटर** (Kolreuter) तथा **गार्टनर** (Gartner) जैसे प्रशंसनीय वैज्ञानिकों की अनेक पुस्तकों तथा लेखों के अध्ययन करने पर जिन्होंने अपना सारा जीवन इस विषय पर खोज करने में व्यतीत किया है, कोई भी व्यक्ति निश्चय ही इस बात से प्रभावित होगा कि थोड़ी-बहुत वन्ध्यता काफी व्यापक है। कोलरायटर तो इस नियम को सर्वव्यापी मानते हैं, लेकिन बाद में वे स्वयं ही दस ऐसे उदाहरण देते हैं जिनको पहले अधिकांश लेखक पृथक् जाति मानते थे, लेकिन वे स्वयं उनको केवल भेद का स्तर देते हैं। गार्टनर भी इस नियम को उतना ही सर्वव्यापी समझते हैं और वे कोलरायटर द्वारा दिये गये दस जातों की उर्वरता में विश्वास नहीं करते। किन्तु वे स्वयं इन उदाहरणों में तथा कुछ अन्य उदाहरणों में बीजों की संख्या के आधार पर वन्ध्यता की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर विचार करते हैं। वे मूल जातों में बीजों की संख्या के औसत की तुलना उनके प्रसंकर संतानों के बीजों की अधिकतम संख्या से तथा पुनः उनके संतानों के अधिकतम बीजों की संख्या से करते हैं। किन्तु यहाँ उनसे एक बड़ी भूल हो जाती है। किसी पौधे का संकरण करने के लिए उसके जननांग नष्ट कर देना चाहिए और उसको अन्य पौधों से बिल्कुल पृथक् कर देना चाहिए जिससे कीटों द्वारा अन्य पौधों के परागकणों से उसका संकरण न हो

सके। गार्टनर के प्रयोग के लगभग सभी पौधे गमलों में लगाये गये थे और उसके घर के एक ही कमरे में रखे थे। इसमें संदेह नहीं कि इन कारणों से बहुधा पौधों की उर्वरता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। स्वयं गार्टनर अपनी सारणी में बीस से ऊपर पौधों के ऐसे उदाहरण देते हैं जिनमें जननांगों को नष्ट करने पर तथा स्वयं-संसेचन करने पर, इन बीस पौधों में से आधे में कुछ अंश तक उर्वरता पायी गयी थी। इन उदाहरणों में दालों के पौधे, अर्थात् लिग्युमिनोसी (Leguminosae) वंश के पौधे सम्मिलित नहीं थे क्योंकि इनमें इस प्रकार के प्रयोग करना बहुत कठिन होता है। इसके अतिरिक्त गार्टनर ने बारम्बार कुछ पौधों का, जैसे साधारण लाल तथा नीले 'पिम्परनेल' (**एनागालिस आरवेन्सिस तथा सीरूलिया**) का संकरण किया। इन पौधों को अच्छे वनस्पतिशास्त्री भेद का ही स्तर देते हैं, किन्तु गार्टनर ने अपने प्रयोगों में उनको भी वन्ध्य पाया, जिससे यह संदेह होता है कि कदाचित् जातों की वन्ध्यता के संबंध में भी उसके निष्कर्ष बहुत विश्वसनीय नहीं हैं।

एक ओर यह निश्चित है कि संकरण करने पर कई जातों में उत्पन्न होने वाली वन्ध्यता कभी कम और कभी अधिक हो सकती है; दूसरी ओर यह भी निश्चित है कि शुद्ध जातों की उर्वरता अनेक कारणों से प्रभावित होती है। अतः यह कहना बहुत ही कठिन है कि पूर्ण उर्वरता का अंत तथा वन्ध्यता का आरंभ किस स्थान पर होता है। इस बात का मेरे विचार में सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस क्षेत्र के दो सबसे महान् काम करने वाले, अर्थात् कोलरायटर तथा गार्टनर उन्हीं जातों के संबंध में बिल्कुल विपरीत पहुँचे। हालाँकि, मेरे पास विस्तार में विचार करने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है, फिर भी कुशल वनस्पतिशास्त्रियों द्वारा दिये गये उन प्रमाणों पर विचार करना उपयोगी होगा, जिनसे यह निर्णय किया जा सके कि कुछ पौधों को भेद माना जाय या जात। साथ ही संकरण संबंधी प्रयोगकर्ताओं के द्वारा वन्ध्यता के क्षेत्र से दिये गये प्रमाणों तथा कई वर्षों में किये गये प्रयोगों से भी इन प्रमाणों की तुलना करनी चाहिए। और तब हम यह देखेंगे कि वन्ध्यता अथवा उर्वरता के द्वारा जातों के बीच कोई निश्चित अन्तर नहीं किया जा सकता। वास्तव में इन सूत्रों से मिलने वाले प्रमाण क्रमानुसार कम ही होते जाते हैं। इसलिए ये भी उतने ही संदेहजनक हैं जितने संरचना अथवा गठन से संबंध रखने वाले परिवर्तनों के प्रमाण होंगे।

अनेक पीढ़ियों में प्रसंकरों की वन्ध्यता के विषय में गार्टनर ने देखा कि हालाँकि कुछ उदाहरणों में वे सफलतापूर्वक सन्तानोत्पादन करा सके और उनको विशुद्ध जातों के संकरण से बचाते हुए भी छः-सात (और एक उदाहरण में दस) पीढ़ियों तक सन्तानोत्पत्ति कराते रहे, तथापि उनका विश्वास है कि उनकी उर्वरता बढ़ती नहीं, बल्कि

साधारणतः एकाएक बहुत घट जाती है। इस घटाव के संबंध में पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जब संरचना अथवा गठन के विषय में माता-पिता दोनों में कोई असाधारण परिवर्तन उत्पन्न होता है, तो बहुधा वह सन्तानों में और भी बढ़ी हुई दशा में दिखाई पड़ता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रसंकर पौधों में नर तथा मादा दोनों तत्व कुछ हद तक पहले से प्रभावित रहते हैं। फिर भी मेरा विश्वास है कि लग-भग इन सभी उदाहरणों में उर्वरता की कमी किसी स्वतंत्र कारण से होती है—और वह है बहुत निकट अन्तःसंकरण। मैंने ऐसे अनेक प्रयोग किये हैं और ऐसे तथ्य एकत्रित किये हैं; जिनसे एक ओर यह सिद्ध होता है कि कभी-कभी किसी विशेष जीव अथवा भेद के साथ संकरण होने पर सन्तान की शक्ति तथा उर्वरता बढ़ती है और दूसरी ओर यह सिद्ध होता है कि अधिक अन्तःसंकरण करने पर उर्वरता तथा शक्ति दोनों का ह्रास होता है। मुझको इन निष्कर्षों की सत्यता में कोई सन्देह नहीं है। प्रयोग करने वाले शायद ही कभी प्रसंकरों को बड़ी संख्या में उत्पन्न करते हों, और चूँकि अन्य मिलते-जुलते प्रसंकर तथा मूल पौधे साधारणतः एक ही उद्यान में उत्पन्न किये जाते हैं, इस-लिए पुष्पोत्पादन के मौसम में कीटों से उनकी विशेष रक्षा की जानी चाहिए। अतः बहुधा प्रसंकरों में उसी पुष्प से संसेचन होगा; और ऐसी अवस्था में उनकी उर्वरता, जो पहले से ही उनके प्रसंकर होने के कारण कम थी, और भी कम हो जायगी। मेरे इस मत की पुष्टि गार्टनर के एक वक्तव्य से विशेष रूप से होती है। वे कहते हैं कि यदि कम उर्वर प्रसंकरों को भी कृत्रिम रीति से उसी भेद के प्रसंकर परागकणों द्वारा संसेचित किया जाय, तो प्रयोग की अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी बहुधा उनकी उर्वरता कुछ हद तक निश्चय ही बढ़ती जाती है। मैं अपने अनुभव से यह कह सकता हूँ कि कृत्रिम संसेचन की क्रिया में परागकण अन्य पुष्पों के परागकेसरों से तो अवश्य ही लिये जाते हैं, बहुधा जिस पुष्प को संसेचित करना होता है, उससे भी ये आ जाते हैं। ऐसी दशा में एक ही पौधे पर स्थित दो पुष्पों के बीच संकरण हो जायगा। इसके अति-रिक्त प्रयोगों के जटिल होने पर गार्टनर जैसा कुशल प्रयोगकर्ता अपने प्रसंकर पुष्पों के जननांग नष्ट कर देगा। ऐसी दशा में निश्चय ही प्रत्येक पीढ़ी में दूसरे पुष्पों के साथ संकरण होगा, चाहे ऐसे पुष्प उसी पौधे के हों, अथवा अन्य पौधों के। इस तरह मेरे विचार में स्वतः होने वाले स्वयं संसेचन की अपेक्षा कृत्रिम संसेचन करने पर प्रसंकर में उर्वरता की वृद्धि होने का मुख्य कारण यह है कि उसमें अन्तःसंकरण बहुत निकट नहीं होने पाता।

आइये, अब हम एक तीसरे अत्यन्त अनुभवी संकरणकर्ता **आनरेबल डब्लू० हरबर्ट** के निष्कर्षों पर विचार करें। जितना ही कोलरायटर तथा गार्टनर का दृढ़ विश्वास

है कि पृथक् जातों के बीच संकरण होने पर कुछ अंश तक वन्ध्यता का उत्पन्न होना अनिवार्य है, उतना ही हरबर्ट का यह दृढ़ विश्वास है कि कुछ प्रसंकर पूर्णतया उर्वर होते हैं, अर्थात् वे मूल जातों के बराबर उर्वर हैं। उसने गार्टनर द्वारा प्रयोग की गयी जातों में से कुछ पर अपने प्रयोग भी किये। मेरे विचार में कुछ हद तक उनके निष्कर्षों में अन्तर होने का कारण यह है कि हरबर्ट में प्रयोग संबंधी दक्षता तो अधिक थी ही, उनके पास पौधों के पालने के लिए काँच के घरों की भी सुविधा थी। उनके कई महत्वपूर्ण वक्तव्यों में से मैं उदाहरण के रूप में यहाँ केवल एक ही देता हूँ। उन्होंने कहा कि **क्राइनम कैपेन्सि के क्रा० रिवोलूटम** के द्वारा संकरित करने पर फली के प्रत्येक बीज से एक पौधा उत्पन्न होगा, ऐसा मैंने प्राकृतिक उत्पादन में कभी नहीं देखा। इस उदाहरण में दो विभिन्न जातों के प्रथम संकरण के फलस्वरूप हम पूर्ण अथवा साधारण से अधिक उर्वरता देखते हैं।

क्राइनम के इस उदाहरण से मुझको एक दूसरी ही अद्‌भुत बात का ध्यान होता है कि **लोबीलिया बर्बेस्कम** तथा **पैसीफ्लोरा** की कुछ जातों के कुछ पौधे अन्य जातों के परागकणों से संसेचित हो जाते हैं, जबकि उसी पौधे के परागकणों से वे नहीं संसेचित होते यद्यपि ये परागकण पूर्णतया उर्वर हैं और दूसरी जातों अथवा दूसरे पौधों को सफलतापूर्वक संसेचित करते हैं। **प्रो० हिल्डेब्रैन** ने **कार्डिसेलिस** में, स्काट तथा फ्रिट्ज मूलर ने अनेक आरकिडों में तथा **हिप्पीऐस्ट्रम** की अनेक जातों में लगभग सभी पौधे ऐसी ही दशा में देखे। अतः हम कह सकते हैं कि कुछ जातों में कुछ असामान्य पौधे तथा कुछ जातों के सभी पौधे दूसरी जातों के द्वारा अधिक आसानी से संसेचित हो सकते हैं जब कि उसी पौधे के परागकणों के द्वारा उनका संसेचन नहीं हो सकता। हरबर्ट द्वारा दिये गये अनेक उदाहरणों में से मैं एक लेता हूँ। **हिप्पीऐस्ट्रम आलिकम** के एक पौधे में चार फूल उत्पन्न हुए। इनमें से तीन में स्वयं संसेचन किया गया और चौथे फूल का संसेचन तीन जातों के संकरण से उत्पन्न हुए संयुक्त प्रसंकर के परागकण से किया गया। अवलोकन इस प्रकार रहा: "पहले तीन फूलों के गर्भाशय की वृद्धि रुक गयी और कुछ दिनों में वे नष्ट हो गये और प्रसंकर के परागकणों द्वारा संसेचित पुष्पों में फल की वृद्धि तेजी से हुई। उसमें अच्छे बीजों का निर्माण हुआ तथा उनसे नये पौधे उत्पन्न हुए। हरबर्ट ने इस प्रकार के प्रयोग कई वर्षों तक किये और सदा वे उन्हीं नतीजों पर पहुँचे। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि पौधों की उर्वरता की कमी अथवा वृद्धि अत्यन्त सूक्ष्म तथा जटिल कारणों पर आधारित है।

हालाँकि मालियों द्वारा किये गये प्रयोगों में वैज्ञानिक दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ होंगी, फिर भी ये प्रयोग विचार करने योग्य हैं। सभी जानते हैं कि **पेलार्गोनियम,**

फुक्सिया, कैल्सियोलेरिया, पिथूनिया, रोडोडेन्ड्रान आदि किन जटिल विधियों से संकलित किये गये हैं। फिर भी इनमें भली-भाँति बीज उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए हरबर्ट का कहना है कि यद्यपि **कैल्सियोलेरिया इन्टेग्रिफोलिया** तथा **प्लाटा-जिनिया** जातें एक-दूसरे से साधारण स्वभाव में बहुत भिन्न होती हैं, फिर भी उनके प्रसंकर ऐसी भली-भाँति उत्पादन करते हैं जैसे चिली के पहाड़ों की कोई प्राकृतिक जात करेगी। मैंने **रोडोडेन्ड्रोन** के जटिल प्रसंकरों की उर्वरता का पता लगाने का काफी प्रयत्न किया है और मेरा यह विश्वास है कि इनमें से कई पूर्णतया उर्वर हैं। उदाहरण के लिए **मि० सी० नोब्ल** का कहना है कि **रो० पान्टिकम** तथा **रो० कैटावियेन्सि** के प्रसंकर के बीजों से कलम बाँधने के लिए पौधे तैयार करते हैं और उनमें अत्यधिक मात्रा में बीज उत्पन्न होते हैं। यदि उचित दशाओं में भी प्रसंकरों की उर्वरता प्रत्येक पीढ़ी में कम ही होती जाती है (जैसा गार्टनर का विश्वास है), तो यह बात मालियों से छिपी न रहती। माली बहुधा एक ही प्रसंकर की बड़ी-बड़ी क्यारियाँ तैयार करते हैं, और चूँकि उनमें कीटों के द्वारा पौधों के बीच संकरण होता रहता है, अतः निकट अन्तः-संकरण के बुरे प्रभाव दूर होते रहते हैं, और इसलिए यही उनके रखने की उचित विधि है। इस विषय में कीटों के महत्व की परीक्षा करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि प्रसंकर रोडोडेन्ड्रान के अधिकतर वन्ध्य भेदों के ऐसे फूलों की परीक्षा की जाय, जिनमें परागकण उत्पन्न नहीं होते। हम देखेंगे कि उनके गर्भकेसर पर अन्य पुष्पों से लाये गये परागकणों का ढेर जमा है।

वनस्पतियों की अपेक्षा जन्तुओं में संकरण-संबंधी प्रयोग बहुत कम हुए हैं। यदि हमारा जन्तुओं का वर्गीकरण विश्वसनीय हो, अर्थात् यदि जन्तुओं की जातियाँ भी वन-स्पति की जातियों की भाँति एक-दूसरे से पृथक् हैं, तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रकृति में एक-दूसरे से अधिक दूर के जन्तुओं में पौधों की अपेक्षा अधिक आसानी से संकरण किया जा सकता है। किन्तु मेरे विचार में स्वयं प्रसंकर अधिक वन्ध्य होते हैं। फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि चूँकि पालतूपन की परिस्थिति में बहुत थोड़े से जानवरों का ही पालन किया जा सकता है, इसलिए सही रीति से बहुत कम प्रयोग किये गये हैं। उदाहरण के लिए कनारी पक्षी का संकरण **फिंचों** (Finches) की नौ जातों के साथ किया गया है। किन्तु चूँकि इनमें से एक भी पालतू दशा में अंडे नहीं देती, इसलिए कोई कारण नहीं कि हम यह आशा करें कि फिंच और कनारी के प्रथम संकरण की संतानें उर्वर होंगी। इसी प्रकार अधिक उर्वर प्रसंकर जन्तुओं की कई पीढ़ियों की उर्वरता के विषय में मैं एक भी ऐसा उदाहरण नहीं जानता जिसमें एक ही प्रसंकर से अलग-अलग माता-पिता के द्वारा दो पृथक् वंश बढ़ाये गये हों, जिनसे

निकट अन्त:संकरण के कुप्रभाव दूर हो सकें। इसके विपरीत पशुपालन के सामान्य सिद्धान्त के विरुद्ध साधारणत: पीढ़ी-दर-पीढ़ी में भाई-बहन का संकरण किया गया है। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात नहीं मालूम होती कि प्रसंकरों की वन्ध्यता निरन्तर बढ़ती जाय।

यद्यपि मैं कोई ऐसा पक्का उदाहरण नहीं जानता जिसमें प्रसंकर जन्तु पूर्णत: उर्वर हों, फिर भी मैं ऐसा विश्वास कर सकता हूँ कि **सर्वुलस वैजिनैलिस** तथा **रीवेसाई** और **फ़ेजियेनस कोलाचिकस** तथा **फ़े० टारकुयेटस** के संकरण से उत्पन्न संतानें पूर्णत: उर्वर हैं। **मसिया कार्तेफाज** का कहना है कि **बाम्बिकस सिन्थिया तथा अरेन्डिया** नामक तितलियों की दो जातों के प्रसंकर पेरिस में आठ पीढ़ियों तक उर्वर सिद्ध किये जा चुके हैं। अभी हाल में कहा गया है कि जंगली तथा पालतू खरगोश जैसी दो पृथक् जातों के एक साथ पाले जाने पर उनके संकरण से जो संतानें उत्पन्न होती हैं, उनका संकरण पुन: दो में से किसी मूल जात से करने पर बहुत ही उर्वर संतानें होती हैं। सामान्य तथा चीनी हंस (**ए० सिग्नायडीज**) जैसे एक-दूसरे से भिन्न जातों के प्रसंकर हमारे देश में बहुधा सामान्य हंस के साथ पालन किये जाते हैं और एक उदाहरण में तो उन्होंने परस्पर सन्तानोत्पादन भी किया है। ध्यान रहे कि ये जातें एक-दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि बहुधा इनको अलग जातियों में रखा गया है। **मि० आइटन** ने एक ही माँ-बाप की दो प्रसंकर संतानों को पाला और उनसे आठ सन्तानें उत्पन्न हुई। मि० ब्लाइथ तथा कैप्टेन हटन जैसे कुशल अनसन्धानकर्ताओं का कहना है कि इस प्रकार के प्रसंकर हंसों के झुंड-के-झुंड देश के विभिन्न भागों में पाले जाते हैं। चूँकि वहाँ मूल जातें नहीं पायी जातीं, और हंस मुनाफ़े की दृष्टि से पाले जाते हैं, इसलिए निश्चय है कि ये पूर्णत: अथवा बहुत काफी उर्वर होंगे।

हमारे पालतू जानवरों में विभिन्न भेदों के संकरण से सदा उर्वर संतानें पैदा होती हैं, पर इसमें सन्देह नहीं है कि ये भेद स्वयं बहुधा अलग-अलग जंगली जातों की संतानें हैं। इस बात से हमको यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि या तो मूल जातों से आरंभ में ही पूर्णत: उर्वर प्रसंकर उत्पन्न हुए, अथवा ये प्रसंकर बाद में पालतू होने पर उर्वर हो गये। **पलास** ने इनमें से दूसरी बात को ही माना। सचमुच, वही अधिक सम्भव भी जान पड़ती है, और मैं उसकी सत्यता में संदेह नहीं करता। उदाहरण के लिए यह लगभग निश्चित है कि हमारे पालतू कुत्ते कई भिन्न-भिन्न जंगली पूर्वजों की संतानें हैं। फिर भी कदाचित् दक्षिणी अमरीका के कुछ देशी कुत्तों को छोड़कर बाकी सब आपस में पूर्णत: उर्वर हैं। किन्तु तुलनात्मक आधार पर मुझको इसमें बहुत सन्देह जान पड़ता है कि ये सभी मूल जातें एक-दूसरे से स्वतंत्रतापूर्वक सन्तानोत्पादन करती

हैं तथा उर्वर प्रसंकर उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार हाल में मुझको इस बात का निश्चित प्रमाण मिला है कि भारतीय कूबड़ वाली तथा सामान्य गायों की प्रसंकर सन्तानें पूर्णत: उर्वर हैं और परस्पर सन्तानोत्पादन करती हैं। हालाँकि **रूटिमेयर** तथा **मि० ब्लाइथ** के अवलोकनों से यह स्पष्ट है कि इन दोनों के बीच रहन-सहन, ध्वनि, गठन और कंकाल संबंधी इतने भेद हैं कि इनके पृथक् जातें होने में कोई संदेह नहीं है। यही बात सुअरों के दो मुख्य भेदों के विषय में भी कही जा सकती है। अत: हमको या तो इस विश्वास का त्याग करना होगा कि जातों के संकरण से सदा वन्ध्य संतानें उत्पन्न होती हैं, या फिर हमको यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार की वन्ध्यता अपरिवर्तनशील नहीं है क्योंकि यह पालतूपन के द्वारा दूर हो सकती है।

अंत में वनस्पतियों तथा जन्तुओं के अन्त:संकरण से संबंध रखने वाले सभी निश्चित तथ्यों पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों में कुछ अंश तक वन्ध्यता सामान्य रूप से पायी जाती है; किन्तु हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर इसको अनिवार्य नहीं समझा जा सकता।

प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों की वन्ध्यता से संबंधित नियम

अब हम प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों से संबंधित नियमों पर कुछ अधिक विस्तार में विचार करेंगे। हमारा मुख्य ध्येय यह होगा कि हम देखें कि कहाँ तक ये नियम यह बताते हैं कि जातों में यह गुण अनिवार्य रूप में पाया जाता है, जिसमें हम उनके अनियमित रूप से मिलावट को रोक सकें। नीचे दिये हुए निष्कर्ष मुख्यत: गार्टनर के पौधों के संकरण संबंधी प्रशंसनीय प्रयोगों पर आधारित हैं। मैंने यह बात समझने का प्रयत्न किया है कि कहाँ तक यह निष्कर्ष जन्तुओं में लागू है, क्योंकि प्रसंकर जन्तुओं के विषय में हमारा ज्ञान बहुत अपूर्ण है। और मुझको यह देखकर आश्चर्य हुआ है कि जन्तु तथा वनस्पति साम्राज्यों में सर्वमान्य नियम लागू होते हैं।

यह कहा जा चुका है कि प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों, दोनों की ही वन्ध्यतापूर्ण अवस्था से क्रमश: कम होती हुई अनुपस्थित हो जाती है। यह देखकर आश्चर्य होगा कि यह क्रमिकता कितनी विचित्र रीतियों से दिखाई जा सकती है; किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ इन तथ्यों की केवल रूपरेखा मात्र ही दी जा सकती है। यदि किसी एक वंश के गर्भनाल मुख पर किसी दूसरे वंश के पुष्प के परागकण रखे जायँ, तो कदाचित् वे उतने ही व्यर्थ सिद्ध होंगे जितने धूल के कण। यह क्रम का एक छोर है जहाँ संकरण असम्भव है। अब यदि अलग-अलग जातों के परागकण किसी एक जात के गर्भनाल मुख पर बारी-बारी से रखे जायँ, तो बीजों की संरचना के संबंध में हमको पूरा क्रम मिल

जायगा जिसके दूसरे छोर पर पूर्ण उर्वरता होगी। और जैसा हम देख चुके हैं, कुछ असाधारण उदाहरणों में तो यह उर्वरता मूल जातों की उर्वरता से भी अधिक होगी। अतः स्वयं प्रसंकरों में कुछ ऐसे हैं जो मूल जातों के साथ एक भी उर्वर बीज नहीं उत्पन्न करते, या नहीं कर सकते, किन्तु इनमें से कुछ में उर्वरता का कुछ चिह्न मिल सकता है। इस दशा के बाद कुछ उदाहरणों में प्रसंकर तथा मूल जात के बीच संतानोत्पादन सम्भव होता है और फिर स्वयं प्रसंकरों के बीच क्रमशः उर्वरता बढ़ती दिखाई पड़ती है।

ऐसी दो जातों के प्रसंकर, जिनका संकरण बड़ी कठिनाई से होता हो, या जो विरले ही सन्तान उत्पन्न करते हों, साधारणतः वन्ध्य होते हैं। किन्तु प्रथम संकरण करने की कठिनाई तथा इस क्रिया के द्वारा उत्पन्न प्रसंकरों की वन्ध्यता—ये दो बातें अलग हैं और यद्यपि बहुधा इनमें भेद करना कठिन होता है, फिर भी उनके बीच बहुत समता नहीं होती। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें दो शुद्ध जातें (जैसे **बर्बेस्कम** जाति में) एक-दूसरे के साथ आसानी से सन्तानोत्पादन करती हैं और बड़ी संख्या में प्रसंकर उत्पन्न करती हैं, हालाँकि ये प्रसंकर स्वयं वन्ध्य होते हैं। दूसरी ओर ऐसी भी जातें हैं जिनका संकरण बहुत कठिन होता है; किन्तु एक बार प्रसंकर उत्पन्न हो जाने पर कठिनाई नहीं होती, क्योंकि ये उर्वर होते हैं। कभी-कभी तो एक ही जात में (जैसे **डायन्थस** में) दोनों प्रकार के विपरीत उदाहरण पाये जाते हैं।

प्रथम संकरण तथा प्रसंकर—दोनों ही की उर्वरता प्रतिकूल परिस्थितियों से शुद्ध जातों की अपेक्षा अधिक प्रभावित होती है। किन्तु प्रथम संकरण की उर्वरता स्वयं भी परिवर्तनशील है। किन्हीं दो जातों के संकरण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली संतानें समान रूप से उर्वर नहीं होतीं। कुछ हद तक उनकी उर्वरता प्रयोग के लिए छाँटे गये सदस्यों की बनावट पर निर्भर करती है। यही बात प्रसंकरों के साथ भी होती है क्योंकि एक ही फली से प्राप्त होने वाले बीजों को समान परिस्थितियों में बोने पर भी अलग-अलग उर्वरता वाले पौधे तैयार होते हैं।

वर्गीकरण संबंधी निकटता से हमारा अभिप्राय जातों की संरचना और गठन की समानता से है। प्रथम संकरण तथा उसके द्वारा उत्पन्न प्रसंकरों की उर्वरता बहुत कुछ उनकी वर्गीकरण संबंधी निकटता पर निर्भर है। यह इस बात से स्पष्ट है कि कभी प्रसंकर दो ऐसी जातों से नहीं उत्पन्न किये जाते जिनको अलग-अलग वंशों में रखा जाता हो। साथ ही मिलती-जुलती जातें साधारणतः आसानी से सन्तानोत्पादन करती हैं। एक ही वंश में ऐसी एक जाति हो सकती है (जैसे **डायन्थस**) जिसकी अनेक जातियों का संकरण आसानी से एक साथ किया जा सकता हो; दूसरी जाति में (जैसे

साइलीन में) काफी प्रयास करने पर भी निकटतम जातों के बीच भी संकरण नहीं होता। कभी-कभी तो एक ही जाति में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। **निकोटियाना** की अधिकांश जातों का संकरण बड़ी संख्या में किया गया है, किन्तु गार्टनर ने देखा कि **निकोटियाना, ऐक्यूमिनाटा** का संकरण कम-से-कम आठ जातों से नहीं किया जा सकता, हालाँकि यह कुछ बहुत पृथक् जात नहीं है। ऐसे ही कई अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह अभी तक कोई नहीं बता सका कि किस गुण की कितनी मात्रा में होने पर किन्हीं दो जातों के बीच संकरण नहीं हो पाता। यह सिद्ध किया जा सकता है कि स्वभाव, साधारण आकार या पुष्पों के विभिन्न अंगों, परागकेसर, गर्भाशय आदि में काभी स्पष्ट अन्तरों के होने पर भी कुछ जातों के पौधों में संकरण हो सकता है। इसी प्रकार वर्षायु तथा बहुवर्षायु पौधों के बीच, सदा हरे रहने वाले तथा पत्र त्याग करने वाले पौधों के बीच, तथा अलग-अलग जलवायुओं में पाये जाने वाले पौधों के बीच बहुधा सुविधा के साथ संकरण हो सकता है।

परस्पर-संकरण से मेरा अभिप्राय यह है कि दो जातों में से किसी का नर और किसी की मादा लिया जा सके। उदाहरण के लिए यदि घोड़ी और गधे तथा घोड़े और गधी का संकरण संभव हो, तो यह परस्पर-संकरण कहलाएगा। इस प्रकार के संकरण में बहुधा बहुत अधिक अन्तर दिखाई पड़ता है, और ये उदाहरण हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे यह सिद्ध करते हैं कि किन्हीं दो जातों में संकरण की सामर्थ्य, उनकी वर्गीकरण संबंधी निकटता पर निर्भर है। अतः यह उनकी सामान्य संरचना तथा गठन पर नहीं निर्भर है, बल्कि केवल जनन संस्थान पर निर्भर है। परस्पर-संकरण में इस प्रकार की भिन्नता का अवलोकन बहुत पहले कोलरायटर ने किया था। एक उदाहरण लीजिये। **मिरैबिलिस जलापा** का संसेचन **मिरैबिलिस लांगीफ्लोरा** के परागकणों से आसानी से किया जा सकता है, किन्तु आठ वर्षों में लगभग २०० बार प्रयत्न करने पर भी लांगीफ्लोरा का संसेचन जलापा के परागकणों से नहीं हो सका। इसी प्रकार के कई अद्भुत उदाहरण प्राप्य हैं। **थूरेट** ने इसी प्रकार के अवलोकन समुद्री घासों में किये। गार्टनर ने देखा कि कुछ कम अंश में इसके परस्पर-संकरण की भिन्नता काफी साधारण है। उसने तो यह भिन्नता **मिथियोलका, एबुआ** तथा **ग्लैब्रा** जैसी सन्निकट जातों में भी देखा, जिनको कई वनस्पतिशास्त्री एक ही जात के दो भेद मानते हैं। यह बात भी आश्चर्यजनक है कि इस प्रकार के विभिन्न परस्पर-संकरणों की संतानें बाह्याकार में बहुत मिलती-जुलती होने पर भी उर्वरता के विषय में बहुधा कम या अधिक अंशों में भिन्न होती हैं।

गार्टनर के प्रयोगों से कई अन्य विचित्र नियमों पर भी पहुँचा जा सकता है। उदाहरण के लिए कुछ जातों में अन्य जातों से संकरण के लिए अद्‌भुत शक्ति होती है। फिर उसी जाति की अन्य जातों में अपनी प्रसंकर संतानों में अपनी समता उत्पन्न करने की अद्‌भुत शक्ति होती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि ये दोनों शक्तियाँ साथ-साथ पायी जाएँ। कुछ प्रसंकर ऐसे भी होते हैं जो माता तथा पिता के बीच के लक्षणों के होने के बजाय, दो में से किसी एक के बहुत अधिक समान होते हैं, और आश्चर्य की बात है कि माता या पिता से इतने समान होने पर भी ये बिना अपवाद के बिल्कुल वन्ध्य होते हैं। इसी प्रकार ऐसे प्रसंकरों में, जो माता-पिता के बीच के गुण वाले होते हैं, कभी-कभी अपवादस्वरूप ऐसे पौधे उत्पन्न होते हैं, जो माता या पिता के बहुत समान होते हैं, और चाहे उसी फली के अन्य बीजों के पौधों में सन्तानोत्पादन की शक्ति हो, पर वे निश्चय ही पूर्ण वन्ध्य होते हैं। इन बातों से यह पता चलता है कि किसी प्रसंकर की उर्वरता माता अथवा पिता से उसकी वाह्य समता से बिल्कुल ही असम्बन्धित है।

ऊपर दिये हुए इन सभी नियमों पर विचार करने पर, जो प्रथम संकरणों तथा प्रसंकरों की उर्वरता से संबंधित हैं, हम देखते हैं कि जब अच्छी तथा पृथक् समझी जाने वाली जातों का संयुग्मन होता है, तो उनकी उर्वरता शून्य से पूर्ण तक किसी भी अवस्था की हो सकती है, और कभी-कभी तो यह साधारण से अधिक बढ़ जाती है। यह भी स्पष्ट है कि यह उर्वरता अनुकूल तथा प्रतिकूल दशाओं से तो प्रभावित होती ही है, यह स्वयं भी परिवर्तनशील है। यह किसी तरह प्रथम संकरण में, तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले प्रसंकरों में, समान नहीं रहती। प्रसंकरों की उर्वरता माता अथवा पिता से उनके बाह्याकार की समता से संबंध नहीं रखती। अंत में, किन्हीं दो जातों के बीच संकरण का होना, उनकी परस्पर समानता अथवा वर्गीकरण संबंधी निकटता पर आधारित नहीं है। अन्तिम वक्तव्य किन्हीं दो जातों के बीच होने वाले परस्पर-संकरण से पूर्णतः सिद्ध है, क्योंकि बहुधा संकरण की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि दो में से किस जात के नर का उपयोग किया जाता है, और किस जात की मादा का। इसके अतिरिक्त बहुधा परस्पर-संकरण से उत्पन्न प्रसंकरों की उर्वरता आपस में भिन्न होती है।

प्रश्न यह है कि क्या इन जटिल तथा विचित्र नियमों से यह पता चलता है कि प्रसंकरों की वन्ध्यता केवल इसलिए है कि प्रकृति में जातों का अनियमित सम्मिलन न हो? मैं ऐसा नहीं समझता। यदि ऐसा है तो अलग-अलग जातों के संकरण में ऐसा अन्तर क्यों होता है? यह तो मानना ही चाहिए कि प्रकृति में सभी जातों की मिलावट का बचाना बराबर ही आवश्यक होगा; फिर क्यों एक ही जात के अलग-अलग सदस्यों

की वन्ध्यता जन्म से ही भिन्न होती है ? क्यों आसानी से संकरण हो जाने पर भी कुछ जातों के प्रसंकर वन्ध्य होते हैं और इसके विपरीत कुछ जातों में संकरण बहुत कठिन होने पर भी प्रसंकर उर्वर होते हैं ? किन्हीं दो जातों के बीच परस्पर संकरण के फल एक दूसरे से इतने भिन्न क्यों होते हैं ? और फिर प्रसंकरों की उत्पत्ति होती ही क्यों है ? जातों को पहले प्रसंकर उत्पन्न करने की विशेष शक्ति प्रदान करना और फिर तरह-तरह की वन्ध्यता से उनकी वृद्धि रोकना जब कि वन्ध्यता का कोई संबंध माता-पिता के प्रथम सम्मिलन से न हो—यह प्रकृति की विचित्र व्यवस्था जान पड़ती है।

मुझको तो ऊपर दिये गये तथ्यों और नियमों से स्पष्ट ही ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम संकरणों तथा प्रसंकरों—दोनों ही की वन्ध्यता आकस्मिक है, अथवा उनके जनन-संस्थानों में होने वाले कुछ अज्ञात अन्तरों पर आधारित है, तथा ये अन्तर इतने विचित्र और सीमित ढंग के होते हैं कि परस्पर-संकरणों में एक जात का नर तत्व दूसरी जात के मादातत्व पर स्वतंत्रतापूर्वक प्रभाव करेगा, परन्तु उसके विपरीत दिशा में नहीं। कदाचित् एक उदाहरण के द्वारा यह स्पष्ट करना अच्छा होगा कि यह कहने से मेरा क्या अभिप्राय है कि वन्ध्यता किसी विशेष गुण पर आधारित नहीं है, बल्कि अन्य अन्तरों पर आकस्मिक रूप से आधारित है। चूँकि किसी विशेष जात के पौधे की दूसरे जात के पौधे पर कलम बाँधने या मुकुलन की शक्ति उसके हित के लिए बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, इसलिए हम यह समझ सकते हैं कि यह शक्ति किसी पौधे का विशेष गुण नहीं होगी, बल्कि दोनों ही जात के पौधों की वृद्धि के नियमों पर निर्भर होगी। कभी-कभी हम यह भी देख सकते हैं कि इसी प्रकार की वृद्धि की गति के अन्तरों, जैसे पौधों के रसों में भेद होने या उनके काठ के कड़े होने के कारण एक पौधे की कलम दूसरे पर नहीं बँध सकती। परन्तु अनेक उदाहरणों में हम इस तरह का कोई कारण नहीं बता सकते। किन्हीं दो पौधों की नाप में विशाल अन्तर होने पर, अथवा एक के मुलायम और दूसरे के कड़े होने पर, या दोनों के अलग-अलग जलवायु के प्रति अनुकूलित होने पर भी बहुधा कलम बाँधने में रुकावट नहीं पड़ती। संकरण की भाँति कलम बाँधने में भी वर्गीकरण की निकटता के कारण एक प्रकार की रुकावट उत्पन्न होती है। कोई भी व्यक्ति दो बिल्कुल ही पृथक् वंशों के पौधों के बीच कलम नहीं बाँध सका है और इसके विपरीत मिलती-जुलती जातें अथवा एक ही जात के भेदों में साधारणतः कलम बाँधना आसान होता है। फिर भी संकरण की भाँति यह शक्ति भी केवल वर्गीकरण की निकटता पर ही निर्भर नहीं है। यद्यपि एक ही वंश की कई जातियों की कलमें एक-दूसरे पर बाँधी गयी हैं, पर एक ही जाति की कुछ विशेष जातों में यह संभव नहीं होता। हालाँकि नाशपाती और सेव एक ही जाति में आते हैं, किन्तु सेव की अपेक्षा

श्रीफल की कलमें नाशपाती पर अधिक आसानी से बाँधी जा सकती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि नाशपाती की अलग-अलग किस्मों की कलमें श्रीफल पर कभी आसानी और कभी कठिनाई से बँधती हैं। इसी प्रकार खूबानी के विभिन्न भेदों की कलमें बेर की अपेक्षा आड़ू के पौधों पर अधिक आसानी से बाँधी जा सकती हैं।

गार्टनर ने यह देखा कि कभी-कभी किन्हीं दो विशेष जातों के सदस्यों में संकरण के विषय में भिन्नता पायी जाती है। इसी प्रकार सागेरेट का विश्वास है कि किन्हीं दो जातों के बीच कलम बाँधने में वैयक्तिक भिन्नता का प्रभाव दिखाई पड़ता है। परस्पर-संकरण की भाँति कलम बाँधने में भी दो पौधों के बीच कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए गूज़बेरी, बेदाना अंगूर (Currante) पर नहीं बाँधी जा सकती, लेकिन बेदाना अंगूर की कलम गूज़बेरी पर अवश्य कुछ कठिनाई के साथ बाँधी जा सकती है।

हम देख चुके हैं कि ऐसे प्रसंकरों की वन्ध्यता, जिनके जननांग पूर्ण अवस्था में नहीं होते, किन्हीं दो विशुद्ध जातों के सम्मिलन की कठिनाई से भिन्न है, जिनके जननांग पूर्ण अवस्था में होते हैं। फिर भी इन दोनों की वन्ध्यता में कुछ समानता भी है। कलम बाँधने के मामले में भी ऐसा ही कुछ देखा जाता है। थूइन (Thouin) ने देखा कि **रोबोनिया** की तीन जातें, जो अच्छी मात्रा में बीज उत्पन्न करती हैं, और बिना किसी कठिनाई के एक चौथी जात पर बाँधी जा सकती हैं, वास्तव में ऐसी कलम बाँधने पर वन्ध्य हो जाती हैं। इसके विपरीत **सोरबस** की कुछ जातें अन्य जातों पर बाँधी जाने पर साधारण पौधों की अपेक्षा दुगुने फल उत्पन्न करती हैं। इस बात से हमको **हिप्पीऐस्ट्रम तथा पैसीफ़्लोरा** के अद्भुत उदाहरणों का ध्यान होता है, जिनको एक दूसरी जात से संसेचित करने पर बीजों की संख्या बहुत बढ़ जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हालाँकि जनन-क्रिया में नर तथा मादा तत्वों के सम्मिलन तथा कलम बाँधने की क्रिया में दो पौधों के जोड़ने में स्पष्ट अंतर है, फिर भी दोनों के नतीजों में एक स्थूल समता है। जिस प्रकार दो पौधों में कलम बाँधने की जटिल और विचित्र क्रिया को हम उनके वर्धी अंगों से संबंधित कुछ अज्ञात कारणों पर आधारित समझते हैं; उसी प्रकार प्रथम संकरण की क्रिया उनके जननांगों के अनेक ज्ञात अन्तरों पर आधारित है। जैसा कि हमको आशा करनी चाहिए, दोनों में कुछ हद तक यह अन्तर वर्गीकरण की निकटता पर आधारित है जिनके अन्तर्गत दो जीवों के बीच की लगभग हर प्रकार की समानता तथा भिन्नता शामिल है। फिर भी इन बातों से यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि किन्हीं दो जातों के बीच संकरण अथवा कलम बाँधने की आसानी या कठिनाई उनका विशेष गुण है, हालाँकि संकरण में यह

कठिनाई पौधों की सहनशक्ति तथा स्थायीपन के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि कलम बाँधने की कठिनाई उनकी भलाई के लिए कम महत्वपूर्ण है।

प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों की वन्ध्यता की उत्पत्ति तथा उसके कारण

अन्य लोगों की भाँति किसी समय मुझको भी यह सम्भव जान पड़ा कि प्रथम संकरणों तथा प्रसंकरों की वन्ध्यता प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उर्वरता की कमी से उत्पन्न हुई तथा अन्य परिवर्तनों की भाँति किसी एक भेद के दूसरे भेद के साथ संकरण करने पर यह एकाएक कुछ सदस्यों में उत्पन्न हो गयी। किन्हीं दो भेदों या प्रारंभिक जातों के लिए एक-दूसरे से पृथक् बने रहना उसी तरह सुविधाजनक होगा जिस तरह मनुष्य के लिए एक ही समय में दो भेदों को छाँटने के लिए उनका अलग रखना आवश्यक है। इस संबंध में सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि पृथक् क्षेत्रों की जातें बहुधा संकरण करने पर वन्ध्य पायी जाती हैं। किन्तु इस प्रकार की पृथक् जातों के लिए वन्ध्य रहने में कोई लाभ नहीं है। अतः इनकी वन्ध्यता प्राकृतिक निर्वाचन के कारण नहीं हो सकती है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि यदि कोई जात अपने ही क्षेत्र की दूसरी जात के साथ वन्ध्य हो जाय तो उसके फलस्वरूप अन्य जातों के साथ ही वह वन्ध्य हो जायगी। दूसरी बात यह है कि परस्पर संकरण में एक जात के दूसरे के साथ मिलने पर पूर्णतः निःशक्त हो जाना, जब कि दूसरी जात के नरतत्व पहली से मिलने पर सफलतापूर्वक संसेचन करते हैं, प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के विरुद्ध तो है ही। विशेष सृष्टि के सिद्धान्त के भी यह विरुद्ध है, क्योंकि जननांगों का इस विचित्र दशा में होना किसी प्रकार भी दो में से किसी जात के हित में नहीं हो सकता।

जातों को परस्पर वन्ध्य बनाने में प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया पर विचार करने में सबसे बड़ी कठिनाई इस कारण होती है कि उर्वरता अनुपस्थित होने से पूर्ण दशा तक कई अवस्थाओं में पायी जाती है। यह बात मान लेना चाहिए कि किसी प्रारम्भिक जात के लिए यह लाभदायक होगा कि जनक रूपों (Parent forms) के साथ, अथवा अन्य भेदों के साथ उनका संकरण न हो सके, क्योंकि ऐसी दशा में नयी जात का रक्त अन्य जातों अथवा मूल जात से नहीं मिल सकेगा। किन्तु यदि हम उन अवस्थाओं पर ध्यान दें जिनके द्वारा इस प्रारम्भिक अवस्था से प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा वन्ध्यता में इतनी वृद्धि होगी जितनी अनेक जातों में पायी जाती है तथा जितनी जाति तथा वंश के स्तर पर पहुँचने वाली सभी जातों में होती है, तो हम देखेंगे कि पूरा विषय बहुत ही जटिल हो गया है। काफी विचार करने पर मुझको ऐसा लगता है कि यह बात प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा नहीं हो सकती है। किन्हीं दो ऐसी जातों के उदाहरण लीजिए

जिनके संकरण के फलस्वरूप वन्ध्य संतानें उत्पन्न होती हैं। ऐसी कौन सी बात हो सकती है जो ऐसे सदस्यों की प्रतिरक्षा कर सके जिनमें थोड़ी-बहुत परस्पर-वन्ध्यता के गुण उपस्थित हों और जो इसी दशा में प्रगति करने पर पूर्ण वन्ध्य हो जाएँ? फिर भी यह देखिये कि इस क्रिया पर प्राकृतिक निर्वाचन का नियम लागू होता है। इसके अर्थ यह हैं कि कई जातों में यह वृद्धि निरन्तर होती रही है क्योंकि इस समय अनेक जाति इस प्रकार वन्ध्य हैं। वन्ध्य नपुंसक कीटों में तो यह विश्वास किया जा सकता है कि उनकी संरचना तथा वन्ध्यता में परिवर्तनों का संग्रह धीरे-धीरे प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा हुआ है क्योंकि इसके द्वारा अन्य कीट-समाजों की अपेक्षा उस विशेष समाज को परोक्ष रूप से अवश्य कुछ सुविधा होगी। किन्तु सामाजिक न होने पर यदि कोई जन्तु किसी अन्य भेद से संकरण करने पर थोड़ी भी वन्ध्यता ग्रहण करता है, तो उसको या उसके अपने भेद के अन्य सदस्यों को प्रतिरक्षण में किसी तरह की सुविधा प्राप्त नहीं होगी।

किन्तु इस विषय पर विस्तार में विचार करना आवश्यक है क्योंकि पौधों में इस बात के निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं कि संकरित जातों की वन्ध्यता कुछ ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित है जिनका प्राकृतिक निर्वाचन से कोई संबंध नहीं है। गार्टनर तथा कोलरायटर दोनों ने ही यह सिद्ध कर दिया है कि कई जातों वाली जातियों में ऐसा क्रम उपस्थित किया जा सकता है जिनमें संकरण करने पर बीजों की संख्या कम होती जाती है और अंत में एक भी बीज उत्पन्न नहीं होता; फिर भी किसी विशेष जात के पराग की उन पर क्रिया हो सकती है, क्योंकि उनसे संसेचित होने पर उनका गर्भाशय फूल जाता है। स्पष्ट है कि उनमें ऐसे वन्ध्य सदस्यों को छाँटना असम्भव है जिनमें बीज-निर्माण नहीं होता क्योंकि वन्ध्यता का ऐसा गुण, जिससे केवल गर्भाशय ही प्रभावित हो, प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा नहीं उत्पन्न हो सकता। और चूँकि वन्ध्यता के क्रम से संबंध रखने वाले नियम पूरे जन्तु तथा वनस्पति साम्राज्यों में इतने समान हैं, इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नियम भी प्रत्येक उदाहरण में समान ही है। अब हम उन अन्तरों पर विशेष ध्यान देंगे जो प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों की वन्ध्यता के बीच के हो सकते हैं। प्रथम संकरण में सम्मिलन तथा सन्तानोत्पादन की कठिनाइयाँ स्पष्टतया कई कारणों पर निर्भर हैं। कहीं-कहीं यह कठिनाई नरतत्वों के अंडे तक पहुँचने में होती है—उदाहरण के लिए जब गर्भकेसर परागकेसर की अपेक्षा बहुत लंबा होता है। यह भी देखा गया है कि जब एक जात के परागकण दूसरी जात के गर्भनालमुख पर रखे जाते हैं तो पराग-नलिका के बढ़ने पर भी वह गर्भनाल में नहीं प्रवेश कर पाती। यह भी संभव है कि नरतत्व मादातत्व तक पहुँचे, किन्तु फिर भी

बीजोत्पादन न कर सके, जैसा कि फुसी (Fuci) पर किये गये थूरेट के प्रयोगों से सिद्ध है। इन तथ्यों के उसी प्रकार कोई कारण नहीं बताये जा सकते, जैसे इस बात के कि कुछ पौधों की कलमें कुछ विशेष पौधों पर नहीं बाँधी जा सकतीं। अंत में यह भी संभव है कि भ्रूण-निर्माण हो, किन्तु वह जल्दी ही नष्ट हो जाय। इस प्रकार के अवलोकनों पर पर्याप्त विचार नहीं किया गया है; किन्तु मि० हेविट द्वारा प्रस्तुत किये गये अवलोकनों से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इस तरह समय से पहले होने वाली भ्रूण की मृत्यु प्रथम संकरण में होने वाली वन्ध्यता का मुख्य कारण है। हेविट को तीतरों तथा मुर्गों के संकरण का बहुत अनुभव है। हाल में मि० साल्टर ने **गेलस** (Gallus) तथा उसके प्रसंकरों के संकरण से उत्पन्न लगभग ५००० अंडों की परीक्षा की है। उन्होंने देखा कि इनमें से अधिकांश अंडे संसेचित हो चुके थे; और अधिकांश संसेचित अंडों में या तो भ्रूण कुछ हद तक बनने के बाद नष्ट हो गये थे, या बच्चे कवच तोड़ कर बाहर नहीं निकल सके थे। अंत में जो बच्चे निकले, उनमें से ४।५ कुछ ही दिनों में या अधिक से अधिक कुछ सप्ताहों में बिना किसी स्पष्ट कारण के केवल इसलिए मर गये कि वे जीवित नहीं रह सके। पौधों में भी प्रसंकर भ्रूण कदाचित् इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं। कम-से-कम यह तो ज्ञात है कि स्पष्ट जातों के प्रसंकर बहुधा छोटे और कमजोर रह जाते हैं और अल्पायु में ही नष्ट हो जाते हैं। मैक्स विचुरा ने हाल में प्रसंकर सरपतों के संबंध में इस प्रकार के कई उदाहरण दिये हैं। कदाचित् यहाँ यह लिखना अनुपयुक्त नहीं होगा कि रेशम की तितली के अंडों में बहुधा बिना संसेचन के निर्मित होने वाले भ्रूण अल्पायु में उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार पृथक् जातों के प्रसंकर भ्रूण। जब तक मैं इन बातों से स्वयं परिचित नहीं हो गया था, तब तक मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि प्रसंकर भ्रूण इतनी बड़ी संख्या में मरते हैं, क्योंकि उत्पन्न होने के बाद प्रसंकर साधारणतः स्वस्थ तथा दीर्घायु होते हैं, जैसे खच्चर। किन्तु जन्म के पहले ऐसे प्रदेश में रहने पर, जहाँ उसके माता-पिता रहते हैं, साधारणतः परिस्थिति अनुकूल होती है, किन्तु किसी प्रसंकर को माता की प्रकृति तथा गठन का केवल आधा भाग ही प्राप्त होता है। इसलिए जन्म से पहले जब वह गर्भाशय में पोषित होता है, अथवा माता-पिता द्वारा उत्पन्न किये गये अंडे या बीज के भीतर होता है, तो उसकी परिस्थिति कुछ हद तक प्रतिकूल होती है और इसलिए वे शीघ्र ही नष्ट हो सकते हैं, विशेषकर इसीलिए वे सभी अल्पायु जीव कृत्रिम अथवा हानिकारक परिस्थितियों की ओर विशेषकर हृष होते हैं। फिर भी इसका कारण संभवतः संसेचन की मूल क्रिया में ही किसी प्रकार की कमी का होना है, जिससे भ्रूण प्रारम्भ से ही अस्वस्थ होता है, न कि वे परिस्थितियाँ जिनमें बाद में भ्रूण को रहना पड़ता है।

ऐसे प्रसंकरों की वन्ध्यता, जिनमें लैंगिक तत्व पूर्ण विकसित नहीं होते, कुछ भिन्न प्रकार की होती है। कई बार मैंने ऐसे अनेक तथ्यों की चर्चा की है जिनसे यह स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक परिस्थितियों से हटाये जाने पर जन्तुओं तथा पौधों के जनन-संस्थानों को हानि पहुँचती है। जन्तुओं का पालन करने में यही सबसे बड़ी कठिनाई देखी जाती है। इस तरह की वन्ध्यता तथा प्रसंकरों की वन्ध्यता में कई समानताएँ हैं। दोनों में वन्ध्यता का जीवों के स्वास्थ्य से कोई संबंध नहीं होता और बहुधा जीव साधारण से बड़े और स्वस्थ होते हैं; दोनों में वन्ध्यता कई अंशों में पायी जाती है, दोनों में नरतत्व अधिक और मादातत्व कम प्रभावित होते हैं, दोनों में वन्ध्यता की प्रवृत्ति का कुछ संबंध वर्गीकरण से होता है, क्योंकि सामान्यतः अप्राकृतिक दशाओं में जन्तुओं तथा पौधों के पूरे वर्ग नपुंसक हो जाते हैं और सभी जातें वन्ध्य प्रसंकर उत्पन्न करती हैं। दूसरी ओर, कभी-कभी किसी समूह की एक जात ऐसी परिस्थितियों का सामना भी कर लेती है और बन्ध्य नहीं होती, और कुछ जातें तो और भी अधिक उर्वर प्रसंकर पैदा करती हैं। वास्तव में, बिना प्रयोग किये कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि अमुक जन्तु अथवा फूल वाले पौधे का बीज कृत्रिम अवस्था में सन्तानोत्पादन या बीजोत्पत्ति करेगा, अथवा नहीं। इसी प्रकार बिना प्रयोग के कोई नहीं कह सकता कि किन्हीं दो जातों से उत्पन्न होने वाले प्रसंकर कितने वन्ध्य होंगे। अन्त में जब कोई जीव कई पीढ़ियों तक अस्वाभाविक परिस्थितियों में रखा जाता है, तो उसमें अनेक परिवर्तन होते हैं जिसका कारण उनके जनन-संस्थानों का विशेष रूप से प्रभावित होना है, हालाँकि यह प्रभाव वन्ध्यता की अपेक्षा कम होता है। यही बात प्रसंकरों के साथ भी है। हर प्रयोगकर्ता यह जानता है कि कई पीढ़ियों तक उनकी संतानों में काफ़ी परिवर्तन होते रहते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि जब जीव कृत्रिम तथा नयी परिस्थितियों में रखे जाते हैं और जब दो जातों के अप्राकृतिक संकरण से प्रसंकर उत्पन्न होते हैं, तो साधारण स्वास्थ्य कैसा भी हो, उनके जनन संस्थान बहुत कुछ समान रीति से प्रभावित होते हैं। एक के साथ जीवन की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, यद्यपि अन्तर इतने सूक्ष्म होते हैं कि हम उनको देख नहीं पाते; दूसरे, अथवा प्रसंकरों के साथ बाहरी परिस्थिति पहले जैसी बनी रहती है, किन्तु दो विभिन्न संरचनाओं तथा गठनों की मिलावट से (जिनमें जनन-संस्थान भी शामिल है) शारीरिक संरचना में अन्तर हो जाता है। यह सम्भव नहीं है कि वृद्धि, काल-संबंधी क्रियाओं या विभिन्न अंगों तथा जीवन की परि-स्थितियों में किसी प्रकार का अन्तर न हो, और दो जीव मिलकर एक हो जायँ। जब प्रसंकर आपस में सन्तानोत्पत्ति करते हैं, तो प्रत्येक पीढ़ी में वे अपनी सन्तानों को वही

संयुक्त गठन प्रदान करते हैं। इसलिए हमको यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि कुछ हद तक परिवर्तनशील होने पर भी उनकी वन्ध्यता कम नहीं होती, बल्कि बहुधा बढ़ जाती है। मैक्स विचुरा ने भी ऊपर दिये हुए इस मत का समर्थन किया है कि प्रसंकरों की वन्ध्यता दो गठनों के एक में युक्त होने से उत्पन्न होती है।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ऊपर दिये हुए अथवा किसी अन्य मत के द्वारा हम प्रसंकरों की वन्ध्यता के संबंध में कई बातों को नहीं समझ सके हैं, जैसे परस्पर-संकरण से प्रसंकरों की भिन्न प्रकार की वन्ध्यता अथवा उन प्रसंकरों में वन्ध्यता की वृद्धि जो कभी-कभी माता अथवा पिता से बहुत मिलते-जुलते हैं। मैं यह भी नहीं समझता कि ऊपर लिखी बातें इस विषय की जड़ तक पहुँच सकी हैं। उदाहरण के लिए इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया गया है कि अस्वाभाविक परिस्थितियों में रखने पर कोई जीव वन्ध्य क्यों हो जाता है ? मैंने केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस प्रकार के दोनों उदाहरणों में, जो कुछ विषयों में समान हैं, वन्ध्यता का सामान्य परिणाम होता है---एक में जीवन की दशाओं के परिवर्तन के फलस्वरूप, दूसरे में दो गठनों के एक-दूसरे के साथ मिलने के फलस्वरूप मूल गठन में परिवर्तन होने से।

कुछ इसी प्रकार की समता थोड़ी-बहुत अन्य मिलती-जुलती बातों में पायी जाती है। अनेक प्रमाणों पर आधारित यह एक पुराना और विश्वव्यापी विश्वास है कि जीवन की परिस्थितियों में छोटे अन्तरों का होना जीवों के लिए लाभदायक है। इसी विश्वास के आधार पर किसान और माली बहुधा अपने बीज इत्यादि एक प्रकार की जमीन या जलवायु से दूसरे में अदला-बदला करते हैं। बीमारियों के बाद जन्तु रहन-सहन में परिवर्तन होने से शीघ्र लाभ उठाते हैं। इसी प्रकार जन्तु तथा पेड़-पौधे दोनों में इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं कि एक-दूसरे से कुछ भिन्न, एक ही जात के दो सदस्यों के बीच संकरण होने से संतान अधिक बलवान और उर्वर हो जाती है। इसके विपरीत निकट संबंधियों के बीच कई पीढ़ियों तक संकरण होने से निश्चय ही संतान छोटी, कमज़ोर और कम उर्वर होती है।

ऐसा जान पड़ता है कि एक ओर जीवन की परिस्थितियों में सूक्ष्म परिवर्तन सभी जीवों के लिए लाभदायक है और दूसरी ओर निकट संकरण अर्थात् एक ही जात के किन्तु विभिन्न परिस्थितियों में रहने वाले नर तथा मादा के संकरण से, जिनमें एक-दूसरे से कुछ अन्तर हों, उर्वर तथा शक्तिवान संतानें जन्म लेती हैं। किन्तु जैसा हम देख चुके हैं, सामान्य, स्वाभाविक परिस्थितियों में लम्बी अवधि तक रहने वाले जीव जब कृत्रिम दशाओं में काफी बड़े परिवर्तनों का सामना करते हैं, तो कुछ हद तक वे

वन्ध्य हो जाते हैं, और हम जानते हैं कि एक-दूसरे से काफी भिन्न जातों के संकरण से उत्पन्न होने वाले प्रसंकर कुछ हद तक वन्ध्य होते हैं। मेरा ऐसा विश्वास है कि यह दोहरी समानता न केवल ऊपरी है और न केवल आकस्मिक। जो व्यक्ति यह बता सकेगा कि हाथी या अन्य कई जन्तु केवल कुछ अंश तक, अपने देश में ही बन्दी रखे जाने पर क्यों सन्तानोत्पादन नहीं करते, वही व्यक्ति प्रसंकरों के साधारणतः वन्ध्य होने की गुत्थी को भी सुलझा सकेगा। इसके साथ ही वह यह भी स्पष्ट कर सकेगा कि क्यों कुछ पालतू नस्लों के जन्तु, जो बहुधा असमान परिस्थितियों में रहते हैं, अलग-अलग जातियों की सन्तानें होते हुए भी पूर्णतः उर्वर हैं? प्रारम्भ में इनके उत्पादकों के संकरण का परिणाम निश्चित था। ये दो प्रकार की बातें एक-दूसरे से किसी प्रकार के अज्ञात संबंध में जुड़ी हैं, स्वयं जिनका संबंध जीवन के नियम से है। मि० हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार यह सिद्धान्त इस प्रकार है कि जीवन कई प्रकार की शक्तियों की क्रिया और प्रतिक्रिया से बनता है, जो समस्त सृष्टि में एक प्रकार का संतुलन बनाये रखती हैं और जब इस संतुलन में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तो जीवन-शक्तियाँ क्रियाशील हो उठती हैं।

परस्पर द्विरूपता तथा त्रिरूपता

यहाँ इस विषय पर संक्षेप में विचार करना ही पर्याप्त होगा और हम देखेंगे कि इसके द्वारा प्रसंकरता के प्रश्न पर कुछ प्रकाश पड़ता है। कुछ गणों के कई पौधे दो भिन्न रूपों में पाये जाते हैं जो लगभग बराबर संख्या में होते हैं और जिनमें जननांगों के अतिरिक्त और अन्तर नहीं होते। उदाहरण के लिए, एक का गर्भाशय लंबा और परागकेसर छोटे होते हैं; दूसरे में गर्भाशय छोटा और परागकेसर लंबे होते हैं। दोनों के पराकगण अलग-अलग नाप के होते हैं। त्रिरूपीय पौधों में इसी प्रकार गर्भ-केसर तथा परागकेसर की लंबाई, परागकणों के माप-रंग और कुछ अन्य लक्षणों में अन्तर होने के कारण तीन रूप के फूल पाये जाते हैं, और चूँकि तीनों रूपों में पराग-केसरों के दो समूह होते हैं, इसलिए तीनों रूपों को मिलाकर परागकेसरों के छः समूह हुए और गर्भकेसर के तीन भेद हुए। लंबाई में ये अंग ऐसे अनुपात में होते हैं कि द्विरूपों में आधे परागकेसर तीसरे रूप के गर्भकेसर के बराबर होते हैं। मैंने यह दिखाया है (और मेरे निष्कर्षों का समर्थन अन्य कई लोगों ने किया है) कि पूर्ण उर्वरता प्राप्त करने के लिए इन पौधों में यह आवश्यक है कि एक रूप के गर्भकेसर का संसेचन दूसरे रूपों के बराबर नाप के परागकेसरों के परागकणों से हों। इस प्रकार द्विरूपीय जातों में दो प्रकार के संयोग पूर्ण उर्वर होंगे तथा त्रिरूपीय जातों में छः प्रकार के संयोग पूर्ण

उर्वर होंगे तथा बारह प्रकार के संयोग कम या अधिक वन्ध्यता उत्पन्न करेंगे। जिस प्रकार के संयोग से पूर्ण उर्वर संतानें उत्पन्न न हो, उनको अवैध कहा जा सकता है।

द्विरूपीय तथा त्रिरूपीय पौधों में अवैध संसेचन हो (अर्थात् जब परागकण ठीक ऊँचाई के परागकेसर से न प्राप्त हुए हों) तो उससे उत्पन्न होने वाली वन्ध्यता कई प्रकार की हो सकती है और पृथक् जातों के संकरण की भाँति पूर्ण वन्ध्यता भी उत्पन्न कर सकती है। जिस प्रकार संकरण में वन्ध्यता की अवस्था बहुत-कुछ जीवन की परिस्थितियों पर निर्भर है, उसी प्रकार अवैध संयोग में भी। यह भलीभाँति ज्ञात है कि यदि किसी पृथक् जात के परागकण किसी पुष्प के गर्भनाल मुख पर रखे जायँ, और बाद में समान जात के पुष्प के परागकण रखे जायें, तो चाहे इन दोनों के रखने के बीच कितना ही अधिक समय क्यों न व्यतीत हुआ हो, समान जात के परागकण का प्रभाव इतना तीव्र और शक्तिशाली होता है कि वह दूसरी जात के पराग के प्रभाव को नष्ट कर देता है। यही बात एक ही जात के अलग-अलग रूपों के परागों के साथ होती है, क्योंकि वैध परागकण अवैध परागकणों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं। मैंने यह बात कई प्रयोगों में देखी है। पहले फूलों को अवैध परागकणों से संसेचित किया गया और २४ घंटों के बाद अवैध परागकणों से। चूँकि दोनों परागकण अलग-अलग रंगों के थे, इसलिए यह निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि अन्त में संसेचन केवल वैध परागकणों से ही हुआ और उन्होंने अवैध परागकणों को नष्ट कर दिया। इसके अतिरिक्त दो जातों के परस्पर संकरण की भाँति बहुधा अन्तिम परिणाम में अन्तर होते हैं। उदाहरण के लिए **लिथरम सैलीकेरियम** के औसत नाप के गर्भकेसर को छोटे गर्भकेसर वाले फूलों के लंबे परागकेसरों के परागकणों से संसेचित करना बहुत आसान था और उससे अनेक बीज उत्पन्न हुए, किन्तु उसी को औसत नाप के गर्भकेसर वाले फूल के लंबे परागकेसरों से संसेचित करने पर भी बीज उत्पन्न नहीं हुआ।

इस तरह हम देखते हैं कि उसी जात के पुष्पों को अवैध रूप से संसेचित करने पर ठीक उसी प्रकार के परिणाम होते हैं, जैसे दो पृथक् जातों के संकरण में। अतः मैंने चार वर्षों तक कई अवैध संयोगों से उत्पन्न पौधों का निरीक्षण किया है। इन अवलोकनों का मुख्य निष्कर्ष यह रहा कि ये अवैध पौधे पूर्णतः उर्वर नहीं हैं। द्विरूपीय जातों से लंबे गर्भकेसर वाले और छोटे गर्भकेसर वाले—दोनों तरह के पौधे उत्पन्न किये जा सकते हैं, तथा त्रिरूपीय पौधों से तीन प्रकार के अवैध रूप उत्पन्न किये जा सकते हैं। उनको पुनः वैध रीति से संयुक्त किया जा सकता है, और ऐसा करने पर कोई कारण इस बात का जान नहीं पड़ता कि अपने मूल पौधों के वैध सम्मिलन की भाँति, ये भी काफी बीज उत्पन्न न करें। किन्तु ऐसा नहीं होता। अलग-अलग अंशों

में ये सभी वन्ध्य होते हैं, और कुछ तो ऐसे पूर्ण वन्ध्य होते हैं कि चार वर्षों में भी उनके किसी फल में एक बीज भी उत्पन्न नहीं हुआ। इन अवैध पौधों के वैध संयोग की तुलना हम प्रसंकरों के एक-दूसरे के साथ संयुक्त होने से कर सकते हैं। यदि किसी प्रसंकर को किसी मूल, शुद्ध जात से संकरित किया जाय, तो साधारणतः वन्ध्यता कम हो जाती है। इसी प्रकार अवैध पौधों को वैध पौधे से संसेचित करने से फिर जिस प्रकार प्रसंकरों की वन्ध्यता शुद्ध जातों के प्रथम संकरण के समान नहीं होती, उसी प्रकार कुछ अवैध पौधों की वन्ध्यता बहुत अधिक थी, और प्रथम अवैध संयोग में उतनी नहीं थी। एक ही फली से उत्पन्न प्रसंकरों की वन्ध्यता भिन्न-भिन्न हो सकती है। यही बात अवैध पौधों में भी देखी जा सकती है। अन्त में, कई प्रसंकर दीर्घजीवी और बहुसंख्यक पुष्प उत्पन्न करते हैं तथा कुछ अधिक वन्ध्य प्रसंकर छोटे तथा कमजोर होते हैं और अधिक वन्ध्य पुष्प उत्पन्न करते हैं। ठीक यही बात अनेक द्विरूपीय तथा त्रिरूपीय पौधों की अवैध संतानों के साथ होती है।

इस प्रकार अवैध पौधों तथा प्रसंकरों के लक्षणों तथा उनकी क्रिया में अधिक से अधिक समता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि अवैध पौधे ऐसे प्रसंकर हैं जो एक ही जात के भीतर अलग-अलग रूपों के अवैध संयोग से उत्पन्न होते हैं, जबकि स्वयं प्रसंकर दो जातों के अवैध संयोग से उत्पन्न होते हैं। हम देख चुके हैं कि प्रथम अवैध संयोग तथा प्रथम संकरण में अधिकतम समता है। एक उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि किसी वनस्पतिशास्त्री को त्रिरूपीय **लिथरम सैलिकेरियम** के लंबे गर्भकेसर वाले दो भेद प्राप्त हुए और संकरण के द्वारा उसने यह निश्चय करना चाहा कि कहाँ तक ये भेद पृथक् जातें हैं। वह देखेगा कि उनसे सही संख्या के केवल १।५ बीज उत्पन्न होते हैं और उनका आचरण ऐसा है जैसे दो पृथक् जातों से उत्पन्न होने पर होता है। अब वह इन संतानों की भी संतानें उत्पन्न करेगा और वह देखेगा कि नये पौधे बहुत छोटे और बिल्कुल ही वन्ध्य हैं, और हर प्रकार से साधारण प्रसंकरों की भाँति आचरण करते हैं। ऐसी दशा में, वह यह सोच सकता है कि सामान्य मता-नुसार वे दो भेद वास्तव में पृथक् जातें हैं। किन्तु उसकी यह धारणा गलत होगी।

अतः द्विरूपीय तथा त्रिरूपीय पौधों के विषय में दिये गये तथ्य महत्वपूर्ण हैं। उनसे यह सिद्ध होता है कि सर्वप्रथम, प्रथम संकरण तथा प्रसंकरों दोनों में उर्वरता की कमी की परीक्षा जातों के पृथक्करण के लिए निश्चित प्रमाण नहीं है। द्वितीय, चूँकि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवैध सम्मिलन की वन्ध्यता तथा उनकी अवैध संतानों की वन्ध्यता के बीच कोई अज्ञात संबंध है, अतः हम प्रथम संकरण तथा प्रसं-करों के विषय में भी इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। तृतीय, एक ही जात के दो या

तीन ऐसे रूप हो सकते हैं, जो संरचना, गठन अथवा परिस्थितियों के संबंध में एक दूसरे से भिन्न न हों, फिर भी कुछ विशेष रीतियों से संयुक्त किये जाने पर वन्ध्य हो जाते हैं। यह महत्वपूर्ण बात है। यह याद रखना चाहिए कि वन्ध्यता एक रूप के दो सदस्यों के लैंगिक तत्वों के संयोग से उत्पन्न होती है, और दो पृथक् रूपों के लैंगिक तत्वों के संयोग से उर्वरता उत्पन्न होती है। ऊपर से देखने में यह बात एक ही जात के सदस्यों के संयोग तथा अलग-अलग जातों के संकरण के परिणाम के प्रतिकूल लगती है। किन्तु यह कहना कठिन है कि ऐसा वास्तव में होता है कि नहीं। लेकिन इस गूढ़ विषय की चर्चा मैं नहीं करूँगा।

द्विरूपीय तथा त्रिरूपीय पौधों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पृथक् जातों के संकरण तथा उनकी प्रसंकर संतानों के संयोग की वन्ध्यता पूरी तरह उनके लैंगिक तत्वों पर निर्भर है न कि उनकी संरचना अथवा गठन पर। परस्पर-संकरण पर विचार करने से भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि इसमें एक जात का नर दूसरे जात की मादा से नहीं संयुक्त किया जा सकता, या बहुत कठिनाई से किया जा सकता है, जबकि इसका विपरीत बहुत आसान है। गार्टनर जैसे प्रशंसनीय अवलोकनकर्ता भी इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि संकरण करने पर जातों की वन्ध्यता केवल उनके जनन-संस्थानों में अन्तर होने के कारण होती है।

भेदों को संकरित करने पर तथा इस प्रकार उत्पन्न हुई संतानों में, सदा उर्वरता नहीं पायी जाती

अकाट्य तर्क के रूप में यह कहा जा सकता है कि जातों तथा भेदों के बीच कुछ आधारीय अन्तर हैं, क्योंकि भेद एक-दूसरे से वाह्य आकार में कितने ही भिन्न क्यों न हों, इनके बीच आसानी से संकरण होता है और इस प्रकार पूर्ण उर्वर संतानें उत्पन्न होती हैं। यह मैं मानता हूँ कि कुछ ऐसे अपवादों को छोड़कर जिनका उल्लेख मैं करूँगा, यह बात सही है। किन्तु यह विषय कठिनाइयों से भरा है, क्योंकि यदि हम प्रकृति में देखें तो ऐसे दो जीव, जिनको भेद माना जाता है, किसी प्रकार संकरण करने पर वन्ध्य दिखाई पड़ते हैं तो अधिकांश प्रकृतिवादी उनको फौरन जात मान लेते हैं। उदाहरण के लिए अधिकांश वनस्पतिशास्त्री नीले तथा लाल 'पिम्परनेल' को केवल भेद मानते हैं। किन्तु गार्टनर ने संकरण करने पर उनको वन्ध्य पाया और इसलिए उसने उनको निश्चित रूप से जातें कहा। इस प्रकार हम एक चक्र में तर्क करें तो प्राकृतिक अवस्था में उत्पन्न होने वाले सभी भेदों को उर्वर मानना पड़ेगा।

घरेलू अवस्था में उत्पन्न किये गये या उत्पन्न समझे जाने वाले भेदों पर विचार करने पर भी संदेह का निवारण नहीं होता। क्योंकि, उदाहरण के लिए, जब यह कहा जाता है कि कुछ दक्षिण अमरीकी पालतू कुत्ते, यूरोपीय कुत्तों से संयुक्त नहीं होते तो हर एक को एक ही उत्तर सूझेगा और कदाचित् यह ठीक भी होगा, कि वे पृथक् मूल जातों की संतानें हैं। फिर भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न आकार के पालतू नस्लों का, जैसे कबूतर अथवा करमकल्ले की नस्लों का पूर्ण उर्वर होना, एक अद्भुत बात है, विशेषकर जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि ऐसी कितनी ही जातें हैं जो एक-दूसरे के बहुत समान होते हुए भी संकरण करने पर पूर्ण वन्ध्य होती हैं। पर कुछ बातों पर विचार करने से पालतू भेदों की उर्वरता इतनी अद्भुत नहीं लगती। सबसे पहले यह ध्यान में रखना चाहिए कि किन्हीं दो जातों के बीच के बाह्य अन्तर उनकी परस्पर वन्ध्यता के **निर्णायक** नहीं हैं। यह निश्चित है कि जातों की वन्ध्यता के कारण उनके लैंगिक गठन में निहित हैं। अब जिन विभिन्न परिस्थितियों में पालतू जन्तु अथवा लगाये हुए पौधे रखे गये हैं उनका जनन-संस्थान के आपरिवर्तन पर और इसलिए परस्पर वन्ध्यता पर, इतना कम प्रभाव है कि हमको पलास के बिल्कुल उल्टे मत को मानना पड़ता है, अर्थात् ये परिस्थितियाँ उस प्रवृत्ति को दूर करती हैं जिसके फलस्वरूप ऐसी जातें, जो प्राकृतिक अवस्था में वन्ध्य होती हैं, बाद की अवस्था में पूर्ण उर्वर हो जाती हैं। पौधों में कृत्रिमता के फलस्वरूप पृथक् जातों में वन्ध्यता की प्रवृत्ति इतनी दूर हो गयी है कि कई भलीभाँति जाँचे गये उदाहरणों में निश्चय ही उलटा प्रभाव हुआ है। यहाँ तक कि अन्य जातों से संसेचित होने की शक्ति बढ़ने के साथ उनमें परस्पर संसेचन की शक्ति जाती रही है। यदि पलास के सम्बन्ध में लम्बी अवधि तक पालन से वन्ध्यता दूर होने के सिद्धान्त को मान लिया जाय (और इसका तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता) तो बहुत कुछ असंभाव्य हो जाता है। बहुत दिनों तक सामान्य परिस्थिति बनी रहने से उस प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा, यद्यपि कुछ ऐसी जातों के उदाहरणों में, जिनका गठन विचित्र होता है, कभी-कभी वन्ध्यता उत्पन्न होती है। इस प्रकार मेरा विश्वास है कि हम यह समझ सकते हैं कि क्यों पालतू जन्तुओं में परस्पर वन्ध्य भेद नहीं उत्पन्न हुए और क्यों पौधों में ऐसे ही कुछ उदाहरण उत्पन्न हुए जिनका उल्लेख अभी किया जाएगा।

जहाँ तक मुझको जान पड़ता है कि हमारे इस विषय की वास्तविक कठिनाई यह नहीं है कि संकरण होने पर पालतू भेद क्यों परस्पर वन्ध्य नहीं हो गये, बल्कि यह है कि क्यों प्राकृतिक भेदों में; जहाँ उनमें ऐसे अस्थायी आपरिवर्तन हुए कि उनको जात का स्तर दिया जाय, ऐसा साधारणतः पाया जाता है। इसका कारण हमको विदित

नहीं है और जब हम यह देखते हैं कि हम जनन-संस्थान की साधारण तथा असाधारण क्रियाओं के विषय में कितने अज्ञान हैं, तो इसमें आश्चर्य नहीं जान पड़ता। फिर भी हम देख सकते हैं कि अनेक प्रतियोगियों के साथ जीवन-संघर्ष होने के कारण पालतू भेदों की अपेक्षा जातें बहुत लंबे काल तक समान परिस्थितियों में रहेंगी और इस कारण परिणाम में बहुत अन्तर हो सकता है। हम यह जानते हैं कि जन्तुओं तथा पौधों को उनकी स्वाभाविक परिस्थितियों से हटाकर कृत्रिम परिस्थितियों में रखने पर वे साधारणतः वन्ध्य हो जाते हैं। ऐसे जीवों के जनन-संस्थान, जो सदा प्राकृतिक अवस्थाओं में रहे हैं, कदाचित् इसी प्रकार अप्राकृतिक संकरण से भी प्रभावित होंगे। दूसरी ओर, जैसा कि पालतू जीवों के विषय में स्पष्ट है, वे मूलतः जीवन की परिस्थितियों के अन्तर से बहुत प्रभावित नहीं होते और उर्वरता में कमी न होने देकर, परिस्थितियों का सामना करते हैं, और इस प्रकार भेद उत्पन्न करते हैं, जिनकी जनन शक्ति अन्य भेदों से संकरण करने पर कम नहीं होती, क्योंकि दूसरे भेद भी इसी प्रकार उत्पन्न होंगे। मैंने अभी तक जो कुछ लिखा है उससे यह आभास होगा कि एक ही जात के भेद परस्पर संकरण में सदा उर्वर रहते हैं, किन्तु इस बात के प्रमाण हैं कि निम्नलिखित उदाहरणों में कुछ वन्ध्यता अवश्य उत्पन्न होती है। जो प्रमाण दिये गये हैं वे कम-से-कम इतने मजबूत अवश्य हैं जितने वे जो अनेक जातों की वन्ध्यता सिद्ध करते हैं। ऐसे विरोधी साक्षी से भी हमको इस बात के प्रमाण मिलते हैं जो साधारणतः उर्वरता तथा वन्ध्यता को जात संबंधी भेद का प्रमाण मानते हैं। गार्टनर ने कई वर्षों तक पीले बीज वाली बहुत छोटी किस्म की तथा लाल बीज वाली लम्बे भेद की मकाई एक-दूसरे के निकट बोकर रखी। यद्यपि इनमें अलग-अलग लिंग के पौधे पाये जाते हैं, फिर भी स्वाभाविक रूप से उनका संसेचन नहीं होता था। फिर उसने एक भेद के १३ फूलों को दूसरे के पराग से संसेचित किया। केवल एक ही पुष्पावलि में बीज उत्पन्न हुए, और वे भी केवल पाँच। मैं समझता हूँ कि किसी ने भी मकाई के इन भेदों को पृथक् जातें नहीं माना है। और यह बात महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार उत्पन्न हुए प्रसंकर पूर्ण उर्वर होंगे जिसकी वजह से स्वयं गार्टनर इन भेदों को पृथक् जात नहीं समझ सका।

गिरू डे बुज़ारेंगु (Girou de buzareingues) ने लौकी के तीन भेदों का संकरण किया जिनमें मकाई की भाँति अलग-अलग भेद थे। और उसका कहना है कि जितने ही अधिक उनके परस्पर भेद हैं, उतना ही कठिन उनका परस्पर संकरण भी है। मैं नहीं कह सकता कि इन प्रयोगों पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है। किंतु इन पौधों को सोगेरेट तथा नाडिन भी भेद मानते हैं और इस निष्कर्ष पर वे उर्वरता के आधार पर पहुँचे हैं।

निम्नलिखित उदाहरण इतना अद्‌भुत है कि उस पर आरम्भ में विश्वास करना कठिन जान पड़ता है, किन्तु यह निष्कर्ष कई वर्षों तक **बर्बैस्कम** की नौ जातियों पर गार्टनर जैसे अद्‌भुत प्रयोगकर्ता द्वारा किये गये असंख्य प्रयोगों पर आधारित है। उन्होंने देखा कि जब इसके पीले और सफेद भेदों में संकरण किया जाता है तो समान भेदों की अपेक्षा कम बीज उत्पन्न होते हैं। वे यह भी कहते हैं कि किसी एक जात के पीले और सफेद भेद दूसरी जात के पीले और सफेद भेदों से संकरण के फलस्वरूप, असमान रंगों की अपेक्षा, अधिक फूल उत्पन्न होते हैं। मि० स्काट ने भी **बर्बैस्कम** की जातों और भेदों पर प्रयोग किये हैं और यद्यपि वे गार्टनर के पृथक् जातों के संकरण से संबंधित परिणामों का समर्थन नहीं कर सके, फिर भी उन्होंने यह देखा कि एक ही जात के समान रंगों वाले भेदों की अपेक्षा असमान रंगों वाले भेदों के संकरण से ८६ और १०० के अनुपात में अधिक बीज उत्पन्न होते हैं। फिर भी ये भेद एक-दूसरे से फूलों के रंग के अतिरिक्त और किसी भी लक्षण में भिन्न नहीं हैं और कभी-कभी एक भेद के पौधे दूसरे भेद के बीज से उत्पन्न हो सकते हैं।

कोलरायटर, जिसके प्रयोगों की यथार्थता की पुष्टि बाद के लोगों ने भी की है, यह सिद्ध करते हैं कि साधारण तम्बाकू का एक भेद एक पृथक् जंगली जात से संकरण करने पर अन्य भेदों की अपेक्षा अधिक उर्वर है। उसने ऐसे पाँच पौधों पर प्रयोग किये जिनको साधारणतः भेद माना जाता है, और जिनको उसने परस्पर संकरण की कठिन परीक्षा से जाँचा। उन्होंने देखा कि इस प्रकार उत्पन्न हुई संतानें पूर्ण उर्वर हैं किन्तु इन्हीं पाँच में से एक भेद को **निकोटिमाना ग्लटिनोसा** से परस्पर संकरण करने पर सदा वन्ध्य प्रसंकर उत्पन्न हुए किन्तु जो इतने वन्ध्य नहीं थे जितने इस जात को अन्य चार भेदों से संकरित करने पर उत्पन्न हुए। स्पष्ट है कि इस एक भेद के जनन-संस्थान कुछ हद तक किसी प्रकार आपरिवर्तित हो गये थे।

इन बातों से स्पष्ट है कि यह नहीं कहा जा सकता कि संकरण करने पर भेद सदा ही उर्वर रहते हैं। प्राकृतिक अवस्था में भेदों की वन्ध्यता जान सकने की कठिनाई के कारण (किसी स्पष्ट भेद के किसी भी अंश तक वन्ध्य सिद्ध होने पर उसको जात मान लिया जाता है !) हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भेदों के बीच उर्वरता का होना या न होना अनिवार्य लक्षण नहीं हैं। इस तरह की कठिनाइयाँ कई तरह की हो सकती हैं—जैसे मनुष्य पालतू भेदों के वाह्य लक्षणों की ओर ही ध्यान दे सकता है, घरेलू भेद लंबी अवधि तक जीवन की एक जैसी परिस्थितियों में नहीं रखे जाते, इत्यादि। संकरित जातों में साधारणतः पायी जानेवाली वन्ध्यता कोई विशेष लक्षण या गुण नहीं है, बल्कि यह उनके लैंगिक तत्वों में होने वाले कुछ अज्ञात परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है।

उर्वरता के अतिरिक्त जात तथा भेदों के प्रसंकरों की अन्य लक्षणों से तुलना

उर्वरता के प्रश्न के अतिरिक्त, जातों तथा भेदों के संकरण से उत्पन्न सन्तानों की तुलना कई अन्य विषयों में की जा सकती है। गार्टनर की इच्छा जातों और भेदों को पृथक् करने के लिए स्पष्ट रेखा खींचने की थी, किन्तु मेरे विचार में वे भी जातों तथा भेदों के बीच बहुत थोड़े और अमहत्वपूर्ण अन्तर ही पा सके। साथ ही कई महत्वपूर्ण बातों में वे एक-दूसरे के समान भी हैं।

मैं इस विषय पर बहुत संक्षेप में विचार करूँगा। सब से महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि पहली पीढ़ी में जातों के प्रसंकरों की अपेक्षा भेदों के प्रसंकरों में अधिक अन्तर होते हैं। किन्तु गार्टनर यह मानते हैं कि बहुत दिनों तक पाली जाने वाली जातों में भी बहुधा पहली पीढ़ी में बहुत अन्तर होते हैं। मैंने स्वयं इस बात के स्पष्ट उदाहरण देखे हैं। गार्टनर यह भी मानते हैं कि सन्निकट जातों के प्रसंकरों में सुदूर जातों की प्रसंकरों की अपेक्षा अधिक अन्तर होते हैं। इससे यह मालूम होता है कि इस तरह की परिवर्तनशीलता कहीं कम, कहीं अधिक होती है। जब भेदों के प्रसंकर तथा जातों के उर्वर प्रसंकर कई पीढ़ियों तक पाले जाते हैं, तो उनकी संतानों में परिवर्तनशीलता का पाया जाना विख्यात है। किन्तु ऐसे उदाहरण भी लिये जा सकते हैं जिनमें दोनों प्रकार के प्रसंकर बराबर समान बने रहते हैं। फिर भी संभवतः भेदों के प्रसंकरों में परिवर्तनशीलता अधिक होती है।

परिवर्तनशीलता की यह अधिकता आश्चर्य की बात नहीं है। अधिकांश भेदों के प्रसंकरों के माता-पिता पालतू भेद हैं। (प्राकृतिक भेदों पर बहुत कम प्रयोग किये गये हैं) और इससे यह पता चलता है कि इन मूल जीवों में हाल तक परिवर्तन होते रहे हैं। जो संकरण के बाद न केवल बने रहेंगे बल्कि बढ़ भी जायेंगे। हाँ, जात-प्रसंकरों की पहली पीढ़ी में बाद की पीढ़ियों की अपेक्षा कुछ परिवर्तनशीलता का पाया जाना विचित्र बात है, तथा इस पर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि इसका सम्बन्ध परिवर्तनशीलता के उन कारणों से है जिनका मैंने उल्लेख किया है—अर्थात् परिवर्तित परिस्थितियों के लिए विशेषतः हृष होने के कारण जनन-संस्थान अपना काम ठीक-ठीक नहीं कर सकता, अर्थात् वह मूल रूप के ठीक समान संतान उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रथम पीढ़ी के प्रसंकर ऐसी जातों से उत्पन्न हुए हैं (और उनको छोड़ जिनका पालन बहुत दिन तक किया गया है) जिनके जनन-संस्थान किसी प्रकार प्रभावित नहीं हुए और ये प्रसंकर परिवर्तनशील नहीं हैं, किन्तु स्वयं इन प्रसंकरों के जनन-संस्थान काफी प्रभावित हुए हैं और इसलिए इनकी संतानें काफी परिवर्तनशील हैं।

आइये, हम फिर जात तथा भेदों के प्रसंकरों की तुलना करें। गार्टनर का कहना है कि जात प्रसंकरों की अपेक्षा भेद-प्रसंकर आसानी से पुनः मूल रूप के हो जाते हैं। किन्तु यदि यह ठीक है, तो केवल अंशों की बात है। गार्टनर यह भी स्पष्ट कहता है कि बहुत दिन तक लगाये गये पौधों के जात-प्रसंकर उन पौधों की अपेक्षा, जो प्राकृतिक अवस्था में पाये जाते हैं, मूल रूप में आसानी से बदलते हैं। कदाचित् इस बात से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न प्रकृतिवादियों के अवलोकनों में क्यों इतने अंतर देखे जाते हैं। मेक्स विचुरा को इसमें संदेह है कि प्रसंकर शायद कभी भी मूलरूप में बदलते हों। उसने 'विलों' की जंगली जातों पर प्रयोग किया था। नाडिन इस बात पर जोर देते हैं कि लगभग सभी प्रसंकर मूल रूप में बदल जाते हैं और उन्होंने लगाये हुए पौधों पर प्रयोग किये थे। गार्टनर का यह भी कहना है कि जब दो सन्निकट जातों का संकरण किसी तीसरी जात से किया जाता है तो दोनों के प्रसंकर एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। और जब एक जात के दो स्पष्ट भेदों का संकरण किसी दूसरी जात से किया जाता है तो प्रसंकर बहुत भिन्न नहीं होते। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ यह निष्कर्ष केवल एक ही प्रयोग के आधार पर निकाला गया है और कोलरायटर के अनेक प्रयोगों के विपरीत है।

इस प्रकार जात तथा भेद प्रसंकरों के बीच गार्टनर बहुत महत्वपूर्ण अंतर ही बता पाये हैं। इसके विपरीत जात-प्रसंकरों तथा भेद-प्रसंकरों की समानताएँ एक दूसरे से तथा मूल रूपों से, विशेषकर संबंधित जात के प्रसंकरों से बहुत स्पष्ट हैं और इन पर एक ही नियम लागू होते हैं। जब दो जातों का संकरण होता है तो बहुधा एक में यह शक्ति होती है कि वह प्रसंकर पर अपनी समानता की छाप डाल दे। यही बात पौधों तथा जंतुओं के भेदों में भी पायी जाती हैं परस्पर संकरण के द्वारा उत्पन्न प्रसंकर पौधे बहुधा एक दूसरे के समान होते हैं। यही बात पौधों के परस्पर भेद-संकरण में भी देखी जाती है। कई पीढ़ियों तक इसी एक मूल रूप से संकरण करते रहने पर जात-प्रसंकर तथा भेद-प्रसंकर दोनों मूल रूप को प्राप्त होते हैं।

ऊपर लिखी बातें स्पष्टतः जन्तुओं पर भी लागू हैं, किन्तु द्वितीय लैंगिक लक्षणों के कारण यह विषय बहुत जटिल है। जटिलता इस कारण और भी बढ़ गयी है कि जातों के संकरण तथा भेदों के संकरण दोनों में ही माता तथा पिता दो में से एक में अपने लक्षण विशेषतः सन्तानों में प्रदान करने की अद्भुत् शक्ति पायी जाती है। उदाहरण के लिए मेरे विचार में वे लेखक बिल्कुल सही हैं जिन्होंने यह लिखा है कि गदहे और घोड़े के किसी प्रकार के परस्पर संकरण में गदहा अधिक शक्तिवान होता है और यह शक्ति नर जन्तुओं में अधिक होती है और इसलिए गदहे और घोड़ी के संकरण में खच्चर

घोड़े के अधिक समान होता है। और गदही और घोड़े के संकरण में संतानें गदहे के कम समान होती हैं।

कुछ लेखकों ने इस काल्पनिक बात पर बहुत जोर दिया है कि केवल भेद-प्रसंकरों में ही सन्तानें माता अथवा पिता के समान होती हैं किन्तु दोनों के बीच के लक्षणों वाली नहीं। किन्तु यह बात जात-प्रसंकरों में भी होती है चाहे इतनी अधिक न होती हो जितनी भेद-प्रसंकरों में। प्रसंकर जन्तुओं के ऐसे सभी उदाहरणों में, जिनको मैंने एकत्र किया है, मैंने देखा है कि इस प्रकार की समानताएँ बहुधा उन लक्षणों के संबंध में नहीं होतीं जो धीरे-धीरे निर्वाचन के द्वारा प्राप्त की गयी हों बल्कि असाधारण प्रकार के लक्षणों के संबंध में जैसे रंगहीनता, चमड़े का कालापन, पूँछ व सींगों की अनुपस्थिति, सामान्य से अधिक अँगुलियाँ आदि। एकाएक माता अथवा पिता के समान होने की प्रवृत्ति ऐसे भेद-प्रसंकरों में होती है जो भेद स्वयं एकाएक उत्पन्न हुए होंगे, न कि जात प्रसंकारों में जिनकी जातों की उत्पत्ति धीरे-धीरे निर्वाचन के द्वारा होती रही। कुल मिलाकर मैं डा० प्रास्पर लूकर की बातों से पूर्णतः सहमत हूँ जो जन्तुओं के विषय में अनेक तथ्यों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि चाहे माता-पिता के बीच अन्तर कम हो अथवा अधिक, बच्चे का इनके समान होना एक ही नियम पर आधारित है, अर्थात् चाहे माता-पिता एक ही भेद के हों, अलग-अलग भेदों के हों अथवा अलग-अलग जातों के हों।

इस प्रकार उर्वरता तथा वन्ध्यता के प्रश्न को छोड़ सभी बातों में संकरित जातों अथवा संकरित भेदों में बहुत समानता है। यदि हम यह विश्वास करते हों कि जातों की सृष्टि अलग-अलग और विशेष रूप से हुई, तथा भेदों का निर्माण गौण नियमों के आधार पर हुआ है तो यह समानता आश्चर्यजनक जान पड़ती है। किन्तु इस मत के आधार पर कि जातों तथा भेदों के बीच कोई आधारभूत अन्तर नहीं है, हमको कोई आश्चर्य नहीं होता।

सारांश

ऐसे जीवों के प्रथम संकरण जो एक-दूसरे से इतने स्पष्ट हैं कि उनको जातों का स्तर दिया जा सके, तथा उनके प्रसंकर, साधारणतः वन्ध्य होते हैं, किन्तु सदा नहीं। यह वन्ध्यता कई अंशों की होती है और बहुधा इतनी थोड़ी होती है कि कभी-कभी इस परीक्षा के आधार पर जीवों का स्तर निर्णय करने में बहुत कुशल प्रयोगकर्त्ता भी विपरीत निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। एक ही जात के भिन्न-भिन्न सदस्यों की वन्ध्यता भिन्न होगी और यह अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों से प्रभावित है। वन्ध्यता की मात्रा वर्गीकरण सम्बन्धी निकटता से बहुत सम्बन्धित नहीं बल्कि कई विचित्र तथा जटिल

नियमों पर आधारित है। साधारणतः यह किन्हीं दो जातों के परस्पर संकरणों में भिन्न (और कभी-कभी बहुत ही भिन्न) होती है। प्रथम संकरण तथा इस संकरण से उत्पन्न प्रसंकरों में यह सदा समान नहीं होती।

जिस प्रकार पेड़ों में कलम बाँधने की क्रिया में किस पेड़ पर किसकी कलम लग सकती है, यह कई अज्ञात बातों पर निर्भर है, जिनमें मुख्य हैं—उनके वर्धी अंगों के अन्तर, उसी प्रकार संकरण की क्रिया में किन्हीं दो जातों का संयुक्त होना या न होना, उनके जनन-संस्थानों के बीच होने वाले कुछ अज्ञात अन्तरों पर निर्भर करता है। जिस प्रकार यह विचार ठीक नहीं है कि पौधों में भिन्न-भिन्न जातों की कलमें किसी विशेष गुण के कारण इसलिए नहीं बाँधी जा सकतीं कि जातें एक-दूसरे से मिलजुल न जायें, उसी प्रकार यह विचार करना भी ठीक नहीं कि जातों में वन्ध्यता की अलग-अलग मात्राएँ इसीलिए हैं कि संकरण के द्वारा वे एक-दूसरे से मिल न जायें।

प्रथम संकरण तथा उनके प्रसंकर सन्तानों की वन्ध्यता प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा अर्जित नहीं है। प्रथम संकरण में संभवतः यह कई परिस्थितियों पर निर्भर करता है और कई उदाहरणों में यह मुख्यतः भ्रूण की मृत्यु के कारण हैं। प्रसंकरों में संभवतः यह इस बात पर निर्भर है कि दो स्पष्ट प्रकार के गठनों के एक में मिलने पर उनकी संपूर्ण गठन बदल जाती है, अतः यह वन्ध्यता बहुत कुछ शुद्ध जातों की उस वन्ध्यता के समान है जो उनको नयी तथा कृत्रिम परिस्थितियों में रखने पर उत्पन्न होती है। जो इसका कारण बता सकेगा वह प्रसंकरों की वन्ध्यता का स्पष्टीकरण भी कर सकेगा। यह मत एक दूसरे प्रकार की समानता से भी पुष्टि प्राप्त करता है, अर्थात् यह कि प्रारम्भ में जीवन की परिस्थितियों के छोटे-छोटे अन्तर जीवों की शक्ति और उर्वरता में वृद्धि करते हैं। और दूसरे यह कि ऐसे जीवों के संकरण से, जो कुछ परिवर्तित परिस्थितियों में रहे हैं, शरीर की शक्ति, नाप तथा सन्तानों की उर्वरता बढ़ती है। द्विरूपीय तथा त्रिरूपीय पौधों के अवैध संयोग तथा उनकी अवैध सन्तानों की वन्ध्यता के सम्बन्ध में दी गयी बातों के आधार पर ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम संकरण और उनकी सन्तानों की उर्वरता के बीच किसी प्रकार का अज्ञात सम्बन्ध है। द्विरूपता से सम्बन्ध रखने वाली इन बातों पर परस्पर-संकरण के नतीजों पर विचार करने से हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संकरित जातों की वन्ध्यता का मुख्य कारण उनके लैंगिक तत्वों में निहित है। स्पष्ट जातों में लैंगिक तत्व साधारणतः इतने आपरिवर्तित क्यों हो गये कि उनमें परस्पर वन्ध्यता उत्पन्न हो गयी यह हम नहीं जानते फिर भी इसका सम्बन्ध इस बात से जान पड़ता है कि ये जातें बहुत लम्बी अवधियों तक समान परिस्थितिओं में रही हैं।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि किन्हीं दो जातों में संकरण करने की कठिनाई तथा उनके प्रसंकर सन्तानों की वन्ध्यता के बीच बहुधा समानता हो, क्योंकि दोनों इस बात पर निर्भर हैं कि संकरित जातों के बीच कितना अन्तर है। इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्रथम संकरण की आसानी तथा उससे उत्पन्न प्रसंकरों की उर्वरता और कलम बाँधने की शक्ति, सभी कुछ हद तक प्रयोग से सम्बन्ध रखने वाले जीवों की वर्गीकरण सम्बन्धी निकटता पर निर्भर हो—यद्यपि कलम बाँधने की शक्ति स्पष्टत: कहीं-कहीं बिल्कुल भिन्न बातों पर निर्भर है। कारण यह है कि वर्गीकरण सम्बन्धी निकटता का सम्बन्ध सभी प्रकार की समानताओं से है।

ऐसे दो जीवों के बीच प्रथम संकरण, जो निश्चित रूप से भेद ही हैं, तथा उनकी प्रसंकर सन्तानें साधारणतया उर्वर होती हैं, किन्तु सदा नहीं। इस साधारणत: पायी जाने वाली तथा पूर्ण उर्वरता में कोई आश्चर्य की बात नहीं जान पड़ेगी। हमको यह याद रखना चाहिए कि बहुधा भेदों के सम्बन्ध में हम भ्रमात्मक तर्क करते हैं, तथा अधिकांश भेद घरेलू परिस्थितियों में केवल वाह्य अन्तरों के निर्वाचन के द्वारा उत्पन्न हुए हैं और वे बहुत समय तक समान परिस्थितियों में नहीं रखे गये हैं। यह भी विशेष कर ध्यान में रखना चाहिए कि लम्बी अवधि तक पालतू परिस्थिति में रहने पर जीवों की वन्ध्यता दूर होती है और इसीलिए ऐसे वातावरण में वन्ध्यता उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। उर्वरता के प्रश्न को छोड़ अन्य सभी बातों में जात-प्रसंकरों तथा भेद-प्रसंकरों में अधिक से अधिक समानताएँ हैं। उदाहरण के लिए उनकी परिवर्तनशीलता में या बारम्बार संकरण के द्वारा एक-दूसरे के लक्षणों को ग्रहण करने की शक्ति में या माता तथा पिता दोनों के ही लक्षणों को वंशागत करने में। अत: अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यद्यपि प्रथम संकरणों और प्रसंकरों की वन्ध्यता के ठीक कारणों के विषय में हम उतने ही अनभिज्ञ हैं जितने इस समस्या के विषय में कि स्वाभाविक वातावरण से हटाये जाने पर जन्तु तथा पौधे क्यों वन्ध्य हो जाते हैं, तथापि इस अध्याय में दिये गये तथ्य मेरी समझ में इस विश्वास के प्रतिकूल नहीं हैं कि बिल्कुल आरम्भ में जातें भेदों के रूप में ही थीं।

अध्याय दस

भूतत्वीय उल्लेख की अपूर्णता

वर्तमान समय में माध्यमिक भेदों की अनुपस्थिति---विलुप्त माध्यमिक भेदों की प्रकृति; उनकी संख्या---निक्षेपण तथा अनाच्छादन की गति के आधार पर काल-व्यय के सम्बन्ध में निष्कर्ष---वर्षों द्वारा काल-व्यय का आगमन---हमारे पुरासात्विकी संग्रह की हीनता---भूतत्वीय निर्माण का सविराम होना---ग्रेनाइटी क्षेत्रों का अनाच्छादन---किसी एक निर्माण में माध्यमिक भेदों की अनुपस्थिति---जात-समूहों का एकाएक प्रकट होना---सब से नीचे के फॉसिल-स्तरों में एकाएक उनका प्रकट होना---निवास के योग्य पृथ्वी की प्राचीनता।

छठे अध्याय में मैंने उन मुख्य आपत्तियों का उल्लेख किया है जो इस पुस्तक में दिये गये मत के विरुद्ध की जा सकती हैं। इनमें से अधिकांश पर अब मैं विचार कर चुका हूँ। इनमें से एक अर्थात् जातों की स्पष्टता तथा उनका एक-दूसरे से माध्यमिक रूपों से पूर्णत: सम्बन्धित न होना, एक स्पष्ट कठिनाई है। मैंने इस बात के कारणों का उल्लेख किया है कि वर्तमान समय में परिस्थिति के बहुत अनुकूल जान पड़ने पर ही, अर्थात् बड़े और एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा क्रमिक भौतिक दशाओं के होते हुए भी इस तरह के माध्यमिक जीव साधारणत: क्यों नहीं पाये जाते। मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रत्येक जात का जीवन जलवायु की अपेक्षा अन्य स्पष्ट प्रकार के जीवों की उपस्थिति पर अधिक निर्भर होता है; और इसलिए वास्तव में जीवन पर नियंत्रण करने वाली दशाएँ गर्मी अथवा नमी की भाँति क्रमिक नहीं होतीं। मैंने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि माध्यमिक भेदों की संख्या उन जीवों की संख्या की अपेक्षा कम होती है जिनके बीच ये सम्बन्ध स्थापित करती हैं और इसलिए अधिक आपरिवर्तन और प्रगति होने पर उनकी पराजय तथा उनका विनाश होगा। किन्तु पूरी सृष्टि में इस समय असंख्य माध्यमिक रूपों के न पाये जाने का मुख्य कारण यह है कि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया बहुत मन्द गति से होती है और इसी क्रिया के द्वारा नये भेद निरन्तर मूल रूपों का स्थान ग्रहण करते रहते हैं। किन्तु जिस प्रकार विलुप्तता की यह क्रिया

एक विशाल पैमाने पर होती रही है, उसी प्रकार किसी समय पाये जाने वाले माध्यमिक रूपों की संख्या भी बहुत बड़ी रही होगी। तो फिर प्रत्येक पुरातत्वीय निर्माण और स्तर इस प्रकार के माध्यमिक रूपों से क्यों नहीं भरा पड़ा है? निश्चय ही पुरातत्व-शास्त्र से जीवों के इस प्रकार के क्रम का पता नहीं चलता है और कदाचित् यही मेरे मत के विरुद्ध सब से बड़ी और गम्भीर कठिनाई है। मेरा विश्वास है कि इसका उत्तर पुरातत्वीय उल्लेख की अपूर्णता के आधिक्य में पाया जाएगा।

सब से पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार किस प्रकार के माध्यमिक रूप उत्पन्न हुए होंगे। किन्हीं दो जातों को देखने पर मेरी कल्पना में उनके बीच के रूपों के चित्र आये। किन्तु यह मत बिल्कुल ही निराधार है। इस प्रकार हमको सभी जातों के बीच के रूपों की तथा सभी जातों के एक ही सामान्य तथा अज्ञात पूर्वज की कल्पना करनी होगी और इस पूर्वज को कुछ बातों में अपनी सभी आपरिवर्तित सन्तानों से भिन्न होना होगा। एक सरल उदाहरण लीजिए, 'फैनटेल' पथा 'पाउटर' दोनों ही प्रकार के कबूतर चट्टानी कबूतर की सन्तानें हैं। अगर इनके बीच के सभी भेद जीवित होते तो इन दोनों के तथा चट्टानी कबूतर के बीच के भेदों का क्रम होता; फिर भी 'फैनटेल' और 'पाउटर' के ठीक बीच कोई भेद न होता। उदाहरण के लिए ऐसा कोई भेद न होता जिसकी पूँछ कुछ चौड़ी होती तथा अन्नगृह कुछ बड़ा होता, और इस प्रकार उसमें दोनों नस्लों के लक्षण उपस्थित होते। साथ ही दोनों नस्लें इतनी आपरिवर्तित हैं कि यदि हमारे पास कोई ऐतिहासिक या परोक्ष प्रमाण न होता तो उनकी उत्पत्ति के विषय में केवल उनकी संरचना की तुलना चट्टानी कबूतर **कोलम्बा लिबिया** से कर के यह कहना सम्भव न होता कि उनकी वंशागति इसी जात से हुई है या किसी दूसरी मिलती-जुलती जात से, जैसे **कोलम्बा ईनस** (Columba oenus) से।

यही बात प्राकृतिक जातों के साथ भी है। यदि हम दो पृथक् जातों पर ध्यान दें, जैसे घोड़े और टपीर (tapir) पर, तो कोई कारण यह समझने का नहीं है कि उनके ही बीच कोई माध्यमिक रूप का जन्तु रहा होगा न कि प्रत्येक जात और उसके अज्ञात सामान्य पूर्वज के बीच इस सामान्य पूर्वज की सम्पूर्ण गठन में टपीर तथा घोड़े से समता रही होगी, किन्तु कुछ बातों में वह दोनों से काफी भिन्न रहा होगा और सम्भव है कि यह भिन्नता आपस की भिन्नता से अधिक ही रही हो। अतः इस तरह के सभी उदाहरणों में पूर्वज तथा उसकी आपरिवर्तित सन्तानों में तुलना करने पर भी किन्हीं दो या अधिक जातों के पूर्वजों का पहचानना तब तक सम्भव न होगा जब तक हमारे पास माध्यमिक जीवों की पूरी शृंखला न होगी।

इस मत के अनुसार यह भी सम्भव है कि किन्हीं दो जीवों में एक की उत्पत्ति दूसरे से हुई हो, जैसे घोड़े की टपीर से; और इस प्रकार के उदाहरण में इनके बीच के प्रत्यक्ष माध्यमिक रूप भी जीवित होंगे। किन्तु इसके यह तात्पर्य होंगे कि इनमें से एक प्रकार का जीव बहुत समय तक बिना परिवर्तन के जीवित था, ज़ब कि इसकी सन्तानों में अनेक परिवर्तन होते गये। प्रतियोगिता के सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार पूर्वज तथा उसकी सन्तानों की प्रतियोगिता होगी। अतः ऐसे उदाहरणों की सम्भावना बहुत कम होगी, क्योंकि नये और प्रगतिशील जीव पुराने और अप्रगतिशील जीवों पर विजय प्राप्त कर उनका स्थान ग्रहण करेंगे।

प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार सभी जीवित जातें अपने पूर्वज-जात से उसी प्रकार के अन्तरों द्वारा सम्बन्धित होंगी जैसे अन्तर वर्तमान समय में एक ही जात के प्राकृतिक तथा घरेलू भेदों में पाये जाते हैं। और साधारणतः ये विलुप्त पूर्वज जातें इसी प्रकार और भी प्राचीन जातों से सम्बन्धित रही होंगी, तथा इस प्रकार पीछे की ओर बढ़ने पर किसी बड़े वर्ग की सभी जातें एक ही सामान्य पूर्वज से सम्बन्धित होंगी। इस प्रकार सभी जीवित तथा विलुप्त जातों के बीच असंख्य माध्यमिक तथा संक्रामी जीव होंगे। और निश्चय है कि यदि यह मत ठीक है, तो पृथ्वी पर किसी समय अवश्य रहे होंगे।

निक्षेपण तथा अनाच्छादन की गति के आधार पर काल-व्यय के सम्बन्ध में निष्कर्ष

इस बात पर यदि हम कोई ध्यान न भी दें कि इन अनगिनती माध्यमिक जीवों के जीवाश्म हमको नहीं मिलते, तो भी यह कहा जा सकता है कि जीवों से सम्बन्धित इतने बड़े परिवर्तन के हो सकने के लिए पर्याप्त समय नहीं व्यतीत हुआ है, विशेषकर इस दृष्टिकोण से कि सभी परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे हुए है। अपने उन पाठकों को, जो स्वयं भूतत्वशास्त्र में प्रवीण नहीं हैं, मेरे लिए यह समझाना कठिन है कि किन बातों से काल-व्यय का पता चलता है। सर चार्ल्स लियेल की वृहत पुस्तक 'पुरातत्व शास्त्र के सिद्धान्त' का अध्ययन करने पर यह पता चलेगा कि कितना अधिक समय इस प्रकार व्यतीत हुआ है। वास्तव में इस पुस्तक के द्वारा प्रकृतिशास्त्र में एक क्रान्ति उत्पन्न हो गयी है। और इसको पढ़ने पर भी यदि कोई यह समझ न सके कि कितने लम्बे काल पहले व्यतीत हो चुके हैं, तो उसको मेरी पुस्तक बन्द कर देनी चाहिए। यह बात नहीं है कि पुरातत्त्व के सिद्धान्त अथवा अन्य विशेषज्ञों द्वारा लिखी पुस्तकों में अलग-अलग निर्माण का अध्ययन करना और यह देखना कि प्रत्येक लेखक ने यह समझाने का कितना

प्रयत्न किया है कि प्रत्येक स्तर या प्रत्येक निर्माण का निर्माण काल कितना लम्बा है, पर्याप्त है। बीते हुए काल का कुछ अन्दाज लगाने का सबसे अच्छा ढंग यह है कि यह देखा जाय कि किस प्रकार तथा कितनी गहराई तक पृथ्वी के किसी भाग के धरातल का घनाच्छादन हुआ है, तथा कितने अवसाद (sediment) का निक्षेपण हुआ है। जैसा लियेल ने कहा है कि हमारे अवसाद-स्तरों की मोटाई अथवा उनके फैलाव यह बताते हैं कि किसी अन्य स्थान पर पृथ्वी के धरातल पर कितना अनाच्छादन हुआ है। इसलिए हमको चाहिए कि हम स्वयं एक-दूसरे पर लदी मिट्टी की परतों की परीक्षा करें और देखें कि छोटी-छोटी नदियाँ किस प्रकार मिट्टी बहाती हैं अथवा समुद्र की लहरें किस तरह धीरे-धीरे चट्टानों को काटती हैं। ऐसा करने पर हमको स्वयं ही विगत काल की अवधि का कुछ अन्दाज लगेगा।

इसी तरह समुद्र तट पर चल कर साधारणतः मजबूत चट्टानों पर होने वाली ह्रास की क्रिया का अवलोकन करना लाभदायक होगा। बहुधा लहरें इन चट्टानों तक दिन में केवल दो बार ही पहुँच पाती हैं और उनका ह्रास तभी कर पाती हैं जब उनके साथ बालू या पत्थर भी हों। हमारे पास इस बात के अच्छे प्रमाण हैं कि शुद्ध जल पत्थर नहीं काटता। अंत में चट्टान कट जाती है, बड़े-बड़े टुकड़े गिरते हैं और फिर स्थायी होने के कारण, कण-कण करके ये घिसते जाते हैं और फिर इतने छोटे हो जाते हैं कि लहरें इनको ढकेल सकें जिससे अंत में वे पत्थर के टुकड़ों, बालू या कीचड़ में परिवर्तित हो जाते हैं। बहुधा ऐसी ही चट्टानों के आस-पास हम बड़े-बड़े गोलाकार पत्थर देखते हैं जो समुद्री वनस्पतियों या जन्तुओं से ढके होते हैं। इससे यह पता चलता है कि उन पर लहरों का कितना कम प्रभाव पड़ता है और उसके साथ ये कितने कम कटते हैं तथा कितना कम वे लुढ़कते हैं। यदि हम किसी ऐसी चट्टान के किनारे-किनारे कुछ मील की दूरी तय करें जिसका ह्रास हो रहा है, तो हम देखते हैं कि वर्तमान समय पर केवल कहीं-कहीं ही, कोनों इत्यादि पर, उनकी हानि हो रही है। उनके धरातल के आकार तथा उन पर वनस्पति की उपस्थिति से यह पता चलता है कि अन्य स्थानों पर वर्षों से लहरों का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

हाल में रैमज़ तथा जूक्स, गाईकी, क्राल आदि के अवलोकनों से यह पता चला है कि अनाच्छादन की क्रिया अधोवायवीय भागों में समुद्र-तटों की अपेक्षा अधिक तेजी से होती है। स्थल के पूरे धरातल पर वायु तथा कारबोनिक एसिड सहित वर्षा जल की रासायनिक क्रिया बराबर होती रहती है और ठंडे प्रदेशों में इनके अतिरिक्त बर्फ का प्रभाव भी होता रहता है। और इन क्रियाओं के फलस्वरूप नष्ट हुआ द्रव्य वर्षा के साथ थोड़े ढालू तल से बहता जाता है और इस प्रकार यह क्रिया काफी तेजी से बढ़ती

रहती है। सूखे भागों में यह क्रिया वायु के द्वारा होती रहती है। अंत में ये पदार्थ नदियों आदि में जाते हैं। जब नदियाँ तेज बहने वाली होती हैं तो स्वयं गहरी होती जाती हैं और अपने तल को काटती और पीसती जाती हैं। वर्षा के दिनों में थोड़े-बहुत ऊँचे-नीचे प्रदेशों में भी इस प्रकार के अधोवायवीय ह्रास का प्रभाव हम ढालों पर बहते हुए कीचड़ मिली धाराओं के रूप में देख सकते हैं। रैंमजे तथा ह्विटेकर ने यह आश्चर्यजनक बात बतायी है कि वीलडेन (Wealden) प्रदेश तथा इंग्लैंड के एक तट से दूसरे तट तक जाने वाली ढलुवाँ दीवारें, जिनको पहले प्राचीन समुद्र-तट समझा जाता था, इस प्रकार नहीं बन सकती थीं, क्योंकि प्रत्येक दीवार एक ही प्रकार के स्तर की बनी है जब कि हर जगह समुद्री चट्टानें अनेक प्रकार के पदार्थों या स्तरों से बनी हैं। ऐसी दशा में इन दीवारों की उत्पत्ति मुख्यत: इस प्रकार हुई कि आस-पास के धरातल की अपेक्षा इन भागों की चट्टानें अधोवायवीय क्रियाओं के कारण बहुत कम नष्ट हुई और बाद में यह धरातल कुछ ढालुवाँ हो गया और बीच-बीच की बहुत कठिन चट्टानें ऊँची तथा उभरी रह गयीं। हमारे विचार के अनुसार विगत काल की विशालता का प्रमाण इससे अधिक क्या हो सकता है कि अधोवायवीय कारण, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से कोई शक्ति नहीं है, धीरे-धीरे इस प्रकार के परिणाम उत्पन्न कर सकें।

अधोवायवीय तथा तटीय क्रियाओं के द्वारा स्थल के धीरे-धीरे नष्ट होने की क्रिया समझने पर यह विचार करना भी आवश्यक है कि कुछ स्थानों पर बड़े-बड़े क्षेत्रों में पत्थरों के ढेर-के-ढेर कैसे नष्ट हो गये और कुछ अन्य स्थानों पर निक्षेपण स्तर इतने मोटे किस प्रकार हैं। ज्वालामुखी द्वीपों को देखने पर मुझको इस बात पर बहुत आश्चर्य हुआ कि चारों ओर लहरों के प्रभाव से कट जाने पर उनके बीच-बीच में एक या दो हजार फीट ऊँची चट्टानें बन गयीं। लावा के तरल रूप में होने के कारण, वह दूर तक एक ढाल में बह चला होगा और इसलिए एक ही दृष्टि से यह स्पष्ट दिखाई देता था कि द्वीप कितनी दूर तक समुद्र-तल में चट्टान की भाँति फैला है। इसलिए इन ऊँची खड़ी चट्टानों के निर्माण की विधि के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। यही बात पृथ्वी के स्तरों की उथल-पुथल से भी मालूम होती है। कहीं-कहीं पृथ्वी के फटने पर ये स्तर एक ही ओर हजारों फीट ऊँचे उठ गये हैं या बहुत नीचें धँस गये हैं। चाहे यह उथल-पुथल एकाएक हुई हो, या जैसा अधिकांश पुरातत्त्ववेत्ता अब मानते हैं, धीरे-धीरे हुई हो, पृथ्वी के फटने पर, स्थल का धरातल ऐसा चिकना हो गया है कि इन विशाल परिवर्तनों का कोई चिह्न ऊपर से नहीं दिखाई देता। उदाहरण के लिए 'क्रेवेन फाल्ट' (Craven fault) जो तीस मील से अधिक फैला हुआ है और इस रेखा पर स्तर ६०० से ३००० फीट की ऊँचाई तक ऊँचे-नीचे हो गये हैं। प्रो० रैंमजे

ने ऐन्गलीसिया में इसी प्रकार के एक धरातल-दोष का वर्णन किया है जो २३ सौ फीट ऊँचा है और उन्होंने मुझको यह सूचना दी है कि इसी प्रकार का एक १२ हजार फीट ऊँचा दोष मीरियोनेथशायर में भी है। फिर इन उदाहरणों में स्तर के धरातल पर ऐसा कोई लक्षण नहीं है जिससे नीचे-नीचे होने वाले विप्लव का कोई आभास हो क्योंकि दरार के दोनों ओर की दीवारें अनाच्छादन के कारण विल्कुल चिकनी हो गयी हैं।

दूसरी ओर, संसार के सभी भागों में निक्षेपण स्तरों के ढेर बहुत ही मोटे हैं। कीर्डलेरा में मेरा अनुमान है कि इस प्रकार का एक ढेर लगभग १० हजार फीट ऊँचा होगा। यद्यपि इस प्रकार के ढेर निक्षेप की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से इकट्ठे हुए होंगे, फिर भी घिसे हुए गोल पत्थरों के वने हुए आकारों, जिनका आकार बीते हुए समय के विषय में बताता है, उससे यह पता चलता है कि यह पूरा ढेर कितने अधिक समय में बना होगा! ग्रेट ब्रिटेन के भिन्न-भिन्न भागों में नाप-जोख के बाद प्रो० रैमज़े ने विभिन्न स्तरों की मोटाई मुझको निम्नलिखित बतायी है :—

पेलियोजो इक (palaeozoic) स्तर (आग्नेय (igneous) स्तरों को छोड़)	५७,१५४ फीट
द्वितीय स्तर	१३,१९० फीट
तृतीय स्तर	२,२४० फीट

इस प्रकार सब मिलाकर ७२५८४ फीट अर्थात् १३¾ मील की मोटाई होती है। यूरोप में ऐसे कुछ स्तर जो इंग्लैण्ड में बहुत पतले हैं, कई हजार फीट मोटे हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दो क्रमिक स्तरों के बीच अधिकांश पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार बहुत लम्बे काल व्यतीत हुए होंगे जिनको स्पष्ट करने के लिए किसी स्तर का चिह्न नहीं है। अतः ब्रिटेन की विशाल अवसादी शिलाएँ अपने निर्माणकाल का केवल बहुत स्थूल अन्दाज देती हैं। इन सब बातों पर विचार करने से मस्तिष्क कुछ उसी प्रकार प्रभावित होता है कि जिस प्रकार अनन्त को समझने का प्रयत्न करने पर।

किन्तु यह प्रारम्भिक अनुभव गलत है। मि० क्राल ने एक रोचक लेख में बताया है कि हम पुरातत्वीय कालों का अनुमान करने में बहुत गलती नहीं करते हैं किन्तु वर्षों में उनको नापने में जब पुरातत्ववेत्ता किसी वड़ी जटिल प्राकृतिक क्रिया पर विचार करते हैं और फिर उनको लाखों वर्ष के पैमाने से नापने हैं, तो यह दोनों बातें मस्तिष्क पर अलग-अलग प्रकार के प्रभाव डालती हैं और वर्षों की संख्या बहुत छोटी लगती है। अधोवायवीय अनाच्छादन के विषय में क्राल ने यह दिखाया है कि एक हजार

फीट ठोस चट्टान धीरे-धीरे घिसती हुई लगभग ६० लाख वर्षों में लोप होगी इन्होंने यह अन्दाज कुछ नदियों के पानी में लाये गये अवसाद का हिसाब लगाकर किया। यह निष्कर्ष बहुत आश्चर्यजनक जान पड़ता है और कुछ बातों पर विचार करने से सन्देह होता है कि सम्भवतः यह संख्या बहुत बड़ी है। किन्तु इसकी आधी या चौथाई संख्या भी क्या कम आश्चर्यजनक है। वास्तव में हम लोग यह समझते ही नहीं कि १० लाख वर्षों के क्या अर्थ हैं। क्राल एक सरल उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि ८३ फीट ४ इंच लंबा कागज लीजिए और एक विशाल कमरे की दीवार पर इसको फैला दीजिए। फिर इसके एक सिरे पर एक इंच के दसवें भाग पर चिह्न लगा दीजिए। यदि इंच का यह दसवाँ भाग १०० वर्ष बताता है तो कागज की पूरी लंबाई १० हजार वर्ष बताती है। साथ ही साथ हमको यह भी समझ लेना चाहिए कि इस विषय को ध्यान में रखते हुए १०० वर्षों के क्या अर्थ हो सकते हैं, जो ऊपर लिखे उदाहरण के कमरे में इतने छोटे चिह्न द्वारा दिखाये गये हैं। कई जन्तुपालकों ने अपने जीवनकाल में ही उच्च प्राणियों को, जो बहुत धीरे-धीरे सन्तानोत्पत्ति करते हैं, इतना आपरिवर्तित कर दिया है कि उसके फलस्वरूप उत्पन्न, नये जन्तुओं को आसानी से उपभेद कहा जा सकता है। बहुत कम लोगों ने किसी नस्ल पर ५० से अधिक वर्षों तक विशेष ध्यान दिया होगा। इस प्रकार १०० वर्षों के मतलब हुए, एक-के-बाद एक दो जन्तु पालकों का निरन्तर काम करते रहना। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि प्राकृतिक अवस्था में भी जातें उतनी तेजी से ही बदलती हैं जितनी तेजी से नियमित निर्वाचन करने पर घरेलू जानवर परिर्वातित होते हैं। तुलना कहीं अधिक अच्छी हो, यदि हम प्राकृतिक निर्वाचन का मुकाबिला अनजाने में किये जाने वाले निर्वाचन से करें, जैसा कि अधिकांश लाभदायक और सुन्दर जन्तुओं के उदाहरण में होता है जिनका निर्वाचन अनजाने में, बिना विशेष ध्यान दिये होता जाता है और जिसके फलस्वरूप दो-तीन शताब्दियों में स्पष्ट परिवर्तन हो गये हैं।

किन्तु संभवतः जातें बहुत धीरे-धीरे परिर्वातित होती हैं और एक ही प्रदेश में एक समय में केवल कुछ ही परिवर्तित होती हैं। यह धीमी गति इसलिए है कि किसी भी प्रदेश में पहले से पाये जाने वाले सभी जीव एक-दूसरे के प्रति इतनी भलीभाँति अनुकूलित रहते हैं कि प्रकृति में नये जीवों के लिए स्थान भौतिक दशाओं के परिर्वातित होने या अन्य प्रदेशों से नये जीवों के आने के कारण ही बड़ी अवधियों के बाद ही हो पाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे परिवर्तन या ठीक प्रकार के वैयक्तिक अन्तर जिनके कारण कुछ जीव परिर्वातित परिस्थितियों में नये स्थानों के लिए अधिक उपयुक्त हों, एकाएक उत्पन्न नहीं होते। दुर्भाग्यवश वर्षों के मापदण्ड के अनुसार हमारे पास यह

जानने का कोई साधन नहीं है कि किसी जात के आपरिवर्तन की क्रिया में कितने समय की आवश्यकता होती है। किन्तु हम समय के विषय पर पुनः विचार करेंगे।

हमारे पुरातत्वीय संग्रहों की हीनता

यदि हम अपने सबसे विशाल पुरातत्वीय संग्रहालयों को भी देखें, तो इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि इनके संग्रह बहुत छोटे और हीन हैं। यह सभी मानते हैं कि यह संग्रह अपूर्ण है। एडवर्ड फोर्ब्स जैसे प्रशंसनीय पुरातत्त्ववेत्ता का मत इस सम्बन्ध में याद रखने योग्य है; उन्होंने कहा कि कई फॉसिल जातों की जानकारी और उनका नामकरण केवल एक ही निदर्शन (specimen) के ऊपर आधारित है, और बहुधा ये भी टूटे होते हैं; हाँ! कभी-कभी यह नामकरण एक ही स्थान से एकत्रित कई निदर्शनों के आधार पर किया जाता है। पृथ्वी के धरातल के बहुत थोड़े भाग का भूतत्त्वीय परीक्षण किया गया है और जैसा प्रत्येक वर्ष यूरोप में होने वाले आविष्कारों से पता चलता है, कोई भी भाग बहुत सावधानी से नहीं देखा गया है। पूर्णतः मुलायम कोई भी जीव पृथ्वी में रक्षित नहीं रह सकता। समुद्र के तले तक पहुँचने पर, जहाँ अवसाद जमा नहीं होता; कवच तथा अस्थियाँ भी नष्ट और लोप हो जाती हैं। हमारी यह धारणा ठीक नहीं है कि समुद्र के तले के प्रत्येक भाग में अवसादन बराबर इतनी तेजी से जमा होता रहता है कि उसके फॉसिल बनते जायें। समुद्र के विशाल भाग में पानी का स्वच्छ नीला होना यह बताता है कि वह शुद्ध है। ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि एक स्तर बिना किसी प्रकार की हानि के कुछ समय वाद, पुनः दूसरे स्तर से ढँक गया है। ऐसे स्तर तभी बन सकते हैं जब समुद्र का तला बहुत युगों तक आपरिवर्तित न रहा हो। ऐसे अवशेष जो इस प्रकार दब जाते हैं, यदि बालू अथवा पत्थर में रहे, तो तले के ऊपर उठने या थोड़े-बहुत उथल-पुथल से फिर नष्ट हो जाएँगे, क्योंकि उनमें पानी तथा उसके साथ कारबोनिक ऐसिड गैस का प्रवेश होगा, जिससे वे घुल जाएँगे। ऐसे कुछ जन्तु जो समुद्र तट पर ज्वार-भाटा की हदों के वीच पाये जाते हैं बहुत कम फॉसिल रूप में रक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए थामालिनी (Chthamalinae) की कई जातें (सिरीपीडिया की एक उपवंश) सारे संसार में समुद्र तट पर किसी क्षेत्र में चट्टानों के ऊपर अनगिनती संख्या में पायी जाती हैं किन्तु आज तक इनकी केवल एक ही जात फाँसिल रूप में पायी गयी है और यह जात भूमध्य सागर में समुद्र की गहराई में मिलती है। हमारे पास इस बात के भी प्रमाण हैं कि यह जात चूर्णियत काल (chalk period) में पायी जाती थी। अन्त में ऐसे कई स्तर; जिनके निर्माण में बहुत समय लगा होगा, बिल्कुल ही अवशेषरहित हैं, हालाँकि हम

इसका कोई कारण नहीं बता सकते। इस प्रकार का एक अद्भुत उदाहरण फ्लाइश (Flysch) निर्माण में पाया जाता है, जो बलुआ पत्थर तथा स्लेट जैसे पत्थर का बना कई हज़ार फीट (कहीं-कहीं ६ हज़ार फीट) मोटा स्तर है जो वियना से स्विटज़रलैण्ड तक, अर्थात् ३०० मील तक, फैला हुआ है। यद्यपि इस बड़े क्षेत्र की सावधानी से परीक्षा की गयी है, किन्तु कुछ वनस्पति अवशेषों को छोड़, इसमें एक भी फॉसिल नहीं प्राप्त हुआ।

द्वितीय तथा पेलियोज़ोइक कालों में रहने वाले स्थलीय जीवों के सम्बन्ध में यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि उनके विषय में सभी प्रमाण बिल्कुल ही अपर्याप्त हैं। उदाहरण के लिए अभी हाल तक, सर सी० डे तथा डाक्टर डासन द्वारा आविष्कृत उत्तरी अमेरिका के कार्बोनिफेरस स्तरों में पायी जाने वाली एक जात के अतिरिक्त स्थल कवचों का अन्य कहीं भी आविष्कार नहीं हुआ है। स्तनी वर्ग के अवशेषों के सम्बन्ध में लियेल की पुस्तक में दी हुई ऐतिहासिक सारणी से ही इस बात का पता चल जाता है कि उनका परिरक्षण कितना कठिन है। इन अवशेषों का विरलापन कोई आश्चर्य की बात नहीं, विशेषकर यदि हम यह याद रक्खें कि तृतीय युग के स्तनियों की अस्थियों का कितना बड़ा भाग झीलों के अवसादन में या खोहों में पाया गया है और साथ ही यह भी याद रक्खा जाय कि द्वितीय या पेलियोज़ोइक कालों की एक भी खोह या वास्तविक झील से सम्बन्ध रखने वाले स्तर हमको ज्ञात नहीं हैं।

किन्तु भूतत्वीय उल्लेख की अपूर्णता ऊपर दिये हुए कारणों की अपेक्षा एक दूसरे ही बहुत महत्वपूर्ण कारण पर निर्भर है। और वह यह है कि विभिन्न स्तर एक दूसरे से समय के लम्बे अन्तरों द्वारा अलग किये हुए हैं। कई भूतत्ववेत्ता तथा विलुप्त जन्तुवेत्ता इस मत का ज़ोरों से समर्थन करते हैं, यद्यपि ई० फोर्ब्स की भाँति वे जातों के परिवर्तन में बिल्कुल ही विश्वास नहीं करते। जब हम पुस्तकों में दी हुई विभिन्न स्तरों की व्यवस्था अथवा स्वयं प्रकृति में इनकी व्यवस्था पर विचार करते हैं, तो इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता कि ये वास्तव में एक-दूसरे के बाद निर्मित हुए हैं। किन्तु हम यह भी जानते हैं कि एक के ऊपर दूसरे फैले हुए स्तरों के बीच कितने बड़े अन्तर हैं, जैसा सर आर० मर्चिसन की बृहत् पुस्तक से रूस के विषय में मालूम होता है, या जैसा उत्तरी अमरीका या संसार के अन्य भागों के विषय में सत्य है। कैसा ही कुशल पुरातत्ववेत्ता क्यों न हो, यदि उसका ध्यान केवल उन्हीं विशाल-क्षेत्रों की ओर हो तो उसको यह सन्देह कभी न होगा कि जिस काल में स्वयं उसके देश में किसी प्रकार का निर्माण नहीं हुआ था, अथवा जब जीवों से धरती शून्य थी, उसी काल में अन्यत्र नये तथा विचित्र जीवों से पूर्ण स्तरों का निर्माण हुआ। और फिर यदि अलग-अलग क्षेत्रों में किन्हीं दो

स्तरों के बीच के समय का अनुमान करना सम्भव नहीं है, तो हम कह सकते हैं कि यह किसी भी स्थान के लिए कठिन है। फिर भी प्रत्येक स्तर के बीच व्यतीत होने वाला समय बहुत अधिक रहा होगा, इस बात का प्रमाण इस प्रकार मिलता है कि इन विभिन्न स्तरों की रासायनिक अथवा खनिज सम्बन्धी संरचना एक-दूसरे से बहुत भिन्न है। इससे यह पता चलता है कि उनके निर्माण काल में आस-पास की पृथ्वी की भौगोलिक दशा बिल्कुल भिन्न रही होगी, तथा इस प्रकार की भिन्नता बहुत शीघ्र नहीं होती। मेरे विचार में हम यह समझ सकते हैं कि किसी क्षेत्र का भूतत्वीय निर्माण बहुत कुछ अन्तरित क्यों है, अर्थात् यह ठीक एक के बाद एक क्यों नहीं पाये जाते। दक्षिणी अमेरिका के तटों के सैकड़ों मील की परीक्षा करते हुए, जो नवीन रूप में कई सौ फीट ऊपर उठ गये हैं, मेरा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित हुआ कि वहाँ कोई नवीन निक्षेपण इतना विस्तृत नहीं है कि यह कहा जा सके कि वह एक छोटे पुरातत्वीय काल का भी निर्माण करता है। पूरे पश्चिमी तट पर, जो विचित्र समुद्री जीवों से भरा है, तृतीय काल के स्तर इतने कम विकसित हैं कि विचित्र समुद्री जन्तुओं की अनेक पीढ़ियों का कोई भी उल्लेख लम्बे युग तक उसमें परिरक्षित न हो सकेगा। थोड़ा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि दक्षिणी अमेरिका के पश्चिम की ओर के उठते हुए तट पर कहीं भी नवीन अथवा तृतीय काल के अवशेष नहीं मिलते, हालाँकि तट की चट्टानों के अनाच्छादन अथवा मिट्टी लाने वाली नदियों के समुद्र में गिरने के कारण युगों तक निक्षेपण-क्रिया तेज़ी से होती रही होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस कठिनाई का उत्तर यह है कि जैसे ही तटीय अथवा अधोतटीय स्तर पृथ्वी के धीरे-धीरे उठने के कारण लहरों के प्रभाव-क्षेत्र में पहुँचे, उनका क्रमिक ह्रास प्रारम्भ हो गया।

मेरी समझ में हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि लहरों के निरन्तर प्रभाव का सामना करने के लिए, निक्षेपण स्तर ऊपर उठे, या बाद के अधोवायवीय ह्रास का सामना करने के लिए निक्षेपण काफी मोटे, ठोस तथा विस्तृत ढेरों में एकत्रित हुए होंगे। निक्षेपण के ऐसे मोटे तथा विस्तृत संग्रह दो प्रकार से बन सकते हैं। या तो इनका निर्माण समुद्र में बहुत गहराई में होगा और तब इस गहराई पर इतनी संख्या में और इतने विविध प्रकार के जीव न होंगे जितने उथले पानी में तथा ऊपर उठने पर इस संग्रह में निर्माणकाल के निकट पाये जाने वाले जीवों का उल्लेख बहुत अपूर्ण होगा; अथवा निक्षेपण कितनी ही मोटाई तथा विस्तार में ऐसे तले पर जमा होगा जो धीरे-धीरे दब रहा होगा; ऐसी अवस्था में जब तक धँसाव तथा अवसादन की गति लगभग एक ही रहेगी तब तक समुद्र उथला बना रहेगा तथा विविध जीवों के लिए अनुकूल रहेगा और

इस प्रकार काफी मोटा अवशेषों से भरा स्तर बनेगा जो ऊपर उठने पर भी बहुत हद तक लहरों का सामना कर सकेगा।

मेरा विश्वास है कि ऐसे सभी प्राचीन स्तर, जिनकी पूरी मोटाई में फॉसिल भरे पड़े हैं, इसी प्रकार के धँसाव से बने हैं। सन् १८४५ में अपने मत का प्रकाशन करने के बाद से मैंने भूतत्वशास्त्र की प्रगति पर ध्यान दिया है और मुझको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक के बाद दूसरे सभी लेखकों ने, चाहे वे किसी भी बड़े स्तर के सम्बन्ध में लिखते हों, इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उनका निर्माण, धँसाव के साथ हुआ है। मैं यहाँ यह भी लिख दूँ कि दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर पाया जाने वाला एक ही ऐसा प्राचीन तृतीय स्तर है जो अब तक होने वाले निरन्तर ह्रास का सामना कर सकता है। किन्तु यह भी बहुत प्राचीन युग का नहीं है, और चूँकि इसका निर्माण पृथ्वी के धँसाव के कारण हुआ है, इसलिए यह भी बहुत मोटा हो गया है।

सभी भूतत्त्वीय तथ्य हमें यह स्पष्ट रूप से वताते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र में समय-समय पर पृथ्वी का तल हल्के-हल्के आन्दोलित होता रहा है और स्पष्टतः इसके कारण काफी बड़े-बड़े क्षेत्र के तल वदलते रहे हैं। फलतः काफी मोटे फॉसिलों (जीवाश्मों) से भरे ऐसे स्तर जो बाद के ह्रास का सामना कर सके, धँसाव के कालों में ही बने होंगे; किन्तु तभी, जब निक्षेपण इतना काफी रहा होगा कि समुद्र बराबर उथला बना रहे। और इसके पहले कि जन्तुओं के अवशेष नष्ट हों, उनका परिरक्षण हो जाय। दूसरी ओर जब तक समुद्र का तल स्थायी बना रहेगा उथले भागों में, जहाँ जीव अधिक पाये जाते हैं, निक्षेपण गहरा नहीं हो सकता। इससे भी कम निर्माण ऐसे काल में होगा जब उन्नयन रह-रह कर होगा, अर्थात् इस प्रकार एक बार बना हुआ स्तर ऊपर उठने पर लहरों की क्रिया के क्षेत्र में आ जाएगा और इसलिए दूसरी बार निक्षेपण होने के पहले नष्ट हो जाएगा।

ये बातें मुख्यतः तटीय तथा अधोतटीय निक्षेपण पर लागू होती हैं। विस्तृत तथा उथले समुद्र में, जैसे कि मलाया द्वीपसमूह के आसपास के समुद्र में जिसकी गहराई ६० या ८० से १२० गज़ तक है, तल के उत्थान काल में काफी विस्तृत स्तर बन सकता है, जिसका इस काल में ह्रास न होगा। किन्तु इस प्रकार के निर्माण की मोटाई बहुत अधिक नहीं हो सकती, क्योंकि उत्थान-गति सदा उस गहराई से कम ही होगी, जिसमें स्तर का निर्माण हो रहा है। साथ ही निक्षेपण बहुत पक्का नहीं होगा और उसके ऊपर अन्य स्तर नहीं बनेंगे, जिसके फलस्वरूप बाद में पृथ्वी के प्रदोलन, अथवा समुद्र के बहाव, या वायुमण्डल के कारण उसके ह्रास की सम्भावना रहेगी। किन्तु मि० हाप्किन्स का कहना है कि यदि उठने के बाद और नष्ट होने के पहले इस क्षेत्र का एक भाग दब जाय,

तो उत्थान-गति के बीच बनने वाले अवसाद मोटे न होने पर भी अन्य निर्माणों के कारण सुरक्षित रह सकते हैं और इस प्रकार बहुत दिनों तक उनका परिरक्षण हो सकता है।

मि० हाप्किन्स (Hopkins) का यह भी विश्वास है कि यदि निक्षेपण स्तर काफी विस्तृत हों तो बहुत कम नष्ट होते हैं। परन्तु उन पुरातत्त्ववेत्ताओं को छोड़, जो यह विश्वास करते हैं कि हमारे वर्तमान परिवर्तनशील शिस्ट (schist), तथा प्लूटॉनिक चट्टानें (plutonic rocks), किसी समय पृथ्वी के केन्द्र का निर्माण करती थीं, अन्य सभी पुरातत्त्ववेत्ता यह मानेंगे कि बाद की इन चट्टानों को ऊपर से ढकने वाले स्तर बहुत कुछ नष्ट हो गये। यदि ऐसा नहीं है, तो यह नहीं विश्वास किया जा सकता कि इस प्रकार की चट्टानें खुले रहने पर ही जम गयी होंगी, किन्तु यदि यही परिवर्तन की क्रिया समुद्र में काफी गहराई में हुई हो, तो सम्भव है कि उनको ढकने वाली तहें बहुत मोटी न रही हों। अतः अब यदि हम यह मान लें कि नाईस (gneiss) अभ्रक की तहें (mica sheets) ग्रैनाइट (granite), डिओराईट (diorite) इत्यादि, प्रारम्भ में ढकी हुई थीं, तो अब क्यों इस प्रकार की चट्टानें संसार के अधिकांश भागों में नग्न अवस्था में पायी जाती हैं? उत्तर एक ही जान पड़ता है कि बाद में इनको ढकने वाले स्तरों का ह्रास हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के विस्तृत क्षेत्र पाये जाते हैं। पेरीम (Parime) का ग्रैनाइट प्रदेश हम बोल्ट के अनुसार कम-से-कम स्विटज़रलैण्ड से १९ गुना बड़ा है। अमेज़न नदी के दक्षिण में बो (Boue) के अनुसार इस प्रकार का क्षेत्र इतना बड़ा है जितना स्पेन, फ्रांस, इटली, ब्रिटिश द्वीप और जर्मनी के कुछ भाग को मिला कर होगा। इस प्रदेश की परीक्षा ध्यान से नहीं की गयी है, किन्तु कई यात्रियों के उल्लेखों से पता चलता है कि यह ग्रैनाइटिक क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वान एश्वेग (Von eschwege) के अनुसार इस प्रकार की चट्टानें और रायोडी जैनीरो से २६० मील भीतर सिधाई में मिलती हैं। मैं स्वयं दूसरी दिशा में १५० मील गया और इस प्रकार की चट्टानों के अलावा कुछ नहीं देख सका। रायोडी जैनीरो से प्लाटा नदी के मुहाने तक, अर्थात् ११०० भौगोलिक मीलों में एकत्रित किये हुए असंख्य नमूनों की मैंने जाँच की और उनको इसी प्रकार का पाया। भीतर की ओर जाने पर प्लाटा के समस्त उत्तरी तट पर आधुनिक तृतीय स्तरों के अतिरिक्त मैंने केवल एक छोटा क्षेत्र भिन्न चट्टानों का देखा जो सम्भवतः ग्रैनाइट श्रेणी को मूलतः ढकने वाला स्तर हो सकता है। यदि हम कनाडा या यूनाइटेट स्टेट्स जैसे सुविख्यात क्षेत्र को देखें तो जैसा प्रो० एच० डी० रोजर्स ने, अपने सुन्दर मानचित्र में दिखाया है, ऐसा जान पड़ता है कि बाद के पेलियोज़ोइक स्तरों तथा परिर्वातित और ग्रैनाइटिक चट्टानों का अनुपात (अर्ध-परिर्वातित चट्टानों को छोड़ कर) १९ : १२.५ है। यह अनुमान मैंने मानचित्र

के इन भिन्न-भिन्न भागों को काट कर तथा उनको तौल कर किया है। कई अन्य क्षेत्रों में भी इस प्रकार की चट्टानें काफी विस्तृत होंगी यद्यपि ऐसा जान नहीं पड़ता। यदि बाद की निर्मित इन चट्टानों को असमान ढंग से ढकने वाले निक्षेपण इस तरह अलग कर दिये जाएँ, तो यह साफ निकल आवेगा। अतः यह सम्भव है कि संसार के कुछ भागों में पूरे-के-पूरे स्तरों का ही ह्रास हो गया हो और उनका कुछ भी शेष न हो।

सरसरी ढंग से यह एक बात और भी उपयुक्त जान पड़ती है कि उत्थानकाल में स्थल का क्षेत्रफल तथा समुद्र-तट का भाग बढ़ेगा और इस प्रकार जीवों के लिए नये स्थान बनेंगे। जैसा पहले कहा जा चुका है, ये सभी परिस्थितियाँ नये भेदों तथा नयी जातों के निर्माण के लिए अनुकूल हैं, किन्तु भूतत्वीय उल्लेख में यह काल साधारणतः शून्य रहेगा। दूसरी ओर धँसाव के युग में बसा हुआ भाग तथा जीवों की संख्या (समुद्र-तट के जीवों को छोड़ कर, विशेषकर जब द्वीप समूह का निर्माण होगा) में कमी होगी और फलतः यद्यपि इस काल में काफी जीव नष्ट होंगे और नये भेदों अथवा जातों के निर्माण की सम्भावना नहीं होगी। फिर भी भूतत्व के दृष्टिकोण से यह काल जीवाश्मों से भरे हुए स्तरों के निर्माण का होगा।

किसी एक स्तर में अनेक माध्यमिक भेदों की अनुपस्थिति

ऊपर दिये गये तर्कों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कुल मिला कर, भूतत्वीय उल्लेख बहुत ही अपूर्ण है। किन्तु यदि हम किसी एक विशेष स्तर की परीक्षा में ही अपना ध्यान सीमित रखें तो यह समझना और भी कठिन हो जाता है कि उसमें हमको क्यों उस युग के आरम्भ और अन्त में पायी जाने वाली मिलती-जुलती जातों के बीच के क्रमिक भेद नहीं मिलते। ऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त हैं जिनके अनुसार एक ही स्तर अथवा निर्माण के ऊपरी तथा निचले भागों में एक ही जात के विभिन्न भेद मिलते हैं। ट्राटशोल्ड (Trautschold) एमोनाइट्स (Ammonites) के इस प्रकार के उदाहरण देते हैं और हिल्गेनडार्फ ने **प्लैनारबिस मल्टीफार्मिस** (Planorbis multiformis) के ऐसे दस क्रमिक रूपों का उल्लेख किया है जो स्विटजरलैण्ड के मीठे पानी के निर्माणों की विभिन्न गहराइयों में पाये गये हैं। हालाँकि प्रत्येक स्तर के निर्माण में अनेकानेक वर्ष व्यतीत हुए, फिर भी इस बात के पर्याप्त कारण हैं कि साधारणतः क्यों प्रत्येक में प्रारम्भिक तथा अन्त के भागों में पायी जाने वाली जातों के बीच की क्रमिक दशाएँ नहीं मिलतीं। मैं कुछ कारणों का उल्लेख नीचे करता हूँ किन्तु उनके विचार पर आवश्यक स्थान नहीं दे सकता।

यद्यपि प्रत्येक निर्माण न जाने कितने वर्षों में हुआ, फिर भी एक जात के दूसरे में बदलने के लिए जितना समय चाहिए उसको ध्यान में रखने पर ये वर्ष पर्याप्त नहीं हैं। मैं ब्रान तथा उडवर्ड जैसे योग्य विलुप्त जन्तुवेत्ताओं के मत से परिचित हूँ जो यह समझते हैं कि सामान्यतः किसी जात के निर्माण में जितना समय लगता होगा उसका दुगना या तिगुना समय किसी सामान्य पुरातत्वीय निर्माण में लगता है। किन्तु इस प्रकार के स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुँचने में मुझे बड़ी कठिनाइयाँ दिखाई पड़ती हैं। जब हम किसी जात को सबसे पहले किसी स्तर के बीच में पाते हैं, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना बहुत ही गलत होगा कि उसके पहले अन्यत्र यह जात कहीं नहीं पायी जाती रही होगी। इसी प्रकार यदि हम किसी जात को किसी निर्माण-काल के अन्तिम स्तरों में लुप्त होते पाएँ तो यह समझना भी भूल की बात है कि उस काल में वह बिल्कुल लुप्त हो गयी। हम यह भूल जाते हैं कि पूरे संसार के क्षेत्रफल के अनुपात में यूरोप का क्षेत्रफल कितना कम है। यही नहीं, किसी एक निर्माणकाल की विभिन्न अवस्थाओं के जीवों की पूरी परीक्षा ठीक तरह से केवल पूरे यूरोप में भी नहीं की गयी है।

हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जलवायु तथा अन्य परिवर्तनों के कारण सभी प्रकार के समुद्री जीव एक स्थान छोड़ कर दूसरे को जाते रहे हैं। अतः जब हम किसी जात को सबसे पहले किसी निर्माणकाल में देखते हैं, तो अधिक सम्भावना यह है कि उसी काल में सबसे पहले वह जात अन्यत्र कहीं से पहली बार उस क्षेत्र में आयी। उदाहरण के लिए, यह बात सुविख्यात है कि कई जातें उत्तरी अमरीका के पेलियोज़ोइक स्तरों में यूरोप के स्तरों की अपेक्षा पहले प्रकट होती हैं। सम्भवतः अमरीका से यूरोपीय समुद्रों तक पहुँचने में उनको इतना समय लगा। संसार के विभिन्न भागों में आधुनिकतम अवसादनों की परीक्षा करने पर हर जगह यह देखा गया है कि कुछ ऐसी जातें, जो आज भी जीवित हैं, अवसादन में काफी संख्या में पायी जाती हैं, किन्तु ठीक आसपास के समुद्रों में विलुप्त हो चुकी हैं; या इसके विपरीत कुछ जातें आसपास के समुद्रों में पायी जाती हैं, किन्तु उस विशेष अवसादन में अनुपस्थित हैं। यह विचार करना शिक्षाप्रद होगा कि हिमकाल में, जो एक पूरे पुरातत्वीय युग का एक ही भाग है, यूरोप के कितने जीव स्थानान्तरित हुए, या इसी प्रकार इसी काल में होने वाले पृथ्वी के धरातल अथवा जलवायु में होने वाले परिवर्तनों आदि पर विचार करना भी शिक्षाप्रद होगा। फिर भी यह सन्देह किया जा सकता है कि संसार के किसी भाग में जीवाश्मों के साथ ही निक्षेपण जमा होने की क्रिया ऐसे क्षेत्र में इस पूरे काल में होती रही होगी। उदाहरण के लिए, यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि पूरे हिमकाल में मिसी-सिपी नदी के मुहाने पर ऐसी गहराई में भी यह क्रिया चलती रही होगी, जहाँ समुद्री

जीव भलीभाँति और सफलतापूर्वक रहते रहे होंगे। हम जानते हैं कि लगभग इसी काल में अमरीका के अन्य भागों में बड़े-बड़े भौगोलिक परिवर्तन हुए। जब हिमकाल में ही मिसीसिपी के मुहाने पर उथले पानी में बनने वाले स्तर ऊपर उठे होंगे, तो जीवों के अवशेष अलग-अलग गहराइयों पर, जातों के स्थानान्तरण तथा भौगोलिक परिवर्तनों के कारण, पहली बार प्रकट तथा नष्ट होंगे। और जब युगों के बाद कोई पुरातत्ववेत्ता इन स्तरों की परीक्षा करता है, तो उसको इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रलोभन होता है कि इस निर्माण में दबे हुए जीवाश्मों का जीवनकाल हिमकाल से बहुत छोटा है, न कि बहुत बड़ा, और हिमकाल के बहुत पहले से वर्तमान समय तक।

किसी निर्माण के ऊपरी तथा निचले भागों में पाये जाने वाले जीवों के बीच पूर्ण क्रम होने के लिए आवश्यक है कि अवसादन एक लम्बे काल तक बराबर होता रहे, जिससे परिवर्तन के लिए पर्याप्त समय मिल सके। ऐसा स्तर स्पष्टतः बहुत मोटा होना चाहिए। साथ ही परिवर्तित होने वाली जात को इस पूरे समय में उसी प्रदेश में रहना चाहिए। परन्तु हम देख चुके हैं कि पूरी मोटाई में जीवाश्मों से भरे मोटे स्तर का निर्माण केवल धँसाव के काल में ही हो सकता है तथा गहराई को समान बनाये रखने के लिए, जो उस जात विशेष के उसी क्षेत्र में बने रहने के लिए आवश्यक है, यह जरूरी है कि निक्षेपण की गति धँसाव की गति के बराबर हो। निक्षेपण तथा धँसाव की गति में इस प्रकार का सन्तुलन विरल ही हो सकता है, क्योंकि कई पुरातत्व-वेत्ताओं ने इस बात का समर्थन किया है कि अधिकांश मोटे स्तरों में, बिल्कुल ऊपर और नीचे के भागों को छोड़, अन्य भागों में जीवाश्म नहीं पाये जाते।

जिस प्रकार किसी प्रदेश के अनेक निर्माण इस तरह अन्तरित रूप से अनेक स्तरों के बने होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक निर्माण स्वयं भी अन्तरित रूप से संग्रह हुआ जान पड़ता है। साधारणतः कोई भी निर्माण ऊपर से नीचे तक एक ही प्रकार के खनिज पदार्थों का नहीं बना होता, बल्कि उसमें तरह-तरह के पदार्थों की अलग-अलग तहें होती हैं। अतः यह सन्देह होता ही है कि इन तहों के संग्रह की क्रिया बीच-बीच में रुक-रुक कर हुई है। निर्माण की कैसी भी परीक्षा क्यों न की जाय, उससे उसके निर्माणकाल का अनुमान करना बहुत कठिन है। ऐसी अनेक तहों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनकी मोटाई केवल कुछ फीट है किन्तु अन्यत्र इसके अनुरूप निर्माण कई हज़ार फीट मोटे हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि इनके निर्माण में निश्चय ही बहुत लम्बा समय व्यतीत हुआ होगा। यदि इस दूसरी मोटी तह का पता न हो, तो कोई यह नहीं समझेगा कि उसके बराबर की पतली तह के निर्माण में इतना समय लग सकता है। ऐसे भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें किसी एक निर्माण की निचली तहें ऊपर उठ गयी हों,

नष्ट हो गयी हों, धँस गयी हों। और फिर उसी निर्माण के ऊपरी तहों से ढक गयी हों। इन सब बातों से पता चलता है कि निचली और ऊपरी तहों के जमा होने के बीच में कितना समय बीता होगा, किन्तु उसकी ओर हम ध्यान नहीं देते। कुछ अन्य उदाहरणों में हम ऐसे जीवाश्मिक पेड़ों को देखते हैं जो अब भी सीधे खड़े मिलते हैं। इनके परिरक्षण से निक्षेपण क्रिया के बीच कई लम्बे मध्यान्तरों और तल-परिवर्तनों का प्रमाण मिलता है। सर सी० लियेल और डा० डासन ने नोवास्काटिया में १४०० फीट मोटी कारबोनीफ़ेरस तहें पायीं जिनमें वृक्षों की जड़ें उपस्थित थीं और जो एक-दूसरे के ऊपर ६८ विभिन्न तहों में थीं। अतः यदि एक ही जात किसी निर्माण के निचले और ऊपरी भागों में पायी जाती है, तो सम्भावना यही है कि यह पूरे निक्षेपण काल में बराबर उसी प्रदेश में नहीं उपस्थित थी बल्कि कभी प्रकट हुई है और कभी नष्ट होती रही है। और इस प्रकार एक ही पुरातत्वीय काल में कई बार इस जात में परिवर्तन हुए हैं। अतः यदि इस जात में किसी निर्माण काल के बीच काफी आपरिवर्तन हुए हों, तो हमारे सिद्धान्त के अनुसार जिन विभिन्न माध्यमिक अवस्थाओं को मिलना चाहिए वे एक ही क्षेत्र में नहीं मिलेंगी तथा जो क्रमिक रूप मिलेंगे उनके बीच काफी अन्तर होंगे।

यह बराबर याद रखना बहुत आवश्यक है कि प्राकृतज्ञों के पास ऐसा कोई पक्का नियम नहीं है, जिसके आधार पर वे जातों और भेदों के बीच पहचान कर सकें। प्रत्येक जात को वे थोड़ी-बहुत परिवर्तनशीलता का गुण प्रदान करते हैं। किन्तु जब किन्हीं दो रूपों के बीच अन्तर अधिक होते हैं, तो जब तक वे उनके बीच बहुत ही क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते, तब तक दोनों को जातों का स्तर प्रदान करते हैं। और जहाँ तक किसी एक क्षेत्र के पुरातत्वीय स्तरों का सम्बन्ध है, इस प्रकार की माध्यमिक अवस्थाएँ हमको नहीं मिल सकतीं। इसके कारणों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। मान लीजिए 'ख' और 'ग' दो स्पष्ट जातें हैं और 'क' तीसरी जात है, जो इनके नीचे के स्तर में पायी गयी है। अब अगर 'क' हर प्रकार से 'ख' और 'ग' के बीच की ही हो, तो भी जब तक हम इसको भी 'ख' और 'ग' से अनेक माध्यमिक भेदों के द्वारा सम्बन्धित नहीं कर सकते, तब तक तीनों को अलग-अलग जातों का स्तर दिया जाएगा। जैसे पहले समझाया जा चुका है, यह भी याद रखना चाहिए कि चाहे 'क', 'ख' और 'ग' की वास्तविक पूर्वज क्यों न हो, तो भी वह हर प्रकार से इन दो जातों के बीच की न होगी। इस प्रकार सम्भव है कि हमको वह पूर्वज जात तथा उसकी आपरिवर्तित सन्तानें एक ही निर्माण के नीचे और ऊपर की तहों में मिलें; पर जब तक हमको इनके बीच की परिवर्तन की अवस्थाएँ नहीं मिलतीं, तब तक हम उनके रक्त-सम्बन्ध को न मानेंगे और फलतः प्रत्येक को अलग जात का स्तर देंगे।

यह सभी जानते हैं कि बहुधा अनेक विलुप्त जन्तुवेत्ताओं ने कुछ बहुत ही क्षुद्र और छोटे अन्तरों के आधार पर अलग-अलग जातों का नामकरण किया है, विशेषकर जब ये जन्तु-अवशेष एक ही निर्माण की अलग-अलग अवस्थाओं से प्राप्त हुए हैं। कुछ अनुभवी वैज्ञानिकों ने हाल में डी आरबाइनी (D' Orbigny) और अन्य लोगों द्वारा बनायी कवचों की जातों को भेदों का स्तर दिया है और जिन आधारों पर वे ऐसा कर रहे हैं, उनसे हमारे मत के लिए आवश्यक प्रमाण प्राप्त होता है। बाद के तृतीय निक्षेपणों में ऐसे अनेक कवच मिलते हैं, जिनको अधिकतर प्रकृतिशास्त्री वर्तमान जातों के समान मानते हैं, किन्तु अगासिज़ तथा पिक्टेट जैसे कुशल प्रकृतिवेत्ता इन सभी कवचों को पृथक् जातों में ही रखते हैं, हालाँकि उनमें और वर्तमान जातों के बीच बहुत थोड़े अन्तर हैं। अतः इस उदाहरण में या तो इन कुशल प्रकृतिवादियों के विश्वास के विपरीत हम तृतीय युग की इन जातों को वर्तमान समय में पायी जाने वाली जीवित जातों से बिल्कुल अभिन्न मानें या अधिकांश अन्य प्रकृति-वैज्ञानिकों के मत के विपरीत हम इनको वर्तमान जातों से बिल्कुल ही भिन्न मानें। परन्तु यदि इन दोनों मतों पर ध्यान दिया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके बीच ऐसे सूक्ष्म आपरिवर्तन हुए हैं, जिनकी हमने ऊपर चर्चा की है। यदि हम समय की लम्बी अवधियों पर ध्यान दें, अर्थात् एक ही बड़े निर्माण काल की दो निकटवर्ती किन्तु बिल्कुल स्पष्ट, अवस्थाओं पर ध्यान दें, तो हम उनमें ऐसे जीवाश्म पाएँगे, जिनको सभी लोग अलग जातों में रखते हैं। किन्तु फिर भी दूर-दूर के निर्माणों में पायी जाने वाली जातों की अपेक्षा वे एक-दूसरे के निकट हैं। अतः यहाँ भी हमको ऐसे निश्चित प्रमाण मिलते हैं जिनकी हमारे सिद्धान्त को आवश्यकता है। परन्तु इस विषय की चर्चा मैं बाद के अध्याय में करूँगा।

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, यह सम्भव है कि ऐसे जन्तु तथा वनस्पति जो तेज़ी से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, परन्तु बहुत विचरण नहीं करते, उनके भेद प्रारम्भ में साधारणतः स्थानीय होते हैं और ये स्थानीय भेद बहुत विस्तृत नहीं होते, तथा जब तक ये काफी अंश तक आपरिवर्तित और अनुकूलित नहीं हो जाते, तब तक अपने पूर्वजों का स्थान ग्रहण करते जाते हैं। इस मत के अनुसार किसी प्रदेश के एक ही निर्माण में दो रूपों के बीच की आपरिवर्तन की प्रारम्भिक अवस्थाओं के मिलने की सम्भावना कम है, क्योंकि ये क्रमिक अन्तर स्थानीय अथवा कुछ ही दूरी के भीतर सीमित थे। अधिकांश समुद्री जन्तुओं का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है, और हम देख चुके हैं कि वनस्पतियों में सबसे अधिक भेद उन्हीं जातों में मिलते हैं जिनका विस्तार अधिक होता है। अतः यह सम्भव है कि कवचों तथा समुद्री जन्तुओं में अधिकाधिक विस्तार वाली अर्थात् यूरोप के पुरातत्वीय निर्माणों की सीमाओं से अधिक दूर तक फैली हुई जातों से ही अधिक-से-अधिक

भेद और जातें बनीं जो पहले स्थानीय थीं, किन्तु बाद में फैल गयीं। किन्तु इस प्रकार के विकास में भी परिवर्तन की अवस्थाओं के एक ही पुरातत्वीय निर्माण में मिलने की सम्भावना बहुत कम होगी।

जैसा हाल में डा० फैलकोनर ने कहा है, यह विचार भी हमको इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि जितने समय में कोई जात आपरिवर्तित हुई है, वह चाहे वर्षों के माप-दण्ड से बहुत अधिक लगे, परन्तु यदि इस समय की तुलना हम उस अवधि से करें, जिसमें जात में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तो परिवर्तन वाला काल सम्भवतः छोटा जान पड़ेगा।

यह नहीं भूलना चाहिए कि जब तक कई स्थानों से कई अवशेष इकट्ठे नहीं किये जा सकते तब तक वर्तमान समय में किन्हीं दो पूर्ण रूपों के बीच माध्यमिक रूपों के द्वारा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। किन्तु विलुप्त जातों के जीवाश्म इतने कम मिलते हैं कि यह बहुत कठिन जान पड़ता है। वास्तव में किन्हीं दो जीवाश्मिक जातों के बीच अनेक सूक्ष्म माध्यमिक रूपों के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना कितना कठिन है, इसका अनुमान करने का एक ढंग यह हो सकता है कि हम यह कल्पना करें कि सुदूर भविष्य में, उस समय के पुरातत्ववेत्ता इस बात के प्रमाण किस तरह एकत्र कर सकेंगे कि वर्तमान समय की गायों, भेड़ों, घोड़ों या कुत्तों की अनेक नस्लें समान अथवा भिन्न-भिन्न पूर्वजों से उत्पन्न हुई हैं। या फिर वे यही किस प्रकार सिद्ध कर सकेंगे कि उत्तरी अमरीका के तटों पर पाये जाने वाले समुद्री कवच, जिनको कुछ प्राकृतज्ञ यूरोपीय जातों से भिन्न मानते हैं और कुछ केवल उनके भेद; वास्तव में अलग-अलग जातें हैं अथवा केवल भेद। कोई भी पुरातत्ववेत्ता इन प्रश्नों का निर्णय तभी कर सकता है, जब उसको अनेक माध्यमिक अवस्थाओं के जीवाश्म प्राप्त हो सकें, किन्तु इसकी सम्भावना बहुत ही कम है। जातों को अपरिवर्तनशील मानने वाले लेखकों ने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि पुरातत्वशास्त्र के द्वारा सम्बन्धकारी जीव प्राप्त नहीं होते हैं। जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे, यह बात निर्मूल है। जैसा सर जे० लूबक ने कहा है, "प्रत्येक जात किन्हीं दो मिलते-जुलते जीवों के बीच सम्बन्धकारी है।" यदि हम कोई ऐसी जाति लें, जिसके अन्तर्गत वर्तमान तथा विलुप्त, दोनों प्रकार की दर्जनों जातें हों, और उनमें से ४।५ को हम नष्ट कर दें, तो निश्चय ही बची हुई जातें एक-दूसरे से पृथक् होंगी। यदि जाति के छोरों पर की ही जातें नष्ट कर दी जायें, तो ऐसी जाति अन्य जातियों की अपेक्षा स्वयं ही पृथक् जान पड़ेगी। पुरातत्वशास्त्र से जिस बात का पता नहीं चला है वह यह है कि विगत काल में असंख्य अवस्थाएँ थीं जो एक-दूसरे से आजकल के भेदों की भाँति बहुत कम भिन्न थीं, और वर्तमान तथा विलुप्त सभी जातों के बीच सम्बन्ध

स्थापित करती थीं। इस बात की हमको आशा भी नहीं करनी चाहिए, फिर भी यही बात बार-बार मेरे मतों के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति के रूप में रखी गयी है।

कदाचित् यह अच्छा होगा कि एक काल्पनिक उदाहरण के द्वारा पुरातत्वीय उल्लेख की अपूर्णता के कारणों को फिर से दुहरा लिया जाय। मलाया द्वीप समूह उत्तरी सीमा से लेकर भूमध्य सागर तक, ब्रिटेन से लेकर रूस तक यूरोप के क्षेत्रफल के बराबर है। अतः संयुक्त राष्ट्र अमरीका के पुरातत्वीय निर्माणों को छोड़, अन्य सभी ज्ञात निर्माणों के बराबर है। मैं मि० गॉडविन आस्टिन से पूरी तरह समहत हूँ कि एक-दूसरे से अनेक चौड़े और उथले समुद्रों से पृथक् किये हुए बड़े-बड़े द्वीपों का बना यह मलाया द्वीप समूह यूरोप की उस समय की प्राचीन अवस्था के समान है जब कि उसमें निक्षेपणों का संग्रह हो रहा था। मलाया द्वीप समूह किसी और क्षेत्र की अपेक्षा जीवों से अधिक भरा पड़ा है। फिर भी यदि उन सभी जातों का संग्रह किया जाय, जो वहाँ रह चुकी हैं तो संसार के विविध जीवों की अपेक्षा यह संग्रह कितना अपूर्ण होगा।

यह भी निश्चित ही जान पड़ता है कि इस द्वीप समूह में जो पुरातत्वीय निर्माण हो रहा है, उसमें वहाँ के स्थलीय जीवों का परिरक्षण बहुत ही अपूर्ण होगा। फिर कई तटीय जन्तु या वे जन्तु जो पानी के नीचे पायी जाने वाली नंगी चट्टानों पर रहते हैं, इस प्रकार बहुत कम परिरक्षित होंगे। जो जीव बालू या कंकड़ के बीच दब जाएँगे, वे भी बहुत दिनों तक नष्ट होने से बचे नहीं रहेंगे। वास्तव में जहाँ कहीं भी निक्षेपण संग्रह समुद्र के तले पर नहीं हुआ, या ऐसी तेजी से नहीं हुआ कि मृत शरीर सड़ने से बच सकें, वहाँ अवशेषों का परिरक्षण बिल्कुल ही न होगा।

द्वीप समूह में विभिन्न प्रकार के जीवाश्मों से भरे निर्माण, जो इतने मोटे भी हों कि द्वितीय निर्माणों की भाँति भविष्य में असंख्य वर्षों तक बने रहें, केवल उसी काल में बन सकेंगे, जब धरातल दब रहा हो। धँसाव के ये काल एक-दूसरे से समय की लम्बी अवधियों से पृथक् होंगे और इन मध्यान्तरों में यह क्षेत्र या तो स्थायी रहेगा, या ऊपर उठेगा। उठते समय ढालू तटों पर पाये जाने वाले जीवाश्मयुक्त निर्माण लहरों की निरन्तर क्रिया से दक्षिणी अमरीका के तटों की भाँति उतनी ही तेजी से नष्ट होंगे, जिस तेजी से वे बढ़े थे। द्वीप समूह के बीच के समस्त विस्तृत और उथले समुद्रों में उत्थान-काल में काफी मोटाई वाले निक्षेपण स्तर शायद ही बन सकें और न वे बाद की तहों से ढक सकेंगे। इसलिए बनने पर भी ऐसे स्तर दूर भविष्य तक बचे नहीं रहेंगे। धँसाव के काल में सम्भवतः अनेक जीव लुप्त होंगे, उत्थान के काल में उनसे बहुत से नये परिवर्तन होंगे, किन्तु उनका पुरातत्वीय प्रमाण बहुत अपूर्ण रहेगा।

यह सन्देह किया जा सकता है कि पूरे द्वीप समूह या उसके एक भाग में होने वाले

धँसाव का कोई एक लम्बा काल, जब कि निक्षेपण संग्रह चल रहा हो, किसी जात विशेष की अवधि से अधिक हो; तथा ऐसा होना किन्हीं दो या अधिक जातों के बीच की परिवर्तन की अवस्थाओं के परिरक्षण के लिए आवश्यक है। यदि ऐसी सभी अवस्थाएँ परिरक्षित नहीं हैं, तो इन भेदों को अनेक नयी मिलती-जुलती जातें समझा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि धँसाव के हर लम्बे काल के बीच कई बार तलपरिवर्तन हो और प्रत्येक के बीच कुछ जलवायु के अन्तर भी हों तथा ऐसी अवस्थाओं में द्वीप समूह के जीव स्थानान्तरण कर जायें जिसके फलस्वरूप किसी एक निर्माण में उनके आपरिवर्तन का इतिहास प्राप्त न हो।

द्वीप समूह के अनेक समुद्री निवासी इस समय इसकी सीमा से हज़ारों मील दूर पाये जाते हैं, और तुलना के आधार पर हम कह सकते हैं कि इन्हीं विस्तृत जातों में से कुछ के नये भेद उत्पन्न होंगे। ये भेद पहले स्थानीय होंगे, अर्थात् एक ही स्थान पर पाये जायेंगे; किन्तु यदि इनको कोई लाभदायक रक्षण प्राप्त हुआ है, अर्थात् यदि आप-रिवर्तन के द्वारा इनमें उन्नति हुई है, तो क्रमशः इनका विस्तार होगा, और वे अपने पूर्वजों के स्थान पर अधिकार कर लेंगे। यदि ये भेद पुनः अपने निवास में आये, तो कुछ लक्षणों में स्थायी रूप से भिन्न होने के कारण, तथा निर्माण के दूसरे स्तर में पाये जाने के कारण अधिकांश विलुप्त जन्तुवेत्ता अपने सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर इनको नयी तथा पृथक् जातों का स्तर प्रदान करेंगे।

यदि ऊपर लिखी बातों में थोड़ी भी सत्यता है तो हमको भूतत्वीय निर्माणों में ऐसे असंख्य सूक्ष्म परिवर्तन वाले माध्यमिक जीवों को पाने की आशा नहीं करनी चाहिए जो हमारे मतानुसार किसी समूह की वर्तमान तथा भविष्य की जातों के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं, और इस प्रकार जीवन की एक लम्बी तथा शाखित शृंखला का निर्माण करते हैं। हमको इस तरह के कुछ ही जीवों के अवशेषों को पाने की आशा करनी चाहिए, और इतने अवशेष निश्चय ही हमको मिल भी जाते हैं तथा ये एक-दूसरे के बीच कभी निकट, कभी दूर के सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किन्तु चाहे ये सम्बन्धकारी जीव एक ही निर्माण के अलग-अलग स्तरों में मिलते हैं, तो चाहे वे एक-दूसरे के कितने ही निकट क्यों न हों, अधिकतर विलुप्त जन्तुवेत्ता इनको पृथक् जातों का स्तर प्रदान करेंगे। फिर भी बहुत अच्छे परिरक्षित निर्माणों में भी भूतत्वीय उल्लेखों के इतने कम होने की आशा मुझको भी नहीं थी। यदि एक ही निर्माण के प्रारम्भिक और अन्तिम स्तरों में पायी जाने वाली जातों के बीच की अवस्थाएँ इतनी बड़ी संख्या में अनुपस्थित न हों, और इनकी अनुपस्थिति के कारण मेरे सम्मुख ऐसी कठिनाई न उत्पन्न होती, तो कभी मैं इस ओर विचार न करता।

निकटतम जातों के समस्त समूहों का एकाएक प्रकट होना

कई विलुप्त जन्तुवेत्ताओं ने कुछ निर्माणों में जातों के पूरे समूहों के एकाएक प्रकट होने की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और इसको जातों की परिवर्तनशीलता के विरुद्ध अकाट्य प्रमाण बताया है। अगासिज़, पिक्टेट और सेजविक इस वर्ग के विलुप्तजन्तुवेत्ता हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि वास्तव में एक ही जाति अथवा वंश की अनेक जातें एक साथ ही उत्पन्न हुई हों, तो इससे प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा विकास के सिद्धान्त का वास्तव में विरोध होता है। हमारे मत के अनुसार कई ऐसी जातों के उत्पन्न होने की क्रिया, जो सभी एक ही पूर्वज की सन्तानें हों, बहुत धीमी होगी, तथा यह पूर्वज अपनी सन्तानों की अपेक्षा बहुत समय पहले पृथ्वी पर रहता रहा होगा। परन्तु वास्तव में पुरातत्वीय उल्लेख जितना पूर्ण हो सकता है, हम उसको उससे बहुत अधिक पूर्ण मानते रहे हैं; और चूँकि कुछ जातियाँ अथवा वंश एक विशेष अवस्था के पहले नहीं मिलते, इसलिए हम इस ग़लत निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उस अवस्था के पहले वे संसार में थे ही नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि किसी जीव के होने का प्रमाण मिले तो उस पर विश्वास करना चाहिए; किन्तु यदि किसी जीव के मिलने का प्रमाण न हो, तो यह नहीं मान लेना चाहिए कि यह उसकी अनुपस्थिति का प्रमाण है।

हम यह सदा भूल जाते हैं कि जिन क्षेत्रों के पुरातत्वीय निर्माणों से हम परिचित हैं, उनकी अपेक्षा पूरा संसार कितना विस्तृत है। हम यह भी भूल जाते हैं कि जातों के समूह एक क्षेत्र के बाहर दूसरे क्षेत्रों में भी पाये जा सकते हैं और ऐसे किसी दूसरे क्षेत्र में क्रमशः प्रगुणित होकर बाद में उन्होंने यूरोप या संयुक्त राज्य के प्राचीन द्वीप-समहों में प्रवेश किया। हम समय के उन अन्तरों की ओर ध्यान नहीं देते जो विभिन्न निर्माणों के बीच व्यतीत होते हैं, हालाँकि सम्भव है कि ऐसे कुछ काल स्वयं निर्माण काल से भी लम्बे थे। इन मध्यान्तरों में किसी एक पूर्वज से उसकी जातों के उत्पन्न होने का समय मिलेगा और बाद के निर्माणों में जब ये जातें या समूह हमको मिलते हैं, तो हम उनको एकाएक उत्पन्न हुआ समझते हैं।

मैं यहाँ अपने एक पहले के वक्तव्य को दोहराना चाहता हूँ कि किसी जीव को किसी नये तथा विचित्र प्रकार के जीवन के लिए अनुकूलित होने के लिए युगों का समय चाहिए, जैसे स्थल के जीवन से वायु में उड़ने योग्य बनने के लिए। फलतः बीच के रूप बहुधा लंबी अवधियों तक एक ही क्षेत्र में पाये जाएँगे। किन्तु जब एक बार इस प्रकार का अनुकूलन हो गया और उसके फलस्वरूप कुछ जातों को अन्य जीवों की अपेक्षा सुविधा प्राप्त हो गयी, तो फिर विविध रूपों के उत्पन्न होने में अपेक्षाकृत कम समय लगेगा और ऐसे

विविध जीव उत्पन्न हो सकेंगे जो तेजी से संसार भर में फैल जाएँगे। प्रो० पिक्टेट ने इस पुस्तक की अपनी अत्यन्त सुन्दर समीक्षा में प्रारम्भिक परिवर्तनशील रूपों की चर्चा की है, और पक्षियों का उदाहरण लेकर वे कहते हैं कि वह यह नहीं समझ सकते कि उनके पूर्वजों में अग्रपादों के अपरिवर्तन से उनको किस प्रकार की सुविधा पहुँच सकती थी। परन्तु दक्षिणी महासागर की पेन्गुइन को देखिए। क्या उनके अग्रपादों के ठीक इसी माध्यमिक अवस्था में होने से, जब कि न वे वास्तविक भुजाओं के रूप में हैं और न पंखों के रूप में, उनको कोई लाभ नहीं है? यह चिड़िया जीवन संघर्ष में अपना स्थान सफलता के साथ बनाये हुए है, क्योंकि यह असंख्य है और कई प्रकार की है। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि इन पक्षियों में हमको पंखों की वे माध्यमिक अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं, जिनके द्वारा उड़नेवाली चिड़ियों का विकास हुआ है, पर इनको देखकर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इस प्रकार की संरचना से पेन्गुइन की संतानों को निश्चय ही लाभ होगा क्योंकि पहले पंखों को फड़फड़ा कर वे हंसों की भाँति समुद्र के तल पर चल सकेंगी और अन्त में उनको ऊपर उठाकर वायु में उड़ सकेंगी।

अब मैं यहाँ ऊपर दिये तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए तथा यह दिखाने के लिए कुछ उदाहरण दूँगा कि यह समझने में हम बहुधा भूल करते हैं कि जातों के पूरे समूह एकाएक उत्पन्न हुए। पिक्टेट की 'विलुप्त जन्तुशास्त्र' के दो संस्करणों (अर्थात् जो १८४४-४६ और १८५३-५७ में छपे) के बीच के थोड़े से समय में ही कई जन्तुओं के समूहों की प्रथम उत्पत्ति और विनाश के सम्बन्ध के निष्कर्षों में बहुत परिवर्तन हो गया है और तीसरे संस्करण के आने तक उसमें और भी परिवर्तन हो जाएँगे। अपेक्षाकृत हाल ही में छपी पुरातत्वशास्त्र की पुस्तकों में स्तनियों की उत्पत्ति तृतीय काल के प्रारम्भ में एकाएक होती बतायी गयी है। परन्तु अब जीवाश्मिक स्तनियों का सबसे बड़ा संग्रह द्वितीय काल के बीच का ज्ञात हो चुका है। यही नहीं वास्तविक स्तनियों का आविष्कार इसी बृहत् काल के प्रारम्भ में पाये जाने वाले लाल बलुए पत्थर में हुआ है। क्यूवियर कहा करते थे कि किसी तृतीय स्तर में कोई बन्दर नहीं पाया जाता, किन्तु अब इनकी विलुप्त जातों के अवशेष भारत, दक्षिणी अमरीका और यूरोप में मायोसीन कालों में पाये गये हैं। यदि संयोग से संयुक्त राज्य के नये लाल बलुए पत्थर में पक्षी जैसे स्तनियों के पदचिह्न परिरक्षित न हो गये होते, तो कौन यह विश्वास करता कि इनके कम से कम तीस भेद उस युग में पाये जाते थे और वे इतने विशाल थे। इन स्तरों में हड्डियों का एक टुकड़ा भी नहीं पाया गया है। कुछ ही समय पहले विलुप्तजन्तुवेत्ता यह विश्वास करते थे कि प्राणियों का पूरा वर्ग इयोसीन

काल में एकाएक उत्पन्न हुआ। किन्तु अब प्रो० ओवेन जैसे अधिकारी यह बताते हैं कि कम-से-कम एक पक्षी ऊपरी हरी बालू के स्तर के अवसादन काल में निश्चय ही पायी जाती थी। अभी हाल में वह विचित्र पक्षी आर्कीआप्टेरिक्स (Archeopteryx) सोलेन हाफेन के स्लेट स्तरों में पाया गया है कि जिसकी पूँछ लम्बी गोधिका (lizard) जैसी है तथा उसके प्रत्येक जोड़ पर एक जोड़ा पर पाये जाते हैं और जिसके प्रत्येक पंख पर दो नख हैं। हाल का कोई और आविष्कार संसार के भूतपूर्व निवासियों के विषय में हमारी अनभिज्ञता को इतनी अच्छी तरह नहीं बताता।

मैं एक और भी ऐसा उदाहरण दे दूँ जिसको देखकर मैं स्वयं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। स्थिर सिरीपीड के फॉसिलों पर लिखी एक पुस्तक में मैं कुछ कारणों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि यदि स्थिर सिरीपीड द्वितीय कालों में रहे होते तो निश्चय ही उनका परिरक्षण होता और उनके जीवाश्म प्राप्त होते; और चूँकि उनकी एक जात भी इन कालों के स्तरों में नहीं मिली, मैंने यह नतीजा निकाला था कि यह जन्तु समूह एकाएक तृतीय श्रेणी के प्रारम्भ में प्रकट हुआ। जिन कारणों के आधार पर मैं इन निष्कर्षों पर पहुँचा था, वे निम्नलिखित थे :—इनकी अनेक जातें वर्तमान हैं तथा तृतीय युग में विलुप्त हुईं, आर्कटिक क्षेत्र से भूमध्य रेखा तक संसार के सभी भागों में, तथा विभिन्न गहराइयों में (१२५ गज की गहराई तक) इनकी अनेक जातों के अनगिनत सदस्य पाये जाते हैं; प्राचीनतम तृतीय स्तरों में भी ये पूर्णतया परिरक्षित हैं, तथा इनका पहचानना बहुत आसान है। परन्तु इस निष्कर्ष से मैं बड़ी कठिनाई में पड़ गया क्यों कि इससे एकाएक प्रकट होने वाले जात-समूहों के उदाहरणों में वृद्धि हुई। मेरी यह पुस्तक छपी ही थी, कि एक कुशल विलुप्तजन्तुवेत्ता, मसिया बोसके ने मेरे पास अपना खींचा हुआ स्थिर सिरीपीड के एक सदस्य का चित्र भेजा जिसके सिरीपीड होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता था और जिसको उसने बेल्जियम की खरिया स्तर में पाये गये एक फॉसिल से खींचा था। यह अविष्कार और भी अद्‌भुत इसलिए ज्ञात हुआ कि सिरीपीड **थैलेमस** (Chthalamus) जाति का था जो बहुत सामान्य और बड़ी जाति में है, किन्तु जिसकी एक भी जात अभी तक तृतीय स्तरों में भी नहीं पायी गयी है। अभी और हाल में स्थिर सिरीपीडों के एक स्पष्ट उपवंश के एक सदस्य **पिरगोमा** (Pyrgoma) का आविष्कार मि० उडबर्ड द्वारा ऊपरी खरिया स्तरों में हुआ है। अतः अब जन्तुओं के इस वर्ग के द्वितीय युग में पाये जाने का हमारे पास पर्याप्त प्रमाण है।

विलुप्त जन्तुवेत्ता जातों के समूहों के एकाएक प्रकट होने के मत की पुष्टि के लिए जो उदाहरण सबसे अधिक देते हैं वह खरिया काल के निचले स्तरों में अगासिज़ के अनुसार टीलियास्टियन (teleostean) मछलियों का पाया जाना है। इस

समूह में वर्तमान मछलियों की भी कई जातें पायी जाती हैं। किन्तु अब जुरैसिक (Jurassic) तथा ट्रिएसिक (Triassic) युगों में पाये जाने वाले फाँसिल निश्चय ही टीलियास्टियन माने जाते हैं और एक उच्च अधिकारी ने तो कुछ पैलिओज़ोइक जन्तुओं को भी इसी वर्ग में रखा है। यदि टीलियास्टियन मछलियाँ वास्तव में उत्तरी गोलार्ध में खरिया-निर्माण-काल के प्रारम्भ में एकाएक प्रकट होती हैं, तो यह बात वास्तव में अद्‌भुत होती फिर भी जब तक यह सिद्ध न हो जाता कि ये जातें उसी काल में साथ-साथ संसार के अन्य सभी भागों में भी उत्पन्न हुई थीं, तब तक मैं इसको ऐसी दुर्गम कठिनाई न मानता। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि भूमध्य रेखा के दक्षिण में कोई फॉसिल मछली प्राप्त नहीं हुई और पिक्टेट की पुस्तक का अध्ययन करने पर यह भी मालूम होता है कि यूरोप के अनेक निर्माणों में भी इनकी कुछ ही जातें पायी गयी हैं। मछलियों के कई वंशों का विस्तार इस समय काफी सीमित है। इसी प्रकार हो सकता है कि पहले भी टीलियास्टियन मछलियों का विस्तार सीमित रहा हो, और किसी एक समुद्र में बहुत बढ़ जाने के बाद ये काफी दूर तक फैल गयी हों। यह भी मान लेने का कोई कारण नहीं है कि आज की भाँति पहले भी उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्धों के समुद्र एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। आज भी यदि मलाया द्वीपसमूह स्थल में परिणत हो जाय तो हिन्द महासागर का उष्ण कटिबन्ध का भाग एक प्रकार से बन्द हो जाएगा जिसके भीतर समुद्री जन्तुओं के किसी भी समूह का प्रगुणन हो सकता है। और जब तक ये जातें ठंडी जलवायु के लिए अनुकूलित न हो जाएगी और अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के अन्तरीपों से घूम कर अन्य दूरस्थित समुद्रों में न जा सकेंगी, तब तक उसी भाग में सीमित रहेंगी।

ऊपर लिखी बातों के आधार पर तथा यूरोप और संयुक्त राज्य के बाहर के भूतत्वों के विषय में हमारी अज्ञानता, तथा पिछले दस-बारह वर्षों में विलुप्तजन्तु-विज्ञान में होने वाली क्रान्ति के आधार पर मुझको ऐसा लगता है कि समस्त संसार के जीवों की वंशागति अथवा क्रमिकता के विषय में निश्चित मत प्रकट करना ऐसा ही अनधिकारपूर्ण होगा, जैसा किसी प्रकृतिवादी के लिए आस्ट्रेलिया के किसी ऊसर भाग में पाँच मिनट के लिये पहुँच कर उस महाद्वीप के जीवों की संख्या तथा उनके विस्तार पर विचार प्रकट करना।

मिलती-जुलती जातों के समूहों का सब से नीचे के जीवाश्मिक स्तरों में एकाएक प्रकट होना

एक दूसरी मिलती-जुलती कठिनाई और भी है जो बहुत गम्भीर है। मेरा तात्पर्य इस बात से है कि जन्तु समुदाय के कई मुख्य विभागों की जातें जीवाश्मिक निर्माणों

के सबसे निचले स्तरों में एकाएक प्रकट होती हैं। जिन तर्कों के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि एक ही समूह की सभी वर्तमान जातें एक ही पूर्वज से उत्पन्न हुई हैं, वे प्राचीनतम ज्ञात जातों के विषय में भी लागू हैं। उदाहरण के लिए इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि कैम्ब्रियन (Cambrian) तथा साइल्यूरियन (Silurian) युगों के ट्राइलोबाईट एक ही क्रस्ट्रेशियन पूर्वज से उत्पन्न हुए होंगे जो स्वयं कैम्ब्रियन के काफी पहले जीवित रहा होगा और जो उस युग के अन्य सभी जन्तुओं से बहुत भिन्न रहा होगा। **नॉटिलस** (Nautilus), **लिंगुला** (Lingula), आदि कुछ बहुत प्राचीन जन्तु आजकल की जातों से बहुत भिन्न नहीं थे और हमारे सिद्धान्त के अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि उसी समूह की, बाद में उत्पन्न होने वाली, सभी जातें इन प्राचीन जातों से उत्पन्न हुईं क्योंकि वे किसी प्रकार के माध्यमिक लक्षणों की नहीं जान पड़तीं।

अतः यदि हमारा मत सही है तो इसमें सन्देह नहीं कि सबसे निचले कैम्ब्रियन स्तर के निर्माण के पहले ऐसे-युग व्यतीत हुए जो कैम्ब्रियन युग से आज तक व्यतीत होने वाले समय के बराबर या उससे कहीं अधिक बड़ी अवधि के थे, तथा इस विशाल प्राचीनतम युग में संसार अनेक प्रकार के जीवों से भरा था। क़िन्तु यहाँ हमारे सामने एक गंभीर कठिनाई आती है क्योंकि यह सन्देहजनक है कि स्वयं पृथ्वी ही जीवों के रहने योग्य अवस्था में इतने पहले थी। सर डब्ल्यू० थामस का कहना है कि पृथ्वी के स्तरों का निर्माण कम-से-कम दो करोड़ वर्ष पहले और अधिक से अधिक ४० करोड़ वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ; किन्तु अधिक सम्भावना यह है कि यह निर्माण ९.८ करोड़ तथा २० करोड़ वर्षों पहले के बीच के युग में प्रारम्भ हुआ। इस लेखक द्वारा इतनी लंबी सीमा निर्धारित करना यह बताता है कि इस विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हमारे पास कितने साधन हैं। फिर कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी सामने आती हैं। मि० क्राल का अनुमान है कि कैम्ब्रियन युग से अब तक ६ करोड़ वर्ष व्यतीत हुए हैं। किन्तु यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि हिम युग से अभी तक जीवों में कितने कम परिवर्तन हुए हैं तो जिस प्रकार के परिवर्तन कैम्ब्रियन युग के बाद हुए हैं, उनके लिए क्राल का अनुमान बहुत कम जान पड़ता है। उसके पहले के १४ करोड़ वर्ष तो कैम्ब्रियन युग में पाये जाने वाले विविध प्रकार के जीवों के निर्माण के लिए और भी कम जान पड़ते हैं। फिर भी जैसा सर विलियम थामस कहते हैं, यह सम्भव है कि प्रारम्भिक युगों में पृथ्वी की भौतिक दशाओं में होने वाले परिवर्तन आजकल के परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक भीषण रहे हों और इसलिए उस समय पाये जाने वाले जीवों में भी तीव्रता से परिवर्तनों का होना सम्भव है।

इस प्रश्न का मैं कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकता कि कैम्ब्रियन निर्माणों के पहले के इन काल्पनिक युगों में पाये जाने वाले अनेक प्रकार के जन्तुओं के अवशेष हमको क्यों नहीं मिलते हैं। अभी हाल तक कई प्रमुख भूतत्ववेत्ता, जिनमें सर आर० मरचिसन सबसे आगे थे, यह विश्वास करते थे, कि सबसे नीचे साइल्यूरियन स्तर में पाये जाने वाले अवशेष ही जीवों की उत्पत्ति के द्योतक हैं। लियेल तथा ई० फोर्ब्स जैसे अन्य कुशल भूतत्ववेत्ता इस मत से सहमत नहीं हैं। उनको यह नहीं भूलना चाहिए कि हम संसार के एक बहुत छोटे भाग से ही ठीक तरह से परिचित हैं। कुछ ही दिन पहले साइल्यूरियन संस्थान के उस समय तक ज्ञात सबसे निचले स्तर के भी नीचे एक अन्य स्तर का पता मसिया ब्राण्ड ने लगाया था और अब मि० हिक्स ने दक्षिणी वेल्स में कैम्ब्रियन निर्माणों में एक और भी प्राचीन स्तर का अविष्कार किया है जो ट्राइलोबाइट, मालस्का तथा एनीलिडा के अवशेषों से भरा पड़ा है। सबसे नीचे की एज़ोइक (Azioc) चट्टानों में बिटुमिनस तथा फास्फेटिक पदार्थों का पाया जाना सम्भवत: यह बताता है कि इस युग में जीव उपस्थित थे। कैनाडा के लारेंशियन निर्माणों में इयोज़ून (Eoz oon) का होना साधारणत: लोग मानते हैं। कैनाडा में साइल्यूरियन संस्थान के नीचे तीन बड़ी श्रेणियाँ पायी जाती हैं और इनमें सब से नीचे वाली में इयोज़ून पाया जाता है। सर डब्लू० लोगन का कहना है कि इन श्रेणियों की इकट्ठी मोटाई सम्भवत: पेलियोज़ोइक श्रेणी से लेकर आज तक की सभी स्तरों की मोटाई से अधिक होगी। इस प्रकार हम एक इतने प्राचीन युग में पहुँच जाते हैं कि उसको ध्यान में रखते हुए ब्राण्ड द्वारा उल्लेख किये हुए प्रारम्भिक जन्तु (primordial fauna) आधुनिक समझे जा सकते हैं।

जन्तुओं के सभी वर्गों में इयोज़ून सबसे कम व्यवस्थित वर्ग है, किन्तु अपने ही वर्ग के भीतर यह काफी सुव्यवस्थित कहा जा सकता है। यह अनगिनती संख्या में पाया जाता था और डा० डासन के अनुसार यह सूक्ष्म जीवों का भक्षण करता था। अत: यह सूक्ष्म जीव भी बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते रहे होंगे। इस प्रकार १८५९ में कैम्बियन काल के बहुत पूर्व जीवों के अस्तित्व के विषय में मैंने जो कुछ लिखा था, वह ठीक सिद्ध होता है। यही बात सर डब्लू० लोगन ने भी लिखी थी। फिर भी कैम्ब्रियन संस्थान के पूर्व जीवाश्मों से भरे स्तरों की अनुपस्थिति का कारण बताना कठिन है। यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि इन अत्यन्त प्राचीन स्तरों का पूर्ण अनाच्छादन हो गया हो, या यह कि इनके जीवाश्म भूमि परिवर्तन के बीच नष्ट हो गये हों। यदि ऐसा होता, तो इन स्तरों के बाद के स्तरों में भी कुछ ही अवशेष मिलते तथा ये बाद के स्तर स्वयं परिवर्तित रूप में पाये जाते; किन्तु रूस तथा उत्तरी अमरीका के साइल्यूरियन स्तर ऐसे नहीं हैं

और न उनके अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि जितना ही कोई निर्माण प्राचीन होता है, उतना ही अधिक अनाच्छादन या परिवर्तन उसमें पाया जाता है।

वास्तव में अब तक हम इस कठिनाई का निवारण नहीं कर सके और यह कहा जा सकता है कि हमारे मत के विरुद्ध यह सबल कठिनाई है। किन्तु सम्भव है कि बाद में इसका कोई उत्तर प्राप्त हो और इस सम्बन्ध में मैं एक उपकल्पना रखता हूँ। यूरोप तथा संयुक्त राज्य के अनेक निर्माण में बहुत गहराई पर जीवों के उन अवशेषों की प्रकृति के आधार पर, जो इन भागों में नहीं पाये जाते, तथा मीलों मोटे निक्षेपण की उस मात्रा को ध्यान में रखते हुए जिसके ये निर्माण बने हैं, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जिन स्थानों पर ये निक्षेपण प्राप्त हुए हैं, वहाँ के छोटे तथा बड़े सभी द्वीप अथवा स्थल के टुकड़े वर्तमान समय के यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के महाद्वीपों के आसपास स्थित थे। यही मत अगासिज़ तथा अन्य पुरातत्ववेत्ताओं ने भी प्रकट किया है। परन्तु हम यह नहीं जानते कि विभिन्न निर्माणों के बीच के अन्तरों में क्या दशा थी——क्या इन मध्यान्तरों में यूरोप तथा संयुक्त राज्य सूखे स्थलों के रूप में थे अथवा समुद्र की सतह के नीचे उथले धरातलों के रूप में, जहाँ बाद में निक्षेपण एकत्र हुआ, अथवा किसी बड़े गहरे समुद्र के रूप में।

वर्तमान समय में समुद्रों तथा महासागरों का क्षेत्रफल स्थल के क्षेत्रफल का तीन-गुना है और उनके बीच-बीच अनेक द्वीप पाये जाते हैं। किन्तु समुद्र से उठे हुए इन द्वीपों में से (न्यूजीलैंड) के द्वीप को छोड़ कर, (यदि यह सिद्ध किया जा सके कि यह भी इसी प्रकार का द्वीप है) एक भी ऐसा नहीं है जिसमें पेलियोज़ोइक या द्वितीय युग के निर्माणों का कोई चिह्न प्राप्त हो। अतः हम इस निर्ष्कष पर पहुँच सकते हैं कि जिन भागों में आज महासागर पाये जाते हैं, वहाँ पेलियोज़ोइक या द्वितीय युगों में महाद्वीप नहीं थे, क्योंकि यदि ये होते, तो उनमें निश्चय ही पेलिओज़ोइक तथा द्वितीय निर्माण होते और बाद में पुनः जब ये द्वीपों के रूप में ऊपर उठे तो इनमें भी इन निर्माणों के अवशेष अवश्य ही मिलते। इन बातों से यदि हम कोई भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं, तो यही कि जहाँ आज हम महासागर देखते हैं, वहाँ पृथ्वी के प्राप्त इतिहास के प्राचीनतम काल में महासागर ही थे। इसके विपरीत जहाँ आज महाद्वीप पाये जाते हैं, वहाँ स्थल के विशाल क्षेत्र कैम्ब्रियन काल से रहे हैं, हालाँकि उनमें समय-समय पर प्रदोलन अथवा तल-परिवर्तन होता रहा है। मूँगे की दीवार (Coral reefs) पर लिखी गयी पुस्तक में दिये हुए रंगीन मानचित्र के आधार पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि बड़े-बड़े महासागर आज भी मुख्यतः वे क्षेत्र हैं, जहाँ भूमि का धँसाव हो रहा है। अतः महाद्वीप उत्थान क्षेत्र है और द्वीपसमूह ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ तल-परिर्वतन चल रहा है। पर ऐसा कोई कारण

नहीं कि हम यह समझें यही दशा संसार के प्रारम्भ से ही है। सम्भवतः अनेक तल-परिवर्तनों के बीच उत्थान की शक्ति की अधिकता के कारण महाद्वीपों का निर्माण हुआ किन्तु क्या यह सम्भवतः नहीं है कि अनेक युगों के व्यतीत होने पर भी इस शक्ति में कमी हो ? सम्भव है कि कैम्ब्रियन युग के बहुत पहले किसी काल में उन भागों में महाद्वीप रहे हों, जहाँ आज समुद्र है; अथवा जहाँ आज महाद्वीप है, वहाँ कुछ काल पहले समुद्र रहे हों। यह भी समझने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि यदि आज प्रशान्त महासागर का धरातल उठ कर एक महाद्वीप का रूप धारण कर ले, तो उसमें कैम्ब्रियन स्तरों से भी प्राचीन ऐसी दशा में निक्षेपण स्तर मिलें कि उनका पहचानना सम्भव हो, चाहे उनका निर्माण निश्चय ही क्यों न हुआ हो। यह सम्भव है कि जो स्तर दब कर पृथ्वी के केन्द्र के निकट पहुँचे और जिन पर असीमित मात्रा में जल का भार पड़ा हो उनमें ऐसे भीषण परि-वर्तन हुए हों जैसे तल के निकट रहने वाले स्तरों में न हुए हों। दक्षिणी अमरीका की भाँति संसार के कुछ विशाल क्षेत्रों की नग्न परिवर्तित चट्टानों को देखने से लगता है कि वे भारी दबाव की दशा में बहुत गरम हो गये हैं और उनके निर्माण के सम्बन्ध में जान पड़ता है कि हमको कुछ विशेष कारणों की खोज करनी पड़ेगी। सम्भव है कि इन विशाल क्षेत्रों में पायी जाने वाली ये चट्टानें कैम्ब्रियन युग के बहुत पहले की हों और इसी लिए इतने परिवर्तित और नग्न अवस्था में पायी जाती हों।

इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस अध्याय में दी गयी कठिनाइयाँ--अर्थात्, यह कि यद्यपि हमारे पुरातत्व निर्माणों में बहुधा वर्तमान तथा विगत जातों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले अवशेष प्राप्त होते हैं, किन्तु इनकी संख्या पर्याप्त नहीं है, और किन्हीं दो जातों के बीच की सभी क्रमिक अवस्थाएँ प्राप्त नहीं होतीं; यह कि हमारे यूरोपीय निर्माणों में जातों के कई समूह पहली बार एकाएक प्रकट होते हैं, यह कि कैम्ब्रि-यन स्तरों के नीचे जीवाश्मों से भरे स्तर नहीं प्राप्त हुए---बहुत गम्भीर है। यही कारण है कि अधिकांश प्रमुख विलुप्तजन्तुवेत्ता, जैसे क्यूवियर, अगासिज़, बराण्ड, पिक्टेट, फाल्कोनर, ई० फोर्ब्स तथा सभी बड़े पुरातत्ववेत्ता, जैसे लियेल, मरचिसन, सेजविक आदि एक मत से और बहुधा जोरों से जातों की अपरिवर्तनशीलता में विश्वास करते हैं, किन्तु अब सर चार्ल्स लियेल जैसे अधिकारी के सहयोग का बल विरोधी दल को प्राप्त है और अधिकांश पुरातत्ववेत्ताओं और विलुप्तजन्तुवेत्ताओं का विश्वास हिल उठा है। जो लोग पुरातत्व उल्लेख को कुछ अंश में भी पूर्ण मानते हैं, वे निस्सन्देह हमारे मत को ठुकराएँगे। किन्तु लियेल के कथनानुसार मैं पुरातत्व उल्लेख को संसार का एक ऐसा इतिहास मानता हूँ जो पूर्ण नहीं है और समय-समय पर भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखा गया है। वास्तव में इस इतिहास का हमको केवल अन्तिम अंक ही प्राप्त है। यही नहीं,

इस अंक के भी इने-गिने, इधर-उधर के अध्याय ही परिरक्षित हैं और इसके जो पृष्ठ प्राप्त हैं, उसकी कुछ ही पंक्तियाँ बच सकी हैं इसकी बदलती हुई भाषा के प्रत्येक शब्द को हम जीवों के विभिन्न रूप समझ सकते हैं और ऐसे सभी शब्द बाद के अध्यायों में भी प्रयोग किये गये हैं, किन्तु हम ऐसा समझते हैं कि ये पहली बार ही एकाएक प्रयोग में लाये गये हैं। इस प्रकार देखने पर ये कठिनाइयाँ कम ही नहीं हो जातीं, बल्कि समाप्त हो जाती हैं।

अध्याय ग्यारह

जीवों का भूतत्वीय क्रम

नयी जातों का धीरे-धीरे तथा क्रमानुसार प्रकट होना—उनके परिवर्तन की गति का भिन्न-भिन्न होना—एक बार नष्ट हुई जातें पुनः प्रकट नहीं होतीं—जातों के समूह भी प्रकट होने तथा नष्ट होने के सम्बन्ध में उन्हीं नियमों का पालन करते हैं जिनका पालन अकेली जातें करती हैं—विलुप्तता—समस्त संसार में जीवों में एक साथ परिवर्तन होना—विलुप्त जातों का एक-दूसरे से तथा वर्तमान जातों से सम्बन्ध—प्राचीन रूपों के विकास की अवस्था—समान क्षेत्रों में समान जातों की क्रमिकता—पिछले तथा वर्तमान अध्याय का सारांश।

अब हम यह देखेंगे कि जीवों के भूतत्वीय क्रम से सम्बन्ध रखने वाले अनेक तथ्य तथा नियम कहाँ तक जातों की अपरिवर्तनशीलता के सामान्य मत के, अथवा परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा उनके धीरे-धीरे आपरिवर्तित होने के मत के अनुकूल हैं।

स्थल तथा जल दोनों में ही नयी जातें धीरे-धीरे, एक-के-बाद एक प्रकट हुई हैं। लियेल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कई तृतीय स्तरों में मिलने वाले प्रमाण इस सम्बन्ध में अकाट्य हैं। प्रत्येक वर्ष ऐसे आविष्कार होते जाते हैं जिनसे विभिन्न अवस्थाओं के बीच की अब तक छूटी हुई जगहें भरती जाती हैं और इस प्रकार विलुप्त तथा वर्तमान जीवों के बीच का अन्तर घटता जाता है। बहुत बाद के कुछ स्तरों में, यद्यपि वर्षों के पैमाने से यह भी बहुत प्राचीन है, एक-ही-दो जातें विलुप्त हुई हैं और एक-ही-दो नयी और पहली बार स्थानीय रूप से अथवा संसार भर में उत्पन्न हुईं। द्वितीय निर्माण अधिक टूटे-फूटे हैं। किन्तु जैसा ब्रान ने कहा है, किसी निर्माण में पायी जाने वाली जातों का प्रकट या विलुप्त होना एक साथ नहीं हुआ है।

अलग-अलग जातियों तथा वर्गों की जातें एक ही गति से अथवा एक ही हद तक परिवर्तित नहीं हुई हैं। पुराने तृतीय स्तरों में अनेक विलुप्त रूपों के बीच एक-आध ऐसे कवच भी पाये जा सकते हैं जो इस समय भी जीवित हैं। फाल्कोनर ने इस बात का एक सुन्दर उदाहरण दिया है। घड़ियाल की एक जीवित जात का सम्बन्ध अधोहिमालयी

अवसाद के स्तनियों तथा रेप्टाइलों से है। साइल्यूरियन युग का लिंगुला (Lingula) इसी जाति की वर्तमान जात के समान है, यद्यपि इसी युग के अन्य कवच तथा क्रस्टेशिया बहुत परिवर्तित हो गये हैं। समुद्री जीवों की अपेक्षा स्थली जीव अधिक तेजी से परिवर्तित होते हैं। इस बात का एक अद्‌भुत उदाहरण स्विटज़रलैंड में प्राप्त हुआ है। यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि निम्न कोटि के जीवों की अपेक्षा उच्च कोटि के जीव अधिक तेजी से बदलते हैं, यद्यपि इस नियम के कई अपवाद हैं। जैसा पिक्टेट ने कहा है, प्रत्येक निर्माण में होने वाले परिवर्तन की मात्रा समान नहीं है। फिर भी अत्यन्त निकट सम्बन्धित निर्माणों को छोड़, अन्य निर्माणों में से किसी एक की सभी जातों में कुछ अन्तर देखे जाएँगे। जब पृथ्वी से कोई जात एक बार लोप हो गयी तो यह समझने का कोई कारण नहीं कि फिर वही जात प्रकट होगी। इस नियम का केवल एक ही अपवाद है—एम० बराण्ड के मंडलों (Colonies)। ये किसी पुराने निर्माण के बीच में एक बार प्रकट होते हैं और इसके बाद फिर उसके प्रकट होने के पहले पाये जाने वाले जीव पुनः प्रकट होते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में लियेल का कहना ठीक जान पड़ता है कि यह एक विभिन्न भौगोलिक प्रदेश से अस्थायी स्थानान्तरण का उदाहरण है।

ये सभी बातें हमारे मत के अनुकूल हैं जिसके अनुसार यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि किसी क्षेत्र के सभी निवासी एकाएक बदलते हैं और न साथ-साथ और बराबर मात्रा में। आपरिवर्तन की क्रिया निश्चय ही धीमी होगी और साधारणतः एक समय में इसके द्वारा कुछ ही जातें प्रभावित होंगी क्योंकि प्रत्येक जात की परिवर्तनशीलता दूसरे से स्वतन्त्र है। इस प्रकार के परिवर्तन या वैयक्तिक अन्तर प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा किस हद तक संग्रहीत होंगे और उनके द्वारा कैसे स्थायी आपरिवर्तन होंगे, यह कई बातों पर निर्भर है; जैसे कि परिवर्तनों का उपयोगी होना, अन्तः-संकरण की स्वतन्त्रता, प्रदेश की बदलती हुई भौतिक दशाएँ, नये जीवों का आगमन, जिसके द्वारा जातों के बीच संघर्ष होता है, इत्यादि-इत्यादि। अतः यदि कोई जात विशेष अन्य जातों की अपेक्षा अपने मूल लक्षण अधिक दिनों तक बनाये रखती है, अथवा बदलती भी है तो बहुत कम, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। इसी प्रकार के सम्बन्ध अलग-अलग प्रदेशों के वर्त्तमान जीवों के बीच भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए मडायरा के स्थली कवच तथा कोलियाप्टेरा कीट, यूरोपीय महाद्वीप पर के अपने सम्बन्धियों से बहुत भिन्न हो गये हैं, हालाँकि समुद्री कवच तथा पक्षी बिल्कुल परिवर्तित नहीं हुए। समुद्री तथा निम्न कोटि के जीवों की अपेक्षा स्थली तथा उच्च कोटि के जीवों में परिवर्तन का तीव्र होना बहुत कुछ उनकी संरचना और गठन के अधिक जटिल होने के कारण है। जब किसी

क्षेत्र के कई निवासी आपरिवर्तित होकर उन्नति कर जाते हैं तो यह स्पष्ट है कि प्रतियोगिता के सिद्धान्त के आधार पर अथवा जीवन-संघर्ष के फलस्वरूप विभिन्न जीवों के परस्पर सम्बन्ध के कारण, जो जीव कुछ हद तक उन्नति नहीं करते उनका विनाश हो जाएगा। यही कारण है कि यदि हम एक ही क्षेत्र की जातों पर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि एक निश्चित, किन्तु अपेक्षाकृत लंबी अवधि के भीतर ही सभी आपरिर्वातित होते हैं। ऐसा न हो तो वे नष्ट हो जायें।

एक ही वर्ग के सदस्यों में, बराबर तथा लंबी अवधियों में परिवर्तन की मात्रा बराबर हो सकती है; किन्तु चूँकि जीवाश्मों से भरे स्थायी स्तरों का निर्माण धँसते हुए धरातल पर बड़ी मात्रा में निक्षेपण के जमा होने पर निर्भर है, इसलिए यह निर्माण सदा ही अनियमित तथा भिन्न-भिन्न अवधियों के बाद हुआ है। इसलिए अलग-अलग निर्माणों में पाये जाने वाले फॉसिलों में आपरिवर्तन की मात्रा भिन्न-भिन्न है। इस मत के अनुसार अलग-अलग निर्माण सृष्टि के अलग-अलग क्रिया के द्योतक नहीं हैं, बल्कि बहुत धीरे-धीरे होने वाले एक नाटक के बीच के दृश्य हैं।

हम यह भलीभाँति समझ सकते हैं कि एक बार नष्ट होने पर कोई जाति फिर से क्यों नहीं प्रकट होती चाहे जीवन की सभी परिस्थितियाँ पुनः समान ही क्यों न हो जायँ। क्यों न एक जात की सन्तानें प्रकृति में दूसरी जात का स्थान ग्रहण करने के लिए अनुकूलित हो जायँ, किन्तु ये नयी और पुरानी दोनों जातें बिल्कुल एक जैसी ही नहीं हो सकतीं, क्योंकि यह निश्चित है कि अपने-अपने पूर्वजों से ये अलग-अलग लक्षण ग्रहण करेंगी और जो जीव प्रारम्भ में ही एक-दूसरे से भिन्न हैं उनमें होने वाले परिवर्तन भी भिन्न होंगे। उदाहरण के लिए यदि हमारे सभी फैन्टेल कबूतर नष्ट हो जायँ तो यह सम्भव है कि हम फिर कबूतरों की एक ऐसी नस्ल तैयार कर लें जिनको फैन्टेल से भिन्न नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि इनके बजाय कबूतरों की मूल जंगली जात ही नष्ट हो जाय (और प्रकृति में बहुधा अधिक उन्नतिशील सन्तानों के उत्पन्न होने से मूल भेद नष्ट हो जाते हैं), तो यह सम्भव नहीं होगा कि वर्तमान फैन्टेल नस्ल के बिल्कुल समान दूसरी नस्ल कबूतरों जैसी दूसरी जात के पक्षी से अथवा पालतू कबूतरों की किसी वर्तमान नस्ल से उत्पन्न की जा सके, क्योंकि क्रमशः जितने परिवर्तन होंगे, कुछ भिन्न ही होंगे और नवनिर्मित भेद को अपने पूर्वज से कुछ विशेष लक्षण प्राप्त होंगे।

जातों के समूह, अर्थात् जातियाँ तथा वंश भी प्रकट होने अथवा नष्ट होने के सम्बन्ध में उन्हीं नियमों का पालन करते हैं जिनको अलग-अलग जातें, और उनमें कम या अधिक अन्तर तेज़ी से होते हैं। अतः एक बार लुप्त होने पर कोई वर्ग फिर

प्रकट नहीं होता। दूसरे शब्दों में जातों की भाँति जातियों अथवा वंशों का जीवन भी अविरल होता है। मैं जानता हूँ कि इस नियम के कुछ अपवाद भी दिखाई देते हैं किन्तु ये अपवाद बहुत थोड़े हैं; वास्तव में इतने थोड़े कि यद्यपि ई० फोर्ब्स, पिक्टेट तथा उडवर्ड मेरे मतों के बिल्कुल विरुद्ध हैं, फिर भी वे इस बात की सत्यता को मानते हैं। अपवादों को छोड़ यह नियम हमारे मत के अनुकूल है। चाहे कोई वर्ग कितना ही प्राचीन क्यों न हो, उसकी सभी जातें एक-दूसरे की आपरिवर्तित सन्तानें हैं और सभी एक ही पूर्वज से उत्पन्न हुई हैं। उदाहरण के लिए लिंगुला जाति में जो जातें भिन्न-भिन्न युगों में प्रकट हुई हैं, वे सब से नीचे के साइल्यूरियन स्तर से वर्तमान समय तक बराबर अनेक पीढ़ियों के द्वारा सम्बन्धित होंगी।

पिछले अध्याय में हमने देखा कि कभी-कभी जातों के पूरे-पूरे समूह असत्य ही एकाएक उत्पन्न हुए जान पड़ते हैं। मैंने इस बात का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है और यदि वह सही है तो मेरे मतों के बिल्कुल प्रतिकूल है। किन्तु इस प्रकार के उदाहरण अपवादों के रूप में मिलते हैं। साधारण नियम यही है कि संख्या में धीरे-धीरे तब तक वृद्धि होती जाती है जब तक वर्ग उन्नति की पराकाष्ठा पर न पहुँच जाय; और फिर उसकी संख्या में कमी होने लगती है। यदि किसी जाति की अनेक जातें अथवा वंश की अनेक जातें एक खड़ी लकीर के द्वारा दिखाई जायँ जिसकी मोटाई अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न हो, और जो विभिन्न भूतत्वीय स्तरों से हो कर ऊपर जा रही हो, तो कभी-कभी यह लकीर नीचे की ओर एक विन्दु से निकलती हुई नहीं मालूम होगी बल्कि एकाएक प्रकट होती जान पड़ेगी। यह रेखा ऊपर की ओर मोटी होती जाएगी और सम्भव है कि कुछ दूर तक बराबर मोटी बनी रहे; किन्तु ऊपरी स्तरों में यह पतली होती जाती है जिससे मालूम होता है कि जात का अंत में विनाश होता है। किसी समूह की जातों की संख्या में इस प्रकार की वृद्धि का होना बिल्कुल हमारे मत के अनुसार है क्योंकि किसी जाति की जातों अथवा वंश की जातियों की संख्या में धीरे-धीरे ही वृद्धि हो सकती है। आपरिवर्तन की क्रिया तथा सम्बन्धित जीवों की उत्पत्ति धीरे-धीरे ही हो सकती है—जात पहले दो-तीन भेदों को जन्म देती है जो बाद में इसी प्रकार धीरे-धीरे अन्य भेदों अथवा जातों को जन्म देती है और फिर जिस प्रकार एक ही तने से शाखाओं-पर-शाखाएँ फूटती जाती हैं, उसी प्रकार यह समूह बढ़ता जाता है।

विलुप्तता

अभी तक हमने जातों अथवा जात-समूहों की विलुप्तता की चर्चा यदा-कदा ही की है। प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार पुराने जीवों का विनाश तथा नये

और उन्नतिशील जीवों की उत्पत्ति एक-दूसरे से गहराई से सम्बन्धित है। इस पुरानी धारणा पर अब साधारणतः लोगों का विश्वास नहीं रहा कि पृथ्वी के निवासी समय-समय पर प्राकृतिक विपत्तियों के कारण एक साथ नष्ट होते रहे हैं। एली डि ब्यूमांट, मरचिसन, बराण्ड आदि भूतत्ववेत्ता भी इसमें विश्वास नहीं करते, यद्यपि इनके मतों के अनुसार ऐसा ही होना चाहिए। इसके विपरीत तृतीय युग के स्तरों का अध्ययन करने पर हमको यह विश्वास करना पड़ता है कि जात-समूह तथा जातें एक के बाद एक धीरे-धीरे नष्ट होती हैं। पहले वे एक स्थान से, फिर दूसरे स्थान से नष्ट होती हुई अन्त में पूरे संसार से मिट जाती हैं। लेकिन कुछ उदाहरणों में विनाश की क्रिया तेज़ी से भी हो सकती है जैसे भूडमरूमध्य के टूटने के कारण किसी बड़े क्षेत्र के सभी जीवों के समुद्र में चले जाने से या स्थल के धँस जाने से। जातें अथवा जातों के समूह अलग-अलग अवधियों तक जीवित रहती हैं। हम देख चुके हैं कि कुछ समूह जीवोत्पत्ति के सबसे प्राचीन ज्ञात काल से आज तक बने हैं और कुछ पेलियोज़ोइक काल के अन्त होने के पहले ही नष्ट हो गये। वास्तव में किसी जाति अथवा जात के जीवन की अवधि के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं मालूम पड़ता। ऐसा जान पड़ता है कि किसी पूरे समूह के विनाश की क्रिया उसकी उत्पत्ति की अपेक्षा अधिक धीमी होती है। यदि पहले की भाँति उसकी उत्पत्ति और विनाश को हम अलग-अलग मोटाई वाली खड़ी लकीर से दिखायें तो देखेंगे कि लकीर ऊपर की ओर, नीचे की अपेक्षा, ज्यादा धीरे-धीरे पतली होती है, क्योंकि ऊपर का भाग विनाश बताता है और नीचे का उत्पत्ति। फिर भी कुछ समूह अद्भुत तेज़ी से नष्ट हुए हैं, जैसे द्वितीय युग के अन्त की ओर एमोनाइट का नष्ट होना।

वास्तव में जातों की विलुप्तता का प्रश्न अब भी रहस्यमय है। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक मान लिया है कि जिस प्रकार किसी जीव के जीवन की एक सीमा होती है उसी प्रकार समस्त जातों के भी जीवन की सीमा है। जातों की विलुप्तता देखकर मुझसे अधिक आश्चर्य किसी को नहीं हो सकता। जब मैंने ला प्लाटा में मैस्टोडान, मेगारिथरियम, टाक्सोडान आदि साथ-साथ रहने वाले विलुप्त जीवों के साथ ही घोड़े के दाँतों को भी बहुत बाद के भूतत्वीय युग में पाया, तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। हाल में स्पेननिवासियों द्वारा दक्षिणी अमेरिका में घोड़ों के ले जाने के बाद बहुत शीघ्र ये जन्तु पूरे देश में फैल गये हैं और इनकी संख्या में अद्भुत तीव्रता से वृद्धि हुई है; अतः स्वाभाविक था कि मेरे मन में यह प्रश्न उठता कि ऐसी अनुकूल परिस्थितियों में यहाँ घोड़े की यह पुरानी जात क्यों नष्ट हो गयी। परन्तु मेरे इस आश्चर्य का कोई कारण नहीं था। प्रो० ओवेन ने शीघ्र ही यह समझ लिया कि हालाँकि यह दाँत बहुत कुछ

घोड़े की जीवित जात के समान है, फिर भी यह एक विलुप्त जात का है। अगर यह जात आज भी जीवित होती तो कितनी भी विरली होने पर किसी प्रकृतिवादी को आश्चर्य न होता क्योंकि यह किसी भी प्रकार विचित्र बात नहीं है और कई जातें हर प्रदेश में बहुत अल्प संख्यक हैं। यदि हम यह प्रश्न करें कि अमुक जात क्यों विरली है, तो उसका उत्तर यही होगा कि इसके जीवन की दशा में कोई बात प्रतिकूल है; किन्तु वह प्रतिकूल बात कौन सी है कोई नहीं कह सकता। यदि यह मान लिया जाय कि यह फॉसिल घोड़ा विरली स्थिति में है तो अन्य स्तनियों के आधार पर—यहाँ तक कि हाथी जैसी धीरे-धीरे प्रजनन करने वाली जात का उदाहरण देख कर भी, तथा दक्षिण अमरीका में पालतू घोड़े की संख्या वृद्धि देखकर—हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि परिस्थिति अनुकूल होने पर इन विरले प्राणियों से कुछ ही वर्षों में पूरा महाद्वीप पुनः भर जाएगा। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वे प्रतिकूल परिस्थितियाँ कौन सी थीं जिनके कारण संख्यावृद्धि रुकी रही, अथवा इस प्रकार की प्रतिकूल बातें एक थीं या अनेक, अथवा घोड़े के जीवन के किस भाग में इनमें से कोई किस प्रकार काम करती है। यदि परिस्थितियाँ धीरे-धीरे कम अनुकूल होती गयीं; तो बिना हमारे जाने ही धीरे-धीरे घोड़े की संख्या कम होती जाएगी और अन्त में यह पूरी तरह नष्ट हो जाएगी और इसका स्थान किसी अधिक सफल प्रतियोगी द्वारा भर जाएगा।

यह सदा याद रखना बहुत कठिन है कि हर जीव की वृद्धि अनेक हानिकारक कारणों से रुकी रहती है और उन्हीं हानिकारक कारणों से विरलापन तथा विलुप्तता उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में यह विषय इतना कम समझा गया है कि मैंने बहुधा लोगों को मैस्टोडॉन तथा प्राचीन डाइनोसॉर जैसे विशाल जन्तुओं को विलुप्त होने पर आश्चर्य प्रगट करते सुना है, जैसे कि केवल शारीरिक शक्ति से ही किसी जीव को जीवन संग्राम में विजय प्राप्त हो सकती है। इसके विपरीत जैसा ओवेन ने कहा है, बहुधा विशालकाय होना ही विलुप्तता का कारण हो सकता है, क्योंकि शरीर के बड़े होने के साथ ही भोजन की बड़ी मात्रा में आवश्यकता होगी। इसके पहले कि भारत अथवा अफ्रीका मनुष्यों द्वारा आबाद हुआ, कुछ कारणों से वहाँ पाये जाने वाले हाथी की संख्या-वृद्धि रुक गयी होगी। डा० फाल्कोनर जैसे योग्य प्रकृतिशास्त्री का विश्वास है कि भारतवर्ष में हाथियों की वृद्धि, कीटों के कारण कम हुई क्योंकि ये निरन्तर उसको तंग करते और अशक्त बनाते हैं। अबिसीनिया के अफ्रीकी हाथियों के विषय में ब्रूस का भी यही मत है। यह निश्चत है कि दक्षिणी अमरीका के कई भागों में भी कीटों तथा रक्त चूसने वाले चमगादड़ों के कारण ही बड़े चौपायों की संख्या सीमित होती है।

हाल के तृतीय युग के स्तरों के कई उदाहरणों में हम देखते हैं कि विलुप्तता के पहले विरलापन होता है। हम यह भी जानते हैं कि यही बात उन जन्तुओं के साथ भी हुई है जिनका विनाश स्थानीय रूप से या पूरी तरह मनुष्य के द्वारा हुआ है। सन् १८४५ में मैंने जो कुछ लिखा था उसको यहाँ पुनः दुहराता हूँ अर्थात् यह मान लेना कि जातें विलुप्त होने के पहले साधारणतः विरली हो जाती हैं; अर्थात् किसी जात के विरलेपन पर आश्चर्य न करना किन्तु उसके नष्ट हो जाने पर आश्चर्य करना बहुत कुछ उसी प्रकार है जैसे यह मान लेना कि मनुष्य में बीमारी मृत्यु के पहले आती है और फिर उसके बिमार होने पर आश्चर्य न करना किन्तु उसके मर जाने पर यह समझना कि मृत्यु किसी अद्भुत कारण से हुई है।

प्राकृतिक निर्वाचन का सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक नया भेद और नयी जात अन्य प्रतियोगी जीवों की अपेक्षा किसी सुविधा के कारण उत्पन्न होती है, तथा जीवित रहती है, तथा इसके फलस्वरूप यह निश्चित है कि कम सफल जीव विनष्ट हो जायँगे। यही बात पालतू जीवों के सम्बन्ध में भी सत्य है। जब कोई नया और थोड़ा भी उन्नतिशील भेद बन जाता है, तो आस-पास में पाये जाने वाले उन्नतिशील भेदों को वह नष्ट कर देता है। अधिक उन्नतिशील भेद होने पर (जैसे छोटी सींग वाली गायों के उदाहरणों में) यह दूर-दूर के देशों तक में अन्य नस्लों का स्थान लेता है। इस प्रकार नये रूपों का प्रकट होना और पुराने रूपों का नष्ट होना, प्राकृतिक अथवा कृत्रिम दोनों ही दशाओं में, एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। उन्नतिशील वर्गों में एक निश्चित समय के भीतर कदाचित नयी उत्पन्न होनेवाली जातों की संख्या पुरानी नष्ट होने वाली जातों की संख्या से अधिक होगी। किन्तु हम जानते हैं कि कम-से-कम बाद के भूतत्वीय युगों में जातों की संख्या में असीमित वृद्धि नहीं हुई है, और इसलिए कम-से-कम बाद के युगों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि नयी जातों के निर्माण के कारण जातों की उतनी ही संख्या का विनाश भी हुआ है।

जैसा पहले कई उदाहरणों के द्वारा समझाया गया है, उन जातों के बीच प्रतियोगिता सबसे गहरी होगी जो एक-दूसरे के हर प्रकार से समान हैं। अतः साधारणतः किसी जात की उन्नतिशील तथा आपरिवर्तित सन्तानें उसी जात को नष्ट करेंगी; और यदि किसी एक जात से कई नयी जातें उत्पन्न हुई हैं तो उस जाति की दूसरी सब से अधिक मिलती-जुलती जात के ही नष्ट होने की अधिक सम्भावना है। इस तरह मेरा विश्वास है कि एक जात से उत्पन्न हुई कई जातें मिलकर, अर्थात् एक सम्पूर्ण जाति उसी वंश की किसी अन्य जाति को नष्ट कर उसका स्थान ग्रहण करती है। पर यह कई बार हुआ होगा कि किसी नये वर्ग की नयी जात बिल्कुल पृथक् की अन्य जात का स्थान

ग्रहण करे और उसे नष्ट करे। यदि इस नये सफल जीव से कई मिलते-जुलते रूप के जीव उत्पन्न हो जायें तो उनके द्वारा एक से अधिक जातों का विनाश होगा और ये नष्ट होने वाली जातें एक-दूसरे से सम्बन्धित होंगी और प्रत्येक में कोई सामान्य कमी होगी। किन्तु चाहे आपरिवर्तित तथा उन्नतिशील जातों द्वारा नष्ट हुई ये जातें एक ही वर्ग की हों या अलग-अलग वर्गों की इनमें से कुछ बहुत दिनों तक जीवित बनी रह सकती हैं क्योंकि वे किसी विचित्र रहन-सहन के योग्य हो गयी हों अथवा किसी दूरस्थित तथा पृथक् प्रदेश में रहती हों जहाँ प्रतियोगिता गहरी न हुई हो। उदाहरण के लिए द्वितीय युग में कवचों की एक बड़ी जाति **ट्राइगोनिया** (Trigonia) की कुछ जातें आस्ट्रेलिया के समुद्रों में बच गयीं हैं तथा गैनायड (Ganoid) मछलियों के बड़े तथा लगभग विलुप्त समूह के कुछ सदस्य मीठे पानी में पाये जाते हैं। इसलिए जैसा हम देख चुके हैं किसी वर्ग का पूर्ण विनाश उसकी उत्पत्ति की अपेक्षा बहुत धीमी क्रिया है।

जहाँ तक समस्त वंशों अथवा गणों के एकाएक विनष्ट होने का प्रश्न है, जैसे पेलियोज़ोइक काल के अन्त में ट्राइलोबाइट का नष्ट होना या द्वितीय काल के अन्त में एमोनाइटों का नष्ट होना, हमने विभिन्न निर्माणों के बीच के लंबे मध्यान्तरों के विषय में जो कुछ कहा है उसको याद रखना चाहिए। इन मध्यान्तरों में हो सकता है कि विनाश की क्रिया बहुत धीरे-धीरे हुई हो। इसके अतिरिक्त बहुधा एक ही समूह की कई जातों की तीव्र वृद्धि या उनके एकाएक आगमन से किसी प्रदेश की कई प्राचीन जातों का एक साथ तेज़ी से विनाश हो सकता है; और जो जीव इस प्रकार दूसरे जीवों को स्थान प्रदान करते हैं वे एक-दूसरे से सम्बन्धित होंगे, क्योंकि उनमें एक ही सामान्य कमी पायी जाएगी।

इस तरह मुझको जान पड़ता है कि अकेली जातों अथवा जातों के समस्त समूहों के विनाश की रीति प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार है। हमको विलुप्तता पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अगर हमको आश्चर्य ही करना है तो हमको अपनी इस धारणा पर करना चाहिए कि हम उन सभी कारणों को भली भाँति समझते हैं जिन पर किसी जात का जीवित रहना आधारित है। यदि हम एक क्षण के लिए भी यह भूलेंगे कि प्रत्येक जात असीमित वृद्धि की ओर बढ़ती है किन्तु यह वृद्धि ऐसे कुछ कारणों से सीमित रहती है जिनको हम समझ नहीं पाते, तो प्रकृति की सारी मित-व्ययिता ही हमारी आँख से ओझल हो जाएगी। जब कभी हम यह कह सकेंगे कि कोई जात अन्य जातों की अपेक्षा बहुसंख्यक क्यों है, अथवा क्यों एक विशेष जात किसी प्रदेश में अन्य जातों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक रीति से रह सकती है, केवल तभी

हमको इस बात पर आश्चर्य करने का अधिकार होगा कि हम किसी जात अथवा जात समूह के विनाश का कारण क्यों नहीं बता सकते।

पूरे संसार में जीवों में लगभग एक साथ परिवर्तनों का होना

कदाचित् विलुप्तजन्तुशास्त्र का कोई आविष्कार इतना स्पष्ट नहीं होगा जितना यह कि संसार भर में जीवों में परिवर्तन लगभग एक साथ ही हुए हैं। इस प्रकार यूरोपीय खरिया निर्माण अत्यन्त भिन्न जलवायुओं में दूर-दूर के प्रदेशों में, जैसे उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका का विषुवत् प्रदेश, टियरा डेलफ़्यूमों, केप ऑफ गुड होप, भारतीय महाद्वीप आदि में पाये जाते हैं जहाँ खनिज खरिया का एक टुकड़ा भी नहीं मिलता। इन दूर-दूर के प्रदेशों में कुछ स्तरों में उपस्थित जीवों के अवशेष हर प्रकार से खरिया के समान हैं। यह बात नहीं है कि हर स्थान पर एक ही जात पायी जाती हो; वास्तव में कुछ स्थानों पर एक भी जात ऐसी नहीं होगी। फिर भी वे एक ही वंश, उपवंश, जाति, उपजाति के हो सकते हैं और कभी-कभी ऐसे लक्षणों में समान होते हैं, जैसे ऊपरी नक्काशियाँ। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे जीव जो यूरोप में खरिया स्तर में नहीं बल्कि उसके कुछ ऊपर या नीचे पाये जाते हैं। वे उसी क्रम से संसार के दूर-दूर के भागों में भी मिलते हैं। रूस, पश्चिमी यूरोप व उत्तरी अमरीका के कई क्रमिक पेलियोज़ोइक स्तरों में इसी प्रकार की समानता कई लेखकों ने बतायी है। लियेल के अनुसार यही बात यूरोपीय तथा उत्तरी अमरीकी तृतीय निक्षेपणों में भी पायी जाती है। यदि पुरानी तथा नयी दुनिया की इनी-गिनी सामान्य फॉसिल जातों को अलग कर दिया जाय तो भी पेलियोज़ोइक तथा तृतीय युगों के फासिलों की यह समानता स्पष्ट हो जाएगी और इस प्रकार कई स्तरों के बीच के सम्बन्ध स्पष्ट हो जाएँगे।

ऊपर दिये हुए अवलोकनों का सम्बन्ध संसार के समुद्री जीवों से है। यह निश्चय करने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं कि दूर-दूर के प्रदेशों के स्थलीय तथा मीठे पानी के जीवों में भी इसी प्रकार की समानता होती है या नहीं। हम यह सन्देह कर सकते हैं कि उनमें ऐसे समान परिवर्तन नहीं हुए। उदाहरण के लिए यदि लाप्लाटा से मेगाथिरियम, माइलोडान, मैकराचिनिया और टाक्सोडान यूरोप में लाये जायँ और उनकी भूतत्वीय स्थिति की कोई सूचना न दी जाय, तो किसी को यह सन्देह भी न होगा कि वे ऐसे समुद्री कवचों के साथ पाये जाते थे जो आज भी जीवित हैं। किन्तु चूँकि ये विचित्र जीव मैस्टोडान तथा घोड़े के समय में जीवित थे, अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे तृतीय युग के बाद की किसी अवस्था में थे।

जब यह कहा जाता है कि संसार भर के समुद्री जीवों में एक साथ परिवर्तन हुए, तो यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये परिवर्तन एक ही वर्ष अथवा एक ही शताब्दी के भीतर हुए या यह कि इस बात का कोई निश्चित भूतत्वीय अभिप्राय है। यदि यूरोप में इस समय पाये जाने वाले सभी समुद्री जन्तुओं की तुलना या प्लीस्टोसीन-काल में पाये जाने वाले (जो वर्षों के हिसाब से हिम युग को ध्यान में रखते हुए भी बहुत पुराना है) की तुलना आस्ट्रेलिया या दक्षिणी अमरीका में वर्तमान समय में पाये जाने वाले जीवों से की जाय, तो बहुत कुशल प्रकृतिवादी भी शायद ही यह कह सकें कि यूरोप के वर्तमान जीव दक्षिणी गोलार्ध के जीवों के अधिक समान हैं या प्लीस्टोसीन युग के जीव। इसी प्रकार कई बहुत योग्य वैज्ञानिकों की यह धारणा है कि संयुक्त राज्य के वर्तमान जीव यूरोप के तृतीय युग के पिछले भागों के जीवों के अधिक समान हैं, न कि वर्तमान जीवों के। यदि ऐसा हो तो यह स्पष्ट है कि उत्तरी अमरीका के समुद्रतट पर वर्तमान युग में बनने वाले स्तर बाद में यूरोप के प्राचीन स्तरों के साथ रखे जाएँगे। किन्तु यदि दूर भविष्य की कल्पना की जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि उस समय सभी वर्तमान समुद्री अवसादन, जैसे कि यूरोप, उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका के ऊपरी प्लायोसीन, प्लीस्टोसीन और वर्तमान स्तर भूतत्वीय अर्थ में लगभग एक ही काल के समझे जाएँगे क्योंकि उनमें पाये जाने वाले जीवाश्म अवशेष एक-दूसरे से मिलते-जुलते होंगे तथा उनमें भिन्न प्रकार के ऐसे अवशेष न होंगे जो और नीचे के स्तरों में होंगे।

ऐसे व्यापक अर्थ में संसार के दूर-दूर के भागों में जातों के एक साथ परिवर्तित होने की बात से मैडेम डे वर्न्यूल तथा डारकिमक जैसी कुशल पुरातत्ववेत्ता बहुत प्रभावित हुई हैं। यूरोप के विभिन्न भागों के पेलियोज़ोइक जीवों की समानता का उल्लेख करने के बाद वे लिखती हैं कि "यदि इस विचित्र क्रमिकता को देखने के बाद हम उत्तरी अमरीका की ओर ध्यान दें और वहाँ भी ऐसे ही मिलते-जुलते क्रम देखें, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि जातों का यह आपरिवर्तन, उनकी विलुप्तता अथवा नयी जातों की उत्पत्ति किसी स्थानीय अथवा अस्थायी कारण से, जैसे समुद्री धाराओं में परिवर्तन, के कारण नहीं हो सकता, बल्कि ये ऐसे सामान्य नियमों पर निर्भर हैं जिन पर समस्त जन्तु-साम्राज्य आधारित है।" यही बात बराण्ड ने भी काफ़ी दृढ़ता के साथ कही है। वास्तव में समस्त संसार में, जिसके भिन्न-भिन्न भागों की जलवायु इतनी भिन्न है, जीवों में इतने भीषण आपरिवर्तनों के कारणों को भौतिक दशाओं, जलवायु अथवा समुद्र की धाराओं की दिशा के परिवर्तनों में खोजना बिल्कुल व्यर्थ है। जैसा बराण्ड ने कहा है, हमको किसी विशेष नियम का सहारा लेना होगा। जब हम जीवों के वर्तमान

वितरण पर ध्यान देंगे और देखेंगे कि विभिन्न प्रदेशों की भौतिक दशाएँ और उनके निवासियों में कितना कम सम्बन्ध है, तो यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जायगी।

समस्त संसार में जीवों की समानान्तर क्रमिकता का यह महत्वपूर्ण तथ्य प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के आधार पर समझा जा सकता है। नयी जातों का निर्माण पुराने जीवों की अपेक्षा कुछ सुविधा के कारण होता है, और जो जीव पहले से ही प्रबल होते हैं अथवा जिनको अपने ही प्रदेश के अन्य जीवों के ऊपर कुछ सुविधाएँ प्राप्त हैं वे ही अधिक-से-अधिक संख्या में नये भेदों अथवा प्रारम्भिक जातों को जन्म देते हैं। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हमको ऐसे पौधों से प्राप्त होते हैं जो प्रवल हैं अर्थात् जो अधिक से अधिक बहुसंख्यक हैं तथा बहुत फैले हुए हैं और अधिक-से-अधिक संख्या में नये भेद उत्पन्न करते हैं। यह भी स्वाभाविक है कि जो जातें प्रबल, परिवर्तनशील तथा दूर-दूर तक विस्तृत हों और जिन्होंने कुछ हद तक दूसरी जातों के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया हो, उन्हीं को और भी अधिक विस्तृत होने का तथा नये-नये प्रदेशों में नये-नये भेदों तथा नयी जातों को उत्पन्न करने का अवसर प्राप्त हो। सम्भव है कि कभी-कभी विस्तार की क्रिया जलवायु सम्बन्धी तथा भौगोलिक परिवर्तनों के कारण हो अथवा कुछ विचित्र घटनाओं या नयी जातों के रास्ते में पड़नेवाली जलवायु के धीरे-धीरे अनुकूल हो जाने के कारण हो; किन्तु कालान्तर में प्रबल जातें विस्तृत होने में अवश्य ही सफल होंगी और प्रधानता प्राप्त करेंगी। सम्भव है कि संयुक्त समुद्रों के समुद्री जीवों की अपेक्षा अलग-अलग महाद्वीपों के स्थली जीवों का विस्तार अधिक धीमा हो। अतः हम यह आशा कर सकते हैं कि स्थलीय तथा समुद्री जीवों की क्रमिकता में समानता कुछ कम होगी, पर वास्तव में ऐसा ही हम देखते भी हैं।

अतः मुझको ऐसा जान पड़ता है कि संसार भर में समान जीवों का समानान्तर क्रम, तथा कुछ विस्तृत अर्थ में उनका एक साथ परिवर्तित होना प्राकृतिक निर्वाचन के इस सिद्धान्त के अनुकूल है कि नयी जातों का निर्माण प्रबल जातों के परिवर्तन तथा उनके दूर तक फैलने से होता है। इस प्रकार बनने वाली नयी जातें स्वयं भी प्रवल होती हैं क्योंकि उनको अन्य जातों तथा अपने प्रबल पूर्वजों पर कुछ सुविधा प्राप्त है। हार जाने वाली पुरानी जातें, जिनका स्थान नयी तथा विजयी जातें ग्रहण करती हैं, वे सब एक ही वर्ग में होंगी, क्योंकि उन सब में कुछ सामान्य कमी होगी। इस प्रकार जैसे-जैसे नये तथा उन्नतिशील वर्ग संसार भर में फैलते हैं, वैसे-वैसे पुराने वर्ग संसार से लोप होते जाते हैं, तथा सभी जगह जीवों की क्रमिक रूप से पहली बार प्रकट होने तथा नष्ट होने की क्रिया लगभग साथ-साथ होती है।

इस विषय से सम्बन्धित एक और भी बात कहने योग्य है। मैंने उन कारणों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर मैं यह विश्वास करता हूँ कि जीवाश्मों से भरे अधिकांश स्तर धँसाव के काल में बने हैं; और ऐसे कालों के बीच अर्थात् जब समुद्र का तल स्थायी था या ऊपर उठता था या जब निक्षेपण इतनी शीघ्रता से एकत्रित हुआ कि उसमें जीवों के अवशेष परिरक्षित नहीं हो सकें, ऐसे बड़े कालान्तर व्यतीत हुए जिनके फासिल नहीं पाये जाते। मेरा अनुमान है कि इन लंबे और शून्य कालान्तरों में प्रत्येक प्रदेश के जीवों में आपरिवर्तन तथा विनाश बड़ी मात्रा में हुए और जीवों का संसार के एक भाग से दूसरे में स्थानान्तरण भी हुआ। जिस प्रकार हम यह विश्वास करते हैं कि बड़े-बड़े क्षेत्र समान गति से प्रभावित हुए हैं, उसी प्रकार यह भी सम्भव है कि संसार के कुछ भाग में, बड़े-बड़े क्षेत्रों में ठीक एक ही समय में स्तरों का निर्माण हुआ। किन्तु यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि ऐसा ही सदा हुआ है अथवा बड़े-बड़े क्षेत्र सदा एक ही गति से प्रभावित हुए हैं। जब दो क्षेत्रों में ठीक एक ही काल में नहीं बल्कि लगभग समान काल में दो अलग-अलग निर्माण हुए हैं, तो ऊपर दिये हुए कारणों के आधार पर हम यह विश्वास कर सकते हैं कि उन दोनों में जीवों की समान क्रमिकता पायी जाएगी; पर दोनों की जातें समान नहीं होंगी क्योंकि एक क्षेत्र में दूसरे की अपेक्षा आपरिवर्तन, विलुप्तता तथा स्थानान्तरण में अधिक समय लगेगा।

मुझको सन्देह है कि इस प्रकार का उदाहरण यूरोप में भी है। इंगलैण्ड तथा फ्रांस के इयोसीन निक्षेपणों पर लिखी अपनी प्रशंसनीय पुस्तक में मि० प्रेस्टविच ने इन दोनों देशों की भूतत्वीय प्रवस्थाओं के बीच स्पष्ट समानांतरता दिखायी है। किन्तु जब वे इन दोनों देशों की कुछ विशेष अवस्थाओं की तुलना करते हैं तो, यद्यपि समान जातियों में दोनों देशों में बराबर जातें पायी जाती हैं किन्तु स्वयं ये जातें एक-दूसरे के बिल्कुल समान नहीं हैं। यदि इन दोनों क्षेत्रों की निकटता को ध्यान में रखा जाय, तो इनके अन्तरों का कारण समझ में नहीं आता; हाँ, यदि यह मान लिया जाय कि दोनों समुद्रों के जीव भिन्न थे और समुद्र एक-दूसरे से भूडमरूमध्य के द्वारा पृथक् थे तो बात और है। इससे मिलते-जुलते अवलोकन लियेल ने बाद के तृतीय स्तरों में किये हैं। बराण्ड ने भी यह दिखाया है कि बोहेमिया तथा स्कैनडीनेविया के साइल्यूरियन निक्षेपणों में भी ऐसी समानान्तर क्रमिकता है; किन्तु इन दोनों भागों की जातों में आश्चर्यजनक अन्तर हैं। यदि इन क्षेत्रों के निर्माण ठीक एक ही काल में नहीं अवसादित हुए हैं, अर्थात् एक क्षेत्र का निर्माणकाल दूसरे के रिक्तकाल के समय रहा हो, और यदि दोनों क्षेत्रों में स्तरों के निर्माणकाल तथा उनके बीच के कालान्तरों में जातों में धीरे-धीरे परिवर्तन हुए हों तो, हालाँकि दोनों क्षेत्रों की प्रवस्थाएँ मिलती-जुलती होंगी,

तो भी उनकी जातें सामान्य नहीं होंगी, यद्यपि इस उदाहरण में जीवों की क्रमिकता के समान होने के कारण, दोनों के निर्माण उसी क्रम में, अर्थात् समानान्तर जान पड़ते हैं।

विलुप्त जातों का एक दूसरे से तथा जीवित जातों से सम्बन्ध

आइये अब हम विलुप्त तथा जीवित जातों के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करें। ये सभी जात कुछ बड़े वर्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं; इस बात का स्पष्टीकरण वंशागति के सिद्धान्त पर किया जा सकता है। जितना ही कोई जीव प्राचीन है उतना ही साधारणतः वह जीवित जातों से भिन्न होगा। किन्तु जैसा बकलैण्ड ने बहुत पहले कहा था, सभी विलुप्त जातों को आपस में विभाजित करके कुछ वर्गों में रखा जा सकता है, या जीवित वर्गों के अन्तर्गत। यह सही है कि विलुप्त जीव जीवित जातियों, वंशों तथा गणों के बीच के रिक्त स्थानों की पूर्ति करते हैं। किन्तु चूँकि इस कथन पर ध्यान नहीं दिया गया है, या इसका प्रतिवाद किया गया है, इसलिए इस पर कुछ विचार करना तथा इसके कुछ उदाहरण देना अच्छा होगा। यदि हम किसी वर्ग की जीवित या विलुप्त जातों पर अलग-अलग ध्यान दें, तो हम देखेंगे कि उनकी श्रृंखला बहुत अपूर्ण है। किन्तु यदि इन दोनों को एक साथ रखें तो यह अपूर्णता कम हो जाती है। प्रो० ओवेन के लेखों में बारम्बार विलुप्त जन्तुओं के सम्बन्ध में "व्यापक रूपों" (Generalised forms) का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार अगासिज़ के लेखों में सांश्लेषिक या आगत प्ररूपों (synthetic or prophetic types) का उल्लेख मिलता है। इन शब्दों का तात्पर्य यह है कि ये जीव वास्तव में सम्बन्धक अथवा बीच के हैं। एक दूसरे प्रशंसनीय विलुप्तजन्तुवेत्ता मसिया गाँडरी ने स्पष्ट रूप से यह दिखाया है कि एटिका (Attica) में आविष्कृत कई फॉसिल स्तनियों के द्वारा जीवित जातियों के बीच की दूरी घट जाती है। क्यूवियर ने रूमिनैन्ट (Ruminant) तथा पैकीडर्म (Pachyderm) स्तनियों को स्तनीवर्ग के दो बिल्कुल पृथक् गण मान रखा था। किन्तु बाद में इनके बीच की इतनी फॉसिल कड़ियाँ प्राप्त हुईं कि ओवेन को पूरा वर्गीकरण ही बदलना पड़ा और उसने कुछ पैकीडर्मों को रूमिनेन्टों के साथ एक ही उपगण में रखा। उदाहरण के लिए उसने सुअर और ऊँट के बीच के बड़े दिखावटी अन्तर को क्रम से मिटा दिया। इस समय खुरदार चौपाये अथवा अंगुलाटा (Ungulate) दो भागों में—दो खुर वाले और एक खुर वाले भागों में—बाँटे जाते हैं। किन्तु दक्षिणी अमरीका के मैकरॉचीनिया (Macrauchenia) के द्वारा इन दो विभागों के बीच संबंध स्थापित हो जाता है। इस बात का प्रतिवाद कोई नहीं करेगा कि हिप्पैरियान (Hippa-

rion) जीवित घोड़ों तथा कुछ पुराने खुरदार जीवों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। दक्षिणी अमरीका के **टाइपोथीरियम** (Typotherium) को वर्तमान स्तनीगण में नहीं रखा जा सकता; किन्तु जैसा प्रो० गरवाइस द्वारा रखे गये नाम से ही भलीभाँति स्पष्ट है, यह स्तनियों की शृंखला को जोड़ने वाली अद्‌भुत कड़ी है। साइरीनिया (Sirenia) स्तनियों का एक बिल्कुल ही पृथक् गण है और जीवित डुगांग (dugong) तथा लैमेन्टिन (lamentin) की मुख्य विचित्रता पिछले अवयवों की पूर्ण अनुपस्थिति है; किन्तु प्रो० फ्लातर के अनुसार विलुप्त हैलीथीरियम में एक जाँघ की हड्डी थी जो नितम्ब में पाये जाने वाले एसीटैबूलम में बैठती थी। इस प्रकार यह जन्तु कुछ हद तक साधारण चौपायों के निकट आ जाता है और साइरीनिया इन चौपायों से और कई लक्षणों में समान है। व्हेल वर्ग या सिटेशिया (Cetacea) अन्य सभी वर्गों से बहुत भिन्न है; किन्तु प्रो० हक्सले के अनुसार तृतीय-युग में पाये गये **ज्यूग्लोडॉन** (Zeuglodon) तथा **स्क्वालोडॉन** (Squalodon) निश्चित रूप से सिटेशिया हैं "तथा जलीय कार्निवोरा से सम्बन्ध स्थापित करते हैं।" पर कुछ प्रकृतिवादी उनको एक अलग गण में रखते हैं।

ऊपर दिये हुए प्रकृतिशास्त्रियों ने पक्षियों तथा उभयचरों के बीच के बड़े अन्तर को भी कुछ हद तक अप्रत्याशित रूप से कम कर दिया है—एक ओर शुतुर्मुर्ग तथा **आर्कियाप्टेरिक्स** (Archaeopteryx) के द्वारा, दूसरी ओर एक डाइनोसार, **काम्प्सोग्नैथस** (Compsognathus) के द्वारा। डाइनोसार समूह के अन्तर्गत सभी विशालकाय स्थलीय उभयचर आते हैं। अपृष्ठवंशियों के विषय में बराण्ड का कहना है कि यद्यपि प्रतिदिन मुझको यह शिक्षा मिलती है कि पेलियोज़ोइक जन्तुओं के वर्तमान समूहों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, फिर भी उस प्राचीनकाल में ये वर्ग एक-दूसरे से इतने पृथक् नहीं थे जितने इस समय हैं।

कुछ लेखकों ने यह आपत्ति की है कि किसी विलुप्त जात अथवा जात-समूह को किन्हीं दो वर्तमान जातों या जात-समूहों के बीच सम्बन्धकारी नहीं माना जा सकता। यदि सम्बन्धकारी शब्द का यह अर्थ निकाला जाता है कि कोई विशेष विलुप्त जन्तु किन्हीं दो जीवित जन्तुओं या समूहों के बीच का है तो आपत्ति ठीक है किन्तु नैसर्गिक वर्गीकरण में निस्संदेह कई फासिल जातें जीवित जातों के बीच और कई विलुप्त जातियाँ, जीवित जातियों के बीच आती हैं; और कभी-कभी तो ये जातियाँ अलग-अलग वंशों की भी हो सकती हैं। यदि हम कोई सामान्य उदाहरण लें तो देखेंगे कि आज जो समूह (जैसे उभयचर तथा मत्स्य) एक-दूसरे से अनेक लक्षणों में भिन्न हैं, उनके प्राचीन पूर्वज एक-दूसरे से अपेक्षाकृत कुछ कम लक्षणों में भिन्न होंगे, और इस प्रकार

वर्तमान समय की अपेक्षा विगत काल में वे एक-दूसरे के अधिक निकट रहे होंगे।

ऐसा साधारणतः विश्वास किया जाता है कि जितनी ही कोई जात प्राचीन होती है, उतना ही अपने लक्षणों के द्वारा वह एक-दूसरे से भिन्न समूहों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। इसमें संदेह नहीं कि यह बात केवल उन्हीं समूहों पर लागू होती है जिनमें विगत भूतत्वीय युगों में बहुत परिवर्तन हुए हैं। इसकी सत्यता सिद्ध करना कठिन है क्योंकि बहुधा **लेपिडोसाइरेन** (Lepidosiren) जैसे जीवित जन्तु प्राप्त होते हैं जिनका स्पष्ट सम्बन्ध बहुत पृथक् समूहों से होता है। फिर भी यदि प्राचीन उभयचरों और ऐम्फ़ीबिया, मछलियों तथा सिफ़ैलोपाड और इयोसीन युग के स्तनियों की तुलना इन्हीं वर्गों के आधुनिक सदस्यों से करें तो यह मानना होगा कि इस बात में सत्यता अवश्य है।

आइये देखें कहाँ तक ऊपर दिये हुए तथ्य तथा निष्कर्ष आपरिवर्तन के साथ वंशागति के सिद्धान्त के अनुकूल हैं। चूँकि विषय कुछ जटिल है, इसलिए मैं पाठकों से निवेदन करता हूँ कि वे चौथे अध्याय के चित्र को पुनः देखें। मान लीजिए कि छोटे अक्षर जातियों के स्थान पर हैं और वहाँ से निकल कर फैलने वाली कटी हुई लकीरें प्रत्येक जाति की जातों का बोध कराती हैं। यह चित्र अत्यन्त सरल है और इसमें बहुत कम जातियाँ अथवा जातें दिखायी गयी हैं; किन्तु यह बात विशेष महत्व की नहीं है। थोड़ी लकीरें भूतत्वीय निर्माणों के क्रम की द्योतक हैं और सबसे ऊपर वाली लकीर के नीचे जितने जीव आते हैं उन सबको विलुप्त समझा जा सकता है। तीन जीवित जातियाँ 'क^{१४}', 'ध'^{१४} तथा 'द^{१४}' मिल कर एक छोटे वंश का निर्माण करती हैं; 'ख^{१४}' तथा 'छ'^{१४} एक उपवंश अथवा दूसरे काफ़ी मिलते-जुलते वंश का निर्माण करती हैं तथा 'थ^{१४}', 'च^{१४}' और 'ढ^{१४}' एक तीसरे वंश का निर्माण करती हैं। ये तीनों वंश तथा पूर्वज 'का' से अनेक दिशाओं में फैलने वाली विलुप्त जातियाँ मिल कर एक गण का निर्माण करती हैं क्योंकि इस प्राचीन पूर्वज से इन सभी जीवों ने कुछ सामान्य लक्षण पाये होंगे। लक्षणों के निरन्तर विचलन के सिद्धान्त के आधार पर, जिसको इस चित्र के द्वारा पहले ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा चुका है, जितना ही आधुनिक कोई जीव होगा, उतना ही वह अपने प्राचीन पूर्वज से भिन्न होगा। अतः अब हम इस नियम को समझ सकते हैं कि प्राचीनतम फॉसिल वर्तमान जीवों से क्यों सब से अधिक भिन्न थे। फिर भी हमको यह विश्वास नहीं करना चाहिए कि लक्षणों का विचलन हर अवस्था में आवश्यक है। विचलन की क्रिया केवल इस बात पर निर्भर है कि किसी जात विशेष की सन्तानों को कहाँ तक प्रकृति में नये-नये स्थानों में पहुँचने

तथा वहाँ सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है। अतः जैसा हम कुछ साइल्यूरियन जीवों के उदाहरण में देख चुके हैं, यह बहुत सम्भव है कि कोई जात जीवन की थोड़ी बदली हुई परिस्थितियों में थोड़ा-बहुत आपरिवर्तित होती जाय, और फिर भी बहुत लंबे काल तक उन्हीं सामान्य लक्षणों को अपनाये रहे। यह बात चित्र में 'छा' अक्षर के द्वारा दिखायी गयी है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'का' से उत्पन्न होने वाली सभी आधुनिक तथा विलुप्त जातें एक गण का निर्माण करती हैं और विलुप्तता तथा लक्षणों के विचलन के प्रभाव से यह गण कई वंशों तथा उपवंशों में बँट गया है, जिनमें से कुछ अलग-अलग कालों में नष्ट हो गये हैं और कुछ आज तक जीवित हैं।

चित्र का अध्ययन करके हम यह देख सकते हैं कि विभिन्न भूतत्वीय निर्माणों में दबे हुए अनेक विलुप्त जीव इस क्रम के काफी निचले हिस्सों में अलग-अलग जगहों पर पाये जायँ तो सबसे ऊपर की रेखा पर दिखाये गये तीन वर्तमान वंश एक-दूसरे से बहुत पृथक् नहीं जान पड़ेंगे। उदाहरण के लिए यदि 'क^{1}', 'क^{5}', 'क^{10}', 'छ^{8}', 'ढ^{3}', 'ढ^{6}' और 'ढ^{9}' जातियाँ प्राप्त हो जायँ तो इन तीनों वंशों का सम्बन्ध इतना स्पष्ट हो जायगा कि सम्भवतः उनको मिला कर एक बड़ा वंश तैयार किया होगा। यह बात उसी तरह होगी जैसे रूमिनैन्ट तथा पैकीडर्मों के उदाहरण में बतायी गयी है। फिर भी इस प्रकार तीनों जीवित वंशों में सम्बन्ध स्थापित करने वाली इन विलुप्त जातियों को जो लोग माध्यमिक नहीं मानते हैं, उनको बिल्कुल गलत नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप से माध्यमिक नहीं हैं बल्कि अनेक बिल्कुल ही भिन्न जीवों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से। यदि बीच की बेंड़ी लकीर अर्थात् बीच के निर्माण, जैसे नं० ६ के ऊपर कई विलुप्त जीव प्राप्त हों और उसके नीचे नहीं, तो केवल दो ही वंशों को मिलाया जा सकता है, अर्थात् बायीं ओर दिखायी गयी जातियाँ 'क^{14}' इत्यादि और 'ख^{14}' इत्यादि। इस प्रकार कुल दो ही मुख्य वंश रह जाएँगे जो इन फॉसिलों के आविष्कार के पहले जितने पृथक् जान पड़ते थे उतने पृथक् अब नहीं जान पड़ेंगे। इसी तरह यदि मान लिया जाय कि 'क^{14}' से 'ढ^{14}' तक जातियों से बने सबसे ऊपर की रेखा पर दिखाये गये तीनों वंश एक-दूसरे से छः महत्वपूर्ण लक्षणों में भिन्न हैं, तो छठवीं रेखा पर रहने वाले वंश एक-दूसरे से इससे कम लक्षणों में भिन्न होंगे क्योंकि वंशागति की इस प्रारम्भिक अवस्था में ये अपने सामान्य पूर्वज से कम विचलित होंगे। यही कारण है कि प्राचीन तथा विलुप्त जातें बहुधा अपनी आपरिवर्तित सन्तानों में या अपने सह-सम्बन्धियों के बीच माध्यमिक होती हैं।

चित्र में जैसा दिखाया गया है प्राकृतिक अवस्था में उसकी अपेक्षा वास्तविक

स्थिति बहुत जटिल होगी क्योंकि जात-समूहों की संख्या बहुत बड़ी होगी, उनके जीवित रहने की अवधियाँ भिन्न-भिन्न होंगी और उनमें भिन्न-भिन्न अवसरों पर आपरिवर्तन होंगे। चूँकि हमको भूतत्वीय उल्लेख का केवल अन्तिम अंक ही प्राप्त है और वह भी बहुत टूटी-फूटी दशा में, इसलिए कुछ विरले उदाहरणों को छोड़ हमको विभिन्न वंशों अथवा गणों को जोड़ने वाले अनेक जीवों को पाने की आशा नहीं करनी चाहिए। हम केवल इतनी ही आशा कर सकते हैं कि जिन समूहों में ज्ञात भूतत्वीय युगों में बहुत आपरिवर्तन हुए हैं, उनके प्राचीन स्तरों में, आधुनिक काल की अपेक्षा अधिक सामान्यता होगी क्योंकि पुराने सदस्यों के बीच, जीवित सदस्यों की अपेक्षा कम अन्तर होंगे। सभी विलुप्त जन्तुवेत्ता इस बात को प्रमाणित करते हैं।

इस प्रकार आपरिवर्तन के साथ वंशागति के मत के आधार पर विलुप्त जीवों के परस्पर सम्बन्ध तथा जीवित जातों के साथ उनके सम्बन्ध के विषय के सभी मुख्य तथ्य संतोषजनक रीति से स्पष्ट हो जाते हैं। किसी अन्य मत के अनुसार उनका स्पष्टीकरण बिल्कुल नहीं होता।

हमारे मत के अनुसार यह भी स्पष्ट है कि पृथ्वी के इतिहास के किसी काल के जन्तु उस काल के पहले तथा उसके बाद के जन्तुओं के बीच के होंगे। उदाहरण के लिए हमारे चित्र में दिखायी गयी छठवीं अवस्था में पायी जाने वाली जातें पाँचवीं अवस्था में पायी जाने वाली जातों की आपरिवर्तित सन्तानें होंगी और सातवीं अवस्था की और भी अधिक आपरिवर्तित जातों की पूर्वज। अत: पाँचवीं और सातवीं अवस्थाओं के बीच के लक्षणों का होना उनके लिए स्वाभाविक है। किन्तु कभी-कभी कुछ ऐसी जातें पूरी तरह विलुप्त भी हो जा सकती हैं, और कभी-कभी किसी प्रदेश में अन्य प्रदेशों के जीव स्थानान्तरित होकर आ जाते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी दो भूतत्वीय निर्माणों के बीच के रिक्त काल में बहुत बड़े आपरिवर्तन भी हो जा सकते हैं। इन अपवादों को छोड़ कर प्रत्येक भूतत्वीय काल के जन्तु निश्चय ही उसके पहले और बाद के कालों के बीच के होते हैं। मैं यहाँ केवल एक ही उदाहरण दूँगा। डिवोनियन (Devonian) संस्थान का जब आविष्कार हुआ था, उसी समय विलुप्त जन्तुवेत्ताओं ने उसमें पाये जाने वाले फॉसिलों को ऊपर के कार्बोनिफेरस तथा नीचे के साइल्यूरियन संस्थाओं के बीच के फॉसिलों के बीच का मान लिया था। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक काल के जन्तु ठीक बीच के ही हों क्योंकि अलग-अलग स्तरों के निर्माणों के बीच के काल भिन्न-भिन्न थे।

यदि अपवाद स्वरूप कुछ जातियाँ इस प्रकार ठीक माध्यमिक नहीं हैं, तो उससे हमारे इस नियम की सत्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कुल मिला कर प्रत्येक काल

के जन्तु उसके पहले और बाद के कालों के जन्तुओं के बीच के हैं। उदाहरण के लिए जब डाक्टर फाल्कोनर ने मैस्टोडान तथा हाथियों की जातों को उनके परस्पर सम्बन्ध तथा जीवनकाल के आधार पर दो पृथक् श्रेणियों में व्यवस्थित किया, तो इन दोनों श्रेणियों में सामंजस्य नहीं था। लक्षणों के हिसाब से श्रेणी के अंत की जातें सबसे प्राचीन अथवा सबसे आधुनिक नहीं हैं और इसी प्रकार लक्षणों के आधार पर बीच की जातें ठीक माध्यमिक भी नहीं हैं। किन्तु एक क्षण के लिए यह मान लीजिए कि इस उदाहरण में या इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों में जात के प्रथम बार प्रकट होने और अंत में नष्ट होने के समय के प्रमाण फासिलों के रूप में उपलब्ध हैं; किन्तु इसका अर्थ नहीं कि बीच के सभी फॉसिल परिरक्षित होंगे तथा हमको प्राप्त होंगे। हो सकता है कि एक बहुत प्राचीन जन्तु का फॉसिल युगों तक बना रहे और अन्य किसी स्थान पर निर्मित बहुत बाद का फॉसिल नष्ट हो जाय, विशेषकर यदि फॉसिल अलग-अलग स्थल में बने हों। कुछ छोटे उदाहरण लीजिए। यदि पालतू कबूतर की जीवित तथा विनष्ट नस्लों को एक शृंखला में व्यवस्थित किया जाय तो यह व्यवस्था उनकी उत्पत्ति के समय के अनुसार नहीं होगी और उनके विनाश के समय से तो उसका और भी कम सम्बन्ध होगा क्योंकि इन सब नस्लों का पूर्वज चट्टानी कबूतर आज भी जीवित है तथा चट्टानी कबूतर और कैरियर के बीच की नस्लें नष्ट हो चुकी हैं। इतना ही नहीं; यद्यपि चोंच की लम्बाई जैसे महत्वपूर्ण लक्षण में कैरियर बहुत आगे बढ़ गया है, फिर भी इसकी उत्पत्ति छोटी चोंच वाले टम्बलर के पहले हुई है। यदि इस लक्षण के आधार पर इन नस्लों को व्यवस्थित किया जाय, तो टम्बलर और कैरियर शृंखला के दोनों छोरों पर आयँगे।

इस वक्तव्य से सम्बन्धित, कि माध्यमिक स्तरों में पाये गये फॉसिल भी कुछ हद तक माध्यमिक होते हैं, विलुप्त जन्तु वेत्ताओं का एक दूसरा कथन भी है कि दो निकट-वर्ती स्तरों के फॉसिल दूरस्थित स्तरों के फॉसिलों की अपेक्षा निकट सम्बन्धित होंगे। पिक्टेट इस सम्बन्ध में एक सुविख्यात उदाहरण देते हैं—खरिया निर्माण की प्रत्येक अवस्था की जातें अलग-अलग हैं, फिर भी विभिन्न अवस्थाओं के जीवाश्मों में साधारण समानता पायी जाती है। केवल इसी समानता के कारण जातों की अपरिवर्तनशीलता में प्रो० पिक्टेट का विश्वास डिग गया। जो लोग पृथ्वी पर जन्तुओं की अनेक जातों के वितरण से परिचित हैं, वे निकटवर्ती स्तरों में फॉसिलों को अलग-अलग जातों की समानता को भौतिक दशाओं की समानता के आधार पर समझाने का प्रयत्न नहीं करेंगे। यह याद रखना चाहिए कि कम-से-कम समुद्र में रहने वाले जीवों में तो संसार भर में एक साथ परिवर्तन हुए; और यदि ऐसा है तो ये परिवर्तन निश्चय ही भिन्न-

भिन्न जलवायु और भौतिक दशाओं में हुए। इस बात पर ध्यान दीजिए कि प्लीस्टो-सीन काल में, जिसमें हिमयुग शामिल है, जलवायु में बहुत परिवर्तन हुए; फिर भी उस काल के समुद्री जीवों की विभिन्न जातों में कितने कम परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं।

वंशागति के सिद्धान्त के आधार पर निकटवर्ती स्तरों में फासिलों के सम्बन्धित होने पर भी उनको अलग-अलग जातों में रखने के अर्थ स्पष्ट हैं। चूँकि बहुधा प्रत्येक स्तर के निर्माण में बाधा पड़ चुकी है और चूँकि अलग-अलग स्तरों के बीच लंबे मध्यान्तर पड़ गये हैं, इसलिए, जैसा मैं पिछले अध्याय में बता चुका हूँ, इन कालों के अन्त और प्रारम्भ में पायी जाने वाली जातों के बीच के माध्यमिक भेदों को पाने की आशा हमको नहीं करनी चाहिए, बल्कि ऐसे कालान्तरों के बाद, जो वर्षों के माप-दंड के अनुसार बहुत लंबे हैं, किन्तु भूतत्वीय दृष्टिकोण से बहुत छोटे, हमको निकट सम्बन्धित जातें मिलनी चाहिए। कई लेखकों ने इन जातों को प्रतिनिधि जातें कहा है, और वास्तव में ये हमको बराबर प्राप्त होती हैं। संक्षेप में हमको धीरे-धीरे होने वाले तथा ऐसे सूक्ष्म परिवर्तन भी दिखाई पड़ते हैं जिनकी हमको आशा करनी चाहिए।

प्राचीन तथा वर्तमान जीवों के विकास की दशाओं की तुलना

चौथे अध्याय में हमने देखा कि वयस्कता प्राप्त होने पर जीवों के अंगों के विभेदन तथा विशेषीकरण की स्थिति ही उनकी पूर्णता अथवा उच्चता की सबसे अच्छी नाप है। हमने यह भी देखा है कि चूँकि अंगों का विशेषीकरण प्रत्येक जीव के लिए उपयोगी है, इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा प्रत्येक जीव अधिकाधिक विशेषित और सम्पूर्ण होता जायगा और इसलिए उच्च कहलाएगा। इस प्रकार कुछ जीवों के उच्च होने के साथ कई अन्य जीव सरल तथा अवनतिशील रह जाएँगे, और ये जीवन की सरलतम दशाओं में बने रहेंगे। कुछ उदाहरणों में तो इनकी गठन पहले से भी अनवति कर के सरल रूप धारण करेगी और इस प्रकार नयी परिस्थितियों के अनुकूल हो जाएगी। एक दूसरी तथा बहुत साधारण रीति से भी नयी जातें अपने पूर्वजों से उच्च हो जा सकती हैं, क्योंकि वे प्राचीन, प्रतियोगी जीवों के ऊपर प्रतियोगिता में विजय प्राप्त करती हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि जलवायु की लगभग समान दशाओं में संसार के इयोसीन युग के निवासी आधुनिक निवासियों के साथ प्रतियोगिता में रखे जा सकें, तो आधुनिक निवासी प्राचीन निवासियों पर विजय प्राप्त कर उनको नष्ट कर देंगे। इसी प्रकार द्वितीय युग के निवासी इयोसीन युग के निवासियों द्वारा और पेलियोज़ोइक युग के जीव द्वितीय युग के जीवों द्वारा नष्ट हुए होंगे।

अतः जीवन-संग्राम में विजय के आधार पर, तथा अंगों के विशेषीकरण की मात्रा के अनुसार आधुनिक जीव, प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के कारण, प्राचीन युगों से उच्च होंगे। किन्तु वास्तव में क्या यह सही है? अधिकांश विलुप्तजन्तुवेत्ता इस बात का समर्थन करेंगे और ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि हमारे पास इसको सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं, किन्तु इस उत्तर को ही ठीक मानना होगा।

यही सही है कि बहुत प्राचीन भूतत्वीय युग से आज तक ब्रेकियोपाड कवचों में बहुत कम आपरिवर्तन हुए हैं, और कुछ मीठे पानी में पाये जाने वाले कवच हमारे वर्तमान ज्ञान के अनुसार, प्रकट होने के समय से आज तक जैसे-के-तैसे बने हैं किन्तु यह अवलोकन हमारे निष्कर्ष के विरुद्ध नहीं है। इसी प्रकार, जैसा डा० कार-पेन्टर कहते हैं, लारेन्शियन युग से आज तक फोरैमिनीफेरा की संरचना में कोई उन्नति नहीं हुई है, किन्तु इसको भी हमारे मत के विरुद्ध दुर्जेय कठिनाई नहीं कहा जा सकता। कुछ जीवों को जीवन की सरल परिस्थितियों के योग्य भी रहना चाहिए और इसके लिए निम्न कोटि के प्रोटोज़ोआ से अधिक अनुकूल और कौन से जीव होंगे। यदि हम यह मान लें कि संरचना में उन्नति का होना अनिवार्य है तो ऊपर दी हुई आपत्तियाँ हमारे मत को टिकने नहीं देंगी। इसी प्रकार यदि यह सिद्ध हो जाय कि फोरैमिनीफेरा सर्व-प्रथम लारेन्शियन युग में, तथा उपरिलिखित ब्रेकियोपोडा कैम्ब्रियन युग में प्रकट हुए, तो भी हमारा मत टिक नहीं सकता, क्यों कि ऐसी दशा में इन जीवों को जिस दशा में वे हैं वहाँ तक पहुँचने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलेगा। प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई जीव उन्नति की एक विशेष दशा तक पहुँच जाता है तो उसके बाद उसका उन्नति करते रहना आवश्यक नहीं है, यद्यपि प्रत्येक युग में उस युग की परिस्थिति में होने वाले छोटे-मोटे अन्तरों के अनुसार उनमें भी छोटे-मोटे आपरिवर्तन होते जायँगे। वास्तव में ऊपर दी हुई आपत्तियाँ इस बात पर टिकी हैं कि पृथ्वी की आयु के विषय में हमारा ज्ञान ठीक है और हम यह भी जानते हैं कि विभिन्न प्रकार के जीव प्रथम बार कब प्रकट हुए। किन्तु इन विषयों पर पहुँचे सभी निष्कर्ष सन्देह की दृष्टि से देखे जा सकते हैं।

यह प्रश्न कि कुल मिलाकर संरचना में कहाँ तक उन्नति हुई है, बड़ा ही जटिल है। भूतत्वीय उल्लेख एक तो वैसे ही सदा अपूर्ण रहा है, फिर बहुत प्राचीन युगों का उल्लेख प्राप्य भी नहीं है। इसलिए हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि पृथ्वी के इतिहास में जीवों की संरचना में वास्तव में अधिक उन्नति हुई है। आज भी एक ही वर्ग के सदस्यों को देखकर प्रकृतिवादी एकमत होकर नहीं कह सकते कि किन जातों को सर्वोच्च कहा जाय। उदाहरण के लिए कुछ लोग सिलैचियन (Selacheans) या शार्कों को सर्वोच्च

मछली मानते हैं क्योंकि कुछ लक्षणों में ये रेप्टाइलों के समान हैं, और कुछ टीलियास्टों (Teleosts) को सर्वोच्च मानते हैं। गैनायड (Ganoid) मछलियाँ सिलैचियन और टीलियास्टियन मछलियों के बीच की समझी जाती हैं। टीलियास्टियन वर्तमान समय में बहुसंख्यक है, किन्तु विगत समय में केवल सिलैचियन और गैनायड मछलियाँ पायी जाती थीं। इस उदाहरण में उच्चता निर्णय करने के लिए हम जो माप निर्धारित करेंगे, उसी के अनुसार हम यह भी कह सकेंगे कि कौन-सा समूह उन्नतिशील रहा है और किसमें अवनति हुई है। विभिन्न प्रकार के जन्तुओं में यह निर्णय करना कि कौन उच्च है, असम्भव जान पड़ता है। कौन कह सकता है कि कट्लफिश उच्च है या मधुमक्खी, जब कि कीटों के लिए वानबेयर जैसे महान् लेखक ने यह लिखा कि वे मछलियों से भी भली प्रकार बने हैं, यद्यपि दूसरे ढंग से। जीवन-संग्राम में यही बहुत है कि क्रस्टेशिया, जो अपने ही वर्ग में बहुत ऊँचे नहीं हैं, सिफैलोपोडा पर विजय प्राप्त करें जो मालस्का में सर्वोच्च हैं। और इस प्रकार के क्रस्टेशिया चाहे बहुत विकसित न हों, पर जीवन-संघर्ष की कठिन परीक्षा के अनुसार वे अपृष्ठवंशी जन्तुओं में सर्वोच्च होंगे। कौन से जीव संरचना की दृष्टि से अधिक उन्नतिशील हैं, इस बात का निर्णय करने में ऊपर दी हुई कठिनाइयाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। किन्तु उनके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस प्रश्न का हल करने के लिए हमको किन्हीं दो कालों में किसी वर्ग के सर्वोच्च सदस्यों की तुलना नहीं करनी चाहिए, बल्कि दोनों युगों के उच्च और निम्न सभी जीवों की। एक प्राचीन युग में मालस्का के सर्वोच्च और निम्नतम जन्तु अर्थात् सिफैलोपोडा और ब्रेकियोपोडा अत्यधिक संख्या में पाये जाते थे। आधुनिक समय में दोनों की संख्या बहुत कम हो गयी है और बीच के स्तर के जन्तु बहुसंख्यक हो गये हैं। अतः कुछ प्रकृतिवादियों का विचार है कि विगत समय में, आज की अपेक्षा मालस्का अधिक विकसित थे, किन्तु इसके विपरीत परिणाम पर भी हम पहुँच सकते हैं। हमको इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि ब्रेकियोपोडा की संख्या बहुत कम हो गयी है, तथा सिफैलोपोडा की संख्या कम होने पर भी प्राचीन सदस्यों की अपेक्षा उनकी संरचना अधिक उन्नतिशील है। साथ ही हमको इन दो कालों में संसार भर के उच्च और निम्न वर्गों के सदस्यों की संख्या के अनुपात की भी तुलना करनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि वर्तमान समय में पृष्ठवंशी जन्तुओं के ५० हज़ार भेद पाये जाते हैं और हमको यह मालूम है कि विगत समय में संसार में केवल इनके १० हज़ार भेद ही पाये जाते थे, तो चूँकि इस सर्वोच्च वर्ग की वृद्धि के फलस्वरूप निम्न वर्गों का निश्चय ही विनाश हुआ होगा, इसलिए इस वृद्धि को संसार के जन्तुओं के लिए निश्चित उन्नति मानना चाहिए। इस तरह

हम देखते हैं कि इन जटिल दशाओं में विभिन्न भूतत्वीय कालों में, जिनके विषय में हमारा ज्ञान इतना अपूर्ण है, जीवों की संरचना के स्तर की तुलना करना कैसा असम्भव है।

कुछ वर्तमान जन्तुओं और वनस्पतियों पर विचार करने से यह कठिनाई हमारे सामने और भी प्रत्यक्ष रूप से आ जाएगी। जिस असामान्य रीति से यूरोपीय जीव न्यूज़ीलैंड में फैल गये हैं और वहाँ के मौलिक जीवों को उन्होंने जिस प्रकार स्थानान्तरित किया है उसको देखकर हमको यह विश्वास हो जाना चाहिए कि यदि ब्रिटेन के सभी जन्तु तथा वनस्पति न्यूज़ीलैंड में पहुँचा दिये जायँ तो, उनमें से अनेक कुछ समय में वहाँ स्थायी रूप से रहने लगेंगे और अनेक मूल निवासियों को नष्ट कर देंगे। दूसरी ओर चूँकि दक्षिणी गोलार्ध का कोई भी जीव कदाचित् यूरोप के किसी भाग में प्राकृतिक रूप से नहीं फैल सका है, इसलिए हम यह सोच सकते हैं कि यदि न्यूज़ीलैंड के सभी जीव ब्रिटेन में पहुँचा दिये जायँ तो भी उनकी कोई बड़ी संख्या वहाँ के जन्तुओं अथवा वनस्पतियों को नष्ट कर उनका स्थान ले सकेगी। इस दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि ब्रिटेन के जीव न्यूज़ीलैंड के जीवों की अपेक्षा अधिक उच्च हैं। किन्तु कैसा भी कुशल प्राकृतज्ञ इन दोनों देशों के जीवों का निरीक्षण करके इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता था।

अगासिज़ और कई अन्य कुशल प्रकृतिशास्त्रियों का कहना है कि कुछ हद तक प्रत्येक वर्ग के आधुनिक जीवों के भ्रूण उसी वर्ग के प्राचीन जन्तुओं के समान हैं, तथा विलुप्त जीवों का भूतत्वीय क्रम आधुनिक जीवों के भ्रूणतत्वी विकास के समानान्तर है। यह मत हमारे सिद्धान्तों के बहुत अनुरूप है। अगले अध्याय में मैं यह सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा कि भ्रूण तथा प्रौढ़ का अन्तर इसलिए नहीं है कि उनमें प्रारम्भिक अवस्था में परिवर्तन हुए, बल्कि इसलिए कि तदनुरूप अवस्था में होने वाले परिवर्तन वंशागत होते हैं। जहाँ एक ओर इस क्रिया के फलस्वरूप भ्रूण अपरिवर्तित रह जाते हैं, वहाँ अनेक पीढ़ियों के व्यतीत होने के साथ-साथ प्रौढ़ में अन्तर बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार भ्रूण एक तरह से प्रकृति द्वारा परिरक्षित जात के विगत तथा कम आपरिवर्तित रूप का चित्र है। यह मत सत्य हो सकता है; फिर भी सम्भव है कि यह कभी सिद्ध न किया जा सके। जब हम यह देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन स्तनी, रेप्टाइल और मछलियाँ सदा अपने ही वर्ग विशेष के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं यद्यपि इनमें से कुछ प्राचीन जीव वर्तमान जातों की अपेक्षा कम स्पष्ट थे, तो ऐसे जन्तुओं को पाने की आशा करना व्यर्थ है जिनमें पृष्ठवंशियों के सामान्य लक्षण पाये जाते हैं। यह सम्भावना तभी हो सकती है जब सबसे नीचे के कैम्ब्रियन स्तरों के भी नीचे के भूतत्वीय

निर्माणों के जीवाश्म हमको बड़ी संख्या में प्राप्त हों, किन्तु इसकी सम्भावना भी कम है।

पिछले तृतीय कालों में समान क्षेत्रों में समान जातों की क्रमिकता

कई वर्ष पहले मि० क्लिफ्ट ने यह दिखाया था कि आस्ट्रेलिया की खोहों के जीवाश्म स्तनी उस महाद्वीप के जीवित **मारसूपियलों** से बहुत घनिष्ठता से संबंधित हैं। दक्षिणी अमरीका में भी इसी प्रकार का संबंध लाप्लाटा के अलग-अलग भागों में पाये जाने वाले आरमैडिलो (armadillo) के कवचों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, और प्रोफेसर ओवेन ने बड़ी कुशलता से यह सिद्ध कर दिया है कि वहाँ पाये जाने वाले अधिकांश फॉसिल स्तनी दक्षिणी अमरीका के स्तनियों से संबंधित हैं। इस प्रकार का संबंध मोशिये लुण्ड तथा क्लोसेन के द्वारा ब्राज़ील की खोहों से इकट्ठा की गयी 'फॉसिल हड्डियों' में और भी आसानी से देखा जा सकता है। इन तथ्यों से मैं इतना प्रभावित हुआ था कि सन् १८३९ तथा १८४५ में मैंने 'जीवों की इस क्रमिकता के नियम' तथा 'एक ही महाद्वीप के जीवित तथा मृत जीवों के अद्‌भुत संबंध' पर बहुत ज़ोर दिया था। बाद में प्रोफेसर ओवेन ने इस नियम का विस्तार पुरानी दुनिया के स्तनियों के संबंध में भी किया। लेखक द्वारा लिखे गये न्यूज़ीलैंड के विशालकाय तथा विलुप्त पक्षियों के लेख में भी यही नियम दृष्टिगोचर होगा। यही बात हमको ब्राज़ील की खोहों के पक्षियों के विषय में भी देखने को मिलेगी। मि० वुडवर्ड ने यह दिखाया है कि समुद्री-कवचों पर भी यह नियम लागू है, किन्तु अधिकांश कवचों के बहुत विस्तृत होने के कारण यह नियम बहुत दृष्टिग्राही नहीं जान पड़ता। वास्तव में ऐसे ही कितने ही उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं, जैसे मडायरा के जीवित तथा विलुप्त कवचों के बीच; अरालो कैस्पियन सागर के मुहानों पर पाये जाने वाले जीवित तथा विलुप्त कवचों के बीच, इत्यादि-इत्यादि।

ध्यान देने की बात यह है कि समान क्षेत्र में पाये जाने वाले समान जीवों की क्रमिकता के नियम के अर्थ क्या हैं? मेरे विचार में समान अक्षांशों (latitudes) के भीतर अमरीका तथा आस्ट्रेलिया के कुछ भागों की जलवायु की तुलना करके ही किसी भी व्यक्ति की यह हिम्मत नहीं पड़ेगी कि वह इन महाद्वीपों के जन्तुओं की असमानता का कारण उनके भौतिक दशाओं की भिन्नता बताए, तथा बाद के तृतीय कालों में उनकी समानता का कारण परिस्थितियों की समानता बताए। यह भी कोई नहीं कह सकता कि यह कोई अपरिवर्तनीय नियम है कि मारसूपियल अधिकांशतः या केवल आस्ट्रेलिया में ही उत्पन्न होना चाहिए था, इसी प्रकार एडेन्टाटा तथा अन्य

अमरीकन जन्तुओं को केवल दक्षिणी अमरीका में ही उत्पन्न होना चाहिए था। हम यह जानते हैं कि प्राचीन काल में यूरोप में असंख्य मारसूपियल थे और एक पहले के लेख में मैं यह दिखा चुका हूँ कि विगत काल में अमरीका में जन्तुओं के विस्तरण का नियम आज के नियम से भिन्न था। पहले लगभग पूरे उत्तरी अमरीका में वे ही लक्षण थे जो उसके दक्षिणी भाग में देखे जाते हैं और प्राचीन काल में यह दक्षिणी भाग आज की अपेक्षा अधिक उत्तरी भाग के समान था। इसी प्रकार फाल्कोनर तथा कॉट्ले के अनुसंधानों के आधार पर हम यह भी जानते हैं कि वर्तमान काल की अपेक्षा विगत काल में उत्तरी भारत के स्तनी अफ्रीका के स्तनियों के बहुत समान थे। इसी प्रकार के तथ्य समुद्री जन्तुओं के विस्तरण के विषय में भी दिये जा सकते हैं।

आपरिवर्तन के सहित वंशागति के सिद्धान्त के आधार पर एक ही क्षेत्र में समान जीवों की क्रमिकता का नियम फौरन समझ में आ जाता है। स्पष्ट है कि संसार के प्रत्येक भाग के जीव स्पष्टतः उस भाग में बाद के कालों में बहुत मिलती-जुलती, यद्यपि कुछ आपरिवर्तित, सन्तानें छोड़ेंगी। अब यदि विगत काल में एक महाद्वीप के जीव दूसरे महाद्वीप के जीवों से काफी भिन्न थे, तो स्पष्ट है कि उनकी आपरिवर्तित सन्तानों में उसी प्रकार के अन्तर और भी अधिक होंगे। किन्तु बहुत लंबी अवधियों के बाद, तथा भीषण भौगोलिक अन्तरों के पश्चात तथा साथ ही थोड़ा-बहुत परस्पर स्थानान्तरण के होने पर, कमजोर जीव प्रबल जीवों से पराजित होंगे और जीवों के विस्तरण में कोई भी अपरिवर्तनीय बात न रह जायगी।

व्यंग के रूप में यह पूछा जा सकता है कि क्या मेरे विचार में **मेगाथीरियम** (Megatherium) तथा अन्य मिलते-जुलते विशालकाय जन्तुओं ने, जो पहले दक्षिणी अमरीका में रहते थे, वर्तमान आरमाडिलो, स्लाथ, चींटीखोर आदि जन्तुओं को काफी ह्रासित संततियों के रूप में छोड़ा है ? किन्तु ऐसा एक पल के लिए भी नहीं माना जा सकता। ये विशालकाय जन्तु पूर्णतः विलुप्त हो गये हैं और उनका वंश नष्ट हो गया है। किन्तु ब्राज़ील की गुफाओं में ऐसी अनेक विलुप्त जातों के अवशेष मिलते हैं जो नाप, आकार और अन्य लक्षणों में दक्षिणी अमरीका में आज पायी जाने वाली जातों के समान हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे मत के अनुसार एक जाति की सभी जातें किसी एक जात की ही सन्तानें हैं, अतः यदि किसी भूतत्वीय निर्माणकाल में ऐसी छः जातें पायी जाती हैं जिनमें प्रत्येक की आठ जातें हैं, तथा बाद के स्तरों में इनसे मिलती-जुलती छः अन्य जातें प्राप्त होती हैं, और प्रत्येक के अन्तर्गत उतनी ही जातें भी मिलती हैं तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संभवतः प्रत्येक प्राचीन जाति की केवल एक ही जात बच रही थी और इसी सन्तानों ने बाद के काल में नयी

जातों का रूप धारण किया जिसके अन्तर्गत पुन: कई जातें उत्पन्न हुईं। प्रत्येक प्राचीन जाति की बाकी सात जातियाँ नष्ट हो गयी थीं और उन्होंने कोई भी संतानें नहीं छोड़ीं। यह भी बहुत सम्भव है कि छ: प्राचीन जातियों में से केवल दो-तीन जातियों की ही कुछ जातें बच रही थीं, और अन्य जातियाँ पूरी तरह नष्ट हो गयी थीं, बची हुई जातियों की बची हुई जातों से बाद की जातियाँ उत्पन्न हुईं। उन गणों (orders) में, जिनमें जातों तथा जातियों की संख्या क्रमश: गिर रही है (जैसे दक्षिणी अमरीका के एडेन्टाटा (Edentata) में) और भी कम जातियों तथा जातों की संपरिवर्तित सन्तानें जीवित होंगी।

पिछले तथा वर्तमान अध्याय का सारांश

मैंने इन अध्यायों में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि भूतत्वीय उल्लेख बहुत ही अपूर्ण है, कि पृथ्वी के एक बहुत सीमित भाग की ही खोज भूतत्वीय दृष्टिकोण से ठीक से की गयी है; कि फॉसिल रूप में जन्तुओं के कुछ ही वर्ग सुरक्षित पाये जाते हैं; कि किसी भूतत्वीय स्तर के निर्माण में किसी समूह की जितनी पीढ़ियाँ बीती होंगी, उनको देखते हुए हमारे संग्रहालयों में एकत्रित जातों अथवा जन्तुओं की संख्या कुछ भी नहीं है; कि किसी भी ऐसे भूतत्वीय निर्माण के निक्षेपण के लिए, जिसमें कई प्रकार के जीवाश्म सुरक्षित रह सकें, और जो इतना गहरा हो कि बाद के युगों में आसानी से नष्ट न हो, यह आवश्यक है कि उस भू-भाग का धँसाव हुआ हो तथा एक के बाद दूसरे होने वाले निर्माण के बीच काफी समय व्यतीत हुआ हो; कि संभवत: ऐसे धँसाव के काल में जन्तुओं की विलुप्तता अधिक हुई होगी तथा उत्थान काल में उनमें परिवर्तन अधिक हुए होंगे; कि इस परिवर्तन काल के उल्लेख बहुत ही अपूर्ण होंगे; कि किसी भी एक निर्माण का निक्षेपण निरंतर नहीं हुआ होगा; कि किसी भी एक निर्माण का निर्माण काल, साधारणत: किसी एक जन्तुजात के जीवन काल से बहुत छोटा होगा; कि किसी भी एक क्षेत्र अथवा निर्माण में किसी जीव के प्रकट होने में स्थानान्तरण की क्रिया ने महत्वपूर्ण भाग लिया है; कि बहुत विस्तरित जातें वे हैं जिनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं तथा जिनसे बहुधा नयी जातों का प्रादुर्भाव हुआ है, कि भेद प्रारम्भ में स्थानीय रहे हैं; तथा यद्यपि प्रत्येक जात अपने जीवन काल में अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरी होगी, फिर भी यह संभव है कि उनके वे काल जब वे बीच-बीच में स्थायी रूप में रहे होंगे, उन कालों की अपेक्षा बहुत लंबे रहे होंगे जबकि उनमें परिवर्तन होते रहे होंगे। यदि हम ऊपर दिये सभी कारणों पर साथ ही ध्यान दें, तो हम यह समझ सकते हैं कि विभिन्न विलुप्त तथा वर्तमान जीवों के बीच की परिवर्तन

की अवस्थाएँ, अर्थात् उनके बीच के अनेक भेद, हमको क्यों प्राप्त नहीं होते—और साथ ही कई उदाहरणों में कैसे हमको इस प्रकार की अवस्थाएँ मिलती भी हैं। यह भी बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक किन्हीं दो जातों के बीच के रूपों की पूरी श्रृंखला ही हमको प्राप्त न हो जाय, तब तक यदि हमको उनके बीच का कोई भेद मिले भी तो हम बहुधा उसको एक अलग तीसरी जात समझेंगे। इसका कारण यह है कि हमारे पास ऐसा कोई मापदंड नहीं है जिसकी सहायता से हम जातों तथा भेदों के बीच पहिचान कर सकें।

यदि कोई व्यक्ति मेरे भूतत्वीय उल्लेख की अपूर्णता के संबंध में ऊपर दिया मत अस्वीकार करता है तो मेरे पूरे मत को अस्वीकार करना उसके लिए ठीक ही होगा। स्पष्ट है कि वह जानना चाहेगा कि किसी भी बड़े पुरातत्वीय निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में पायी जाने वाली विभिन्न प्रतिनिधि जातों या मिलती-जुलती जातों के बीच की अवस्थाएँ कहाँ गयी थीं? वह एक के बाद दूसरे बनने वाले पुरातत्वीय निर्माणों के बीच किसी बड़े कालान्तर के होने में विश्वास नहीं करेगा, और न ही वह किसी एक बड़े निर्माण के, जैसे यूरोप के निर्माण के, जीवाश्मों पर ध्यान देने पर, वह स्थानान्तरण की क्रिया को कोई महत्व देगा। वह इस बात पर जोर देगा कि बहुधा जातों के समस्त समूह ही एकाएक प्रकट होते दिखायी पड़ते हैं, हालाँकि यह अवलोकन कितना ही ऊपरी क्यों न होगा। वह यह प्रश्न कर सकता है कि कैम्ब्रियन संस्थान के बनने के पहले पाये जाने वाले अनगिनती जीव, यदि वे थे तो, कहाँ गये? हम अब यह जानते हैं कि इस युग के पहले कम-से-कम एक जन्तु निश्चय ही पाया जाता था; किन्तु मेरा उत्तर तो यह होगा कि जहाँ वर्तमान समय में हमारे महासागर स्थित हैं, वहाँ वे युगों से स्थित रहे हैं, और जहाँ हमारे बदलते हुए महाद्वीप स्थित हैं, वहीं पर वे कैम्ब्रियन युग के आरम्भ से स्थित हैं। किन्तु इस युग के बहुत पूर्व पृथ्वी का आकार आज से बहुत ही भिन्न था, तथा वास्तव में प्राचीन महाद्वीप या तो महासागरों के नीचे पड़े हैं या आज उनका रूप उस समय की अपेक्षा बिल्कुल ही बदला दिखाई पड़ता है।

इन कठिनाइयों को पार करने के बाद हम देखते हैं कि भूतत्व संबंधी सभी मुख्य तथ्य परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन की सहायता से आपरिवर्तन के साथ वंशागति के मत की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार हम यह समझ सकते हैं कि किस तरह नयी जातों की उत्पत्ति धीरे-धीरे और क्रमानुसार होती है; क्यों अलग-अलग वर्गों की जातों में साथ-साथ समान गति से और बराबर परिवर्तन नहीं होते और फिर भी अन्त में सभी में बराबर आपरिवर्तन हो जाते हैं। पुराने जीवों का विनाश नये जीवों की उत्पत्ति का लगभग अवश्यम्भावी परिणाम है। हम समझ सकते हैं कि जब एक बार कोई जात

नष्ट हो जाती है, तो फिर वह क्यों नहीं प्रकट होती। जातों के समूहों की संख्या में धीरे-धीरे वृद्धि होती है, और वे अलग-अलग अवधियों तक बने रहते हैं; कारण यह है कि आपरिवर्तन की क्रिया निश्चय ही धीरे होती है और वह अनेक जटिल परिस्थितियों पर निर्भर है। बड़े तथा प्रबल समूहों की प्रबल जातें बहुधा अनेक आपरिवर्तित संतानें उत्पन्न करती हैं और उनसे नये-नये उपसमूहों तथा समूहों का निर्माण होता है। जैसे-जैसे इनका निर्माण होता है, वैसे वैसे कम प्रबल समूहों की जातों की अवनति होती जाती है, क्योंकि एक ही पूर्वज से उत्पन्न होने के कारण उनमें कुछ सामान्य कमी रहती है, और इस प्रकार अन्त में उस पूरे समूह का विनाश हो जाता है तथा पृथ्वी पर उनकी एक भी आपरिवर्तित संतान नहीं रह जाती। फिर भी किसी समस्त समूह का पूर्ण विनाश अधिकतर बहुत धीरे-धीरे होता है, क्योंकि कहीं किसी सुरक्षित वातावरण में उनकी कुछ सन्तानें संयोग से बच जाती हैं। जब एक बार किसी पूरे समूह का विनाश हो जाता है, तो वह फिर प्रकट नहीं होता क्योंकि उसकी पीढ़ियों की शृंखला ही टूट जाती है।

इस प्रकार हम यह समझ सकते हैं कि क्योंकर विस्तृत रूप से फैलने वाले तथा अधिक-से-अधिक संख्या में भेद उत्पन्न करने वाले जीवों की मिलती-जुलती तथा आपरिवर्तित संतानें ही पृथ्वी पर फैलती हैं। और साधारणतः जीवन-संघर्ष में ये अपने से निम्न जीवों का स्थान ग्रहण करती हैं। अतः लंबी अवधियों के बाद संसार के जीवों में काफ़ी अन्तर दिखाई पड़ेंगे।

हम इसी तरह यह भी समझ सकते हैं कि क्योंकर तरह-तरह के जीव-जन्तु, चाहे वे प्राचीन हों अथवा आधुनिक, मिलकर कुछ बड़े वर्गों का निर्माण करते हैं। लक्षणों के निरन्तर विचलन को देख कर हम समझ सकते हैं कि क्योंकर जितना ही कोई जीव प्राचीन होता है, उतना ही वह वर्तमान जीवों से भिन्न होता है, अथवा क्यों प्राचीन तथा विलुप्त जन्तु बहुधा वर्तमान जीवों के बीच के स्थान की पूर्ति करते हैं और इस तरह बहुधा दो ऐसे समूहों को मिलाकर एक कर देते हैं जिनको कुछ समय पहले एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् माना जाता था। फिर भी बहुधा ऐसे जीव इस प्रकार के समूहों को एक-दूसरे के कुछ ही निकट लाते हैं। जितनी ही कोई जात प्राचीन होगी, उतनी ही इस बात की संभावना है कि वह वर्तमान पृथक् समूहों के बीच संबंध स्थापित करेगी, क्योंकि जितनी ही कोई जात प्राचीन होगी, उतनी ही इन पृथक् समूहों के सामान्य पूर्वज से वह स्वयं अधिक संबंधित होगी। विलुप्त जातें शायद ही कभी किन्हीं दो समूहों से सीधा संबंध रखती हों; वे उनके बीच परोक्ष रूप से तथा अन्य विलुप्त जातों के द्वारा आती हैं। हम यह आसानी से देख सकते हैं कि क्यों क्रमिक पुरातत्वीय

स्तरों में पाये जाने वाले जीवावशेष एक-दूसरे के इतने निकट होते हैं—कारण यह है कि वे एक दूसरे से पीढ़ियों के द्वारा संबंधित हैं। इस प्रकार हम यह स्पष्ट समझ सकते हैं कि क्यों बीच के स्तरों में पाये जाने वाले अवशेष माध्यमिक लक्षणों वाले होते हैं।

पृथ्वी के इतिहास के विभिन्न युगों के निवासी सदा अपने पूर्वजों को जीवन की दौड़ में परास्त करते आये हैं, और इस अर्थ में सदा अपने पूर्वजों से अधिक उच्च रहे हैं और उनकी संरचना अधिक विशेषित रही है। संभवतः इसी कारण से पुरातत्व-वेत्ताओं का सामान्यतः यह विश्वास है कि संरचना में उन्नति ही हुई है। विलुप्त तथा प्राचीन जन्तु कुछ हद तक उन्हीं वर्गों के आधुनिक जन्तुओं के भ्रूणों से मिलते-जुलते हैं और हमारे मतों के अनुसार इस अद्भुत तथ्य का स्पष्टीकरण आसानी से किया जा सकता है। इसी प्रकार वंशागति के सिद्धान्तों के द्वारा बाद के भूतत्वीय कालों में विशेष क्षेत्रों के भीतर समान प्रकार की संरचनाओं की क्रमिकता का होना किसी प्रकार रहस्यमय नहीं रह गया है।

स्पष्ट है कि भूतत्वीय उल्लेख किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं है, और यदि वास्तव में भूतत्वीय उल्लेख ऐसे अपूर्ण हैं तो प्राकृतिक निर्वाचन के विरुद्ध दी जाने वाली अधिकांश आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं, या बहुत कम हो जाती हैं। दूसरी ओर जहाँ तक मुझको जान पड़ता है पुरातत्वशास्त्र के सभी नियम इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि जातों की उत्पत्ति पीढ़ियों द्वारा हुई है पुरानी जातों का स्थान नयी जातों ने ग्रहण किया है और इस प्रकार नयी जातों की उत्पत्ति परिवर्तनशीलता तथा योग्यतम के अतिजीवन का परिणाम है।

अध्याय बारह

भौगोलिक वितरण

जीवों का वर्तमान वितरण केवल भौतिक दशाओं पर ही निर्भर नहीं कहा जा सकता—अवरोधों (barriers) का महत्व—एक ही महाद्वीप पर उत्पन्न जीवों के बीच परस्पर संबंध—सृष्टि के केन्द्र—जलवायु परिवर्तन तथा स्थल के तल के परिवर्तन अथवा अन्य कारणों के द्वारा जीवों का विकिरण—हिम काल में विकिरण—उत्तर तथा दक्षिण में हिम कालों का बारी-बारी होना।

पृथ्वी पर जीवों के वितरण पर विचार करने में जो बात सबसे पहले हमारे ध्यान में आती है वह यह है कि विभिन्न प्रदेशों में पाये जाने वाले जीवों की समानता अथवा असमानता केवल जलवायु अथवा भौतिक दशाओं के आधार पर नहीं बतायी जा सकती। हाल में जिस लेखक ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है, वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है। केवल अमरीका का ही उदाहरण इस बात की सच्चाई सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा; क्योंकि यदि हम उत्तरी ध्रुव तथा उत्तरी शीतोष्ण प्रदेशों को अलग कर दें, तो सभी लेखक इस बात से सहमत होंगे कि भौगोलिक दृष्टिकोण से नवीन तथा प्राचीन संसार के ही दो भाग एक-दूसरे से बहुत भिन्न होंगे। फिर भी यदि हम विशाल अमरीकी महाद्वीप में यात्रा करें—उदाहरण के लिए यदि हम संयुक्त राज्य के केन्द्रीय भाग से दक्षिण की ओर जाएँ, तो हमको अनेक और विभिन्न दशाएँ दिखाई पड़ेंगी—कहीं बिल्कुल नम प्रदेश, कहीं मरुभूमि, कहीं ऊँचे पहाड़ तो कहीं घास के मैदान, कहीं जंगल तो कहीं दलदल, झीलें, बड़ी नदियाँ और साथ ही विभिन्न तापक्रम भी होंगे। वास्तव में पुराने संसार में पायी जाने वाली शायद ही कोई दशा ऐसी हो जो इस भाग में न मिल सके और कम-से-कम इतनी मिलती-जुलती दशाएँ तो अवश्य ही मिल जायँगी जिनमें एक ही जात जीवित रह सके। निस्सन्देह पुराने संसार में ऐसे कुछ भाग मिल जायँगे जिनका तापक्रम अमरीका के किसी भी भाग से अधिक होगा; किन्तु इनमें पाये जाने वाले जन्तु आसपास के क्षेत्रों से विशेषतः भिन्न नहीं होते, क्योंकि ऐसा बहुत ही बिरले होता है कि जीवों का एक समूह एक ऐसे

बहुत छोटे क्षेत्र में सीमित रह सके जो आस-पास के क्षेत्रों से थोड़ा-बहुत ही भिन्न हो। लेकिन देखिये कि पुराने तथा नये संसार की दशाओं में इस प्रकार की समानता के होते हुए भी इनमें निवास करने वाले जीव एक-दूसरे से कितने भिन्न हैं।

दक्षिणी गोलार्ध में, यदि हम २५° तथा ३५° अक्षांश के बीच के आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी भाग के बड़े-बड़े क्षेत्रों की तुलना करें, तो कई क्षेत्र सभी दशाओं में एक दूसरे के बहुत समान मिल जायेंगे; किन्तु इनके बीच एक दूसरे से मिलते-जुलते केवल तीन ही जन्तु और वनस्पति जातों का भी मिलना कठिन है। इसी प्रकार यदि हम दक्षिणी अमरीका के ३५° अक्षांश के दक्षिण के या २५° अक्षांश के उत्तर के भागों को देखें, तो स्पष्ट है कि १०° अक्षांश से अलग होने के कारण उनकी जलवायु एक-दूसरे से बहुत भिन्न है, फिर उनमें पाये जाने वाले जीव आस्ट्रेलिया या अफ्रीका के समान दशाओं के जीवों की अपेक्षा कहीं अधिक समान हैं। इसी तरह के उदाहरण समुद्री जीवों के विषय में भी दिये जा सकते हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण बात जो हमारे ध्यान में फौरन आती है, वह यह है कि किसी प्रकार के अवरोध या स्वतंत्र स्थानान्तर के मार्ग की अड़चनें बहुत निकट और महत्वपूर्ण ढंग से विभिन्न प्रदेशों के जीवों की भिन्नताओं से संबंधित हैं। यह बात हम पुराने तथा नये संसार के लगभग सभी स्थलीय जीवों के संबंध में देखते हैं, किन्तु उत्तरी भागों के जीवों को छोड़कर जहाँ स्थल लगभग जुड़ा हुआ है और जहाँ जलवायु में थोड़ा अन्तर होने पर उत्तरी शीतोष्ण प्रदेशों के जन्तु में स्वतंत्र स्थानान्तरण होता है, जैसा कि उत्तरी ध्रुव के जन्तुओं में हो रहा है। यही बात हम आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के समान अक्षांशों के जीवों के विषय में भी देखते हैं, क्योंकि ये प्रदेश भी एक-दूसरे से जितनी दूर संभव हो सकता है, उतनी दूर है। यही बात हम प्रत्येक महाद्वीप पर भी देखते हैं; ऊँची और फैली हुई पर्वतश्रेणियों के दोनों ओर स्थित मरुभूमि या बड़ी नदियों में हम भिन्न-भिन्न जन्तु देखते हैं, हालाँकि न तो पर्वतश्रेणियों या मरुभूमि को पार करना ही असंभव है और न वे उतने पुराने ही हैं जितने महाद्वीपों को अलग करने वाले समुद्र; और इसलिए ये भिन्नताएँ महाद्वीपों के जीवों की भिन्नताओं की अपेक्षा बहुत साधारण हैं।

समुद्रों पर ध्यान देने पर भी हमको यही नियम दिखायी पड़ता है। दक्षिणी अमरीका के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों के जीव एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं और उनमें पाये जाने वाले इने-गिने कवच, क्रस्टेशिया या एकाइनो-डरमारा ही समान होंगे, किन्तु हाल में डा० गुंथर ने यह सिद्ध किया है कि पनामा के भूडमरूमध्य के दोनों ओर पायी जाने वाली मछलियों में से लगभग ३० प्रतिशत समान हैं। इस आधार

पर अधिकांश प्रकृतिवादियों का अब यह विश्वास है कि पहले भूडमरूमध्य खुला हुआ था। अमरीका के पश्चिमी तट के आगे एक विशाल महासागर फैला हुआ है जिसमें जन्तु के रुक सकने के लिए एक भी द्वीप नहीं है। यह एक दूसरे प्रकार की रोक है; और जैसे ही हम इस रोक को पार करके प्रशान्त महासागर के पूर्वी द्वीपों पर पहुँचते हैं, हम वहाँ बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के जन्तु देखते हैं। इस तरह तीन प्रकार के जन्तु-समह उत्तर से दक्षिण तक फैले हुए हैं जो एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं और समान जलवायु में पाये जाते हैं। फिर भी ऐसी रोकों के द्वारा पृथक् होने के कारण, जिनको पार नहीं किया जा सकता—चाहे वे रोक स्थलीय हों या समुद्री—वे एक दूसरे से लगभग बिल्कुल ही पृथक् हैं। प्रशान्त महासागर के उष्ण भागों में स्थित पूर्वी द्वीपों से और भी पश्चिम की ओर बढ़ने पर, हमको कोई पार न किया जा सकने वाला रोक नहीं मिलता, जन्तुओं के विश्राम के लिए अनेक छोटे-छोटे द्वीप मिलते हैं, अटूट समुद्र-तट मिलते हैं और एक सम्पूर्ण गोलार्ध पार करने पर अन्त में हम अफ्रीका के तट पर पहुँच जाते हैं। इस विशाल क्षेत्र में हमको कोई भिन्न या पृथक् समुद्री जन्तु नहीं मिलते। अब यह देखिये कि यद्यपि ऊपर लिखे तीनों क्षेत्रों—अर्थात् पूर्वी तथा पश्चिमी अमरीका तथा पूर्वी प्रशान्त महासागर के द्वीपों के जन्तुओं में इतनी कम समुद्री जन्तुओं की जातें पायी जाती हैं, फिर भी मछलियों की कई जातें प्रशान्त महासागर से हिन्द महासागर तक फैली हुई हैं तथा कवचों की कई जातें प्रशान्त महासागर के पूर्वी द्वीपों तथा अफ्रीका के पूर्वी तटों पर समान रूप से पायी जाती हैं, जबकि ये क्षेत्र रेखांश के विपरीत मध्याह्नों पर स्थित हैं।

तीसरी महत्वपूर्ण बात जो कुछ हद तक ऊपर दिये वक्तव्य में आ जाती है, यह है कि एक ही महाद्वीप या समुद्र के जीव एक-दूसरे से संबंधित होते हैं, यद्यपि अलग-अलग स्थानों अथवा प्रदेशों में उनकी जातें पृथक् होती हैं। यह एक व्यापक नियम है और प्रत्येक महाद्वीप में इसके असंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं। फिर जब कोई प्रकृति-शास्त्री, उदाहरण के लिए, उत्तर से दक्षिण की ओर यात्रा करता है तो वह एक-दूसरे से संबंधित, फिर भी एक के बाद दूसरे पृथक्, जन्तु जातों के समूहों को देखकर दंग रह जाता है। वह एक-दूसरे से मिलती-जुलती, फिर भी भिन्न, जातों के पक्षियों के मिलते-जुलते संगीत सुनेगा; उनके घोंसले देखेगा जो समान होते हुए भी बिल्कुल एक जैसे नहीं होंगे, और उनके अंडे देखेगा जो एक जैसे रंग के होंगे। मैगेलन के मुहाने पर रिया (Rhea) या अमरीकी शुतुर्मुग की एक जात पायी जाती है; और उसके उत्तर में ला प्लाटा के मैदानों में उसी जाति की दूसरी जात पायी जाती है। ये जातें सचमुच शुतुर्मुर्ग या एमू (Emu) की जातें नहीं हैं, जो उसी अक्षांश में अफ्रीका या

आस्ट्रेलिया में पायी जाती हैं। ला प्लाटा के इन्हीं मैदानों में हम एगाउटी (agouti) तथा बिज़काचा (bizcacha) पाते हैं, जिनकी रहन-सहन और स्वभाव हमारे खरगोशों और खरहों के समान हैं लेकिन उनकी संरचना में अमरीकी प्रभाव स्पष्ट है। जब हम कार्डिलेरा (Cordillera) की ऊँची चोटियों पर चढ़ते हैं तो हमको बिज़काचा की अल्पाइन जात मिलती है; पानी में देखने पर हमको ऊदबिलाव नहीं मिलते वल्कि दक्षिणी अमरीका की भाँति के कोइपु (coypu) तथा कैपीबारा (capybara) दिखाई पड़ते हैं। ऐसे ही अन्य असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। यदि हम अमरीका के तट से कुछ दूर के द्वीपों पर ध्यान दें, तो देखेंगे कि चाहे भूतत्वीय दृष्टि से उनमें कितना ही अन्तर क्यों न हो, उनके निवासी जीव अमरीका के जीवों के समान हैं, यद्यपि उनकी जातें पृथक् हैं। जैसा पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है, यदि हम विगत युगों पर ध्यान दें, तो देखेंगे कि अमरीकी महाद्वीप तथा अमरीकी समुद्रों में उन युगों में अमरीकी प्रकार के ही जीव पाये जाते थे। इन बातों से पता चलता है जीवों के बीच भौतिक दशाओं से स्वतंत्र कुछ गहरा संबंध होता है। और यदि प्रकृतिविज्ञानी होने के नाते हम यह जानने का प्रयत्न न करें कि यह संबंध क्या है, तो वास्तव में हमारी ओर से बड़ी शिथिलता समझी जायगी।

यह संबंध केवल वंशागति का ही है, जिस पर हम निश्चयपूर्वक जानते हैं, कि जीवों की समानता अथवा भेदों के उदाहरण में लगभग समानता निर्भर है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के निवासियों की असमानता का कारण परिवर्तनशीलता तथा प्राकृतिक निर्वाचन के कारण होने वाले आपरिवर्तन और संभवतः कुछ हद तक भिन्न-भिन्न भौतिक दशाओं के अलग-अलग प्रभाव बताये जा सकते हैं। असमानता का अधिक होना कदाचित् निम्नलिखित बातों के कारण है : प्राचीन काल में किसी एक क्षेत्र के प्रबल जीव दूसरे क्षेत्रों में किसी कारण स्थानान्तरित न हो सके; या यह पिछले आगन्तुक प्राणियों की संख्या तथा प्रकृति पर निर्भर होगा; या किसी क्षेत्र के विभिन्न जीवों की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया पर। जैसा मैं पहले कई बार कह चुका हूँ, जीवों का परस्पर संबंध ही अन्य सभी संबंधों से अधिक महत्वपूर्ण है। इस तरह हम दो कारणों का विशेष महत्व देखते हैं—उन बाधाओं का जिनके कारण स्थानान्तरण में रुकावट पड़ती है; तथा समय का जिसके कारण प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया होती है और आपरिवर्तन की क्रिया धीरे-धीरे संभव होती है। दूर तक फैली हुई जातों को, जिनकी संख्या काफ़ी है और जिनको अपने ही क्षेत्र के अन्य जीवों पर विजय प्राप्त हो चुकी है, नये क्षेत्रों पर अधिकार करने का सबसे अधिक अवसर रहेगा। इन नये देशों में उनको नयी परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा, और इस प्रकार उनमें और भी अधिक

उन्नति तथा आपरिवर्तन होंगे। इस तरह विजयी होने पर वे आपरिवर्तित संतानों के नये समूह उत्पन्न करेंगी। आपरिवर्तन के साथ वंशागति के इस सिद्धान्त के आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि क्यों बहुधा किसी जाति की अनेक जातें, सम्पूर्ण जातियाँ और कभी-कभी पूरे वंश एक ही क्षेत्र में पाये जाते हैं।

जैसा पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि आवश्यक परिवर्धन (development) के लिए कोई सामान्य नियम है। चूँकि प्रत्येक जात की परिवर्तनशीलता उसका अपना स्वतंत्र गुण है, और प्राकृतिक निर्वाचन उसका प्रयोग केवल इस हद तक ही करता है, जहाँ तक वह उस जीव विशेष के लिए उसके जटिल जीवन-संघर्ष में लाभदायक होगा, इसलिए विभिन्न जातों में होने वाले आपरिवर्तन अलग-अलग मात्रा में होंगे। यदि अपने पुराने प्रदेश में प्रतियोगिता करने के पश्चात् कई एक जातें एक साथ किसी नये तथा पृथक् देश में चली जाएँ, तो उनमें कोई विशेष आपरिवर्तन नहीं होंगे, क्योंकि केवल पृथक्करण अथवा स्थानान्तरण से ही कुछ नहीं होता। इन बातों के द्वारा केवल इतना ही होता है कि इनके द्वारा जीवों के बीच का संबंध एक नये ढाँचे में ढल जाता है और कुछ हद तक वातावरण की भौतिक दशाओं के साथ भी उनका संबंध बदल जाता है। जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, कुछ जीवों की संरचना बड़े ही प्राचीन भूतत्वीय युग से लगभग वही बनी हुई है; ठीक इसी तरह कुछ जातें दूर-दूर तक स्थानान्तरित हो गयी हैं, फिर भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ या बहुत छोटे परिवर्तन हुए हैं।

इन मतों के अनुसार यह स्पष्ट है कि यद्यपि वर्तमान समय में किसी एक जाति की विभिन्न जातें संसार के दूर-दूर के भागों में पायी जाती हैं, फिर भी उनकी उत्पत्ति एक ही स्थान से हुई है क्योंकि वे एक ही पूर्वज की संतानें हैं। उन जातों के विषय में, जिनमें समस्त भूतत्वीय काल में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती कि वे एक ही क्षेत्र से स्थानान्तरित होकर फैली हैं; क्योंकि प्राचीन काल से अब तक इतने अधिक भौगोलिक तथा जलवायु संबंधी परिवर्तन हुए हैं कि उनके कारण कितना ही स्थानान्तरण हो सकता है। लेकिन ऐसे कई उदाहरणों में, जिनके विषय में यह जान पड़ता है किसी एक जाति की सभी जातें अपेक्षाकृत हाल में ही उत्पन्न हुई हैं, कुछ भी निर्णय करना कठिन है। यह भी स्पष्ट है कि एक ही जात के सभी व्यक्ति—चाहे आज वे दूर-दूर के तथा पृथक् क्षेत्रों में पाये जाते हों—एक ही स्थान से फैले होंगे जहाँ उनके पूर्वज स्वयं उत्पन्न हुए होंगे; क्योंक जैसा पहले कहा जा चुका है, यह असंभव लगता है कि एक जैसे अनेक व्यक्ति स्वयं अलग-अलग प्रकार के पूर्वजों से उत्पन्न हुए हों।

काल्पनिक सृष्टि के अकेले केन्द्र—इस प्रकार हम इस प्रश्न पर पहुँचते हैं, जिस पर प्राकृतज्ञों द्वारा बहुधा विचार किया जा चुका है, कि जातों की उत्पत्ति पृथ्वी पर एक ही स्थान पर हुई है अथवा कई स्थानों पर ? इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे कई उदाहरण हैं जिनमें यह समझना बहुत ही कठिन है कि एक ही जात के सदस्य एक स्थान से अनेक ऐसे दूरस्थित तथा पृथक् स्थानों पर कैसे पहुँचे होंगे जहाँ आज वे पाये जाते हैं। फिर भी यह मत कि प्रत्येक जात सर्वप्रथम एक ही क्षेत्र में उत्पन्न हुई थी, इतना सरल है कि आसानी से उसका त्याग नहीं किया जा सकता। इस मत का त्याग करने के अर्थ यह होते हैं कि इस आधारिक मत का ही परित्याग कर दिया जाय कि जातें एक स्थान पर उत्पन्न होकर स्थानान्तरित होती हैं; और फिर हम चमत्कारों में विश्वास करने लगेंगे। यह सभी मानते हैं कि अधिकतर उदाहरणों में किसी एक जात द्वारा अधिकृत क्षेत्र लगभग लगातार और अटूट होता है; और जब वनस्पति अथवा जन्तुओं की कोई जात ऐसे किन्हीं दो क्षेत्रों में पायी जाती है, जो एक-दूसरे से इतनी दूर और ऐसे अलग होते हैं कि आसानी से उनमें स्थानान्तरण नहीं हो सकता, तो इसको विचित्र और अद्‌भुत समझा जाता है। लम्बे, चौड़े समुद्रों को पार न कर सकने की बात अन्य जन्तुओं की अपेक्षा स्थली स्तनियों पर ही अधिक लागू होती है; अतः हमको स्थली स्तनियों के ऐसे कोई उदाहरण नहीं मिलते जो संसार के सुदूर तथा पृथक् क्षेत्रों में पाये जाते हों। किसी भूतत्ववेत्ता को यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होती कि ग्रेट ब्रिटेन में वे ही चौपाये पाये जाते हैं जो बाकी यूरोप में, क्योंकि निश्चय ही ये दोनों भाग पहले जुड़े हुए थे। किन्तु यदि वे ही जातें दो अलग-अलग क्षेत्रों में उत्पन्न हो सकती हैं, तो क्यों हमको स्तनियों का ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जो यूरोप तथा आस्ट्रेलिया या दक्षिणी अमरीका दोनों में पाया जाता हो। इन पृथक् स्थानों का वातावरण तथा रहन-सहन की परिस्थितियाँ समान हैं जो इस बात से सिद्ध है कि असंख्य यूरोपीय पौधे और जन्तु अमरीका तथा आस्ट्रेलिया में प्राकृतिक रूप से वृद्धि करने लगे हैं जबकि उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्धों के इन सुदूर प्रदेशों की कुछ आदि वनस्पति जातियाँ बिल्कुल एक ही हैं। मेरे विचार में इसका उत्तर यही है कि स्थानान्तरण के विविध साधनों के कारण पौधों के लिए तो यह सम्भव हो सका कि इन रुकावटों को पार कर सकें, किन्तु स्तनियों के स्थानान्तरण के साधन सीमित होने के कारण उनके लिए यह संभव नहीं हुआ। बाधाओं का गहरा तथा अद्‌भुत प्रभाव केवल इसी मत के सहारे समझ में आ सकता है कि अधिकांश जातें बाधा के एक ओर उत्पन्न हुई हैं और वे उसको पार न कर सकीं। कुछ थोड़े से वंश, कई उपवंश, अनेक जातियाँ और उनसे भी अधिक उपजातियाँ एक ही क्षेत्र में सीमित हैं; तथा कई प्रकृति-

वादियों का यह अवलोकन है कि अधिकतर प्राकृतिक जातियाँ, अर्थात् वे जातियाँ जिनकी जातें एक दूसरे से घनिष्ठता से संबंधित हैं, अधिकतर एक ही प्रदेश में पायी जाती हैं, और यदि उनका विस्तार अधिक है तो यह विस्तार निरन्तर और अटूट है। यदि इस नियम का विपरीत ही सत्य हो, अर्थात् एक जाति की जातें, और इसी प्रकार एक जात के विभिन्न सदस्य, एक ही क्षेत्र में न पाये जाकर पृथक् क्षेत्रों में पाये जाते, तो वास्तव में कैसा विचित्र होता!

अतः अन्य कई प्रकृतिशास्त्रियों की भाँति मुझको भी ऐसा जान पड़ता है कि जातों के वितरण के संबंध में यही मत संभाव्य है कि प्रत्येक जात की उत्पत्ति एक ही क्षेत्र में हुई और उस क्षेत्र से, भूत तथा वर्तमान काल में उस जात विशेष के स्थानान्तरण के साधनों के अनुसार ही अलग-अलग क्षेत्रों में उनका फैलाव हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे बहुतेरे उदाहरण हमारे सामने आते हैं जिनमें हम यह नहीं बता सकते कि कोई विशेष जात एक स्थान से दूसरे स्थान पर किस प्रकार पहुँच गयी; किन्तु यह बहुत संभव है कि अपेक्षाकृत आधुनिक युग में ऐसे कई जलवायु संबंधी तथा भौगोलिक परि-वर्तन हुए हैं जिनके कारण कई क्षेत्र एक-दूसरे से पृथक् हो गये हैं और इस प्रकार कई जातों का विस्तरण अनेक भागों में टूट गया है। अतः विचार करने की बात केवल यह रह जाती है कि क्या जातों के विस्तार के अविच्छिन्न न होने के उदाहरण इतने अधिक और गम्भीर हैं कि हम इस विश्वास का त्याग कर दें कि प्रत्येक जात की उत्पत्ति एक ही क्षेत्र में हुई है और उस क्षेत्र से वह जहाँ तक फैल सकी है फैल गयी है। यदि हम ऐसे प्रत्येक उदाहरण का यहाँ उल्लेख करें जिनमें जातों के प्रतिनिधि एक-दूसरे से बहुत दूर और पृथक् भागों में पाये जाते हैं तो निश्चय ही आप ऊब जाएँगे; इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि कई उदाहरणों में इस बात के कारण बताना भी हमारे लिए संभव नहीं है। किन्तु कुछ प्रारम्भिक बातों की चर्चा करने के बाद मैं कुछ विशेष उल्लेखनीय तथ्यों पर विचार करूँगा—अर्थात् एक ही जात के जन्तुओं का दूर स्थित पहाड़ों की चोटियों तथा उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेशों के भागों में पाया जाना; मीठे पानी के जन्तुओं का विस्तृत फैलाव (अगले अध्याय में); किसी महाद्वीप तथा उसके आसपास के द्वीपों के एक दूसरे से सैकड़ों मील दूर होने पर भी उनमें समान स्थली जन्तुओं का पाया जाना। यदि कई ऐसे उदाहरणों में जिनमें एक-दूसरे से बिल्कुल ही अलग तथा दूर स्थित क्षेत्रों में एक ही जात के जन्तुओं का पाया जाना इस मत के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि एक जात की उत्पत्ति एक ही स्थान पर होती है जहाँ से वह फैल जाती है, तो हमको इस नियम के मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, विशेषकर जब हम जन्तुओं के स्थानान्तरण की विधियों

तथा जलवायु संबंधी तथा भौगोलिक परिवर्तनों के कारणों के विषय में इतने अज्ञानी हैं।

इस विषय पर विचार करने में हम एक दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न पर भी प्रकाश डाल सकेंगे—वह यह कि क्या किसी जाति की सभी जातें, जिनकी उत्पत्ति हमारे मत के अनुसार एक सामान्य पूर्वज से होनी चाहिए, संभवतः एक ही क्षेत्र से परिवर्तित होती हुई स्थानान्तरित हुई होगी ? यदि एक प्रदेश में निवास करने वाली एक जाति की सभी जातें दूसरे प्रदेश की सभी जातों से, निकट होते हुए भी, भिन्न हैं और यह सिद्ध किया जा सके कि किसी काल में एक प्रदेश से दूसरे में स्थानान्तरण हुआ है तो इससे हमारे मत को बहुत सहारा मिलेगा—क्योंकि तब इसका स्पष्टीकरण केवल आपरिवर्तन के सहित वंशानुगति के सिद्धान्त पर ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी महाद्वीप से दो-चार सौ मील दूर निर्मित एक ज्वालामुखी द्वीप पर कालान्तर में महाद्वीप से कुछ जन्तु पहुँचेंगे और अपने वंश स्थापित करेंगे। इस वंश के जन्तु कितने भी आपरिवर्तित क्यों न हों, फिर भी महाद्वीप के मूल निवासियों से संबंधित होंगे। प्रकृति में इस प्रकार के कितने ही उदाहरण मिलते हैं, और जैसा हम बाद में देखेंगे, स्वतंत्र सृष्टि के सिद्धान्त पर इनका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। एक प्रदेश के जन्तुओं का दूसरे प्रदेश के जन्तुओं से इस प्रकार संबंधित होने के विषय में हमारा मत मि० वालेस के मत से बहुत भिन्न नहीं है। मि० वालेस इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "काल तथा स्थान को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक जात की उत्पत्ति किसी अन्य पूर्वस्थित तथा मिलती-जुलती जात से हुई है।" और यह हम सब जानते हैं इस संबंध का कारण है आपरिवर्तन सहित वंशागति।

सृष्टि का केन्द्र एक है अथवा अनेक—यह प्रश्न एक और भी मिलते-जुलते प्रश्न से संबंधित है, अर्थात् क्या एक जात के सभी व्यक्ति एक ही जोड़ा पूर्वजों से या एक ही द्विलिंगी पूर्वज से उत्पन्न होते हैं या जैसा कुछ लेखकों का विश्वास है, कई पूर्वजों से एक साथ। ऐसे जीवों में जिनमें अन्तर-संकरण नहीं होता (यदि ऐसे जीव होते हों) प्रत्येक जात निर्माण आपरिवर्तित भेदों की एक पूरी शृंखला से होना चाहिए, जो एक दूसरे का स्थान लेते आये होंगे, किन्तु उसी जात के अन्य व्यक्तियों या भेदों से मिलजुल न गये हों। इस प्रकार आपरिवर्तन की प्रत्येक अवस्था में किसी भेद के सभी जीव एक ही जोड़ा पूर्वजों से उत्पन्न हुए होंगे। किन्तु अधिकांश उदाहरणों में, जिनके सदस्य हर बार सन्तान उत्पन्न करने के पहले मैथुन करते हैं, या जिनमें कभी-कभी अन्तः-संकरण होता है, किसी क्षेत्र के एक ही जात के सभी व्यक्तियों में अन्तः-संकरण के कारण बहुत कुछ समानता बनी रहेगी। इस तरह साथ-साथ कई सदस्यों में परिवर्तन होता

रहेगा और किसी भी अवस्था में देखा जाने वाला आपरिवर्तन किसी एक जोड़ा जीवों से वंशागति के कारण नहीं हो सकता। एक उदाहरण से मेरी बात स्पष्ट हो जायगी; हमारे अंग्रेजी घोड़े, घोड़ों की अन्य सभी नस्लों से भिन्न हैं; किन्तु उनकी यह भिन्नता अथवा उच्चता किसी एक जोड़ा पूर्वज की संतान होने के कारण नहीं है, बल्कि इसलिए कि अनेक पीढ़ियों से बराबर ध्यान से इनका निर्वाचन किया गया है।

इसके पहले कि सृष्टि के एक ही केन्द्र के मत के विरुद्ध दिये जा सकने वाले तीन प्रकार के तथ्यों पर विचार करूँ, मैं कुछ शब्द जीवों के विकिरण की विधियों पर लिखूँगा।

विकिरण की विधियाँ

सर सी० लियेल तथा अन्य लेखकों ने इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है और मैं यहाँ इस विषय के केवल कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्यों को बहुत संक्षेप में दूँगा। यह निश्चित है कि जलवायु के परिवर्तन का स्थानान्तरण पर प्रभाव पड़ा होगा। कोई क्षेत्र जो आज उसकी जलवायु के ही कारण कुछ जीवों के लिए अलंघ्य है, संभव है कि किसी समय जब जलवायु भिन्न रही हो तब वही क्षेत्र स्थानान्तरण के लिए विशेष अनुकल रहा हो। इस बात पर मैं अभी कुछ विस्तार में विचार करूँगा। यह भी निश्चित है कि स्थल के तल-परिवर्तन का भी विशेष प्रभाव होगा। उदाहरण के लिए आज तक पतले जलडमरूमध्य के कारण दो पृथक् समुद्रों के जन्तु एक-दूसरे से मिलने नहीं पाते; यदि यह भाग पानी में धँस जाय या पूर्वकाल में धँसा रहा हो, तो उन समुद्रों के जन्तु एक-दूसरे से मिल जाएँगे या पहले मिले रहे होंगे। जिस स्थान पर आज समुद्र का विस्तार है, संभव है पहले वही स्थल रहा हो और उसके द्वारा विभिन्न द्वीप एक-दूसरे से जुड़े रहे हों, और इस प्रकार उनके स्थलीय जन्तु एक भाग से दूसरे में आते-जाते रहे हों। कोई भूतत्वशास्त्री यह नहीं कह सकता कि इस प्रकार के बड़े तल-परिवर्तन पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति के बाद नहीं हुए। एडवर्ड फौब्स का कहना है कि ऐटलांटिक महासागर के सभी द्वीप कुछ काल पहले यूरोप अथवा अफ्रीका से संबंधित थे; और इसी प्रकार यूरोप अमरीका से संबंधित रहा होगा। इसी तरह से अन्य लेखकों की कल्पनाओं के अनुसार आज के सभी समुद्रों के बीच स्थल के भाग थे जिनके द्वारा विभिन्न द्वीप महाद्वीपों से जुड़े थे। यदि हम फौर्ब्स की दी हुई दलीलों पर विश्वास करें तो हमको यह मानना पड़ेगा कि आज शायद ही ऐसा कोई द्वीप होगा जो कुछ समय पहले किसी महाद्वीप से जुड़ा न रहा हो। इस मत के द्वारा वास्तव में उस भयंकर समस्या का हल हो जाता है कि किस प्रकार एक ही जाति के जन्तु कुछ सुदूर

प्रदेशों में पाये जाते हैं। किन्तु मेरी समझ में यह ठीक नहीं होगा कि बिना पर्याप्त प्रमाण के हम यह मान बैठें कि वर्तमान जातों के जीवनकाल में ही इतने भीषण भौगोलिक परिवर्तन हुए हैं। मुझको ऐसा जान पड़ता है कि हमारे पास स्थल तथा समुद्र दोनों में होने वाले तल-परिवर्तन के पर्याप्त प्रमाण हैं; किन्तु ये प्रमाण इस बात की ओर संकेत नहीं करते कि आधुनिक युग में बड़े-बड़े महाद्वीप एक-दूसरे से या बीच-बीच के द्वीपों से जुड़े थे। मैं यह मानता हूँ कि पहले ऐसे बहुत से द्वीप थे जो इस समय पानी में डूब गये हैं, और जब ये ऊपर थे तब संभवतः वनस्पतियों तथा अनेक जन्तुओं के स्थानान्तरण में विश्राम स्थलों का काम करते रहे होंगे। मूँगा (coral) उत्पन्न करने वाले समुद्रों में इस तरह के दबे हुए द्वीपों के ऊपर या उनके चारों ओर मूंगे की दीवारें स्थापित हो गयी हैं। जब भी यह पूरी तरह मान लिया जायगा, जैसा निश्चय ही किसी दिन मानना पड़ेगा, कि प्रत्येक जात का विस्तार एक ही जन्मस्थान से हुआ है, तथा जब कुछ समय बाद विकिरण की विधियों के विषय में हम कुछ निश्चित तथ्य जान जायेंगे, उस समय ही हम स्थल के पूर्व क्षेत्रों के विषय में कुछ गम्भीर कल्पना कर सकेंगे। किन्तु मेरे विचार में यह कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सकेगा कि एक-दूसरे से दूर स्थित दिखायी पड़ने वाले महाद्वीप आधुनिक युग में ही संबंधित या जुड़े हुए हैं, या वे आज मिलने वाले अनेक समुद्री द्वीपों से ही जुड़े थे। जीवों के वितरण से संबंध रखने वाले कई तथ्य, जैसे प्रत्येक महाद्वीप के दोनों ओर के समुद्री जन्तुओं में अन्तर, तृतीय युग के अनेक स्थली अथवा समुद्री जन्तुओं तथा वर्तमान जन्तुओं की समानता, द्वीपों तथा उनके पास के महाद्वीपों के निवासी स्तनियों के संबंध का उनके बीच के समुद्रों की गहराई पर निर्भर होना आदि और भी कई तथ्य इस निष्कर्ष के विरुद्ध हैं कि आधुनिक युग में इतने भीषण भौगोलिक परिवर्तन हुए हैं, जितने फौर्ब्स तथा उनके अनुगामी समझते हैं। इसी प्रकार समुद्री द्वीपों में पाये जाने वाले जन्तुओं की प्रकृति अथवा उनके अनुपात भी इस मत के विरुद्ध हैं कि ये द्वीप महाद्वीपों से जुड़े थे। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार के लगभग सभी द्वीप ज्वालामुखी प्रकृति के हैं; अतः यह कहना ठीक न होगा कि वे धँसे हुए महाद्वीपों के अवशेष हैं। क्योंकि यदि ये द्वीप पहले महाद्वीप के पर्वतश्रेणियों के रूप में थे तो कम-से-कम कुछ द्वीप तो निश्चय ही, अन्य पर्वतीय चोटियों की भाँति ग्रैनाइट, शिस्ट (schists), प्राचीन फॉसिलयुक्त या अन्य प्रकार की चट्टानों के बने होते, न कि केवल ज्वालामुखी पदार्थ के ढेरों के।

अब मैं कुछ शब्द विकिरण की उस विधि पर कहूँगा जिसको साधारणतः आकस्मिक कहा जाता है, किन्तु वास्तव में जिसको सामयिक कहा जाना चाहिए। इस

संबंध में मैं यहाँ केवल पौधों के ही उदाहरण लूँगा। वनस्पतिशास्त्र की पुस्तकों में बहुधा कहा जाता है कि कुछ पौधे विकिरण के लिए अनुकूलित नहीं हैं। किन्तु इस संबंध में समुद्र पार करने की सुविधाओं के विषय में हमारा ज्ञान बहुत अपूर्ण है। जब तक मैंने मि० बर्कले की सहायता से कुछ प्रयोग नहीं किये थे, तब तक यह भी नहीं मालूम था कि कहाँ तक बीज समुद्र-जल के हानिकारक प्रभाव का सामना कर सकते हैं। मुझको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ८७ में से ६४ प्रकार के बीज २८ दिनों तक समुद्र-जल में भिगो रखने के बाद भी अंकुरित हुए और कुछ तो १३७ दिनों तक पानी में भीगे रहने के बाद भी उग आये। यह भी ध्यान देने की बात है कि पौधों के कुछ गणों को अन्य गणों की अपेक्षा अधिक हानि पहुँची: लिग्युमिनोसी (Leguminosae) की ९ जातों पर प्रयोग किये गये और एक को छोड़ बाकी जातों में समुद्र-जल के प्रति निरोध शक्ति कम थी; हाइड्रोफाइलेसी (Hydrophyllaceae) तथा पोलेमोनियेसी (Polemoniaceae) की सातों जातें एक महीने तक भिगोये रखने के बाद मर गयी। सुविधा की दृष्टि से मैंने मुख्यत: बिना फल के छोटे बीजों पर प्रयोग किया; चूँकि ये सभी कुछ दिनों में पानी में डूब गये, अत: यह स्पष्ट है कि वे समुद्र में दूर तक तैरकर या बहकर नहीं जा सकते, चाहे उनपर खारे पानी का प्रभाव कुछ भी क्यों न पड़ता हो। बाद में मैंने कुछ बड़े बीजों, फलों आदि पर प्रयोग किये, और देखा कि इनमें से कुछ काफी अर्से तक तैरते रहे। सभी अच्छी तरह जानते हैं कि हरी तथा सूखी लकड़ी के पानी में तैर सकने में कितना अंतर होता है। मुझको यह ख्याल आया कि बहुधा बाढ़ से सूखे पौधे या फलों सहित उनकी शाखाएँ बह सकती हैं और इस प्रकार अंत में वे समुद्र में पहुँच जायँगी। इस विचार से मैंने ९४ ऐसे पौधों पर प्रयोग किया और पके हुए फलों से लदी उनकी सूखी शाखाओं तथा तनों को समुद्र-जल में डाला। मैंने देखा कि उनमें से अधिकांश जल्दी ही डूब गये, लेकिन कुछ हरे होने पर कुछ देर तक तैरते रहे और सूखे होने पर अधिक देर तक तैरते रहे। उदाहरण के लिए पके हुए हेज़ेल-नट (hazel nut) की डालें फौरन डूब गयीं, किन्तु सूखी होने पर ९० दिनों तक तैरती रहीं और बाद में उनके बीज उगे, ऐस्पेरगस (asperagus) का पके फलों से लदा एक पौधा २३ दिनों तक तैरता रहा और सूखने पर वह ८५ दिनों तक तैरता रहा और बाद में उसके बीज भी उगे। हेलोस्कियेडियम (Helosciadium) के पके बीज २ दिनों में डूब गये; सूखने पर वे ९० दिनों तक तैरते रहे और बाद में उगे। कुल मिला कर ९४ सूखे पौधों में, १८ पौधे २८ दिनों से अधिक तैरते रहे, और इन १८ में से कई तो इससे बहुत लंबी अवधियों तक। इस प्रकार, चूँकि ६४/८७ प्रकार के बीज २८ से अधिक दिनों तक भीगने के बाद उगे; और चूँकि

१८/९४ पृथक् जातों के पौधे पके फलों के साथ सूखने पर २८ दिनों से अधिक तैरते रहे (ये जातें पहले प्रयोग वाली ही नहीं थी), अतः हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि किसी भी प्रदेश के १४/१०० प्रकार के पौधे २८ दिनों तक समुद्र की लहरों के साथ बह सकते हैं और यदि इस अवधि के बाद ये किनारे लग गये तो अंकुरित होने की शक्ति बनी रहने के कारण ये उग सकते हैं। जान्सटन के मानचित्र में कई ऐटलांटिक धाराओं की औसत गति ३३ मील प्रति दिन बतायी गयी है। इस औसत गति के अनुसार किसी देश के १४/१०० पौधों के बीज ९२४ मील दूर दूसरे देश में बह कर पहुँच सकते हैं, और यदि इतनी दूर बहने के बाद किसी तूफान आदि के कारण वे द्वीप में भीतर की ओर बह कर किसी अनुकूल स्थान पर पहुँच गये तो अंकुरित हो जाएँगे।

मेरे प्रयोगों के बाद मि० मार्टेन्स ने भी इसी प्रकार के प्रयोग किये, बल्कि और भी भली प्रकार से, क्योंकि उन्होंने बीजों को डिब्बों में रखकर समुद्र में ही डाल दिया, जिससे वास्तव में समुद्र में बहने की भाँति वे बारी-बारी से भीगते-सूखते रहे। उन्होंने ९८ प्रकार के बीजों पर प्रयोग किये जो सभी मेरे प्रयोग के बीजों से भिन्न थे। इनमें से कई बीज ऐसे पेड़ों के थे जो समुद्र के निकट पाये जाते हैं, तथा कुछ बड़े फल भी थे। संभवतः ऐसे फलों या बीजों में पानी में तैर सकने की तथा खारे पानी के प्रतिरोध की शक्तियाँ अधिक होंगी। किन्तु उन्होंने पहले से पौधों या डालों को फल सहित सुखाया नहीं और हमारा अनुभव है कि यदि ऐसा किया जाता है तो उनमें से कुछ पौधे अधिक समय तक तैर सकते हैं। उनके प्रयोगों के फल यह थे कि उनके विभिन्न प्रकार के बीजों में से १८/९८ बीज ४२ दिन तक तैरते रहे और उसके बाद भी उनमें अंकुरित होने की शक्ति बनी रही। किन्तु मुझको इसमें कोई सन्देह नहीं कि लहरों में पड़े हुए पौधे, मेरे प्रयोग की भाँति लहरों की भीषण गति से सुरक्षित पौधों की अपेक्षा कम समय तक तैर सकेंगे। अतः हम ऐसा समझ सकते हैं कि किसी प्रदेश के पौधों में से लगभग १०/१०० सूखने के पश्चात् समुद्र में लगभग ९०० मील की दूरी तक बह कर जा सकते हैं और फिर अनुकूल स्थान मिलने पर अंकुरित हो जायँगे। यह भी ध्यान देने की बात है कि छोटे फलों की अपेक्षा बड़े फल देर तक बह सकते हैं, क्योंकि जैसा ऐल्फ्रेड डि कैन्डोल ने दिखाया है, साधारणतः बड़े बीजों और फलों वाले पौधों का विस्तरण बहुत सीमित है और उनका विकिरण अन्य किसी विधि से नहीं हो सकता।

कभी-कभी बीजों का विकिरण एक अन्य रीति से भी हो सकता है। लगभग सभी द्वीपों के किनारों पर (उनमें भी जो चारों ओर से बड़े समुद्रों से घिरे हैं) लकड़ियाँ बह कर लगती हैं और प्रशान्त महासागर के मूँगे के द्वीपों के आदि निवासी ऐसे

पेड़ों की जड़ों से, जो इसी प्रकार वह कर आते हैं, अपने औजार बनाने के लिए पत्थर निकालते हैं। ये ही पत्थर राजाओं को भेंट में दिये जाते हैं। मैंने देखा है कि इस तरह के पेड़ों की जड़ों में जमा पत्थरों में बहुधा मिट्टी की कुछ मात्रा ऐसी फँसी रहती है कि कितनी भी दूर बहने पर यह मिट्टी नहीं निकल सकती। इसी तरह एक ५० वर्ष पुराने ओक के वृक्ष की जड़ में पूरी तरह सुरक्षित मिट्टी में से ३ द्विबीजपत्री (dicotyledonous) पौधे अंकुरित हुए। मुझको अपने इस अवलोकन के ठीक होने में कोई सन्देह नहीं है। इसी प्रकार मैं यह भी दिखा सकता हूँ कि बहुधा पक्षियों के मृतशरीर समुद्र में बहते हुए अन्य जानवरों से बच जाते हैं और इसके अन्नगृह[1] (crop) में कई प्रकार के बीज रहते हैं। इन बीजों में बहुधा अन्नगृह के भीतर रहने पर अंकुरणशक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। उदाहरण के लिए दालें या मटर समुद्र-जल में डाले जाने पर कुछ दिनों में ही नष्ट हो जाते हैं, किन्तु ऐसे कबूतर के अन्नगृह से ३० दिनों के बाद निकाले जाने पर जो कृत्रिम समुद्र में बहता रहा, सभी बीज अंकुरित हुये। अतः इस रीति से विकिरण की संभावना स्पष्ट है।

जीवित पक्षी सदा ही बीजों का विकिरण प्रभावशाली रीति से करते हैं। मैं ऐसे अनेक उदाहरण दे सकता हूँ जिससे मालूम होगा कि बहुधा कई प्रकार के पक्षी तूफानों में समुद्र पार कर बड़ी दूरियों तक चले जाते हैं। ऐसी अवस्था में वे ३५ मील प्रति घंटा की गति से तो उड़ते ही होंगे; और कुछ लेखकों के अनुसार यह गति इससे बहुत अधिक होगी। मैंने खाद्य से भरे बीजों को तो पक्षियों की आहार नाल से बेपचा निकलते नहीं देखा, किन्तु फलों के कड़े बीज निश्चय ही बेपची अवस्था में बनमुर्गी के मल में मिलते हैं। मैंने दो महीने के समय में अपने बाग में छोटी चिड़ियों के मल से १२ प्रकार के बीच निकाले हैं और ये सभी ठीक अवस्था में थे। इनमें से कुछ प्रयोग करने पर अंकुरित भी हुए। किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण निम्नलिखित बात है: पक्षियों के अन्नगृह में आमाशयिक रस (gastric juice) नहीं बनता और मैं प्रयोग के आधार पर कह सकता हूँ कि इसके भीतर बीजों की अंकुरणशक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि किसी पक्षी को पर्याप्त मात्रा में भोजन मिले और वह उसका भक्षण करे, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सभी दाने १२ या कभी-कभी

१. पक्षियों में बहुधा आहार-नाल (alienentary carol) **का प्रथम भाग एक थैली के रूप में होता है। पक्षी भोजन के कण, अन्न के दाने, बीज आदि ज्यों-के-त्यों हैं और ये इस थैली में एकत्रित होते हैं। यहाँ ये पचते नहीं, इसलिए थैली को अन्न-गृह निगलते कहते हैं। अन्न-गृह से क्रमशः भोजन आगे बढ़ता है और तब पचता है।**

१८ घंटों तक पेषणी[1] (gizzard) में नहीं जाते। और इस अवधि में कोई पक्षी ऐसे तूफ़ान में आसानी से ५०० मील तक जा सकता है। हम यह भी जानते हैं कि बाज़, शिकरा आदि चिड़ियाँ ऐसी थकी हुई पक्षियों की तलाश में रहती हैं और यदि ये उनकी पकड़ में आ गये तो उनके अन्नगृहों के बीज बिखर जाएँगे। कुछ बाज और उल्लू समूची चिड़ियों को ही निगल जाते हैं और चिड़ियाघरों में किये गये प्रयोगों के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि बारह से बीस घंटों की अवधि के बाद इनके मल में ऐसे बीज निकलते हैं जो अंकुरित हो सकते हैं। ज्वार, गेहूँ, बाजरा, सनई, चुकन्दर आदि के कुछ बीज विभिन्न पक्षियों की आँतों में १२-२१ घंटे रहने के बाद अंकुरित हुए और चुकन्दर के दो बीज इसी तरह दो दिन, चौदह घंटे आँतो में रहने के बाद अंकुरित हुए। मैंने यह भी देखा कि कई मीठे पानी की मछलियाँ कई स्थली या जातीय पौधों के बीज खाती हैं और इन मछलियों का भक्षण कुछ चिड़ियाँ करती हैं। इस तरह भी ये बीज एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। मैंने कई प्रकार के बीज मरी हुई मछलियों के आमाशय में ठूँस दिया और फिर इन मछलियों को चीलों, बगुलों या हंसों को खिलाया। कई घंटों के बाद या तो इन चिड़ियों ने बीजों को उगल दिया या फिर मल के साथ त्याग किया। इनमें से कई बीजों में अंकुरणशक्ति बनी रही। किन्तु इस क्रिया में कुछ बीज सदा ही नष्ट हो जाते हैं।

टिड्डियाँ बहुधा स्थल से सैकड़ों मील दूर चली जाती हैं। मैंने स्वयं एक टिड्डी को अफ्रीका के तट से ३७० मील दूर पकड़ा है और सुना है कुछ लोगों ने और भी दूर इन्हें पाया है। पादरी आ० टी० लो ने सर सी० लियेल को बताया है कि १८४४ के नवम्बर में टिड्डियों के दलों ने मैडायरा के द्वीप पर आक्रमण किया। वे अनगिनत संख्या में थीं और देखने में ऐसा जान पड़ता थी कि घनी-से-घनी बर्फ गिर रही हो। टेलिस्कोप से जितने ऊँचे देखा जा सकता था, उतनी ऊँचाई तक टिड्डियाँ ही टिड्डियाँ दीख पड़ती थीं। दो-तीन दिन तक वे बराबर एक चक्र में घूमती रहीं जिसका व्यास कम-से कम ५-६ मील था और रात में वे ऊँचे ऊँचे पेड़ों पर बैठती थीं जो पूरी तरह उनसे ढँक जाते थे। फिर वे एकाएक समुद्र की ओर जाकर गायब हो गयीं और तब से आज तक फिर नहीं दिखाई पड़ीं। अब ध्यान देने की बात है कि, हालाँकि हमारे पास इस बात के पर्याप्त प्रमाण तो नहीं हैं, किन्तु नेटाल के कुछ भागों में कृषकों का विश्वास है कि बहुधा उनके घास के मैदानों में टिड्डियों के मल के साथ-साथ हानिकारक बीज भी

---

१. पेषणी पक्षियों के आहार नाल का वह भाग है जिसमें भोजन के दाने पिस कर महीन हो जाते हैं। वास्तव में यह आमाशय का प्रथम भाग है।

आ जाते हैं। टिड्डियाँ नेटाल में कभी-कभी जाया करती हैं। इस विश्वास के कारण मि० वील (Mr. Weale) ने मेरे पास सूखे मल की गोलियाँ एक पुड़िया में भेजीं और सूक्ष्मदर्शी की सहायता से इस मल में से मैंने उनके बीज अलग किये और उन बीजों से मैंने दो अलग-अलग जातियों की दो जातों के सात घास के पौधे तैयार किये। स्पष्ट है कि टिड्डियों का जिस प्रकार का दल मैडायरा पहुँचा था, उसके द्वारा मुख्य महाद्वीप से बहुत दूर स्थित एक द्वीप पर अनेक प्रकार के पौधों के बीज पहुँच जाएँगे।

यद्यपि पक्षियों के पंजे तथा उनकी चोंच साधारणतः साफ रहती है, फिर भी कभी-कभी उनमें मिट्टी चिपकी रहती है। एक विशेष उदाहरण में मैंने एक तीतर के पंजे से सूखी मिट्टी के ६१ कण और दूसरे उदाहरण में २१ कण अलग किये और इन कणों में कभी-कभी पत्थर के छोटे टुकड़े भी थे। एक और उदाहरण देखिये। एक वुड-काक (wood cock) पक्षी की एक टाँग मेरे एक मित्र ने मेरे पास भेजी जिसकी पिंडली में सूखी मिट्टी की एक टिकिया चिपकी थी। इस टिकिया का वजन केवल ९ ग्रेन था जिसमें टोडरश (toad-rush) या **जन्कस ब्युफोनियस** (juncus bufonius) का एक बीज था जो अंकुरित हुआ और पौधे में अंत में फूल निकले। ब्राइटन के मि० स्वेजलैंड, जो पिछले ४० वर्षों से हमारी स्थानान्तरण करनेवाली चिड़ियों का अध्ययन करते आ रहे हैं, मुझको बताते हैं कि उन्होंने बहुधा ऐसी वैगटेल (wagtails) (मोटासिली, Motacillae वंश) तथा विन्चैट (whinchats), (सैक्सिकोली, Saxicollae वंश) का शिकार पृथ्वी के तल पर उतरने के पहले ही हमारे समुद्र तटों पर किया है; और बहुधा उनकी टाँगों में उन्होंने मिट्टी लिपटी देखी है। और इस बात को सिद्ध करने के लिए कि मिट्टी में बहुधा बीज उपस्थित होते हैं, अनेक तथ्य दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रो० न्यूटन (Prof. Newton) ने मेरे पास लाल टाँग वाली तीतर, ककाबिस रूफ़ा (Caccabis rufa) की एक टाँग भेजी। तीतर को चोट लग गयी थी और वह उड़ नहीं सकता था। इस टाँग में साढ़े छः औंस वजन मिट्टी लिपटी थी। यह मिट्टी ३ वर्षों तक रखी रही और जब उसके बाद उसको तोड़कर पानी से तर किया गया और एक बेलजोर से ढँक दिया गया, तो उसमें ८२ पौधों का अंकुरण हुआ। इनमें से १२ एक बीजपत्री (जिनमें से एक ओट, और कम से कम एक घास का पौधा था), और ७० द्विबीजपत्री थे (जिनमें कम-से-कम तीन जातों के पौधे थे)। जब हमारे सामने इस तरह के तथ्य उपस्थित हों तो क्या हमको इस बात से कोई सन्देह हो सकता है कि प्रतिवर्ष तूफानों के कारण सैकड़ों पक्षियों के इस प्रकार उड़ने पर, तथा लाखों चिड़ियों के स्थानान्तरण करने पर (उदाहरण के लिए लाखों क्वेल पक्षी प्रतिवर्ष भूमध्यसागर को पार करते हैं), उनकी टाँगों या

चोंचों में लिपट कर कुछ बीजों का यातायात नहीं होता होगा ? मैं पुनः इस विषय पर वापस आऊँगा।

हम जानते हैं कि बहती हुई बर्फ की चट्टानों पर बहुधा मिट्टी, पत्थर, हड्डियाँ, लकड़ियाँ आदि होते हैं। यही नहीं इनके साथ ही कभी-कभी उनपर स्थली पक्षियों के घोंसले भी पाये गये हैं। अतः जैसा लियेल ने कहा है, यह असंभव नहीं है कि इनके द्वारा कभी-कभी उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव के विभिन्न भागों से बीजों का भी यातायात हुआ हो; और हिमयुग में यह यातायात आजकल के शीतोष्ण क्षेत्र के एक भाग से दूसरे भाग में हुआ हो। एजोर (Azores) द्वीपों में, ऐटलांटिक महासागर के द्वीपों की अपेक्षा यूरोप के पौधों से कहीं अधिक मिलते-जुलते पौधे पाये जाते हैं, यद्यपि ऐटलांटिक के द्वीप उनके बहुत निकट हैं। उनकी स्थिति के अनुसार उनके लक्षण कुछ अधिक उत्तरीय हैं (जैसा मि० एच० सी० वाटसन ने पहले कहा था), अतः मुझको यह संदेह हुआ कि संभवतः इनके अधिकांश वनस्पति हिमयुग में बर्फ की चट्टानों के द्वारा आये होंगे। मेरे आग्रह पर सर सी० लियेल ने एम० हार्टन्ग (M. Hartung) को यह पूछने के लिए पत्र लिखा कि क्या उन्होंने इन द्वीपों पर टेढ़ी-मेढ़ी स्थित चट्टानें देखी हैं, और उन्होंने यह उत्तर दिया कि उन्होंने वहाँ ग्रैनाइट तथा अन्य प्रकार के पत्थरों की चट्टानें देखी हैं जो द्वीपसमूह में साधारणतः नहीं पायी जातीं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि बर्फ की चट्टानों से ही इस तरह के पदार्थ पहले समुद्र के बीच स्थित इन द्वीपों पर पहुँचे; और यदि ऐसा हुआ तो यह बहुत संभव है कि इनके साथ ही उत्तरी वनस्पति के कुछ बीज भी वहाँ पहुँच गये।

यदि हम पौधों के यातायात की ऊपर लिखी इन सभी विधियों पर, तथा ऐसी अनेक विधियों पर जिनके विषय में हम अभी कुछ नहीं जानते, विचार करें तो ऐसा समझ में आता है कि इन विधियों के लाखों वर्षों तक निरन्तर काम करते रहने पर भी यदि ये पौधे इस प्रकार फैल न जाते तो वास्तव में बड़े आश्चर्य की बात होती। बहुधा यातायात की इन विधियों को आकस्मिक बताया जाता है, पर यह ठीक नहीं है। समुद्र की लहरें आकस्मिक नहीं होतीं, और न तूफ़ान की दिशाएँ। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शायद ही यातायात की किसी विधि से बीज बहुत दूर तक जायँगे, क्योंकि बीजों की जननशक्ति समुद्र के पानी में डूबने पर एक सीमित काल तक ही बनी रहती है, और न ही वे पक्षियों के अन्नगृह या उनकी आँतो में बहुत समय तक बने रह सकते हैं। फिर भी इन विधियों के द्वारा कभी-कभी बीच समुद्र में १००-२०० मील की दूरी तक अवश्य जा सकते हैं, और इसी प्रकार एक द्वीप से दूसरे द्वीप या एक महा-द्वीप से उसके निकटवर्ती द्वीपों पर; किन्तु एक महाद्वीप से दूसरे दूर स्थित महाद्वीप

तक उनका जा सकना बहुत कठिन है। इसलिए किन्हीं दो महाद्वीपों के वनस्पति एक दूसरे से बहुत अधिक नहीं मिल-जुल सकते, और जितने पृथक् वे आज हैं, संभवतः उतने ही बने रहेंगे। लहरों की दिशा के कारण, उत्तरी अमरीका से बीज ब्रिटेन को नहीं जा सकते, यद्यपि वेस्टइण्डीज़ से वे ब्रिटेन जा सकते हैं और यदि वहाँ पहुँचने के पहले ही समुद्र-जल के प्रभाव से वे मर न गये, तो भी संभवतः जलवायु इतनी भिन्न होगी कि वे शायद ही उसमें पनप सकें। लगभग हर वर्ष एक-दो स्थल की चिड़ियाँ समस्त ऐटलांटिक पार कर उत्तरी अमरीका से आयरलैंड और इंगलैंड के पश्चिमी तट पर पहुँचती हैं। किन्तु इन विरले आगन्तुकों के द्वारा बीजों का यातायात एक ही रीति से हो सकता है और वह है उनकी टाँगों या चोंच में फँसकर। स्पष्ट है कि यह रीति भी आकस्मिक ही है। इसके अतिरिक्त ऐसी दशा में किसी बीज के अनकूल धरती पर गिरने की संभावना कितनी कम है। किन्तु यह तर्क करना बड़ी भूल होगी कि चूँकि ग्रेट ब्रिटेन जैसे वनस्पति से भरे द्वीप में संभवतः पिछली कुछ शताब्दियों में, यातायात के आकस्मिक साधनों से यूरोप या किसी अन्य महाद्वीप से कुछ वनस्पति नहीं आये हैं (वास्तव में यह सिद्ध करना बहुत कठिन है), इसलिए मुख्य द्वीप से दूरस्थित किसी ऐसे द्वीप में जिसमें वनस्पति इतने घने नहीं हैं, इसी प्रकार के वनस्पति बाहर से नहीं आ सकेंगे। किसी द्वीप पर पहुँचे लगभग १०० प्रकार के बीजों या जन्तुओं में से (यदि इस द्वीप की आबादी ब्रिटेन से बहुत कम हो तो भी) संभवतः केवल एक इस नये वातावरण को अनुकूल पाएगा और उसका प्रकृतिकरण संभव होगा। किन्तु यातायात के आकस्मिक साधनों से क्या हो सकता है, इसका इससे कुछ पता नहीं चल सकता; विशाल भूतत्वीय युग में, जब वह द्वीप पानी के ऊपर उठा होगा और उसमें बहुत थोड़े निवासी रहे होंगे, उस समय दशा बिल्कुल भिन्न रही होगी। बिल्कुल ही उजड़े स्थल पर, जब वहाँ विनाशकारी कीटों तथा पक्षियों का अस्तित्व न रहा होगा, यदि केवल जलवायु अनुकूल रही हो, तो लगभग प्रत्येक बीज के जीवित बने रहने की संभावना रही होगी और उससे नये पौधे की उत्पत्ति हुई होगी।

हिमयुग में विकिरण

आल्पस् पहाड़ों की चोटियों पर स्थित, एक-दूसरे से सैकड़ों मील चौड़ी घाटियों से अलग, जन्तुओं तथा पौधों की समान जातों का पाया जाना इस बात का अद्‌भुत उदाहरण है कि दो बहुत दूर तथा विलग स्थानों पर भी एक ही जात के जीव मिल सकते हैं। इस उदाहरण में यह भी स्पष्ट है कि ये जीव एक चोटी से ही दूसरी पर न गये होंगे। वास्तव में यह बड़ी ही अद्‌भुत बात है कि आल्पस तथा पिरीनीज़ के हिमा-

च्छादित भागों तथा यूरोप के बिल्कुल उत्तरी भागों में अनेक प्रकार के पौधों की समान जातें पायी जाती हैं; किन्तु उससे भी अद्भुत बात यह है कि उत्तरी अमरीका के श्वेत पर्वतों पर उन्हीं जातों के पौधे मिलते हैं जो लेब्राडोर में; तथा जैसा आसाग्रे का कहना है, यूरोप के बड़े-बड़े से पहाड़ों पर हैं। इन्हीं कारणों की बदौलत सन् १७४७ में मेलिन (Gmelin) इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि समान जाते स्वतंत्र रूप से कई स्थानों पर उत्पन्न हुई होंगी। और यदि आगासिज़ तथा अन्य विद्वानों ने हमारा ध्यान हिमयुग की ओर आकृष्ट न किया होता तो, संभवतः आज तक हम यही विश्वास करते रहते। पर जैसा अब हम देखेंगे, हिमयुग की जानकारी से यह कठिनाई दूर हो जाती है। हमारे पास इस बात के सभी प्रकार के प्रमाण हैं कि भूतत्वीय दृष्टि से काफी हाल में मध्य यूरोप तथा उत्तरी अमरीका में ध्रुवीय प्रकार की जलवायु हो गयी थी। स्काटलैंड तथा वेल्स के पर्वत इस बात को जितनी अच्छी तरह बतातें हैं उतनी अच्छी तरह आग से नष्ट हुआ मकान भी अपनी कहानी नहीं कहता। इन पर्वतों की सतह चिकनी है, ढलुआ किनारों से जीव नष्ट हो गये हैं, उनकी चट्टानें दबी हुई हैं और हाल तक उनकी घाटियाँ बर्फीले झरनों से भरी थीं। वास्तव में यूरोप की जलवायु इतनी अधिक बदल गयी है कि उत्तरी इटली में बर्फ़ीली नदियों के सूखने से बनी घाटियाँ अब ज्वार तथा अंगूर के पौधों से ढँकी हैं। इसी प्रकार उत्तरी अमरीका के एक बड़े भाग में टेढ़े-मेढ़े पत्थर और चिकनी चट्टानें स्पष्ट रूप से हिमयुग की याद दिलाती हैं।

एडवर्ड फोर्ब्स के अनुसार हिमयुग का यूरोप के निवासियों के विकिरण पर प्रभाव निम्नलिखित रूप से हुआ; किन्तु ये परिवर्तन हमारी समझ में ज्यादा अच्छी तरह आयेंगे यदि हम यह कल्पना करें कि एक नया हिम युग धीरे-धीरे आया और फिर नष्ट हो गया—और यही सत्य भी है। जैसे-जैसे ठंडक बढ़ती गयी, क्रमशः दक्षिणी प्रदेश उत्तरी जीवों के लिए अधिकाधिक अनुकूल होते गये और फलतः ये उत्तर के जीव पहले के शीतोष्ण भागों के जीवों का स्थान लेते गये। साथ ही, शीतोष्ण भागों के जीव और भी दक्षिण की ओर बढ़ते गये और जहाँ तक कोई रुकावट न मिली, बढ़ते गये। बाधाओं के आने पर संभवतः वे नष्ट हो गये। इस बीच पर्वत बर्फ से ढँक गये होंगे और उन पर रहनेवाले अल्पाइन जीव धीरे-धीरे मैदानों में उतर आये होंगे। ठंडक के अधिकतम दशा में पहुँचने पर, आल्पस तथा पिरीनीज़ तक समस्त मध्ययूरोप, बल्कि स्पेन तक का पूरा भाग, हिम-प्रदेश के जन्तुओं और वनस्पतियों से बस गया होगा। इसी प्रकार यूनाइटेड स्टेट्स का वह भाग, जो आज शीतोष्ण प्रदेश के नाम से विख्यात है, हिमयुग के पौधों और जन्तुओं से बस गया होगा जो यूरोप के जीवों के

समान होंगे क्योंकि वर्तमान ध्रुवीय जीव-जन्तु जो हमारी समझ में दक्षिण की ओर गये, संसार भर में अद्भुत रूप से समान हैं।

जैसे-जैसे ठंडक फिर कम हुई, ध्रुवीय जीव-जन्तु पुनः उत्तर की ओर वापस बढ़े होंगे और उनके पीछे-पीछे शीतोष्ण भागों के जन्तु भी उसी दिशा में गये होंगे। और जब पर्वतों के नीचे बर्फ पिघली होगी, तो ध्रुवीय जीव क्रमशः इस भाग में बढ़ते हुए पहाड़ों पर चढ़े होंगे क्योंकि क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर बर्फ पिघलती गयी होगी। इस प्रकार इन्हीं जीवों में से कुछ उत्तर की ओर, कुछ पहाड़ों की चोटियों को ओर बढ़े; और पूरी तरह गर्मी के वापस होने पर वे ही जातें जो यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के मैदानों में थी, पुनः नयी तथा पुरानी दुनिया के उत्तरी ध्रुवीय प्रदेशों में तथा एक दूसरे से दूर स्थित पर्वतों की चोटियों पर पायी जाने लगीं।

इस तरह हम समझ सकते हैं कि यूरोप तथा संयुक्त राज्य जैसे सुदूर देशों के पर्वतों पर एक जैसी समान वनस्पतियाँ क्योंकर पायी जाती हैं। इसी आधार पर हम यह भी समझ सकते हैं कि प्रत्येक पर्वत श्रेणी के ऐल्पाइन पौधे क्योंकर उसके उत्तरी भागों के पौधों के समान हैं—जब ठंडा युग आया तो जीवों का स्थानान्तरण हुआ, और जब यह युग समाप्त हुआ तो इनका पुनः स्थानान्तरण उत्तर से दक्षिण तथा दक्षिण से उत्तर की ओर हुआ। उदाहरण के लिए जैसे एच० सी० वाट्सन ने बताया है, स्काटलैंड तथा पिरीनीज़ के ऐल्पाइन पौधे, विशेष रूप से स्कैण्डिनेविया के पौधों के समान हैं; साइबेरिया की वनस्पति उस प्रदेश के उत्तरी ध्रुव की वनस्पति के समान; तथा संयुक्त राज्य के पौधे लेब्रेडोर के पौधों के समान हैं। ये मत हिमयुग के सिद्धान्त पर आधारित है; तथा इस हिमयुग के होने के संबंध में हमारे पास इतने पक्के प्रमाण हैं कि वास्तव में मेरे विचार में यदि संसार के किसी भाग में पर्वतों की दूरस्थित चोटियों पर एक ही जात के जीव मिलें, तो हम बिना संदेह के उसका स्पष्टीकरण उस प्रदेश में भी हिमयुग होने के आधार पर कर सकते हैं और इस निष्कर्ष पर बेखटके पहुँच सकते हैं कि उनका स्थानान्तरण इन पर्वतों के बीच के नीचे मैदानों के द्वारा हुआ था जो इस समय उन जीवों के लिए अत्यधिक ऊष्ण हो गये हैं।

चूँकि उत्तरीध्रुवीय जीव-जन्तु पहले दक्षिण की ओर और फिर वापस उत्तर की ओर जलवायु परिवर्तन के साथ ही हटते गये, अतः इस स्थानान्तरण के बीच उनको तापक्रम के किसी महान् परिवर्तन का सामना नहीं करना पड़ा। और चूँकि वे सभी जीव एक साथ ही खिसकते रहे इसलिए उनके परस्पर संबंधों में कोई विशेष उलट-फेर नहीं हुआ। अतः इस पुस्तक में दिये गये सिद्धान्तों के अनुसार इन जीवों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होना चाहिए। लेकिन ऐल्पाइन जीवों की बात इससे भिन्न

होगी, क्योंकि ऊष्णता के वापस आने के समय से, पहले पर्वतों के निचले भागों में और फिर उनकी चोटियों पर उनका पृथक्करण हो गया; क्योंकि यह संभव नहीं है कि वे सभी उत्तरीध्रुवीय जीव एक-दूसरे से बहुत दूर स्थित पर्वतश्रेणियों पर बचे रह जायँगे और तब से अब तक सुरक्षित भी रहेंगे। संभवतः वे उन अन्य ऐल्पाइन जातों के साथ घुलमिल जायँगे जो हिमयुग के आने के पहले से ही वहाँ उपस्थित थीं और बहुत ठंडक आने पर कुछ समय के लिए अस्थायी रूप से वहाँ से हट गयी होंगी। साथ ही उन पर कुछ भिन्न जलवायु का भी प्रभाव पड़ा होगा। इस प्रकार उनके पारस्परिक संबंध भी शायद बदले हों, जिसके फलस्वरूप उनमें परिवर्तनों की संभावना बढ़ गयी होगी। यदि हम वर्तमान ऐल्पाइन वनस्पति तथा जन्तुओं की तुलना यूरोप की अन्य पर्वत श्रेणियों से करें तो यद्यपि कुछ बातें, अवश्य ही सामान्य रूप से मिलेंगी, फिर भी कुछ वे भेद या उपभेद भिन्न होंगे तथा कुछ ऐसी जातें भी मिलेंगी जो इन सभी श्रेणियों पर समान रूप से नहीं मिलेंगी।

ऊपर दिये गये उदाहरण में मैंने इस अनुमान के आधार पर अपना तर्क आरम्भ किया था कि हिमयुग के प्रारंभ में ध्रुवीय प्रदेशों के चारों ओर ध्रुवीय जीव उतने ही समान रूप से विस्तृत थे जैसे वे आज हैं। किन्तु साथ ही यह मान लेना भी आवश्यक है कि उपध्रुवीय तथा कुछ शीतोष्ण प्रदेशीय जीव संसार के चारों ओर समान रूप से पाये जाते थे, क्योंकि आज उत्तरी अमरीका और यूरोप के पर्वतों की ढालों पर तथा मैदानों में अनेक जातें समान रूप से पायी जाती हैं। यह पूछा जा सकता है कि हिमयुग के आरम्भ में उपध्रुवीय तथा शीतोष्णीय जीवों की संसार के चारों ओर समानता का क्या कारण है? वर्तमान समय में पुरानी तथा नयी दुनिया के उपध्रुवीय तथा शीतोष्णीय जीव एक-दूसरे से समस्त ऐटलांटिक महासागर तथा प्रशान्त महासागर के उत्तरी भाग से पृथक् किये हुए हैं। हिमयुग में, जब पुरानी तथा नयी दुनिया के जीव आज की अपेक्षा अधिक दक्षिण में निवास करते थे, तब वे एक दूसरे से अधिक चौड़े समुद्र के द्वारा अलग थे। इसलिए यह भी पूछा जा सकता है कि तब, या उसके पहले वे ही जातें दोनों महाद्वीपों में किस प्रकार पहुँच गयी थीं। मेरे विचार में इसका कारण हिमयुग आरम्भ होने के पहले की जलवायु है। उस समय, अर्थात् नये प्लायोसीन काल में, संसार के निवासियों में अधिकांश जातें वे ही थीं जो आज वर्तमान हैं, और इस बात के प्रमाण भी हैं कि तब जलवायु आज की अपेक्षा अधिक गरम थी। अतः हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि जो जीव आज ६०° अक्षांश के नीचे पाये जाते हैं वे प्लायोसीन काल में ध्रुवीय गोले के नीचे ६६° तथा ६७° अक्षांश में अर्थात् अधिक उत्तर में रहते थे। साथ ही आज के उत्तरीध्रुवीय जीव तब उत्तरी ध्रुव के निकट स्थित

टूटे हुए स्थल में रहते थे। अब यदि हम संसार के स्थलीय भाग को देखें तो ध्रुवीय भाग के नीचे हम पश्चिमी यूरोप से पूर्वी अमरीका तक, साइबेरिया सहित स्थल का लगभग बराबर फैलाव पाएँगे। ध्रुव का चारों ओर स्थल के फैलाव के साथ स्थलीय जीवों के परस्पर स्थानान्तरण की स्वतन्त्रता बढ़ जाती है। इसीलिए नयी तथा पुरानी दुनिया के उपध्रुवीय तथा शीतोष्ण प्रदेश में हिमयुग के पहले ही जीवों की समानता थी।

ऊपर दिये हुए कारणों के आधार पर हमको यह विश्वास करना पड़ता है कि हमारे महाद्वीप बहुत समय से लगभग एक ही स्थिति में बने रहे हैं, यद्यपि उनके धरातल में काफी परिवर्तन हुए हैं। यदि इस मत को हम कुछ और विस्तृत कर दें, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ और भी प्राचीन तथा ऊष्ण काल में (जैसे कि प्राचीन प्लायोसीन काल में) पौधों तथा जन्तुओं की जातों की और भी बड़ी संख्या ध्रुवीय प्रदेश के चारों ओर समान रूप से मिलती थी। और नये तथा पुराने दोनों ही संसारों के ये पौधे तथा जन्तु ऊष्णता की कमी के साथ हिमयुग आने के पहले ही क्रमशः दक्षिण की ओर बढ़े। जैसे मैं समझता हूँ, अब हम उनकी आपरिवर्तित संतानों को यूरोप तथा संयुक्त राज्य के मध्यभाग में देखते हैं। इस मत के आधार पर हम यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के जीवों के संबंध को समझ सकते हैं, जो बिल्कुल एक जैसे नहीं हैं, फिर भी संबंधित हैं। यह संबंध इसलिए बहुत ही अद्भुत है कि ये दोनों क्षेत्र वृहत् ऐटलांटिक के कारण एक-दूसरे से इतने अधिक पृथक् हैं। इसी प्रकार हम कई प्रकृतिशास्त्रियों द्वारा देखी गयी इस अद्भुत बात को भी समझ सकते हैं कि बाद के तृतीय काल के यूरोप तथा अमरीका के जीव वर्तमान समय की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक निकट थे : ऊष्ण कालों में पुरानी तथा नयी दुनिया के उत्तरी भाग एक दूसरे से लगभग जुड़े हुए थे और पुल जैसा इन दोनों के बीच का संबंध अब ठंडक के कारण बेकार हो गया है और इसलिए दोनों भागों के निवासी एक दूसरे से पृथक् हो गये हैं।

जब प्लायोसीन काल में ऊष्णता कम होने लगी, और पुरानी तथा नयी दुनिया की सामान्य जातें ध्रुव के दक्षिण की ओर बढ़ने लगीं, तो वे एक-दूसरे से पृथक् हो गयीं। जहाँ तक शीतोष्ण प्रदेशों के जीवों का प्रश्न है, यह पृथक्करण बहुत काल पहले हो गया होगा। जैसे-जैसे पौधे तथा जन्तु दक्षिण की ओर बढ़ने लगे, वे अमरीका में कहीं-न-कहीं मौलिक अमरीकी पौधों और जन्तुओं से मिल गये होंगे, तथा उनके साथ ही उनको प्रतियोगिता करनी पड़ी होगी, तथा यूरोप में वे किसी भाग में इसी प्रकार मौलिक यूरोपीय पौधों तथा जन्तुओं के साथ प्रतियोगिता में पड़े होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि आपरिवर्तन के लिए सभी आवश्यक सामग्री एकत्र हो जाती है; और यह आपरिवर्तन

ऐल्पाइन जीवों से कहीं अधिक होगा क्योंकि वे बहुत हाल के युग में कई पर्वत श्रेणियों तथा यूरोप और उत्तरी अमरीका के ध्रुवीय भाग में पृथक् हुए हैं, इसका फल यह हुआ है कि जब हम. नयी तथा पुरानी दुनिया के शीतोष्ण भागों के जीवित जन्तुओं या पौधों की तुलना करते हैं, तो उनमें बहुत कम समान जातें पाते हैं (आसा ग्रे ने यह दिखाया है कि जैसा हम पहले समझते थे, उसकी अपेक्षा पौधों की अधिक जातें समान हैं)। लेकिन हर बड़े वर्ग में हम ऐसे कई जीव देखते हैं कि जिनको कुछ प्रतिवादी भौगोलिक नस्लें कहते हैं और कुछ स्पष्ट जातें। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे सन्निकट अथवा प्रतिनिधि जीव मिलते हैं जिनको सभी प्रकृतिशास्त्री स्पष्ट जातें मानते हैं।

स्थल की भाँति, समुद्र में भी समुद्री जीवों का दक्षिण की ओर क्रमिक स्थानान्तरण हुआ जो प्लायोसीन या उसके पहले के युग में ध्रुवीय प्रदेश के चारों ओर किनारों पर लगभग समान रीति से हुआ। आपरिवर्तन के सिद्धान्तों के अनुसार यही इस बात का कारण होगा कि कई वर्तमान पृथक् समुद्री भागों में समान जीव मिलते हैं। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि क्यों शीतोष्ण उत्तरी अमरीका के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों पर कुछ बहुत मिलते-जुलते जीव वर्तमान समय में पाये जाते हैं तथा कुछ तृतीय युग में पाये जाते थे जो विनष्ट हो गये हैं। इससे भी अद्भुत बात यह है कि कई संबंधित क्रस्टेशिया, कुछ मछलियाँ तथा अन्य समुद्री जन्तु भूमध्यसागर तथा जापान के समुद्रों में पाये जाते हैं। ये दोनों क्षेत्र इस समय एक-दूसरे से समस्त महाद्वीप तथा चौड़े समुद्रों से पृथक् किये हुए हैं—किन्तु इस समानता का भी कारण वही है।

उत्तरी अमरीका के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों तथा भूमध्यसागर तथा जापान के समुद्री तटों पर पाये जाने वाले वर्तमान या प्राचीन जातों के घनिष्ठ संबंध या उत्तरी अमरीका तथा यूरोप के शीतोष्ण प्रदेशों के जीवों के घनिष्ठ संबंध विशेष सृष्टि के सिद्धान्त पर नहीं समझाये जा सकते। हम यह नहीं कह सकते कि इस प्रकार की समान जातों की सृष्टि इन क्षेत्रों की भौतिक समानता के कारण हो सकती है, क्योंकि यदि हम, उदाहरण के लिए दक्षिणी अमरीका के कुछ भागों की तुलना दक्षिणी अफ्रीका या आस्ट्रेलिया से करें तो हम देखेंगे कि भौतिक दशाओं में ये देश बिल्कुल ही समान हैं, लेकिन उनके निवासी बिल्कुल ही भिन्न हैं।

उत्तर तथा दक्षिण में एकान्तर हिमयुग

मेरा विश्वास है कि फोर्ब्स के मत का काफी विस्तार किया जा सकता है। यूरोप में ब्रिटेन के पश्चिमी किनारे से ओउराल श्रेणी तक और दक्षिण में पिरेनीज़ तक हमको

हिमयुग के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। जमे हुए स्तनियों तथा पर्वतीय वनस्पति को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि साइबेरिया में भी ऐसा ही युग था। डा० हूकर के अनुसार लेबनान में मध्य अक्ष निरंतर ही बर्फ से ढका था और ४०'०० फीट गहरे ग्लेशियर में इससे पानी मिलता था। इसी लेखक ने हाल में उत्तरी अफ्रीका की ऐटलस श्रेणी में काफी गहराई में हिमनदी द्वारा बने बड़े कगारे देखे थे। हिमालय में ९०० मील दूर स्थानों पर ग्लेशियरों द्वारा छोड़े इस बात के चिह्न मिलते हैं कि उनकी उत्पत्ति पहले नीचे हुई थी, और सिक्किम में डा० हूकर ने प्राचीन, विशाल हिमनदी द्वारा बने कगारों पर मक्का उगते देखा है। एशियाई महाद्वीप के दक्षिण की ओर, भूमध्य रेखा के दूसरी ओर डा० जे० हास्ट तथा डा० हेक्टर ने अपनी खोजों से यह सिद्ध कर दिया है कि न्यूजीलैंड में बर्फ की तहें काफी नीचे तक थीं और डा० हूकर ने इस द्वीप के दूर-दूर के पर्वतों पर वे ही वनस्पति देखे जिससे भी हिमयुग की कहानी स्पष्ट होती है। रेवेरेण्ड डब्ल्यू० बी० क्लार्क ने जो तथ्य मुझको बताये हैं, उनसे यह भी पता चलता है कि आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व कोने पर भी पूर्व हिमयुग के चिह्न हैं।

अब अमरीका की ओर ध्यान दीजिये। इसके उत्तरी भाग में चट्टानों के बर्फ सहित टुकड़े महाद्वीप के पूर्वी भाग में ३६°–३७° दक्षिण तक फैले मिलते हैं, इसी तरह की बर्फ से ढकी चट्टानें प्रशान्त महासागर के किनारे पर ४६° तक मिलती हैं जहाँ इस समय जलवायु इतनी भिन्न है। पथरीले पर्वतों (Rocky mountains) पर भी टेढ़ी-मेढ़ी चट्टानें मिलती हैं। दक्षिणी अमरीका के कार्डिलेरा (Cordillera) प्रदेश में, जो भूमध्यसागर के निकट है, किसी समय बर्फीली चट्टानें वर्तमान तल के बहुत नीचे तक फैली थीं। मध्य चिली में मैंने कूड़े-कचरे से ढके एक विशाल टीले की परीक्षा की जो इस समय पोर्टिलो घाटी (Portillo valley) में फैला है। इसमें संदेह नहीं कि किसी समय यह घाटी बर्फीली नदी से भरी थी। मि० डी० फोर्ब्स ने मुझको यह सूचना दी है कि १३° से ३०° दक्षिण तक कार्डिला के विभिन्न भागों में १२००० फीट की ऊँचाई तक उन्होंने अनेक गहरी नालीदार चट्टानें और पत्थरों के छोटे-छोटे गड्ढेदार टुकड़े देखे हैं। ऐसी ही चट्टानें और टुकड़े इस समय नार्वे में दिखाई पड़ते हैं। कार्डिलेरा के इस पूरे क्षेत्र में इस समय बहुत ऊँचाई पर भी वास्तविक हिम-नदियाँ नहीं पायी जातीं। महाद्वीप के और भी दक्षिण में, दोनों किनारों पर, ४१° से दक्षिणी छोर तक असंख्य विशाल चट्टानें मिलती हैं जो अपने मौलिक स्थान से बहुत दूर हैं— और यह उस भाग में पूर्व हिमयुग का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इन तथ्यों से —अर्थात् उत्तरी तथा दक्षिणी अर्धगोलों के चारों ओर हिम-क्रिया

का विस्तार, भूतत्वीय अर्थ में दोनों अर्धगोलों में हिमयुग का बहुत कुछ आधुनिक काल में होना, इसके प्रभावों से यह पता चलना कि यह हिम युग काफी लंबे काल तक बना रहा, और कॉडिलेरा की समस्त रेखा के किनारे-किनारे हिम-नदियों का इनमें नीचे तक विस्तृत होना—इन सभी तथ्यों से किसी समय मुझको यह जान पड़ा था कि हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि समस्त संसार में हिमयुग एक साथ ही आया था। किन्तु हाल में मि० क्राल (Mr. Croll) ने अपने कई लेखों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जलवायु में हिमदशा कई कारणों से उत्पन्न होती है जो पृथ्वी के पथ के गोलाई से हटने के कारण उत्पन्न होते हैं। इन सभी कारणों का प्रभाव एक ही होता है; किन्तु इन सबमें अधिक शक्तिशाली कारण है पृथ्वी के अपने पथ से हटने के कारण समुद्री धाराओं में परिवर्तन। मि० क्राल के अनुसार हर दस - पन्द्रह हजार वर्षों की अवधि के बाद पृथ्वी पर ठंढे काल आते हैं; और कुछ लम्बी अवधियों के बाद ये काल वास्तव में बहुत ठंडे होते हैं। इसके कई कारण हैं जिनमें से सब से महत्वपूर्ण कारण जैसा सर सी० लियेल ने दिखाया है, स्थल तथा जल की पारस्परिक स्थिति है। मि० क्रॉल का विश्वास है कि पिछला हिमयुग लगभग २४०, ००० वर्ष पहले हुआ था और थोड़े-बहुत जलवायु के अन्तरों के साथ यह लगभग १६०,००० वर्षों तक बना रहा। और भी प्राचीन हिमयुगों के संबंध में कई पुरातत्व शास्त्रियों का विश्वास है कि बहुत प्राचीन हिमयुगों को छोड़कर मायोसीन तथा इयोसीन युगों में इनके होने के हमारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मि० क्राल के अनेक निष्कर्षों में हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि जब कभी उत्तरी गोलार्ध का तापक्रम बहुत गिर जाता है तो दक्षिणी गोलार्ध का तापक्रम वास्तव में बढ़ जाता है, इसके जाड़े हल्के हो जाते हैं—और ऐसा मुख्यतः समुद्री धाराओं के बदलने के कारण होता है। इसी तरह जब दक्षिणी गोलार्ध में हिमयुग का आगमन होगा तो उत्तरी गोलार्ध का तापक्रम बढ़ जायगा। इस निष्कर्ष से जीवों के भौगोलिक वितरण पर इतना महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है कि मुझको इसको सत्य मानना पड़ता है—लेकिन पहले मैं उन तथ्यों का उल्लेख करूँगा जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

दक्षिणी अमेरिका में डा० हूकर ने यह सिद्ध किया है कि कई सहसम्बन्धी जातों के अतिरिक्त, टियरा डेल फ्युगो के अल्पसंख्यक फूलनेवाले पौधों में से लगभग चालीस से पचास जातें ऐसी हैं जो उत्तरी अमरीका तथा यूरोप में पायी जाती हैं, यद्यपि ये महाद्वीप दूसरे भूखण्ड में तथा इतनी दूर हैं। भूमध्यीय अमरीका के विशाल पर्वतों पर अनेक ऐसी जातें मिलती हैं जो प्रारूपिक रीति से यूरोप में पायी जाती हैं। इसी तरह ब्राजील के ऑरगन पर्वतों पर गार्डनर ने कई ऐसी जातियाँ देखी हैं जो नीचे के गर्म प्रदेशों में

नहीं मिलतीं, किन्तु इनमें से कुछ ऐन्टार्कटिक, कुछ यूरोपीय तथा कुछ ऐण्डियन भूभागों में होती हैं। काराकास के सिल्ला (Silla of Caraccas) पर प्रख्यात प्रकृतिवादी हमबोल्ट ने ऐसी जातियों की जातें देखीं जो लाक्षणिक रूप से कॉडिलेरा में मिलती हैं।

अफ्रीका के अबीसीनिया के पर्वतों पर केप ऑफ गुड होप और यूरोप की कई लाक्षणिक वनस्पतियाँ मिलती हैं। केप हॉफ गुड होप में थोड़ी सी ऐसी यूरोपीय जातें मिलती हैं जो निश्चय ही मनुष्य द्वारा वहाँ नहीं ले जायी गयी हैं और कुछ ऐसे भी यूरोपीय वनस्पति मिलते हैं जो अफ्रीका के अन्तर-ऊष्ण भागों में नहीं मिलते हैं। हाल में डा० हूकर ने भी यह सिद्ध किया है कि फर्नैंडो पो (Fernando Po) के वृहत् द्वीप तथा निकटवर्ती गायना की खाड़ी में स्थित कैमेरून पर्वतों के ऊपरी भागों में ऐसे कई पौधे मिलते हैं जो अबीसीनिया के पर्वतों तथा शीतोष्ण यूरोप के पौधों से बहुत सम्बन्धित हैं। जैसा मैंने डा० हूकर से सुना है, अब ऐसा जान पड़ता है कि इन शीतोष्ण वनस्पतियों में से कुछ रेवरेण्ड आर० टी० लो० ने केप वर्दे द्वीप के पहाड़ों पर भी पाया है। मैं समझता हूँ कि वनस्पति वितरण के क्षेत्र में इन शीतोष्ण जातों का भूमध्य-रेखा के नीचे समस्त अफ्रीकी महाद्वीप में तथा केप वर्दे द्वीप समूह के पहाड़ों पर पाया जाना आज तक के सभी आविष्कारों में सब से अद्‌भुत् है।

इसी तरह हिमालय पर, भारतीय प्रायद्वीप की पृथक् पर्वत श्रेणियों पर, श्री-लंका के पहाड़ों पर तथा जावा के ज्वालामुखी पर्वतों पर समान जातों के कई पौधे मिलते हैं या जो एक-दूसरे से बहुत ही संबंधित हैं। साथ ही ये पौधे यूरोप की कुछ जातों के प्रतिनिधि जान पड़ते हैं—और बीच की गहराइयों में ये नहीं मिलते। यदि जावा की अधिक ऊँची चोटियों पर एकत्रित पौधों की जातियों की सूची बनायी जाय तो आप कहेंगे कि यह सूची यूरोप के किसी पहाड़ी के पौधों की है। इससे भी अधिक अद्‌भुत् बात यह है कि बोर्नियो के पहाड़ों की चोटियों पर उगने वाले पौधे आस्ट्रेलिया के लाक्षणिक पौधों के प्रतिनिधि जान पड़ते हैं। डा० हूकर का कहना है कि इनमें से कुछ आस्ट्रेलियन जातें मलाका प्रायद्वीप के पर्वतों पर फैले हैं, और एक ओर वे भारत में थोड़ी संख्या में फैले हैं तथा दूसरी ओर जापान तक।

आस्ट्रेलिया के दक्षिणी पर्वतों पर डा० एफ० मूलर ने कई यूरोपीय जातें पायीं हैं; कुछ ऐसी जातें, जिनको मनुष्य ने वहाँ नहीं पहुँचाया है, मैदानों में पायी जाती है; और डा० हूकर के अनुसार आस्ट्रेलिया में मिलनेवाली ऐसी यूरोपीय जातियों की एक लंबी सूची बनायी जा सकती है जो बीच के ऊष्ण कटिबंध में नहीं मिलतीं। डा० हूकर ने अपनी अद्वितीय पुस्तक 'Introduction to the Flora of New Zealand'

में इस बड़े द्वीप के संबंध में इसी तरह की अनेक अद्‌भुत् बातें बतायी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि संसार भर के ऊष्ण भागों के ऊँचे पर्वतों पर पाये जानेवाले कुछ पौधे तथा उत्तर और दक्षिण के शीतोष्ण प्रदेशों के कुछ पौधे समान जातों के हैं या समान जातों के भेद हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि ये पौधे सही अर्थ में उत्तरी ध्रुवीय नहीं हैं, क्योंकि जैसा मि० एच० सी० वाट्सन ने कहा है,"ध्रुवीय भागों से भूमध्य रेखा की ओर हटने पर ऐल्पाइन या उत्तरी ध्रुवीय वनस्पति क्रमशः कम उत्तरी ध्रुवीय प्रकृति के रह जाते हैं।" इन समान जातों को छोड़कर कई ऐसी जातें जो बिल्कुल ही पृथक् और दूर के भागों में मिलती हैं, ऐसी जातियों के अन्तर्गत आती हैं जो अब इन भागों के बीच के मैदानी प्रदेशों में नहीं मिलतीं।

ऊपर दिये गये तथ्य केवल वनस्पतियों पर ही लागू होते हैं, किन्तु उन्हीं से मिलते-जुलते कुछ तथ्य स्थली जन्तुओं के विषय में भी दिये जा सकते हैं। इसी प्रकार के उदाहरण समुद्री जन्तुओं में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए, मैं यहाँ प्रो० डाना जैसे उच्च अधिकारी के शब्दों को देता हूँ जो लिखते हैं कि,"यह निश्चय ही बड़ी अद्‌भुत् बात है कि न्यूज़ीलैंड के क्रस्टेशिया संसार के अन्य किसी भाग के जन्तुओं की अपेक्षा ब्रिटेन के क्रस्टेशिया के समान हैं।" इसी प्रकार सर जे० रिचर्ड्सन भी कहते हैं कि न्यूज़ीलैंड, तस्मानिया आदि के समुद्र-तटों पर उत्तर में पायी जाने वाली मछलियाँ पुनः प्रकट होती हैं। डा० हूकर का वक्तव्य है कि न्यूज़ीलैंड और यूरोप ऐल्गी के बीच २५ जातें सामान्य हैं और ये बीच के ऊष्ण प्रदेश के समुद्रों में नहीं मिलतीं।

ऊपर लिखी बातें—अर्थात् भूमध्यीय अफ्रीका, भारतीय महाद्वीप, श्रीलंका तथा मलाया द्वीप समूह के पर्वतीय भागों में, और कुछ हद तक दक्षिणी अफ्रीका के ऊष्ण कटिबन्ध वाले भाग में शीतोष्ण प्रदेश के जीवों का पाया जाना—यह बताती हैं कि विगत काल में कभी, और संभवतः हिमयुग के सबसे ठंढे काल में, इन बड़े महाद्वीपों के मैदान तथा भूमध्यरेखा के नीचे के भाग में शीतोष्ण जातें बड़ी संख्या में भरी थीं। इस काल में समुद्र तल पर भूमध्यीय प्रदेश की जलवायु संभवतः वैसी ही थी जैसी वर्तमान समय में उन्हीं अक्षांशों में ५०००-६००० फीट या उससे अधिक ऊँचाई पायी जाती है। इस अधिकतम ठंडे काल में भूमध्यरेखा से नीचे के मैदान ऊष्ण तथा शीतोष्ण प्रदेशों की मिली-जुली वनस्पति से उसी तरह ढके थे, जैसे आजकल हूकर के उल्लेख के अनुसार हिमालय की ढालों पर लगभग चार-पाँच हजार फीट की ऊँचाई पर देखे जा सकते हैं। लेकिन संभवतः उनमें शीतोष्णीय जातें अधिक थीं। इसी तरह मि० मैन ने गायना की खाड़ी में फर्नैंडो पो द्वीप के पहाड़ों पर लगभग ५०००

फीट की ऊँचाई से यूरोपीय शीतोष्ण जातें उगते देखा है। पनामा के पर्वतों पर केवल दो हजार फीट की ऊँचाई पर ही डा० सीमैन ने मेक्सिको जैसी वनस्पति देखी "जिसमें शीतोष्ण प्रदेश की जातों के साथ ही अति ऊष्ण प्रदेश की जातें भी भलीभाँति मिली-जुली थीं।"

आइये अब हम यह विचार करें कि मि० क्रॉल का मत दोनों गोलार्धों के शीतोष्ण भागों के जीवों के तथा ऊष्ण प्रदेश के पर्वतों के जीवों के वितरण की कठिन समस्या पर कहाँ तक प्रकाश डालता है। हम देख चुके हैं कि क्रॉल का मत है कि जब उत्तरी गोलार्द्ध में हिमकाल के बीच अत्यधिक ठंडक थी, तब दक्षिणी गोलार्ध अधिक गरम हो गया था। वर्षों के नाप से हिम युग वास्तव में बहुत लंबा रहा होगा; और जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि कुछ ही शताब्दियों में कुछ ऐसे पौधे या जन्तु जिनका प्रकृतिकरण हो चुका है, कितने विस्तृत क्षेत्र में फैल जाते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लंबा युग कितने ही अधिक स्थानान्तरण के लिए कितना पर्याप्त रहा होगा। हम जानते हैं कि जैसे-जैसे ठंडक अधिक होती गयी उत्तर ध्रुवीय जीव शीतोष्ण प्रदेशों में जाने लगे। और अभी दिये गये तथ्यों से यह भी निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि कुछ शीतोष्ण प्रदेश के प्रबल, सशक्त तथा विस्तृत होनेवाले जीव भूमध्यप्रदेश के पठारों में पहुँच गये । इन गरम भागों के मूल निवासी इसी समय दक्षिण के ऊष्ण तथा समशीतोष्ण भागों में स्थानान्तरित हो गये क्योंकि दक्षिणी गोलार्ध इस समय भी गरम ही था। हिमयुग के ढलने पर, चूँकि दोनों गोलार्धों का कठिन तापक्रम इस समय घटने लगा था, इसलिए भूमध्यरेखा के नीचे पठारों या मैदानों में अब निवास करनेवाले जीव या तो पुनः अपने प्राचीन निवासस्थान उत्तरी शीतोष्ण प्रदेशों में वापस चले गये, या नष्ट हो गये और उनकी जगह पर दक्षिण से आनेवाले भूमध्यीय जीव पहुँच जाएँगे। किन्तु निश्चय ही इनमें से कुछ उत्तरी शीतोष्ण प्रदेश के जीव आस-पास की ऊँचाइयों पर चढ़ेंगे और यदि ये ऊँचाइयाँ काफी हुई तो यूरोप के पर्वतों पर उत्तरी ध्रुवीय जीवों की भाँति उनमें से कुछ जीवित बच रहेंगी। यदि उनकी जलवायु इन जीवों के लिए एकदम ही अनुकूल न भी हुई, तो भी इनमें से कुछ को बच जाना चाहिए क्योंकि तापक्रम का अन्तर बहुत धीरे-धीरे होगा और इसमें सन्देह नहीं कि पौधों में नये वातावरण के प्रति अनुकूलन की कुछ शक्ति होती है। यह इसी बात से विदित है कि पौधे अपनी संतानों को गर्मी तथा ठंडक का सामना करने की शक्ति देते हैं।

घटनाचक्र के इसी प्रकार आगे बढ़ने पर फिर दक्षिणी गोलार्ध में हिमयुग आरम्भ होगा, और इस समय उत्तरी गोलार्ध में गरमी शुरू हो जायगी, और तब दक्षिणी

शीतोष्ण प्रदेश के जीव भूमध्यीय मैदानों में पहुँचेंगे। उत्तरी जीव, जो इसके पहले पर्वतों पर रह गये थे, अब नीचे उतर आएँगे और दक्षिणी जीवों के साथ मिल-जुल जाएँगे। जब गर्मी वापस आयी तो ये उत्तरी जीव अपने पुराने निवास स्थान पर लौट आये, किन्तु इनकी कुछ जातें पर्वतों पर छूट जाएँगी। जब ये दक्षिण गये, तो इनके साथ ही पर्वत से आनेवाले कुछ उत्तरी शीतोष्ण जीव भी बढ़ते गये। इस तरह उत्तरी तथा दक्षिणी शीतोष्ण प्रदेशों में और बीच के ऊष्ण प्रदेशों में कुछ समान जातें पायी जाएँगी। लेकिन जो जातें इतकी लंबी अवधि तक इन पर्वतों पर रहेंगी, या दूसरे गोलार्ध में, रहेंगी, उनको नयी जातों से प्रतियोगिता करनी होगी और दोनों को भिन्न दशाओं का सामना करना होगा। अत: उनमें आपरिवर्तन की काफी संभावना होगी और वर्तमान समय में इन्हें सामान्यत: भेदों या प्रतिनिधि जातों के रूप में मिलना चाहिए। और यही बात देखने में भी आती है। हमको यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विगत हिमयुग दोनों गोलार्धों में हुआ था, क्योंकि इसी कारण के आधार पर तथा समान सिद्धान्त के अनुसार हम यह समझ सकते हैं कि क्यों इन दोनों के दूर तथा पृथक् क्षेत्रों में वे स्पष्ट जातें पायी जाती हैं जो ऐसी जातियों के अन्तर्गत आती हैं जो स्वयं बीच के अत्यधिक ऊष्ण प्रदेश में नहीं पायी जातीं।

अमरीका के विषय में हूकर ने तथा आस्ट्रेलिया के लिए ऐल्फ्रेड डी कैण्डोल ने इस अद्‌भुत् बात पर जोर दिया है कि कई समान या कुछ ही आपरिवर्तित जातें दक्षिण से उत्तर की अपेक्षा उत्तर से दक्षिण की ओर अधिक गयी हैं। फिर भी हम कुछ दक्षिणी जातें बोर्नियो और एबीसीनिया के पर्वतों पर देखते हैं। हो सकता है कि उत्तर से दक्षिण की ओर इसलिए अधिक स्थानान्तरण हुआ हो कि दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में अधिक स्थल प्राप्त रहा हो और इसलिए भी कि उत्तरी जीवों के अपने ही निवास में अधिक संख्या में होने के कारण इनमें प्रतियोगिता अधिक हुई, जिसके फल-स्वरूप इनमें निर्वाचन और प्रगति हुई हो। और इस प्रकार जब दो समूह एक-दूसरे से हिमयुगों के एकान्तरण पर भूमध्यीय प्रदेश में मिलते हैं, तो प्रबल होने के कारण उत्तरी जातें पर्वतों पर अपनी जगह बनाये रहीं और बाद में दक्षिणी जातों के साथ दक्षिण की ओर बढ़ीं, किन्तु यही बात उत्तरी जातों के प्रति दक्षिणी जातों ने नहीं दिखायी। इसी प्रकार आज भी हम देखते हैं कि कई यूरोपीय जातें ला प्लाटा, न्यूज़ीलैंड आदि के स्थल और कुछ हद तक आस्ट्रेलिया के स्थल को ढँके हुए हैं और वहाँ की मौलिक जातें उनसे पराजित हो चुकी हैं। इसके विपरीत उत्तरी गोलार्ध के किसी भाग में इनी-गिनी दक्षिणी जातें जम पायी हैं, यद्यपि ऊन, खाल आदि ऐसे पदार्थ, जिनके साथ बीज आ सकें, पिछले दो-तीन वर्षों से बराबर ही ला प्लाटा से, और पिछले ४०-५०

वर्षों से आस्ट्रेलिया से आते रहे हैं। इस विषय में भारतवर्ष के नीलगिरी पहाड़ कुछ हद तक अपवाद हैं। डा० हूकर बताते हैं कि यहाँ आस्ट्रेलियन जातें तेजी से उग रही हैं और उनका प्रकृतिकरण हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि पिछले हिमयुग के पहले अन्तर-ऊष्ण पर्वत अल्पाइन जीवों से भरे थे। लेकिन बाद में इनका स्थान उत्तर में उत्पन्न होनेवाली प्रबल जातें ले रही हैं। कई द्वीपों में मूल जातों के बराबर ही वे जातें हो गयी हैं जिनका प्रकृतिकरण वहाँ बाद में हुआ है; बल्कि मूल जातों की संख्या बहुत कम हो गयी है। यह विलुप्तता की पहली सीढ़ी है। पर्वत एक प्रकार से स्थल पर स्थित द्वीप हैं, और उनके निवासी बहुधा उत्तर के विशाल क्षेत्रों के निवासियों द्वारा उसी तरह पराजित हुए हैं जिस तरह वास्तविक द्वीपों के निवासी बराबर महाद्वीपों के उन निवासियों के द्वारा पराजित हुए हैं, और हो रहे हैं जिनका मनुष्य के द्वारा प्रकृतिकरण हुआ है।

उत्तरी तथा दक्षिणी शीतोष्ण प्रदेशों में तथा अन्तर-ऊष्ण पर्वतों पर स्थलीय तथा समुद्री जीवों के वितरण पर भी वे ही सिद्धान्त लागू हैं। जब हिमयुग के कठिन काल में, समुद्र की धाराएँ आज की अपेक्षा बहुत भिन्न थीं, उस समय यह संभव है कि शीतोष्ण समुद्रों के कुछ निवासी भूमध्य रेखा पर पहुँच गये हों। इनमें से कुछ ठंडी धाराओं के साथ फौरन दक्षिण की ओर स्थानान्तरण कर गये होंगे और बाकी गहराई की ठंडक में तब तक अपनी रक्षा करते रहे होंगे जब तक दक्षिणी गोलार्ध में ठंडक न आ गयी होगी। फोर्ब्स के अनुसार आज भी उत्तरी शीतोष्ण समुद्रों में कहीं-कहीं काफी गहराई में कुछ उत्तरी ध्रुवीय जीव पाये जाते हैं।

मैं यह कदापि नहीं कहता कि समान या मिलती-जुलती जातों के उत्तर तथा दक्षिण में या बीच की पर्वत श्रेणियों पर पृथक् रूप से पाये जाने के संबंध की सारी कठिनाइयाँ ऊपर दिये मत के सामने से दूर हो जाती हैं। स्थानान्तरण की ठीक-ठीक दिशाएँ अब भी ज्ञात नहीं हैं। हम यह नहीं जानते कि क्यों कुछ जातों का स्थानान्तरण हुआ और कुछ का नहीं ? क्यों कुछ जातों में आपरिवर्तन हुआ और उससे कई जातों का निर्माण हुआ और कुछ अन्य जातों में आपरिवर्तन नहीं हुआ। वास्तव में हम इन प्रश्नों का उत्तर तब तक नहीं दे सकते जब तक हम यह न बता सकें कि विदेश में क्यों मनुष्य कुछ जातों का प्रकृतिकरण कर सकता है और कुछ का नहीं कर पाता; क्यों किसी एक ही प्रदेश में एक जात दूसरी की अपेक्षा दो-तीन गुना अधिक विस्तृत है या उसे दो-तीन गुना अधिक संख्या में पायी जाती है।

इनके अतिरिक्त कुछ विशेष कठिनाइयों का समाधान करना रह जाता है। उदाहरण के लिए डा० हूकर ने यह दिखाया है कि पौधों की कुछ समान जातें इतनी

दूर स्थित स्थानों में मिलती हैं जैसे केरग्यूलेन लैंड (Kerguelen Land), न्यूज़ीलैंड तथा फोजिया (Fuegia)। लेकिन जैसा लियेल ने कहा है, हो सकता है कि उनके वितरण में बर्फ की चट्टानों का उत्तरदायित्व हो। इससे अधिक अद्‌भुत् उदाहरण है दक्षिणी गोलार्ध के सुदूर स्थित स्थानों पर ऐसी जातियों की अलग जातों का मिलना जो पूर्णतः दूर दक्षिण में पायी जाती हैं। इनमें से कुछ जातें इतनी भिन्न हैं कि हिमयुग के समय से आज तक उनके स्थानान्तरण तथा आपरिवर्तन के लिए पर्याप्त समय नहीं जान पड़ता। इन बातों से यह संभावना जान पड़ती है कि एक ही जाति की विभिन्न जातों का स्थानान्तरण एक ही सामान्य केन्द्र से अनेक दिशाओं में हुआ है। और स्वयं मेरा झुकाव यह मानने की ओर है कि उत्तर की तरह दक्षिण में भी हिमयुग के पहले एक गर्म काल था जब कि दक्षिणी ध्रुवीय स्थल पर विभिन्न तथा लाक्षणिक प्रकार की वनस्पति पायी जाती थी; वर्तमान समय में यह स्थल निरन्तर बर्फ से ढका रहता है। यह भी संभव हो सकता है कि हिमयुग के आरम्भ होने के कारण इन वनस्पतियों का विनाश होने के पहले, इनमें से कुछ जातें यातायात के आकस्मिक साधनों की सहायता से दक्षिणी गोलार्ध के विभिन्न भागों में स्थानान्तरित हो चुकी थीं, इस क्रिया में छोटे-छोटे द्वीपों से भी सहायता मिली होगी जो आज पानी में डूब गये हैं किन्तु उस समय स्थानान्तरण के बीच विश्रामस्थानों का काम देते रहे होंगे। इस तरह अमरीका, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के दक्षिणी किनारों पर समान प्रकार के जीव पहुँच गये होंगे।

अपने एक लेख में सर सी० लियेल ने जीवों के भौगोलिक वितरण पर समस्त संसार में होने वाले जलवायु के भीषण परिवर्तन के संबंध में अपनी कल्पना का उल्लेख जिस भाषा में किया है वह बहुत कुछ मेरे उल्लेख के समान है। हमने मि० क्राल के इस निष्कर्ष से भी अब परिचय प्राप्त कर लिया है कि एक गोलार्ध में हिम युग के साथ दूसरे गोलार्ध में गरमी पड़ती है। इस निष्कर्ष के साथ ही जब हम इस बात पर भी ध्यान देते हैं कि जातों में क्रमिक आपरिवर्तन होता है, तो जातों के वितरण तथा पृथ्वी के विभिन्न भागों में सहसंबंधित जातों के वितरण पर बहुत प्रकाश पड़ता है। जीवों की धारा एक काल में उत्तर से दक्षिण की ओर बही और दूसरे में दक्षिण से उत्तर की ओर; और दोनों में ही ये धाराएँ भूमध्यरेखा पर पहुँचती रही हैं। किन्तु यह धारा उत्तर से दक्षिण की ओर अधिक वेग से गयी और इसलिए इसका प्रभाव भी दक्षिण पर ही अधिक पड़ा। जिस प्रकार ज्वार की धारा अपना चिह्न बड़ी लकीरों में छोड़ती है और तटों पर सबसे ऊँची उठती है, उसी तरह यह जीवमय धारा अपने चिह्न पर्वत की चोटियों पर लकीरों में छोड़ती है जो क्रमशः ध्रुवों से

भूमध्यरेखा की ओर बढ़ने पर ऊँची उठती जाती है। इस क्रिया में जो जीव यहाँ-वहाँ धारा के बाहर छूट जाते हैं, उनकी तुलना हम उन जंगली मनुष्यों से कर सकते हैं जो भागकर पर्वतों की खोहों में या ऐसी हर जगह पर अपनी जान बचाने का प्रयत्न करते हैं जहाँ वे पहुँच सकते हैं। और उनका अध्ययन हमको आस-पास के मैदानों के विगत निवासियों के विषय में महत्वपूर्ण बातें बताता है।

अध्याय तेरह

भौगोलिक वितरण (क्रमशः)

मीठे पानी के जीवों का वितरण—समुद्री द्वीपों के निवासी, उभयचरों तथा स्थली स्तनियों की अनुपस्थिति—द्वीपों के निवासियों का निकटतम महाद्वीपों के निवासियों से संबंध—निकटतम स्रोत से उपनिवेशीकरण और फिर आपरिवर्तन—बारहवें तथा इस अध्याय का सारांश।

मीठे पानी के जीव

चूँकि झीलें तथा नदियाँ साधारणतः एक-दूसरे से स्थल के द्वारा पृथक् रहती हैं, इसलिए यह सोचा जा सकता है कि किसी प्रदेश के मीठे पानी के जीव बहुत विस्तृत नहीं होंगे, और चूँकि समुद्रों द्वारा उत्पन्न की हुई रुकावट और भी कठिन मानी जाती है, इसलिए समझा जा सकता है कि सुदूर प्रदेशों में तो उनका विस्तार हो ही नहीं सकता। मगर बात इसके विपरीत है। इतना ही नहीं है कि विभिन्न वर्गों की कई मीठे पानी की जातें बहुत ही विस्तृत हैं, बल्कि सहसंबंधित जातें अद्भुत् रूप से सारे संसार में फैली हैं। जब मैं पहली बार ब्राज़ील की नदियों में जन्तु-संग्रह कर रहा था तो मुझको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनके कीट, कवच आदि आस-पास के स्थली जन्तुओं से बहुत भिन्न थे किन्तु ब्रिटेन के जन्तुओं से बहुत समान थे।

किन्तु मेरे विचार में मीठे पानी के जीवों को इतना अधिक बहुविस्तृत होने का कारण यह है कि वे बहुत उपयोगी रीति से एक तालाब से दूसरे में या एक नदी से दूसरी नदी में बहुधा स्थानान्तरित होने के लिए अनुकूलित हो गये हैं। इस सामर्थ्य के फलस्वरूप उनका बहुविस्तृत होना लगभग अनिवार्य है। हम यहाँ कुछ एक उदाहरणों पर ही विचार कर सकते हैं, और इनमें से सबसे कठिन उदाहरण मछलियों के हैं। पहले ऐसा विश्वास किया जाता था कि एक-दूसरे से दूर दो महाद्वीपों पर कभी मछली की कोई समान जात पायी ही नहीं जाती। लेकिन डा० गुँथर ने हाल में यह सिद्ध कर दिया है कि **गैलैक्सियस ऐटनुएटस** (Galaxias attenuatus) तस्मानिया, न्यूजीलैंड, फ़ाकलैंड द्वीपों तथा दक्षिणी अमरीका के मुख्य महाद्वीप पर मिलती है।

यह बड़ा ही आश्चर्यजनक उदाहरण है और संभवतः इससे यही जान पड़ता है कि विगत गरम काल में इस जात का स्थानान्तरण दक्षिणी ध्रुव पर स्थित किसी केन्द्र से हुआ था। लेकिन यह आश्चर्य कुछ कम हो जाता है जब हमको यह पता चलता है कि इस जाति के जन्तुओं में खुले समुद्र के भी लंबे चौड़े भाग को किसी अज्ञात विधि से पार करने की क्षमता है। जो भी हो, हमारे पास एक ऐसी जात का उदाहरण है जो न्यूज़ीलैंड से आकलैंड तक के द्वीपों में फैली है यद्यपि इनके बीच २३० मीलों का अन्तर है। उसी महाद्वीप में मीठे पानी की मछलियों का वितरण बहुत विस्तृत दिखाई पड़ता है और कुछ विचित्र होता है क्योंकि दो समीप पायी जानेवाली नदियों में कुछ जातें बिल्कुल ही समान होती हैं और कुछ बिल्कुल ही भिन्न।

यह संभव है कि कभी-कभी उनका यातायात ऐसी विधियों से होता हो जिनको आकस्मिक कहा जाता है। उदाहरण के लिए कभी-कभी मछलियाँ बवंडरों में पड़कर जीवित अवस्था में ही दूर-दूर चली जाती हैं। यह भी भलीभाँति ज्ञात है कि पानी से निकाले जाने के बाद भी मछली के अंडे बहुत दिनों तक जीते रहते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि उनका वितरण आधुनिक युग में ही स्थल के तल-परिवर्तन के कारण हुआ हो जिसके फलस्वरूप नदियाँ एक-दूसरे में मिल गयी हों। फिर बिना तल-परिवर्तन के ही बाढ़ों में भी बहुधा ऐसा हुआ है। लंबी पर्वत श्रेणियों के दोनों ओर मछलियाँ भिन्न होती हैं क्योंकि ऐसी श्रेणियों के कारण दोनों ओर की नदियाँ एक-दूसरे से मिलने नहीं पातीं। इस अवलोकन से हमारे निष्कर्ष की पुष्टि होती है। अनेक कारणों से हाल में डा० गुंथर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मछलियों में समान जातियों की सहन-शक्ति बहुत अधिक होती है। प्रयत्न करने पर खारे पानी की मछली मीठे पानी में रहने की अभ्यस्त हो सकती है, और वेलेन्सियेनीस (Valenciennes) के अनुसार ऐसा शायद ही कोई विभाजन हो जिसकी सभी जातें केवल मीठे पानी में ही रहती हों। अतः यदि मीठे पानी वाले विभाग की कोई समुद्री मछली समुद्र तट के किनारे किनारे दूर तक चली जाय तो संभव है कि बिना विशेष कठिनाई के वह किसी सुदूर प्रदेश में मीठे पानी में रहने के लिए अनुकूलित हो जाय।

कुछ मीठे पानी के कवचों की जातों का विस्तार भी बहुत होता है; और ऐसी मिलती-जुलती जातें जो हमारे मत के अनुसार एक ही पूर्वज से उत्पन्न हुई होंगी और एक ही केन्द्र से फैली होंगी, सारे संसार में मिलती हैं। चूँकि उनके अंडे पक्षियों द्वारा नहीं फैल सकते, इसलिए उनका विस्तार देखकर पहले मुझको बहुत आश्चर्य हुआ। फिर उनके अंडे और प्रौढ़ दोनों ही खारे पानी में फौरन मर जाते हैं। मैं यह भी नहीं समझ सकता कि ऐसी जातें, जिनका किसी प्रदेश में प्रकृतिकरण हुआ है, सारे प्रदेश में

कैसे फैल गयी हैं। किन्तु इस विषय पर मेरे दो अवलोकनों से कुछ प्रकाश पड़ता है। जब बत्तखें एकाएक तालाब से बाहर आती हैं तो उनकी पीठ पर बहुधा छोटी-छोटी वनस्पतियाँ चिपकी रहती हैं। और एक ऐसी ही बत्तख को एक ऐक्वेरियम से दूसरे में डालते समय मुझको यह विचार हुआ कि बिना जाने ही मैंने इस प्रकार एक के कवच दूसरे में पहुँचा दिये हैं। लेकिन संभव है कि इससे भी अधिक महत्वपूर्ण एक दूसरा साधन है: मैंने एक बत्तख की टाँगें ऐसे एक ऐक्वेरियम में लटका दीं जिसमें कई कवचों के अंडों का विकास हो रहा था; और मैंने देखा कि प्रत्येक टाँग पर अंडों से निकले सूक्ष्म कवच रेंग रहे थे। और ये बच्चे टाँगों से ऐसे चिपके थे कि आसानी से झटकने से भी नहीं गिरे, हालाँकि निश्चय ही बड़े होने पर वे गिर जाएँगे। जलीय प्रकृति के होने पर भी अंडों से ताजे-ताजे निकले ये मालस्क बत्तख की टाँगों पर ही बारह से बीस घंटों तक जीवित रहे। और इतनी देर में बत्तख या बगुला छः सात सौ मीटर दूर उड़ सकता है; और यदि अवसर से वह किसी समुद्री द्वीप पर पहुँच गया तो निश्चय ही उसको कोई तालाब या नदी मिल जायगी। सर चार्ल्स लियेल ने मुझको यह सूचना दी है कि उन्होंने एक डाइटिस्कस बीट्ल पकड़ी थी जिसकी टाँग में एक ताजे पानी का कवच ऐन्काइलस (Ancylus) कसकर चिपका था। और इसी वंश की एक दूसरी बीट्ल कोलिमबीट्स (Colymbetes) एक बार बीग्ल जहाज पर उड़कर आयी थी, जब जहाज स्थल से कम-से-कम पैंतालीस मील दूर था। यदि इसी समय अनुकूल तूफान आ जाता तो यह कितनी दूर पहुँचती, कौन कह सकता है।

पौधों के विषय में यह बहुत दिनों से ज्ञात है कि कई मीठे पानी तथा दलदल में उगने वाली जातें समस्त महाद्वीप पर और कभी-कभी आसपास के द्वीपों पर फैली होती हैं। ऐल्फ० डि कैंडोल के अनुसार इसका सबसे अद्भुत उदाहरण उन बड़े विभाजनों में मिलता है जिनके लगभग सभी सदस्य स्थली प्रवृत्ति के हैं और इने-गिने सदस्य जलीय हैं; इनके जलीय सदस्यों का विस्तार बहुत अधिक होता है। मैं समझता हूँ कि विकिरण के अनुकूल साधन ही इसके कारण हैं। पहले मैं लिख चुका हूँ कि बहुधा चिड़ियों की चोंच और पंजों से मिट्टी चिपक जाती है। तालाबों के किनारे के कीचड़ में रहने वाली चिड़ियों के पैर अधिकतर कीचड़ से सने रहते हैं। इस गण के पक्षी सबसे अधिक विचरते हैं और बहुधा वे समुद्र के बीच स्थित उजड़े द्वीपों पर मिलते हैं। समुद्र पर तो उनके उतरने की संभावना बहुत कम रहती है इसलिए यदि उनके पंजों में कुछ मिट्टी चिपकी है तो आसानी से धुलेगी नहीं। और फिर जब वे स्थल पर उतरेंगी तो स्वाभाविक है कि वे किसी नदी-तालाब पर पहुँच जायँगी। मैं समझता हूँ कि वनस्पति-विज्ञानवेत्ता यह नहीं जानते कि इस तरह की मिट्टी में

कितनी प्रकार के बीज हो सकते हैं। मैंने इस संबंध में कई छोटे-छोटे प्रयोग किये हैं किन्तु यहाँ एक दो का ही उल्लेख करूँगा। फरवरी में मैंने तीन अलग-अलग जगहों से तालाब के किनारे, पानी के नीचे से एक-एक चम्मच मिट्टी ली। सूखने पर इस मिट्टी का भार केवल ६$\frac{3}{4}$ औंस था। मैंने इस मिट्टी को अपने दफ्तर में छः महीने तक ढाँक कर रखा और जैसे-जैसे इसमें कोई बीजांकुर निकला, उसको गिन कर उखाड़ता गया। इस तरह ५३७ पौधे निकले और वे कई प्रकार के थे, यद्यपि यह चिपकनी मिट्टी एक प्याले से अधिक नहीं थी। इन बातों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जल-पक्षियों के होते हुए भी उनके द्वारा दूर-दूर स्थित तालावों या नदियों में पौधों के बीजों का न पहुँचना लगभग असंभव होगा। इसी साधन के द्वारा छोटे जन्तुओं के अंडों का यातायात भी होना बहुत संभव है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी अज्ञात साधनों के द्वारा यातायात हो सकता है। मैं लिख चुका हूँ कि मीठे पानी की मछलियाँ कुछ विशेष प्रकार के बीजों का भक्षण करती हैं, तथा कुछ अन्य प्रकार के बीजों को निगलने के बाद भी उगल देती हैं। छोटी मछलियाँ भी पानी की लिली, **पोटामोजेटान** (Potamogeton) आदि के साधारण नाप के बीज निगल जाती हैं। बगुले तथा अन्य चिड़ियाँ शताब्दियों से मछलियों का भक्षण करते आ रहे हैं। फिर वे उड़ कर दूसरी नदियों पर जाते हैं, या समुद्र पार उड़ जाते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि मल के साथ त्याग किये जाने के काफी समय बाद तक बीजों में उगने की शक्ति बनी रहती है। जब मैंने **नीलम्बियम** (Nelumbium) के जैसे सुन्दर पानी की लिली के बड़े-बड़े बीजों को देखा और इसके वितरण के संबंध में ऐल्फ० डि कैंडोल के कथन पर ध्यान दिया तो मुझको ऐसा लगा कि इसके विकिरण के साधन का पता शायद ही चल सके। लेकिन ऑडुबान का कहना है कि उसने दक्षिणी पानी की लिली (डा० हूकर के अनुसार संभवतः नीलम्बियम लूटियम) के बड़े-बड़े बीज बगुले के आमाशय में पाये। निश्चय ही यह पक्षी बीजों को आमाशय में भरे कई तालाबों तक उड़कर जा सकता है, और हर जगह मछलियों का भक्षण कर सकता है। अतः यह पूरी तरह संभव है कि मलत्याग के साथ ही वह बीजों का विकिरण करता जाय।

विकिरण के इन विविध साधनों पर विचार करने में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जब किसी तालाब का बनना प्रारम्भ होता है (जैसा किसी छोटे द्वीप के उत्थान के समय), तो उस समय वह बिना जन्तुओं या वनस्पतियों के होता है। ऐसी दशा में यदि इसमें एक भी बीज या अंडा पहुँचता है तो उसके द्वारा कुटुम्ब-विस्तार की बहुत अच्छी संभावना रहेगी। यद्यपि किसी तालाब में जीवों की संख्या बहुत कम होने

पर भी उनके बीच जीवन-संघर्ष होगा, फिर भी चूँकि काफी भरे हुए तालाब में भी जीवों की संख्या उतने ही नाप के स्थल की जीवन संख्या से कम होगी, अतः स्थल की अपेक्षा तालाब, नदी आदि में बाहर से किसी नये आये जीव की सफलता की संभावना भी अधिक होगी। यह भी याद रखना चाहिए कि कई मीठे पानी के जीव प्रकृति में बहुत निम्न स्तर में आते हैं और हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि उच्च जीवों की अपेक्षा इनमें आपरिवर्तन अधिक धीरे होता है—और इससे जलीय जातों के स्थानान्तरण के लिए समय मिल जायगा। हमको इस संभावना को भी आँख से ओझल नहीं होने देना चाहिए कि विगत समय में कई मीठे पानी के जीव बड़े-बड़े क्षेत्रों में बराबर से फैल रहे थे और केवल बाद में ही बीच-बीच में वे विलुप्त हो गये। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मीठे पानी के निम्न कोटि के जन्तुओं और पौधों का विस्तृत फैलाव स्पष्टतया तथा मुख्यतः उनके अंडों तथा बीजों के द्वारा, जन्तुओं के साधन से, ही हुआ है, चाहे वे जन्तु तथा पौधे अब अपने मूल रूप में पाये जाते हों या परिवर्तित रूप में। विकिरण करने वाले जन्तुओं में भी मीठे पानी की चिड़ियों का भाग प्रमुख होगा क्योंकि उनमें उड़ने की अद्वितीय शक्ति पायी जाती है जिसके कारण वे पानी के एक स्रोत से दूसरे में जाती रहती हैं।

महासागरों के द्वीपों के निवासी

मेरी समझ में जो बातें जीवों के वितरण के संबंध में हमारे मत के विरुद्ध सबसे अधिक कठिनाई प्रस्तुत करती हैं, अब हम उनमें से अंतिम प्रकार की बातों पर विचार करेंगे। आपको याद होगा कि हमारा मत यह है कि किसी जात के सब सदस्य तो किसी एक क्षेत्र से स्थानान्तरित हुए ही हैं, विभिन्न भागों में पायी जाने वाली सह-संबंधित सभी जातें किसी एक ही क्षेत्र से फैली हैं। इस क्षेत्र को हम इन सभी जातों के पूर्वजों का जन्मस्थान कह सकते हैं। मैं यह नहीं मानता कि वर्तमान जातों के जीवन काल में ही कभी महाद्वीप इतने विस्तृत थे कि विभिन्न महासागरों के सभी द्वीप अपने वर्तमान निवासियों से भरे थे—और अपने इस विश्वास के कारणों का उल्लेख कर चुका हूँ। इस मत से कई कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं; लेकिन द्वीपों की उत्पत्ति से संबंधित कई तथ्य इस मत के अनुकूल नहीं पड़ते। निम्नलिखित वक्तव्य में मैं अपने को केवल विकिरण के प्रश्न पर ही सीमित नहीं रखूँगा, बल्कि ऐसी कुछ बातों पर भी विचार करूँगा जिनका संबंध स्वतंत्र सृष्टि अथवा आपरिवर्तन के साथ वंशागति के मतों से भी है।

यदि हम महासागरों में स्थित द्वीपों तथा महाद्वीपों के दो बराबर क्षेत्रफल के भागों

की तुलना करें तो सदा द्वीपों पर जातों की कम संख्या देखेंगे। ऐल्फ० डि कैंडोल इस बात को पौधों के लिए तथा वोलास्टन कीटों के लिए सत्य मानते हैं। उदाहरण के लिए न्यूज़ीलैंड तथा उसके आसपास स्थित आँकलैंड, कैंपवेल तथा क्लैथम के द्वीपों में कुल मिलाकर ९६० प्रकार के फूलने वाले पौधे पाये जाते हैं, जबकि न्यूज़ीलैंड ७८० मील चौड़ा है और इसमें विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक दशाएँ पायी जाती हैं। यदि हम इस छोटी संख्या की तुलना दक्षिण-पश्चिम आस्ट्रेलिया, या केप ऑफ गुड-होप के बराबर क्षेत्रफल में पायी जाने वाली जातों की संख्या से करें, तो हमको यह मानना पड़ेगा कि भौतिक कारणों के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण भी है जिसके कारण इस संख्या में इतना अंतर है। कैम्ब्रिज जैसे समान प्रदेश में भी ८४७ प्रकार के पौधे पाये जाते हैं और ऐंगलीसिया (Anglesea) के छोटे द्वीप में ७६४ प्रकार के पौधे मिलते हैं—हाँ इस संख्या में मनुष्य द्वारा पहुँचाये कुछ फर्न भी शामिल हैं और इसलिए यह तुलना बिल्कुल ठीक नहीं है। हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि एसेन्शन (Ascension) के उजड़े द्वीपों में मूलतः फूलने वाले पौधों की आधे दर्जन से कम जातें पायी जाती थीं। लेकिन अब न्यूज़ीलैंड या अन्य किसी भी महासागर के द्वीप की भाँति इसमें भी न जाने कितनी नयी जातों के पौधे बस गये हैं। सेन्ट हेलेना के विषय में ऐसा विश्वास किया जाता है कि वहाँ बाद में पहुँचने वाले पौधों या जन्तुओं की जातों ने मूल निवासियों का उन्मूलन कर दिया है। प्रत्येक जात की स्वतंत्र सृष्टि में विश्वास करने वाले को यह मानना पड़ेगा कि महासागरों के द्वीपों के लिए पर्याप्त संख्या में उपयुक्त जातों के पौधों या जन्तुओं की सृष्टि ही नहीं हुई थी, तथा मनुष्य ने इन द्वीपों को प्रकृति की अपेक्षा कहीं भलीभाँति जीवों से भर दिया है।

यद्यपि महासागरों के द्वीपों में जातों की संख्या कम होती है, लेकिन अंतःसीमित (endemic) अर्थात् ऐसी जातों की संख्या जो संसार में और कहीं नहीं मिलती अपेक्षाकृत बहुत बड़ी होती है। उदाहरण के लिए यदि हम मडायरा को अंतः सीमित कवचों या गैलापैगोस द्वीप समूह की अंतः सीमित पक्षियों की जातों की संख्या की तुलना किसी महाद्वीप में इनकी जातों की संख्या से करें और फिर इन द्वीपों या महाद्वीप के क्षेत्रफल की भी तुलना करें, तो देखेंगे कि यह सत्य है। सैद्धान्तिक रूप से भी यही आशा की जानी चाहिए क्योंकि जैसा बताया जा चुका है, नये और पृथक् प्रदेशों में दूर से, काफी अवधियों के बाद पहुँचने वाली जातों में आपरिवर्तन होने तथा आपरिवर्तित संतानें उत्पन्न करने की संभावना अधिक होगी, क्योंकि उनको विशेष प्रतियोगिता करनी पड़ेगी, मगर इसके यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि यदि किसी द्वीप में किसी वर्ग विशेष की सभी जातें अलग होंगी, इसलिए दूसरे वर्ग या उसी वर्ग के

दूसरे विभाग की जातें भी अलग होंगी। यह अन्तर अंशतः इस बात पर निर्भर है कि ऐसी जातें जिनमें आपरिवर्तन नहीं हुआ है वे एक साथ ही स्थानान्तरित हुई हों, और इसलिए उनके परस्पर संबंध में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ हो; और अंशतः इस बात पर कि मुख्य द्वीप से (अर्थात् जो इन आगन्तुकों का स्रोत है) बराबर ही अपरिवर्तित जातें आती रहें। यह ध्यान में रखना चाहिए कि इनके परस्पर संकरण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली संतानें बलवान होंगी। अतः यदि संकरण कभी-कभी होता रहे तो उससे आशा से अधिक प्रभाव पड़ेगा। इस बात के मैं कुछ उदाहरण दूँगा। गैलापैगोस द्वीपों में स्थली पक्षियों की २६ जातें हैं, इनमें से २१ (या २३) अंतःसीमित हैं जब कि समुद्री पक्षियों की ११ जातों में से केवल २ ही ऐसी हैं। स्पष्ट है कि इन द्वीपों में बाहर से समुद्री जातों का, स्थली जातों की अपेक्षा, अधिक आगमन होता रहता है। इसके विपरीत बरमुड़ा में, जो उत्तरी अमरीका से उतनी ही दूर है जितना गैलापैगोस द्वीप दक्षिणी अमरीका से है तथा जिसकी मिट्टी विचित्र है, इसमें केवल एक ही स्थली पक्षी की जात अंतःसीमित है, और बरमुडा के संबंध में मि० एन० एम० जोन्स के अतुलनीय लेख से यह पता चलता है कि कई उत्तरी अमरीकी चिड़ियाँ बहुधा अथवा साधारणतः वहाँ पहुँचती रहती हैं। मि० ई० वी० हारकोर्ट ने मुझको सूचना दी है कि लगभग हर वर्ष कई अफ्रीकी या यूरोपीय चिड़ियाँ मडायरा उड़कर पहुँचती हैं। इस द्वीप पर ९९ प्रकार की चिड़ियाँ पायी जाती हैं जिनमें से केवल एक ही अंतःसीमित है, और यह भी एक यूरोपीय जात के बहुत समान है। इसकी ३-४ जातें केवल इस द्वीप तथा कैनारीज़ द्वीप पर मिलती हैं। स्पष्ट है कि बरमुडा तथा मडायरा के द्वीप युगों से आसपास के महाद्वीपों के पक्षियों से भरते रहे हैं, और परस्पर संघर्ष के कारण इनमें परस्पर अनुकूलन हो गया है। अतः जब ये ही पक्षी किसी नये निवासस्थान में पहुँचते हैं तो प्रत्येक जात दूसरी जातों को यथास्थान बनाये रखेगी जिसके फलस्वरूप उनमें शायद ही कुछ आपरिवर्तन हो सके। इसके अतिरिक्त आपरिवर्तन की रही-सही संभावना, आपरिवर्तिनहीन नव आगान्तुकों के साथ संकरण होने से नष्ट हो जाती है। मडायरा में अनेक प्रकार के अतःसीमित स्थलीय कवच भी पाये जाते हैं, यद्यपि समुद्री कवचों की एक भी अंतःसीमित जात इसके तटों पर नहीं मिलती। हम नहीं जानते कि समुद्री कवचों का विकिरण किस प्रकार होता है फिर भी यह समझ में आता है कि उनके अंडे या लार्वा संभवतः लकड़ी , समुद्री पौधों, समुद्री चिड़ियों की टाँगों आदि में चिपक कर समुद्र में सैकड़ों मील की दूरी तक जा सकते हैं। मडायरा में पाये जाने वाले विभिन्न गणों के कीटों में भी यही देखने को मिलता है।

कभी-कभी महासागरों के द्वीपों में कुछ विशेष वर्गों के जीव नहीं मिलते और उनकी जगह दूसरे वर्गों के जीव ले लेते हैं। उदाहरण के लिए गैलापैगोस द्वीपों में रेण्टाइल तथा न्यूजीलैंड में वृहताकार पंखहीन पक्षियों ने स्तनियों का स्थान ले रखा है या हाल में ले लिया है। यद्यपि यहाँ न्यूज़ीलैंड को महासागर का द्वीप कहा गया है, पर कुछ हद तक यह संदेहजनक है कि इसको ऐसा समझना चाहिए या नहीं। यह काफी बड़ा है और आस्ट्रेलिया से गहरे समुद्र से अलग नहीं है। इसके अतिरिक्त इसके भूतत्वीय लक्षणों तथा पर्वतश्रेणियों की दिशा के आधार पर रेवरेण्ड डव्ल्यू० बी० क्लार्क का मत है कि इस द्वीप तथा न्यू कैलिडोनिया को आस्ट्रेलिया के भाग मानना चाहिए। पौधों के विषय में डा० हूकर ने यह सिद्ध कर दिया है कि गैलापैगोस द्वीपों में विभिन्न गणों के अनुपात अन्य स्थानों से बिल्कुल भिन्न हैं। संख्या तथा कुछ वर्गों के जन्तुओं या वनस्पति से संबंधित अंतरों को बहुधा इन द्वीपों की भौतिक दशा की भिन्नताओं के आधार पर समझाया जाता है। किन्तु इस व्याख्या में बहुत संदेह है। मेरे विचार में आगन्तुकों के आने की सुविधा भी भौतिक दशाओं के बराबर ही महत्वपूर्ण है।

महासागरों के द्वीपों के संबंध में कई रोचक बातें यहाँ लिखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए कुछ ऐसे द्वीपों में जहाँ एक भी स्तनी निवास नहीं करता, बहुधा पौधों के बीजों में सुन्दर कँटियाँ पायी जाती हैं। पर हम जानते हैं कि बीजों में कँटियाँ साधारणतः चौपायों के रोम में फँसने के लिए होती हैं। किन्तु हो सकता है कि कँटियादार बीज किसी द्वीप में किसी अन्य साधन से पहुँच जायँ और फिर यद्यपि पौधा आपरिवर्तित तथा अंतःसीमित हो गया हो पर उसके बीजों के काँटे बने रह सकते हैं। वास्तव में इन व्यर्थ के काँटों की तुलना बीट्लों के ऊपर जुड़े हुए परों के नीचे पाये जाने वाले व्यर्थ सिकुड़े हुए परों से की जा सकती है। बहुधा द्वीपों पर ऐसे गणों की झाड़ियाँ या वृक्ष मिलते है जिनके अन्तर्गत अन्य जगहों पर केवल शाकें (herbs) होती हैं। ऐल्फ० डि कैंडोल ने यह सिद्ध कर दिया है कि, चाहे इसका कारण कुछ भी हो, वृक्षों का विस्तार सीमित होता है। अतः वृक्षों के महासागरों के द्वीपों में पहुँचने की संभावना बहुत कम होगी। इसके विपरीत किसी महाद्वीप पर शाकों को सुविकसित वृक्षों के साथ प्रतियोगिता में सफलता की संभावना बहुत कम होगी, लेकिन यदि ये ऐसे किसी द्वीप पर पहुँच जाते हैं तो संभवतः वहाँ के शाकों की अपेक्षा लंबे हो जाने से उनको सुविधा होगी और इसलिए वहाँ वे सफल हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा इनकी लंबाई में वृद्धि होगी और इसलिए चाहे वे किसी गण के हों, क्रमशः शाक से झाड़ी (shrub) का आकार धारण करेंगे और फिर वृक्ष का।

महासागरों के द्वीपों पर उभयचरों तथा स्तनियों की अनुपस्थिति

महासागर के द्वीपों पर पूरे-के-पूरे गणों की अनुपस्थिति के संबंध में बोरी सेन्ट विन्सेन्ट (Bory St. Vincent) ने बहुत पहले यह कहा था कि महासागर के बीच स्थित द्वीपों पर उभयचर (Batrachians) जैसे मेढक, टोड, न्यूट कभी नहीं पाये जाते। मैंने इस कथन की सत्यता की परीक्षा करने का प्रयत्न किया है और न्यूज़ीलैंड, न्यूकैलिडोनिया, अन्डमन द्वीपों और संभवतः सीचेलीस को छोड़कर बाकी द्वीपों के संबंध में इस कथन को सत्य पाया। लेकिन मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि यह बहुत संदेहजनक है कि न्यूज़ीलैंड तथा न्यूकैलिडोनिया को ऐसे द्वीप मानना चाहिए या नहीं; और अन्डमन तथा सालोमन समूहों और सीचेलीस के लिए तो यह और भी अधिक संदेहजनक है। मेढकों, टोडों या न्यूटों की इन द्वीपों से अनुपस्थिति केवल उनके भौतिक दशा के आधार पर नहीं समझी जा सकती। वास्तव में भौतिक दशा के दृष्टिकोण से तो ये द्वीप इन जन्तुओं के लिए विशेषतः उपयुक्त जान पड़ते हैं—मडायरा, एजोर और मारिशस द्वीपों में मेढक ले जाये गये हैं, और उनकी खूब वृद्धि हुई है। मगर चूँकि ये जन्तु तथा इनके अंड-समूह समुद्र-जल में तत्काल मर जाते हैं (कदाचित् एक भारतीय जात को छोड़कर) इसलिए इनके समुद्र लाँघ कर द्वीपों पर पहुँचने में बहुत कठिनाई होगी। और यही कारण है जिससे ये इन द्वीपों पर नहीं दिखाई पड़ते। किन्तु स्वतंत्र सृष्टि के सिद्धान्त के अनुसार इनकी सृष्टि वहाँ न होना बहुत विचित्र जान पड़ती है!

कुछ ऐसा ही मिलता-जुलता उदाहरण स्तनियों का है। मैंने ध्यान से पुराने से पुरानी समुद्र-यात्रा के वर्णन पढ़े हैं और मुझको एक भी ऐसा संदेहरहित उल्लेख नहीं मिला जिससे मालूम हो कि किसी महाद्वीप से ३०० मील से अधिक दूरी पर स्थित किसी द्वीप में पालतू स्तनियों के अतिरिक्त कोई भी स्तनी पाया गया हो। इससे कम दूरी के भी कई द्वीप पूरी तरह स्तनीरहित हैं। इस संबंध में केवल एक ही अपवाद है—फ़ाकलैंड द्वीपों में भेड़िये-जैसी एक लोमड़ी पायी जाती है। लेकिन इन द्वीपों को महासागर के द्वीप नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये मुख्य द्वीप से केवल २८० मील दूर हैं। इसके अतिरिक्त बर्फ की चट्टानें पहले इसके पश्चिमी तट पर बह कर आती रही हैं और हो सकता है कि, जैसा इस समय उत्तरी ध्रुव प्रदेश में होता है, लोमड़ियाँ इन्हीं के द्वारा यहाँ आ गयी हों। फिर यह नहीं कहा जा सकता कि छोटे द्वीपों पर छोटे स्तनी नहीं पाये जा सकते क्योंकि महाद्वीपों के पास होने पर छोटे-से-छोटे द्वीपों पर भी ये मिलते हैं और एक भी ऐसे द्वीप का उदाहरण नहीं दिया जा

सकता जिस पर पहुँचने पर पालतू चौपाये बस न गये हों, और प्रगुणित न हुए हों। सृष्टि के मत के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि स्तनियों की सृष्टि के लिए समय नहीं मिला। भूतत्वीय प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि कई ज्वालामुखी द्वीप बहुत प्राचीन हैं। फिर अन्य वर्गों की अंत:सीमित जातों की उत्पत्ति के लिए तो पर्याप्त समय था; और यह भी विदित है कि महाद्वीपों पर स्तनियों की जातों की उत्पत्ति तथा विनाश में निम्न कोटि के जन्तुओं की अपेक्षा कम समय लगता है। यद्यपि स्थलीय स्तनी ऐसे द्वीपों पर नहीं पाये जाते, पर वायवीय स्तनी लगभग हर द्वीप पर मिलते हैं। न्यूज़ीलैंड में दो ऐसे चमगादड़ मिलते हैं, जो संसार में अन्यत्र नहीं मिलते; नारफोक द्वीप, विटी द्वीपसमूह, बोनिद्वीपों, कैरोलीन तथा मरियान द्वीपसमूह तथा मारिशस—प्रत्येक में उनके अंत:सीमित चमगादड़ मिलते हैं? क्या यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि उस काल्पनिक सृष्टिकर्ता शक्ति ने इन दूरस्थित द्वीपों पर चमगादड़ तो बनाये लेकिन और कोई स्तनी नहीं बनाये? मेरे मत के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर आसानी से दिया जा सकता है—कोई स्थलीय स्तनी विशाल समुद्र नहीं पार कर सकता, किन्तु चमगादड़ उड़कर वहाँ पहुँच सकता है। दिन में चमगादड़ एटलांटिक महासागर पर उड़ते देखे गये हैं, और इनकी दो उत्तरी अमरीकी जातें नियमित रूप से या कभी-कभी मुख्य द्वीप से ६०० मील की दूरी पर स्थित बरमुडा जाती हैं। मि० टोम्स, जिन्होंने इस वंश का विशेष अध्ययन किया है, मुझको बताते हैं कि इनकी कई जातें बहुत लंबी उड़ानें ले सकती हैं, और महाद्वीपों तथा बहूत दूर स्थित द्वीपों पर पायी जाती हैं। अतः हमको केवल इतनी ही कल्पना करनी है कि इस तरह विचरने वाली जातों का, उनके नये निवासस्थान में नयी स्थिति के अनुसार आपरिवर्तन हो गया है जिसके फलस्वरूप अंत:सीमित जातों का निर्माण हो गया है। इसीलिए जहाँ ऐसे द्वीपों पर चमगादड़ मिलते हैं वहाँ अन्य स्तनी नहीं पाये जाते।

एक दूसरा रोचक संबंध भी पाया जाता है—वह है विभिन्न द्वीपों या किसी द्वीप तथा महाद्वीपों को अलग करने वाले समुद्र की गहराई तथा उनके स्तनी निवासियों का संबंध। इस विषय में मि० विण्डसर अर्ल ने कुछ महत्वपूर्ण अवलोकन किये हैं और बाद में मि० वालेस की प्रशंसनीय खोजों से उनकी और भी पुष्टि तथा विस्तार हुआ। मि० वालेस की खोजें मलाया द्वीपसमूह में की गयी हैं। सेलेबीज के निकट इस द्वीपसमूह के बीच काफी गहरा समुद्र है जिसके कारण इनके भिन्न स्तनी जन्तु एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् हो गये हैं। द्वीपों के दोनों ओर के तट कुछ हद तक समुद्र में डूबे हुए हैं और द्वीपों पर लगभग एक जैसे चौपाये पाये जाते हैं। मुझको संसार

के सभी भागों में इस विषय का अध्ययन करने का अवकाश नहीं मिला है किन्तु जहाँ तक मैं जा पाया हूँ, यही संबंध दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन यूरोप से एक पतले समुद्र द्वारा अलग है, और उसके दोनों ओर के स्तनी समान हैं। यही बात आस्ट्रेलिया के तट के आसपास स्थित द्वीपों के साथ भी पायी जाती है। इसके विपरीत वेस्ट इण्डीज़ द्वीपों के डूबे हुए तट लगभग १००० फैदम गहरे हैं। यहाँ हमको साधारणतः अमरीकी जन्तु मिलते हैं किन्तु स्तनियों की जातें तथा जातियाँ दोनों ही भिन्न हैं। हम जानते हैं कि विभिन्न प्रकार के जन्तुओं में आपरिवर्तन की मात्रा कुछ अंश तक विगत काल की लंबाई के ऊपर निर्भर है, हम यह भी जानते हैं कि एक-दूसरे से या महाद्वीप से आज उथले समुद्रों द्वारा पृथक् किये हुए द्वीप संभवतः आधुनिक युग में ही एक-दूसरे से जुड़े थे ; और गहरे समुद्रों से अलग किये हुए द्वीप एक-दूसरे से पहले ही अलग हो चुके थे, अतः हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि क्योंकर समुद्र की गहराई तथा पृथक् द्वीपों के जन्तुओं के बीच एक प्रकार का संबंध पाया जाता है। स्पष्ट है कि यह संबंध सृष्टि के मत के आधार पर नहीं समझाया जा सकता।

मेरे विचार में महासागरों में स्थित द्वीपों के संबंध में ऊपर दिये गये विभिन्न तथ्य अर्थात् द्वीपों पर जातों की पूरी संख्या का कम होना किन्तु अंतःसीमित जातों का आधिक्य; एक ही वर्ग के कुछ सदस्यों का आपरिवर्तित होना और दूसरों का न होना; वायवीय चमगादड़ों की उपस्थिति किन्तु कुछ समस्त गणों—जैसे उभयचरों तथा स्थलीय स्तनियों की पूर्ण अनुपस्थिति; वनस्पतियों के कुछ गणों के विचित्र अनुपात; शाकों का वृक्षों में विकास आदि मेरे विचार में इस विश्वास की पुष्टि करते हैं कि कालान्तर में यातायात के आकस्मिक साधन भी बहुत सफल रहे हैं, न कि इस विचार की कि विगत काल में महासागरों के द्वीप एक-दूसरे से तथा महाद्वीपों से जुड़े थे , क्योंकि दूसरे मत के अनुसार यह संभव होगा कि विभिन्न वर्गों का स्थानान्तरण समान हुआ था और चूँकि कई जातों का आगमन साथ ही होने पर उनके परस्पर संबंधों में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए—और ऐसी दशा में या तो जातों में कोई आपरिवर्तन नहीं होना चाहिए, या प्रत्येक में बराबर आपरिवर्तन होना चाहिए।

मैं यह अस्वीकार नहीं करता कि यह समझने में अब भी कई गंभीर कठिनाइयाँ हैं कि अधिक दूर स्थित द्वीपों के अनेक निवासी अपनी जातों का लाक्षणिक स्वरूप बनाये रहते हुए भी कैसे अपने वर्तमान निवासस्थानों में पहुँच सके। किन्तु इस संबंध में हमको यह संभावना भी याद रखनी चाहिए कि किसी समय समुद्रों के बीच में ऐसे द्वीप रहे हों जिनका उपयोग जीवों ने विश्रामस्थलों के रूप में किया हो और जिनका अब चिह्न भी न रह गया हो। लगभग सभी महासागरों के द्वीप, यहाँ तक कि सबसे

छोटे और पृथक् द्वीप भी स्थलीय कवचों से भरे होते हैं जिनमें से अधिकांश अतः-सीमित होते हैं, किन्तु कुछ अन्यत्र भी पाये जाते हैं। इनके कुछ अद्‌भुत् उदाहरण डा० ए० ए० गूल्ड ने प्रशान्त सागर के द्वीपों के विषय में दिये हैं। यह भलीभाँति विदित है कि स्थलीय कवच समुद्र-जल में आसानी से मर जाते हैं। उनके अंडों की परीक्षा मैंने की है। वे डूब जाते हैं और मर जाते हैं। फिर भी उनके यातायात के कुछ अज्ञात आकस्मिक साधन हो सकते हैं। संभव है कि अंडे से तत्काल निकलने वाले बच्चे पृथ्वी पर बैठे पक्षियों के पंजों से चिपक कर दूसरी जगहों पर पहुँच जायँ। मुझको यह ध्यान हुआ कि सुप्तावस्था में होने पर जब स्थली घोघों के कवचों के मुँह पर एक झिल्ली मढ़ी होती है, उस समय लकड़ी की दरारों में फँसे-फँसे वे लकड़ी के साथ ही समुद्र में बह जाते हों। और बाद में परीक्षा करके मैंने देखा कि कई जातें इस स्थिति में लगभग सात दिनों तक समुद्र में जीवित रह सकती हैं। **हेलिक्स पोमेशिया** (Helix pomatia) जात का एक कवच इस तरह पानी में रहने के बाद फिर सुप्तावस्था में रहा और इसके बाद पुनः बीस दिनों तक वह समुद्र-जल में डाला गया और फिर भी जीवित रहा। इस अवधि में यह कवच साधारण समुद्र के प्रवाह में पड़ कर लगभग ६६० मील तक बहकर जा सकता है। चूँकि हेलिक्स के कवच का ढकना चूर्णियत पदार्थ का था, मैंने इस ढकने को अलग कर दिया और जब इसने झिल्ली का दूसरा ढकना तैयार कर लिया तो फिर मैंने उसको समुद्र-जल में चौदह दिन डाल रखा था। इस अवधि के बाद बाहर निकालने पर फिर वह रेंग कर चला गया। बैरन ओकापितेन (Baron Aucapitaine) ने बाद में ऐसे ही कई प्रयोग किये। उन्होंने दस जातों के १०० स्थली-कवचों को एक छेदीले डिब्बे में भरकर पंद्रह दिनों तक समुद्र में डाल रखा था। निकालने पर सौ में से सत्ताईस जीवित निकले। ढकने की उपस्थिति इस संबंध में महत्वपूर्ण जान पड़ती है क्योंकि **साइक्लास्टोमा एलिगेंस** (Cyclostoma elegans) के बारह कवचों में से ग्यारह जीवित रहे—उनमें ढकने होते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि मेरे हेलिक्स पोमोशिया के प्रयोग में यह कवच इतना दृढ़ था, ओका-पितेन के प्रयोग में हेलिक्स की चार जातों में से एक भी नहीं बची। इससे पता चलता है कि इनका यातायात संभवतः इस विधि से बिल्कुल नहीं होता है और पक्षियों के पंजों में चिपक कर ही इनके इधर-उधर जाने की संभावना है।

द्वीपों तथा निकटतम महाद्वीप के निवासियों के संबंध

हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण तथा रोचक बात इन द्वीपों तथा निकटतम महाद्वीपों

के जीवों का बन्धुत्व है, जब कि दोनों की जातें बिल्कुल समान नहीं होतीं। इस बात के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। भूमध्य रेखा के निकट स्थित गैलापैगोज द्वीपसमह दक्षिणी अमरीका के तटों से कम-से-कम ५००-६०० मील की दूरी पर है। इसके लगभग सभी जलीय तथा स्थलीय निवासियों पर अमरीकी महाद्वीप की छाप मिलती है। उदाहरण के लिए, यहाँ स्थलीय पक्षियों की छब्बीस जातें मिलती हैं : इनमें से इक्कीस, या संभवतः तेईस अंतःसीमित जातें हैं और अनुमान किया जाता है कि इनकी उत्पत्ति यहीं हुई होगी। फिर भी इन जातों का अमरीकी जातों के साथ बन्धुत्व अनेक लक्षणों के द्वारा बिल्कुल ही स्पष्ट है—यहाँ तक कि उनके स्वभाव और ध्वनि भी समान हैं। यही बात अन्य जन्तुओं के साथ भी है, और जैसा डा० हूकर ने इस द्वीपसमूह की वनस्पति के उल्लेख में सिद्ध कर दिया है, पौधों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। वास्तव में अमरीकी महाद्वीप से सैकड़ों मील दूर प्रशान्त महासागर में स्थित इन ज्वालामुखी द्वीपों पर खड़ा होकर कोई भी प्रकृतिवादी यही समझेगा कि वह किसी पृथक् द्वीप पर नहीं, बल्कि अमरीकी महाद्वीप पर ही खड़ा है। ऐसा क्यों है ? क्यों वे जातें जो इन्हीं द्वीपों पर ही उत्पन्न हुई हैं, और अन्यत्र कहीं नहीं, उन पर अमरीका में उत्पन्न होने की स्पष्ट छाप पायी जाती है ? दक्षिणी अमरीका और इन द्वीपों की जीवन की दशाओं, भूतत्वीय दशाओं, ऊँचाई, जलवायु, विभिन्न वर्गों के जीवों के अनुपात इत्यादि में किसी प्रकार की विशेष समानता नहीं है, बल्कि इन बातों में दोनों में काफी भिन्नता है। दूसरी ओर गैलापैगोज़ द्वीपों तथा केपवर्दे द्वीपसमूह की ज्वालामुखी मिट्टी, जलवायु, ऊँचाई, द्वीपों की नाप आदि में काफी समानता है—लेकिन इन दोनों के जीवित निवासियों के बीच विशाल अन्तर है। जहाँ गैला-पैगोज़ के जीव अमरीका के जीवों के समान हैं, वहाँ केपवर्दे द्वीपों के जीव अफ्रीका के जीवों के समान हैं। स्वतंत्र सृष्टि के सिद्धान्त के आधार पर इस प्रकार के तथ्यों की व्याख्या निश्चय ही नहीं की जा सकती। इसके विपरीत यहाँ दिये गये मतों के अनुसार गैलापैगोज़ द्वीपों पर अमरीका के जीव पहुँचे—चाहे यातायात के आकस्मिक साधनों के द्वारा या विगत काल में द्वीपों के महाद्वीप से जुड़े होने के कारण (यद्यपि मैं स्वयं इससे सहमत नहीं हूँ), इसी प्रकार केपवर्दे द्वीपों पर अफ्रीका के जीव पहुँचे। और इस तरह आये हुए जीवों में हमारे सिद्धान्तों के अनुसार ऐसे आपरिवर्तन हुए जिनके कारण उनके जन्मस्थान के जीवों से वे भिन्न हो गये।

इसी तरह के और भी तथ्य दिये जा सकते हैं : वास्तव में यह विश्वव्यापी नियम है कि द्वीपों के अंतःसीमित जीव निकटतम महाद्वीप या बड़े द्वीप से संबंधित होते हैं। इस नियम के इने-गिने अपवाद हैं और इनकी व्याख्या की जा सकती है। उदाहरण

के लिए यद्यपि केरगुयेलेन लैंड अमरीका की अपेक्षा अफ्रीका के अधिक निकट है किन्तु डा० हूकर के उल्लेख से पता चलता है कि उसकी वनस्पति अमरीका की वनस्पति से बहुत घनिष्ठ रूप से संबंधित है। किन्तु यह कठिनाई दूर हो जाती है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि इन वनस्पतियों के बीज बर्फ की चट्टानों के साथ समुद्र के बहाव के साथ यहाँ पहुँचे होंगे। अंतःसीमित पौधों के विषय में न्यूज़ीलैण्ड अन्य किसी महाद्वीप की अपेक्षा आस्ट्रेलिया से अधिक संबंधित है, और ऐसी ही आशा भी करनी चाहिए। किन्तु साथ ही यह दक्षिणी अमरीका से भी संबंधित है, और आस्ट्रेलिया के बाद यही महाद्वीप न्यूज़ीलैण्ड के ही सबसे निकट है, किन्तु दोनों की दूरी इतनी अधिक है कि यह संबंध समझ में नहीं आता। किन्तु इस कठिनाई का भी बहुत-कुछ निवारण हो जाता है यदि हम इस मत पर विश्वास करें कि न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिणी अमरीका तथा अन्य दक्षिणी स्थलों पर किसी एक ही दूर स्थित, दक्षिणी ध्रुव द्वीपों के केन्द्र से जीवों का स्थानान्तरण हुआ—और यह स्थानान्तरण संभवतः उस समय हुआ जब अन्तिम हिमयुग के आरम्भ के पूर्व इस भूभाग में गर्म काल चल रहा था तथा ये दक्षिणी ध्रुवीय द्वीप वनस्पति से भरे थे। डा० हूकर के अनुसार आस्ट्रेलिया के दक्षिणी-पश्चिमी कोने तथा केप ऑफ गुडहोप की वनस्पति का बन्धुत्व वास्तव में विलक्षण है, लेकिन यह बन्धुत्व केवल वनस्पति तक सीमित है और निश्चय ही किसी दिन इसका भी समाधान हो जायगा।

जिस नियम पर द्वीपों तथा निकटतम महाद्वीप के निवासियों के संबंध आधारित हैं, कभी-कभी वही नियम कुछ और भी रोचक ढंग से एक ही द्वीपसमूह के विभिन्न द्वीपों के निवासियों के बीच दिखायी पड़ता है। उदाहरण के लिए गैलापैगोज़ द्वीपसमूह के अलग-अलग द्वीपों में भी कई पृथक् जातें पायी जाती हैं; किन्तु इन जातों के परस्पर संबंध, इन जातों तथा अमरीकी महाद्वीप के निवासियों के संबंध की अपेक्षा बहुत घनिष्ठ हैं। ऐसी आशा भी करनी चाहिए, क्योंकि इतने निकट स्थित द्वीपों पर निश्चय ही एक ही स्रोत से तथा एक दूसरे द्वीप से आगन्तुक आएँगे। फिर एक ही ऊँचाई, जलवायु तथा भूतत्वीय दशाओं वाले एक दूसरे के इतने निकट स्थित द्वीपों पर आने वाले आगन्तुकों का आपरिवर्तन कुछ भिन्न रीति से कैसे हुआ? बहुत दिनों तक मुझको यह कठिनाई बहुत गंभीर जान पड़ती रही; लेकिन इसका मुख्य कारण यह है कि हम बराबर ही यह गलती करते रहे हैं कि किसी स्थान की भौतिक अवस्था को ही सबसे महत्वपूर्ण समझते रहे हैं। यह मानना होगा कि जिन जातों के साथ किसी जात की प्रतियोगिता होती है, वे भी कम-से-कम भौतिक दशाओं के बराबर महत्वपूर्ण हैं, यदि उनसे अधिक महत्वपूर्ण नहीं। अब हम यदि उन जातों पर ध्यान दें जो गैलापैगोज़ द्वीपों तथा संसार के अन्य भागों में पायी जाती हैं, तो देखेंगे कि वे भिन्न-भिन्न द्वीपों पर

काफी भिन्न हैं। यदि द्वीपों पर जीवों का आगमन आकस्मिक साधनों से हुआ है, तो इस तरह के अन्तरों का होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए यदि किसी एक पौधे का बीज एक द्वीप पर पहुँच जाता है, और दूसरे पौधे का दूसरे द्वीप पर, तो एक ही स्रोत से प्राप्त होने पर, उनके कारण दोनों द्वीपों पर अलग-अलग जातें उत्पन्न होंगी। अतः विगत काल में जब कोई आगन्तुक किसी एक द्वीप पर पहुँचा होगा, या जब बाद में वह अन्य द्वीपों पर फैला होगा तो अलग-अलग द्वीपों पर उसको अलग-अलग जीवों से प्रतियोगिता करनी पड़ी होगी। भिन्न-भिन्न द्वीपों पर उसको भिन्न प्रकार के नाशकारी जीव-जन्तुओं का सामना करना पड़ा होगा और भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों के साथ बढ़ना या खाद्य में साझा करना पड़ा होगा। अतः यदि उसमें परिवर्तन हुए होंगे, तो प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा भिन्न-भिन्न द्वीपों पर भिन्न-भिन्न भेदों को सफलता मिली होगी। फिर भी संभव है कि कुछ जातें विस्तृत होने के साथ ही समस्त द्वीपसमूह में अपने लक्षण समान रूप से बनाये रही हों—ठीक जैसे कुछ जातें समस्त महाद्वीप पर फैल जाती हैं और हर स्थान पर समान बनी रहती हैं।

गैलापैगोज़ द्वीपसमूह, और कुछ अंशों तक अन्य समूहों के संबंध में जो बात वास्तव में विचित्र है वह यह है कि किसी एक द्वीप में उत्पन्न होने के बाद वहाँ की नयी जात अन्य द्वीपों पर शीघ्रता से फैली नहीं। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि हालाँकि उसका एक द्वीप दूसरे से दिखाई पड़ता है, पर बहुधा उनके बीच का समुद्र इंगलिश चैनेल से अधिक चौड़ा और काफी गहरा है; और इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पहले भी वे सतत् रहे हैं। फिर समुद्र में तेज धारा है जो द्वीपों के बीच बहती है और तूफान बहुत विरले आते हैं। इस तरह जीवों के यातायात के दृष्टिकोण से ये द्वीप एक दूसरे से जैसा नक्शे से जान पड़ता है उससे अधिक सफलतापूर्वक पृथक् किये हुए हैं। फिर भी ऐसी कुछ जातें हैं जो द्वीपसमूह के लगभग हर द्वीप पर पायी जाती हैं, और इनमें अंतःसीमित जातें भी हैं, और ऐसी भी जो संसार के अन्य भागों में पायी जाती हैं। इनके वर्तमान वितरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनका वितरण एक द्वीप से दूसरे पर हुआ है। मगर मैं समझता हूँ कि बहुधा सहसंबंधित जातों को यातायात की स्वतंत्रता प्राप्त होने पर एक दूसरे के क्षेत्र पर आक्रमण करने के संबंध में हमारी धारणा गलत होती है। इसमें संदेह नहीं कि यदि किसी जात को दूसरी जात की अपेक्षा सुविधा प्राप्त है, तो कुछ ही काल में वह अंशतः या पूर्णतः उसका स्थान ले लेगी। लेकिन यदि दोनों ही जातें अपने-अपने स्थान के लिए बराबर उपयुक्त हैं तो संभावना यही है कि बहुत लंबे काल तक दोनों अपने-अपने स्थान पर अधिकृत रहेंगी। यह जानते हुए कि मनुष्य द्वारा पहुँचायी हुई कई जातें दूर-दूर तक अद्भुत तीव्रता से

फैल गयी हैं, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि अधिकांश जातें इसी तरह फैल जाएँगी। मगर हमको यह याद रखना चाहिए कि नये प्रदेशों में जिन जातों का प्राकृतीकरण होता है, वे बहुधा वहाँ की मौलिक जातों से अधिक संबंधित नहीं होतीं, बल्कि उनसे बहुत पृथक् होती हैं और जैसा ऐल्फ० डि कैंडोल ने सिद्ध किया है बहुधा वे अलग जातियाँ होती हैं। गैलापैगोज़ द्वीपों में तो चिड़ियाँ भी एक द्वीप से दूसरे में भिन्न हैं, यद्यपि वे आसानी से एक द्वीप से दूसरे पर पहुँच सकती हैं। इस तरह नकल करने वाली बुलबुल की तीन सहसंबंधित जातें द्वीप-समूह में भी पायी जाती हैं और प्रत्येक जात एक अलग द्वीप पर सीमित है। अब मान लीजिए कि चैथम द्वीप की यह बुलबुल चार्ल्स द्वीप पर पहुँच जाती है, जहाँ इसकी अपनी एक जात पहले से मौजूद है। ऐसी दशा में क्योंकर चार्ल्स द्वीप पर चैथम द्वीप की बुलबुल अधिकृत हो सकेगी? चूँकि प्रत्येक वर्ष चार्ल्स द्वीप पर इस जात के इतने अंडे और बच्चे उत्पन्न होते हैं कि उनका वहाँ पोषण नहीं हो पाता, इसलिए हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि यह द्वीप इस जात से पूरी तरह भरा है। साथ ही हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि चार्ल्स द्वीप की बुलबुल चार्ल्स द्वीप पर रहने के लिए कम-से-कम इतनी उपयुक्त है, जितनी चैथम द्वीप की बुलबुल यहाँ रहने के लिए है। सर सी० लियेल तथा मि० वोलास्टन ने इस विषय पर मुझको कुछ विलक्षण बातें लिखी हैं। उन्होंने बताया है कि मडायरा तथा उसके निकट स्थित पोर्टो सैन्टो द्वीप पर स्थल-कवचों की कई पृथक् किन्तु प्रतिनिधि जातें पायी जाती हैं। इनमें से कुछ जातें पत्थरों की दरारों में रहती हैं; और यद्यपि हर वर्ष पोर्टो सैन्टो से पत्थर की बड़ी मात्रा मडायरा जाती है, किन्तु अब तक मडायरा में पोर्टो सैन्टो की जात नहीं पायी गयी। साथ ही दोनों द्वीपों पर स्थल-कवचों की यूरोपीय जातें बस गयी हैं, जिससे पता चलता है कि यूरोपीय जातों को मूल जातों पर निश्चय ही कुछ सुविधा प्राप्त थी। इन विचारों के आधार पर मुझको ऐसा लगता है कि गैलापैगोज़ समूह के एक द्वीप से दूसरे पर उनके अंतःसीमित जातों के न जा सकने में हमको कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। संभवतः एक ही महाद्वीप के विभिन्न प्रदेशों की पृथक् जातों के एक दूसरे से न मिल सकने का भी यही कारण है, अर्थात् इन प्रदेशों में जो जातें पहले ही पहुँच कर अधिकार कर सकीं और अनुकूल रहीं, उन्हीं का आधिपत्य वहाँ बना रहा, हालाँकि भौतिक दृष्टिकोण से वे समान थे। आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिम भाग की भौतिक दशा समान है और दोनों प्रदेशों के बीच सतत स्थल है, फिर भी उनमें अनगिनती भिन्न स्तनी, पक्षी और पौधे पाये जाते हैं। मि० बेट्स के अनुसार यही बात अमेज़न की विशाल, खुली और सतत घाटी की तितलियों और अन्य जन्तुओं के साथ भी है।

महासागरों के द्वीपों के निवासियों के सामान्य लक्षण जिस नियम पर आधारित हैं वह है द्वीपों का उनके उस स्रोत से संबंध जिससे आगन्तुक आसानी से आ सकते थे, तथा उन आगन्तुकों के आपरिवर्तन। समस्त सृष्टि में यह नियम विस्तार में लागू है। हम इस नियम को पर्वतों की प्रत्येक चोटी तथा प्रत्येक झील में देखते हैं। उदाहरण के लिए, सिवाय इसके कि हिमयुग में जातों का विस्तार बढ़ गया है, हम देखते हैं कि ऐल्पाइन जातें आसपास के मैदानों से ही संबंधित हैं। अतः दक्षिणी अमरीका में ऐल्पाइन चिड़ियाँ, चूहे आदि पाये जाते हैं जो पूर्णतः अमरीकी जन्तु हैं। यह स्पष्ट है कि जब कोई पर्वत धीरे-धीरे बना तो क्रमशः इस पर आसपास की निचली जमीन के जीव चले जाते हैं। यही बात झीलों तथा दलदल के जीवों के साथ भी सत्य है, यद्यपि यातायात की सुविधा के कारण वे संसार के बड़े भाग में फैल गये हैं। यही नियम अमरीका तथा यूरोप की खोहों में पाये जाने वाले अन्धे जीवों के लक्षणों के विषय में भी देखा जाता है। अन्य मिलते-जुलते तथ्य भी दिये जा सकते हैं। मैं समझता हूँ कि यह नियम सर्वथा सत्य पाया जायगा कि जब भी संसार के दो पृथक् प्रदेशों में कई सह-संबंधित या प्रतिनिधि जातें पायी जाती हैं, तो चाहे वे प्रदेश एक-दूसरे से कितने ही दूर क्यों न हों, उनमें कुछ-न-कुछ समान जातें भी अवश्य पायी जायँगी। और जहाँ भी कई सहसंबंधी जातें पायी जाती हैं, वहाँ कई ऐसे जीव भी मिलेंगे जिनको कुछ प्रकृतिशास्त्री पृथक् जातें मानते हैं और कुछ केवल भेद। वास्तव में इन संशयात्मक जीवों से आप-रिवर्तन में प्रगति की अवस्थाओं का पता चलता है।

कुछ जातों की स्थानान्तरण की शक्ति तथा उसके विस्तार (वर्तमान या विगत काल में) तथा संसार के सुदूर स्थित स्थानों में सहसंबंधित जातों के मिलने का संबंध एक-दूसरे से ही अधिक सामान्य विधि से देखा जाता है। मि० गूल्ड ने बहुत पहले मुझको यह बताया था कि पक्षियों की जिन जातियों का संसारव्यापी विस्तार है, उनकी कुछ विशेष जातों का विस्तार भी बहुत है। मुझको इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि साधारणतः यह ठीक है, यद्यपि इसको सिद्ध करना कठिन है। स्तनियों में यह बात चमगादड़ों में विलक्षण रीति से दिखाई पड़ती है और कुछ कम अंश में फेलिडी (Felidae) तथा कैनिडी (Canidae) वंशों में। यही नियम बिट्लों तथा तितलियों के वितरण में भी देखा जाता है। मीठे पानी के अधिकांश निवासियों में भी ऐसा ही देखा जाता है क्योंकि बिल्कुल ही अलग वर्गों की कई जातियाँ संसार भर में फैली हैं और कई जातों का विस्तार भी बहुत अधिक है। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि अधिक विस्तार वाली जातियों की सभी जातों का वितरण इतना अधिक है, बल्कि कुछ जातों का। यह भी मेरा तात्पर्य नहीं है कि ऐसी जातियों की जातों का औसत विस्तार बहुत

हैं—क्योंकि यह इस बात पर निर्भर है कि आपरिवर्तन की क्रिया कहाँ तक हुई है। उदाहरण के लिए एक ही जात के दो भेद अमरीका और यूरोप में पाये जाते हैं, जिसके अर्थ यह हुए कि जात का विस्तार बहुत अधिक है। किन्तु यदि परिवर्तन कुछ और बढ़ जावें, तो इन भेदों को जातों का स्तर मिल जाएगा, और तब प्रत्येक का विस्तार कम हो जायगा। इसी तरह यह तात्पर्य भी नहीं है कि जिन जातों में रुकावटों को पार करने तथा सुविस्तृत होने की क्षमता है, जैसे मजबूत पंखवाली चिड़ियों में, उनका विस्तार अनिवार्य रूप से अधिक होगा; क्योंकि हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि विस्तार अधिक होने के लिए केवल रुकावटों को पार करना ही आवश्यक नहीं है, बल्कि इससे अधिक आवश्यक है जीवों का विदेश में विदेशी जीवों के साथ जीवन-संघर्ष में विजयी होने की शक्ति। लेकिन इस मत के अनुसार कि हर जाति की जातें संसार के दूर-से-दूर भागों में फैली होने पर भी एक ही पूर्वज की संतानें हैं, हमको कम-से-कम कुछ जातों को बहु विस्तृत भी पाना चाहिए—और साधारणतः हम यही देखते भी हैं।

हमको यह याद रखना चाहिए कि हर वर्ग की कई जातों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन समय में हुई है और ऐसी दशा में उनकी जातों को अवश्य ही विस्तृत तथा आपरिवर्तित होने का पर्याप्त समय मिला होगा। भूतत्वीय प्रमाण के आधार पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक वर्ग में निम्न कोटि के जन्तु उच्च जीवों की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलते हैं। इसलिए उनको दूर-दूर फैलने और साथ ही अपने जातसूचक लक्षणों को बनाये रखने का अवसर होगा। संभवतः इसी लिए, तथा इसलिए कि अधिकांश निम्न स्तर के जीवों के बीज तथा अंडे बहुत सूक्ष्म होते हैं और दूर तक फैल सकते हैं, यह देखा गया है कि जितने ही निम्न स्तर का कोई जीव होता है, उतना ही अधिक उसका विस्तार होता है। इस नियम से हम बहुत समय से परिचित हैं और पौधों के संबंध में ऐल्फ० डि कैंडोल ने इसकी चर्चा भी की है।

उल्लिखित नियमों का स्पष्टीकरण हम जातों की स्वतंत्र उत्पत्ति के मत के आधार पर नहीं कर सकते। ये नियम हैं—निम्न स्तर के जीवों का उच्च स्तर के जीवों की अपेक्षा अधिक विस्तृत होना; बहुविस्तृत जातियों की कुछ जातों का स्वयं बहुविस्तृत होना; पर्वत शिखरों, झीलों या दलदलों के जीवों का साधारणतः आसपास के निचले क्षेत्रों या सूखे स्थल के जीवों से संबंधित होना; द्वीपों और उसके निकटतम महाद्वीप के जीवों का विलक्षण रीति से संबंधित होना; एक ही द्वीपसमूह के विभिन्न द्वीपों के अंतःसीमित जीवों का और भी संबंधित होना। किन्तु यदि हम यह मान लें कि निकटतम या अति उपयुक्त स्रोत के जीवों का स्थानान्तरण संभव है तथा उनके नये निवास-स्थानों में उनका आपरिवर्तन हो सकता है—तो ये सारी बातें समझ में आ जाती हैं।

पिछले तथा इस अध्याय का सारांश

इन अध्यायों में मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यदि हम जलवायु तथा स्थल के तल के परिवर्तनों के विषय में, तथा ऐसे ही अन्य परिवर्तनों के विषय में अपनी अज्ञानता को ध्यान में रखें, तो यह विश्वास करना असंभव नहीं होगा कि एक जात के सभी जीव, चाहे वे जहाँ भी पाये जाते हों, सामान्य माता-पिता से वंशागत हुए हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के परिवर्तन आधुनिक युग में हुए हैं। साथ ही इसमें भी संदेह नहीं कि हम जीवों के आकस्मिक यातायात के अनेक तथा विचित्र साधनों से परिचित नहीं हैं। यह भी बहुत महत्वपूर्ण बात है कि संभव है कि किसी-किसी जात का सतत विस्तार कभी बहुत लंबा-चौड़ा रहा हो, लेकिन बाद में बीच-बीच में वह विलुप्त हो गया हो। इन सभी बातों से हमारी धारणा की पुष्टि होती है। बहुत से प्रकृतिवादी इस निष्कर्ष को 'सृष्टि के अकेले केन्द्र' की संज्ञा देते हैं, और हम इस निष्कर्ष पर कई सामान्य कारणों से पहुँचते हैं। लेकिन इन कारणों में मुख्य है सभी प्रकार के अवरोधों (barriers) का महत्व तथा उपजातियों, जातियों तथा वंशों के वितरण में सादृश्य।

एक ही जाति की पृथक् जातें हमारे मत के अनुसार एक ही मूल स्रोत से फैली हैं। इनके विषय में भी हम कह सकते हैं कि यदि इनके विषय में भी अपनी ऊपर लिखी अज्ञानताओं के लिए स्थान दें, और यह याद रखें कि कुछ जीवों में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे हुए हैं और उनके स्थानान्तरण में बहुत लंबी अवधि लगी होगी, तो हमारी कठिनाई अज्ञेय नहीं रह जाती, यद्यपि इस विषय में भी हमारी कठिनाई एक ही जात के सदस्यों से संबंधित कठिनाई की भाँति काफी गंभीर है।

वितरण में जलवायु के प्रभावों को दिखाने के लिए मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पिछले हिमयुग का वितरण पर कितना महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। हिम-युग का प्रभाव भूमध्य प्रदेशों पर भी पड़ा है और उसके बीच उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों में बारी-बारी ठंडक पड़ने के कारण इन विपरीत गोलार्द्धों के जीव एक-दूसरे से मिल गये तथा दोनों प्रदेशों के कुछ जीव संसार के सभी भागों के पर्वतों की चोटियों पर छूट गये। यह दिखाने के लिए कि यातायात के ऐसे साधन जो कभी-कभी काम में आते हैं कितने विभिन्न प्रकार के होते हैं, मैंने मीठे पानी के जीवों के विकिरण की विधियों पर कुछ विस्तार में विचार किया है।

यदि कालान्तर में किसी जात के सभी जीवों का एक ही स्रोत से विकीर्ण होने, तथा इसी प्रकार किसी जाति की सभी जातों का एक ही स्थान से संसार भर में विकीर्ण

होने के मत के विरुद्ध खड़ी होने वाली कठिनाइयों को हम अजेय नहीं मानते, तो भौगोलिक वितरण के सभी महान् तथ्यों का स्पष्टीकरण, स्थानान्तरण तथा नये रूपों के प्रगुणन और आपरिवर्तन के सिद्धान्त के आधार पर हो जाता है। इस प्रकार हम स्थलीय तथा जलीय अवरोधों का महत्व समझ सकते हैं जिनके द्वारा जीव एक-दूसरे से अलग ही नहीं होते, बल्कि कई जन्तु तथा वनस्पति प्रदेशों का निर्माण भी होता है। इस तरह हम संबंधित जातों के अलग-अलग क्षेत्रों में एकत्रित होने की बात समझ सकते हैं और यह कि विभिन्न अक्षांशों के अन्तर्गत, जैसे दक्षिणी अमरीका में, मैदानों, पर्वतों, दलदलों तथा मरुभूमि के निवासी एक-दूसरे से ऐसे रहस्यपूर्ण ढंग से संबंधित हैं तथा उस महाद्वीप के विलुप्त प्राणियों से भी। यदि हम यह याद रखें कि जीव के परस्पर संबंध ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, तो हम यह समझ सकते हैं कि क्यों कभी-कभी भौतिक दृष्टि से दो बिल्कुल ही समान क्षेत्रों के जीव एक दूसरे से इतने भिन्न होते हैं। लंबे विगत काल में इन क्षेत्रों में भिन्न प्रकार के जीवों के उत्पन्न होने के कई कारण हो सकते हैं—यातायात के साधनों के कारण दोनों क्षेत्रों में कम या अधिक संख्या में विभिन्न प्रकार के जीव पहुँच सकते थे; इस प्रकार आये हुए आगन्तुकों का एक दूसरे से तथा क्षेत्र के मूल निवासियों से सीधी प्रतियोगिता होगी; इस तरह दोनों क्षेत्रों में अधिकृत जीवों में आपरिवर्तन होगा, लेकिन आपरिवर्तन की मात्रा इन जीवों के परिवर्तन की क्षमता के अनुसार होगी; इस तरह जीवों के बीच असीमित क्रिया-प्रतिक्रिया होगी, जिससे कुछ जीव कम आपरिवर्तित होंगे, कुछ अधिक; कुछ में तेज़ी से संख्या-वृद्धि होगी, कुछ अल्पसंख्यक रह जायँगे—और ऐसी ही परिस्थिति हम संसार के विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों में देखते हैं।

इन सिद्धान्तों के आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि महासागरों के द्वीपों में क्यों इतने थोड़े जीव पाये जाते हैं, लेकिन जो पाये जाते हैं उनमें क्यों विचित्र या अंतः-सीमित जातों का अनुपात इतना अधिक होता है। हम यह भी समझ सकते हैं कि स्थानान्तरण के साधनों के अनुसार क्यों एक ही वर्ग के एक विभाजन की सभी जातें अंतःसीमित होती ह और दूसरे विभाजन की सभी जातें निकटतम प्रदेश की जातों के समान होती हैं। हम यह समझ सकते हैं कि ऐसे द्वीपों में क्योंकर जीवों के समस्त विभाजन—जैसे उभयचर या स्थलीय तनी—पूर्णतः अनुपस्थित होते हैं, जब कि बिल्कुल ही पृथक् द्वीपों में कभी-कभी चमगादडों या वायवीय स्तनियों की अलग जातें पायी जाती हैं। हम समझ सकते है कि इन द्वीपों पर पाये जाने वाले कुछ आपरिवर्तित दशा में उपस्थित स्तनियों तथा द्वीपों तथा महाद्वीप के बीच के समुद्र की गहराई में क्यों कुछ संबंध होता है। हम यह भलीभाँति समझ सकते हैं कि यद्यपि किसी द्वीप-

समूह के विभिन्न द्वीपों में अलग-अलग जातें पायी जाती हैं, लेकिन आपस में उनमें गहरा संबंध होता है और साथ ही वे सभी पास के किसी महाद्वीप या अन्य ऐसे स्रोत के जीवों से से कुछ हद तक संबंधित होते हैं जहाँ से मूलतः ये जातें आयी होंगी। हम यह समझ सकते हैं कि यदि किन्हीं दो क्षेत्रों में कुछ सहसंबंधित या प्रतिनिधि जातें पायी जाती हैं तो, चाहे वे क्षेत्र एक-दूसरे से कितनी ही दूर क्यों न हों, उनमें कुछ जातें सामान्य भी अवश्य होती हैं।

जैसा दिवंगत एडवर्ड फोर्ब्स ने कई बार कहा था, समस्त काल तथा स्थान में जीवन संबंधी नियमों में समता पायी जाती है; विगत काल में जीवों का क्रम नियंत्रित करने वाले तथा वर्तमान समय में विभिन्न क्षेत्रों में जीवों की भिन्नता नियंत्रित करने वाले नियम समान हैं। यह बात हम कई तथ्यों में देखते हैं। प्रत्येक जात या जात-समूह की जीवन-क्षमता कालान्तर में सतत रही है। इस नियम के अपवाद इतने थोड़े हैं कि यदि किसी स्तर के ऊपर या नीचे वाले स्तर में हमको कुछ जीवों के अवशेष मिलते हैं, तो बीच के स्तर में उनका न मिलना केवल हमारे आविष्कार की कमी के कारण हो सकता है। इसी प्रकार स्थान के विषय में भी निश्चय ही यह सामान्य नियम है कि किसी जात या जात-समूह से बसा हुआ क्षेत्र सतत होता है, और मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इस नियम के अनेक अपवाद इसलिए हैं कि प्रतिकूल परि-स्थितियों के कारण बीच के भागों से इनका स्थानन्तरण हो गया है या वे विलुप्त हो गयी हैं। काल तथा स्थान दोनों में ही जातों या जात-समूहों के अधिकतम वृद्धि के काल या क्षेत्र होते हैं। बहुधा एक ही काल या एक ही क्षेत्र में पायी जाने वाली जातों में कुछ तुच्छ लक्षण सामान्य रूप से पाये जाते हैं, जैसे रंग या नक्काशी। युगों के लंबे क्रम या संसार भर के दूर-दूर के प्रदेशों के जीवों पर ध्यान देने पर हम देखते हैं कि जहाँ कुछ वर्गों की जातों में बहुत थोड़ा अन्तर होता है, वहाँ कुछ अन्य वर्गों या वर्गों के विभाजनों की जातें एक-दूसरे से बहुत भिन्न होती हैं। काल तथा स्थान दोनों में ही हर वर्ग के निम्न स्तरों के जीव, उच्च स्तरों के जीवों की अपेक्षा बहुत धीरे-धीरे परिवर्तित होते हैं, किन्तु इस नियम में दोनों में ही स्पष्ट अपवाद हैं। हमारे मत के अनुसार समस्त काल तथा स्थान में पाये जाने वाले ये विभिन्न संबंध सुबोध हैं। क्योंकि चाहे हम सह-संबंधित जीवों पर दृष्टिपात करें जिनमें युगों के क्रम में परिवर्तन हुए हैं, या उनको देखें जो दूर-दूर जाकर परिवर्तित हुए हैं— दोनों में ही वे सामान्य पीढ़ियों के बंधन से जुड़े हैं, दोनों में ही परिवर्तन के नियम समान रहे हैं और दोनों में ही प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया से आपरिवर्तनों का एकत्रीकरण हुआ है।

अध्याय चौदह

जीवों का परस्पर सम्बन्ध : आकार विज्ञान : भ्रूण विज्ञान : अवशिष्ट अंग

वर्गीकरण—समूहों के अन्तर्गत समूह—प्राकृतिक व्यवस्था—आपरिवर्तन के साथ वंशागति के मत के आधार पर वर्गीकरण के नियमों और कठिनाइयों का स्पष्टीकरण—भेदों का वर्गीकरण—वंशागति का वर्गीकरण में बराबर प्रयोग किया जाना—कार्यसदृश तथा अनुकूलन-संबंधी लक्षण—सामान्य, जटिल तथा विकीर्ण संबंध—विनाश के द्वारा समूहों का पृथक्करण तथा व्याख्या—संरचना, एक ही वर्ग के सदस्यों तथा एक ही व्यक्ति के अंगों के बीच के संबंध—भ्रूणतत्व के नियम तथा प्रारंभिक अवस्था में परिवर्तनों के प्रकट न होने और समान आयु में वंशागत होने से उनका स्पष्टीकरण—अवशिष्ट अंग; उनकी उत्पत्ति—सारांश।

वर्गीकरण

पृथ्वी के इतिहास के बहुत प्रचीन काल से ही जीवों के बीच भिन्न-भिन्न क्रमों में समानता पायी जाती है, जिसके कारण ये जीव समूहों के अन्तर्गत अन्य समूहों में बाँटे जा सकते हैं। किन्तु यह वर्गीकरण वैसा मनमाना नहीं है जैसा उदाहरण के लिए अनेकानेक तारों का तारा समूहों में बाँटा जाना है। यदि कोई एक समूह पूर्णतः स्थल पर निवास करने के लिए और दूसरा जल के लिए अनुकूलित होता; या एक पूर्णतः मांसभोजी होता और दूसरा शाकाहारी या अन्य ऐसे ही रहन-सहन सम्बन्धी लक्षणों के आधार पर समूहों का निर्माण किया जाता तो, ऐसे समूहों का महत्व विशेष न होता। किन्तु यहाँ बात भिन्न है। क्योंकि हम जानते हैं कि बहुधा एक ही समूह में रखे जाने वाले जीवों की प्रकृति एक-दूसरे से बहुत भिन्न होती है। परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन से सम्बन्धित दूसरे और चौथे अध्यायों में मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक प्रदेश में, उसकी सबसे सामान्य तथा बहुविस्तृत जातें ही प्रबल होती हैं और प्रत्येक वर्ग में ये जातें सबसे बड़ी तथा भिन्न जातियों की होती हैं। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले भेद या प्रारम्भिक जातें अंत में

स्पष्ट नयी जातों में बदल जाते हैं तथा वंशागति के सिद्धान्त के अनुसार इनसे अन्य तथा प्रबल जातें उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार जो समूह आज बड़े हैं और जिनके अन्तर्गत साधारणतः कई प्रबल जातें हैं; उन्हीं की वृद्धि होती है। मैंने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि प्रत्येक जात की भिन्न संतानों से जो प्रकृति में अनेक तथा विभिन्न स्थान ग्रहण करती हैं, उनके बीच निरन्तर लक्षणों की भिन्नता बढ़ती जाती है। यह निष्कर्ष इस अवलोकन पर आधारित है कि किसी छोटे क्षेत्र में पाये जाने वाले उन जीवों के बीच, जिनमें कठिनतम जीवन-संघर्ष होता है, विविधता भी बहुत पायी जाती है। प्रकृतिकरण से सम्बन्धित कुछ तत्व भी हमको इसी निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं।

मैंने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि जो जातें क्रमशः संख्या-वृद्धि कर रही हैं और जिनमें लक्षणों की विविधता बढ़ रही है, वे बराबर धीरे-धीरे, पुरानी, कम विविध, तथा कम उन्नतशील जातों को नष्ट कर रही हैं और उनका स्थान ग्रहण कर रही हैं। मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि वे उस चित्र का पुनः अध्ययन करें जिसके द्वारा ये नियम स्पष्ट किये गये हैं। और वे देखेंगे कि इन नियमों का अवश्यंभावी परिणाम यह है कि एक ही पूर्वज की परिवर्तित संतानें समूहों के भीतर समूहों में बँट जाती हैं। इस चित्र में सबसे ऊपर की रेखा पर स्थित अक्षर जातियों के द्योतक हैं जिनके अन्तर्गत कई जातें हैं। इस रेखा पर दी गयी सभी जातियाँ मिलकर एक वर्ग का निर्माण करती हैं, क्योंकि सभी एक ही प्राचीन पूर्वज की संताने हैं और इसलिए सभी में कुछ लक्षण समान-रूप से पाये जाते हैं। किन्तु इसी सिद्धान्त पर बायीं ओर की तीन जातियों में बहुत समानता है और इसलिए वे एक उपवंश का निर्माण करती हैं जो दाहिनी ओर दी गयी दो जातियों से भिन्न हैं क्योंकि वंशानुगति की पाँचवीं अवस्था में वे अलग हो गयी हैं। इन पाँचों जातियों में भी कई समानताएँ हैं यद्यपि उपवंशों की तुलना में कम। अतः ये मिलकर एक वंश का निर्माण करती हैं और यह वंश उन तीन जातियों से भिन्न है जो और भी दाहिनी ओर हैं तथा इसके पहले अलग हो गयी थीं। ये सभी जातियाँ एक मूल पूर्वज (का) से वंशागत हुई हैं और इसलिए सभी मिलकर एक गण (ऑर्डर) का निर्माण करती हैं जो पूर्वज (टा) से उत्पन्न होने वाली जातों द्वारा बने गण से भिन्न हैं। इस तरह हम देखते हैं कि एक पूर्वज से उत्पन्न होने वाली कई जातें मिलकर एक जाति का निर्माण करती हैं; कई जातियाँ मिलकर एक उपवंश बनाती हैं और इसी प्रकार वंश तथा गण बनते हैं जो एक वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार जीवों का विभिन्न समूहों में तथा उपसमूहों में एकत्रीकरण होता है। किन्तु हम इस तथ्य से इतने अधिक परिचित हैं कि महान् होते हुए भी यह हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करता। मेरे मत के अनुसार इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि अन्य पदार्थों की

भाँति जीवों का वर्गीकरण भी कई प्रकार से हो सकता है—चाहे एक ही लक्षण के आधार पर कृत्रिम रूप से, अथवा कई लक्षणों के आधार पर नैसर्गिक रूप से। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि खनिज पदार्थ अथवा तत्वों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जाता है। इस उदाहरण में उनके वर्गीकरण का कोई कारण नहीं बताया जा सकता और न इस वर्गीकरण से वंश क्रम जैसा कोई सम्बन्ध स्पष्ट होता है। किन्तु जीवों की बात भिन्न है और उनका नैसर्गिक रूप से समूहों के भीतर समूहों में विभाजित होना ऊपर दिये मत के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य कारण पहले कभी दिया भी नहीं गया है।

जैसा हम देख चुके हैं प्रकृतिशास्त्री जातों, जातियों तथा वंशों का प्रत्येक वर्ग में जिस व्यवस्था के अनुसार विभाजन करते हैं उसको नैसर्गिक प्रणाली कहा जाता है। किन्तु इस प्रणाली अथवा विधि के क्या अर्थ हैं? कुछ लेखक यह समझते हैं कि यह एक ऐसी योजना है जिसके अनुसार एक-दूसरे के समान जीव एक-दूसरे के साथ तथा एक-दूसरे से भिन्न जीव एक-दूसरे से अलग समूहों में रखे जा सकते हैं, अर्थात् यह कृत्रिम विधि है जिसके अनुसार संक्षेप में कुछ साधारण नियम दिये जा सकते हैं, जैसे कि एक ही वाक्य में सभी स्तनियों के सामान्य लक्षण बता सकना, दूसरे में सभी कॉर्निवोरा के सामान्य लक्षण, तीसरे में कुत्ता जाति के लक्षण और फिर एक और वाक्य जोड़ देने से कुत्ते की प्रत्येक जाति का वर्णन किया जा सकता है। इस प्रणाली की उपयोगिता तथा मौलिकता के संबंध में कोई विवाद नहीं किया जा सकता, किन्तु कई प्रकृतिवादियों का विचार है कि नैसर्गिक प्रणाली के कुछ और भी अभिप्राय हैं। वे समझते हैं कि इसके द्वारा सृष्टिकर्त्ता की व्यवस्था का पता चलता है; किन्तु जबतक यह निश्चय न हो जाय कि इस सृष्टि की व्यवस्था का ही क्या तात्पर्य है अर्थात् यह व्यवस्था समय से संबंध रखती है अथवा स्थान से अथवा दोनों से, तब तक मेरे विचार में इस प्रकार हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। कुछ वक्तव्यों का, जैसे लीनियस (Linnaeus) का वह सुप्रसिद्ध कथन कि लक्षणों से जाति नहीं बनती बल्कि जाति से लक्षण प्राप्त होते हैं का यह अर्थ निकलता है कि हमारे वर्गीकरण की व्यवस्था में केवल समानता ही नहीं झलकती है, बल्कि उसके द्वारा किसी गहरे सम्बन्ध का पता चलता है। मेरा विश्वास है कि यह सत्य है और यह गहरा सम्बन्ध समान वंशागति है। जीवों के बीच समानता का एक यही ज्ञात कारण है और यद्यपि यह विभिन्न अंशों तक आपरिवर्तन के द्वारा स्पष्ट हो जाता है, किन्तु कुछ हद तक यह हमारे वर्गीकरण की व्यवस्था से भी स्पष्ट होता है।

अब हम वर्गीकरण के नियमों पर विचार करेंगे और इसके साथ ही उन कठिनाइयों

पर भी जो इस मत के कारण खड़ी हो जाती हैं कि या तो वर्गीकरण के द्वारा सृष्टि के किसी अज्ञात विधान का पता चलता है या यह केवल ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा कुछ सामान्य लक्षणों की व्यवस्था की जा सकती है और एक-दूसरे के समान जीव एक समूह में रखे जा सकते हैं। ऐसा सोचा जा सकता था (और प्राचीन समय में ऐसा सोचा जाता था) कि संरचना संबंधी वे लक्षण जिनके कारण किसी जीव का स्वभाव निर्धारित होता है और जिसके द्वारा प्रकृति में प्रत्येक जीव का स्थान निश्चित होता है, वर्गीकरण में ही सबसे अधिक महत्व के लक्षण हैं। इससे अधिक मिथ्या कोई बात नहीं हो सकती। कोई भी व्यक्ति छछूंदर तथा चूहे अथवा व्हेल तथा डुगाँग (dugong) की समानता को महत्वपूर्ण नहीं मानता, यद्यपि ये समानताएँ इन जीवों की समस्त संरचना से संबंध रखती हैं। फिर भी इनको केवल अनुकूलन सम्बन्धी, अथवा कार्य सदृश माना जाता है। इस प्रकार की समानताओं पर हम पुनः विचार करेंगे। एक सामान्य नियम के रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी जीव के किसी अंग का सम्बन्ध उसकी विशेष प्रकृति से जितना ही कम होगा, वर्गीकरण की दृष्टि से वह उतना ही महत्वपूर्ण होगा। उदाहरण के लिए डुगाँग के विषय में ओवेन का कहना है कि, "चूँकि किसी जन्तु के जननांगों का सम्बन्ध उसके स्वभाव तथा आहार से बहुत कम होता है, इसलिए मैंने सदा उनको जन्तुओं के परस्पर संबंध निर्धारण करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझा है। इन अंगों में होने वाले आपरिवर्तनों का संबंध अनुकूलन से बहुत कम होगा।" वनस्पति जगत में हम यह बराबर देखते हैं कि उनके वर्धी अंग, जिन पर वे अपने जीवन और पोषण के लिये निर्भर रहते हैं, बहुत कम महत्त्व के समझे जाते हैं तथा जननांगों से उत्पन्न होने वाले बीज तथा भ्रूण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। पहले हम यह भी देख चुके हैं कि संरचना सम्बन्धी कुछ लक्षण, जो कार्य की दृष्टि से महत्त्व के नहीं हैं, बहुधा वर्गीकरण के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हैं। यह इस बात पर निर्भर है कि सम्बन्धित समूहों में ये लक्षण कहाँ तक समान हैं; और यह समानता इस बात पर निर्भर है कि उनमें होने वाले छोटे-मोटे परिवर्तनों का परिरक्षण तथा संग्रह प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा नहीं होता, क्योंकि इस क्रिया का प्रभाव केवल उपयोगी लक्षणों पर ही होता है।

किसी अंग के कायिकी सम्बन्धी महत्त्व से ही उसका वर्गीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण होना आवश्यक नहीं है—यह बात इस तथ्य से ही सिद्ध है कि संबंधित समूहों में यद्यपि किसी अंग का कायिकी सम्बन्धी महत्त्व समान होता है, फिर भी वर्गीकरण में इसका महत्त्व भिन्न-भिन्न होता है। कुछ ही दिनों तक किसी समूह पर काम करने के बाद यह बात प्रत्येक प्रकृतिवादी को भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है और लगभग प्रत्येक लेखक

ने ही यह विचार प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में राबर्ट ब्राउन जैसे अधिकारी के कथन का उद्धरण करना ही पर्याप्त होगा। प्रोटियेसी (Proteaceae) के कुछ अंगों के विषय में लिखते हुए वे कहते हैं, "उनका आनुवंशिक महत्त्व अन्य अंगों के समान केवल इसी वंश में नहीं बल्कि मेरे विचार में सभी नैसर्गिक वंशो में बहुत असमान है और कुछ उदाहरणों में इसका महत्त्व नष्ट हो गया है।" फिर दूसरी पुस्तक में वे कहते हैं कि कोनारेसी (Connaraceae) की जातियाँ एक दूसरे से अण्डाशयों की संख्या, अलब्युमेन की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति तथा दलों की व्यवस्था में भिन्न होती हैं। साधारणतः अकेले इनमें से कोई भी लक्षण जाति से अधिक महत्त्व के हैं किन्तु हम इन सभी लक्षणों पर एक साथ विचार करते हैं तो देखते हैं कि वे नेस्टिस (Cnestis) तथा कोनारस (Connarus) को भी एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए अपर्याप्त हैं। कीटों में भी एक उदाहरण देखिये। हाइमेनाप्टेरा के एक बड़े विभाग में, जैसा वेस्टवुड का कहना है, स्पर्शसूत्र समान होते हैं; दूसरे विभाग में वे बहुत भिन्न होते हैं और इस भिन्नता का वर्गीकरण में बहुत कम महत्व है। फिर भी कोई नहीं कह सकता कि एक ही गण के दो विभागों में स्पर्शसूत्रों का कार्यसम्बन्धी महत्व असमान है। इसी तरह के अन्य कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे पता चलेगा कि जीवों के किसी विभाजन में एक ही अंग का वर्गीकरण में अलग-अलग महत्त्व हो सकता है।

इसी प्रकार कोई नहीं कह सकता कि अवशिष्ट या प्रह्रासित अंग कायिकी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु निश्चय ही इस दिशा में भी वे वर्गीकरण के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं: कोई यह प्रतिवाद नहीं कर सकता कि अल्प अवस्था के रूमीनैन्टों (ruminants) में ऊपरी जबड़े में अवशिष्ट दाँतों का तथा टाँगों में कुछ अवशिष्ट हड्डियों का होना रूमीनैन्टों तथा पैकीडर्मों (pachyderms) के बीच के निकट सम्वन्ध प्रकट करता है। राबर्ट ब्राउन ने इस बात पर जोर दिया है कि घासों के वर्गीकरण में अवशिष्ट दलों की स्थिति अधिक-से-अधिक महत्त्व की है।

ऐसे अनेक अंगों के लक्षणों के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं जो कायिकी दृष्टि से बहुत कम महत्त्व के हैं और फिर भी समस्त विभाजनों की व्याख्या करने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए ओवेन (Owen) के अनुसार, बाह्य नासाछिद्र तथा मुख-गुहा के बीच खुले सम्बन्ध का होना या न होना ही एक ऐसा लक्षण है जिसकी सहायता से मछलियों तथा उरगों के बीच निश्चित रूप से भेद किया जा सकता है। इसी प्रकार मार्सूपियलों (marsupials) में निचले जबड़े के झुकाव का कोण, कीटों में पंखों के मुड़ने का ढंग, कुछ एलगी में केवल रंग, घासों में फूलों का जीवन

काल, वर्टिब्रेटा (Vertebrata) में त्वचा पर का आच्छादन अर्थात् रोम अथवा पंख का होना इत्यादि ऐसे ही लक्षण हैं। यदि **ऑरनाइथोरिंकस** (Ornithorhynchus) की खाल रोम के बजाय पंखों से ढँकी होती तो यह अमहत्त्वपूर्ण बाह्य लक्षण प्रकृतिशास्त्रियों की दृष्टि में इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण होता कि वे इस जन्तु को पक्षियों के अत्यन्त निकट समझते।

ऐसे छोटे लक्षणों का वर्गीकरण में महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि कहाँ तक अन्य अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण लक्षणों से वह सम्बन्धित है। प्राकृतिक इतिहास के अध्ययन में लक्षणों के समूह का महत्व स्पष्ट है। अतः जैसा बहुधा कहा गया है, हो सकता है कि कोई जाति अन्य सम्बन्धित जातों में कई महत्त्वपूर्ण लक्षणों में भिन्न हों, जिनमें से कुछ कायिकी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों और कुछ अधिकांश सदस्यों में पाये जाते हों। फिर भी ऐसी जाति की स्थिति के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं होता। इसलिए यह भी देखा गया है कि यदि वर्गीकरण केवल एक ही लक्षण पर आधारित है, तो चाहे वह लक्षण स्वयं कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो वर्गीकरण सफल नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर का कोई भी भाग सदा समान नहीं रहता। लक्षणों के समूह का महत्त्व, जबकि समूह में से कोई भी लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं होता, लीनियस के सुविख्यात कथन की पुष्टि करता है कि "लक्षण जाति का निर्माण नहीं करते बल्कि जाति ही लक्षण प्रदान करती है।" ऐसा जान पड़ता है कि यह कथन ऐसे लक्षणों की समानता के विचार के कारण बना जो स्वयं इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि कदाचित उनकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती है। माल्पीझियेसी (Malpighiaceae) वंश के कुछ सदस्यों के पुष्प पूर्ण और कुछ के अविकसित होते हैं; और जैसा ए० डि जुसो (A. de Jussieu) ने कहा है; अविकसित फूलों में "जात, जाति तथा वंश और वर्ग के सभी लक्षण नष्ट हो जाते हैं और हमारे वर्गीकरण की हँसी उड़ाते हैं।" जब फ्रांस में ऐस्पिकार्पा ने कई वर्षों तक ये ही अविकसित फूल उत्पन्न किये जो इसके गण के सामान्य लक्षणों से बिल्कुल भिन्न थे तो भी जुसो के अनुसार मसिया रिचर्ड ने यह स्पष्ट अनुभव किया कि इस जाति को माल्पीझियेसी वंश के अन्तर्गत रखना चाहिए। इस उदाहरण से हमारे वर्गीकरण का सार स्पष्ट हो जाएगा।

काम करते समय साधारणतः प्रकृतिवादी यह पता लगाने का कष्ट नहीं करते कि किसी विभाजन अथवा जात की परिभाषा देने में वे जिन लक्षणों का प्रयोग करते हैं कायिकी की दृष्टि से उनका कुछ महत्त्व है कि नहीं। यदि वे किसी लक्षण को लगभग समान देखते हैं और उसको अधिकांश सदस्यों में सामान्यतः पाते हैं, तथा अन्य जीवों में उसको नहीं पाते, तो उसको बहुत महत्त्व देते हैं। यदि यह लक्षण कम सदस्यों

में ही सामान्य पाया जाता है, तो उसको कम महत्त्व दिया जाता है। साधारणतः सभी प्रकृतिशास्त्री इस सिद्धान्त को ठीक मानते हैं। सुविख्यात वनस्पति विज्ञान-वेत्ता सेन्ट हिलेर ने इसको स्पष्ट मान्यता दी है। यदि कई तुच्छ महत्त्व के लक्षण सदा एक साथ पाये जाते हैं तो यद्यपि इनके बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं मिलता, फिर भी वे बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। चूँकि अधिकांश जन्तुसमूहों में ऐसे महत्त्व-पूर्ण अंग, जैसे रक्त संवाहन करने वाले, श्वसन संबंधी अथवा जनन सम्बन्धी अंग, लगभग समान होते हैं, इसलिए वर्गीकरण में उनको बहुत उपयोगी माना जाता है; किन्तु इनके कुछ विभाजनों में सबसे महत्त्वपूर्ण तथा जीवनदाता अंगों से सम्बन्ध रखने वाले लक्षण कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए, जैसा हाल में फ्रिट्ज मूलर ने बताया है क्रस्टेशिया वर्ग के भीतर **साइप्रिडाइना** (Cypridina) में हृदय पाया जाता है। किन्तु दो सन्निकट जातियों अर्थात् **साइप्रिस** (Cypris) तथा **साइथीरिया** (Cytherea) में यह अंग नहीं पाया जाता। साइप्रिडाइना की एक जात में सुविकसित गिल पाये जाते हैं जबकि अन्य जातों में ये अनुपस्थित होते हैं।

हम आसानी से समझ सकते हैं कि भ्रूण से प्राप्त होने वाले तथा प्रौढ़ से प्राप्त होने वाले अंग बराबर महत्त्वपूर्ण क्यों होते हैं। बात यह है कि नैसर्गिक वर्गीकरण में सभी अवस्थाएँ सम्मिलित हैं। किन्तु साधारण मत के आधार पर यह किसी प्रकार स्पष्ट नहीं होता कि प्रौढ़ के अंगों की अपेक्षा भ्रूणावस्था के अंग क्यों अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं जबकि प्रकृति की मितव्ययिता में केवल प्रौढ़ के ही अंग पूरी तरह भाग लेते हैं। फिर मिलने एडवर्ड्स और अगासिज जैसे महान् प्रकृतिवादियों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि भ्रूण के लक्षण ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; और लगभग सभी लोगों ने इस तथ्य की सत्यता मान ली है। तथापि यह कहना होगा कि बहुधा उनका महत्व बहुत बढ़ा-चढ़ा दिया गया है, क्योंकि लार्वा के अनुकूलन संबंधी लक्षणों का महत्त्व पूरी तरह समझा नहीं गया है। यह सिद्ध करने के लिए फ्रिट्ज़ मूलर ने क्रस्टेशिया जैसे बड़े वर्ग को केवल ऐसे ही लक्षणों के आधार पर व्यवस्थित किया और यह व्यव-स्था किसी प्रकार भी नैसर्गिक नहीं हुई। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि लार्वा के लक्षणों को छोड़ बाकी भ्रूणीय लक्षण, वर्गीकरण में केवल जन्तुओं में ही नहीं बल्कि वनस्पतियों में भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए फूल देने वाले पौधों का मुख्य विभाजन भ्रूणों की भिन्नता पर निर्धारित है, जैसे कि पत्रदलों की संख्या और उनकी स्थिति तथा भ्रूणाग्र और भ्रूणमूल के विकास की विधि पर। हम अभी देखेंगे कि क्यों इन लक्षणों का वर्गीकरण में इतना अधिक महत्त्व है अर्थात् नैसर्गिक व्यवस्था वंशक्रम की द्योतक किस प्रकार होती है।

बहुधा हमारे वर्गीकरण पर स्पष्ट रूप से बन्धुता के क्रम का प्रभाव पड़ता है। सभी पक्षियों में पाये जाने वाले कुछ सामान्य लक्षणों की व्याख्या करना बहुत सरल है; किन्तु क्रस्टेशिया में इस प्रकार की व्याख्या करना अभी तक संभव नहीं हुआ। क्रस्टेशिया क्रम के दोनों छोरों पर ऐसे जन्तु हैं जिनमें कदाचित् एक लक्षण भी सामान्य रूप से नहीं मिलता। फिर भी इन जन्तुओं का ऐसे जन्तुओं से सम्बन्धित होना, जो अन्त में एक-दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं, इस बात के लिए पर्य्याप्ति है कि उनको एक ही विभाजन में रक्खा जाय, और आर्टीकुलेटा (Articulata) के किसी और वर्ग में नहीं।

कभी-कभी, और विशेष कर निकट सम्बन्धित बड़े विभाजनों के विषय में, भौगोलिक वितरण का उपयोग भी वर्गीकरण में किया जाता है, यद्यपि यह बिल्कुल युक्ति-संगत नहीं है। टेमिंक (Temminck) इस प्रथा की उपयोगिता तथा आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं, विशेष कर पक्षियों के कुछ विभाजन के वर्गीकरण में। कई कीटशास्त्री और वनस्पतिशास्त्री भी इसका उपयोग करते हैं।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि कम-से-कम वर्तमान समय में जातों के विभिन्न प्रकार के समूहों जैसे गण, उपगण, वंश उपवंश तथा जातियों का अपेक्षाकृत महत्त्व बहुत-कुछ मनमाना दिया जाता है। कई प्रख्यात वनस्पतिशास्त्री, जैसे मि० बेन्थम इत्यादि इस मनमाने महत्त्व पर काफी जोर देते हैं। पौधों तथा कीटों में ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिसमें किसी विभाजन को पहले कुशल प्रकृतिवादियों ने जाति का स्तर दिया था और फिर उसको उपवंश अथवा वंश तक का स्तर दिया। और ऐसा इसलिए नहीं किया गया कि बाद के अनुसंधानों के फलस्वरूप कुछ ऐसे संरचना सम्बन्धी भेदों का पता चला हो जिन पर पहले ध्यान न गया हो, बल्कि इसलिए कि बाद में ऐसी अनेक संबंधित जातों का आविष्कार हुआ जिनके बीच के अन्तर विभिन्न प्रकार के थे।

यदि मैं आत्मप्रवंचना नहीं कर रहा हूँ तो यह कह सकता हूँ कि वर्गीकरण के सम्बन्ध में ऊपर दिये गये नियमों, सहायताओं और कठिनाइयों आदि का स्पष्टीकरण इस आधार पर किया जा सकता है कि प्राकृतिक व्यवस्था आपरिवर्तन के साथ ही वंशागति पर आधारित है। जो लक्षण प्रकृतिशास्त्रियों के विचार में किन्हीं दो या दो से अधिक जातों के बीच बन्धुता स्पष्ट करते हैं, वे सामान्य पूर्वजों से वंशागत हुए हैं, और इसलिए वास्तविक वर्गीकरण वंशक्रम पर आधारित है। प्रकृतिवादी बिना जाने जीवों के बीच जिस सम्बन्ध की खोज करते आये हैं, वह है सामान्य वंशागति, न कि सृष्टि की कोई अज्ञात योजना, और न वे मिलते-जुलते जीवों को एक साथ रखकर और भिन्न जीवों को अलग-अलग करके किन्हीं सामान्य नियमों की खोज ही करते हैं।

किन्तु मुझको अपना अभिप्राय और विस्तार से लिखना चाहिए। मेरा विश्वास है कि नैसर्गिक होने के लिए किसी वर्ग के विभाजनों, उपविभाजनों आदि की व्यवस्था को वंशक्रम के अनुसार होना चाहिए। किन्तु यद्यपि विभिन्न शाखाओं अथवा विभाजनों के सामान्य पूर्वज के साथ के रक्त संबंध समान अंश में होते हैं; लेकिन उनकी मात्रा में विभिन्नता हो सकती है, क्योंकि उनमें आपरिवर्तन अलग-अलग मात्रा में हुआ है। इसी कारण हम इन जीवों को जाति, वंश, गण आदि अलग-अलग स्तरों पर रखते हैं। यदि पाठक चौथे अध्याय के चित्र पर पुनः ध्यान दें तो इस बात को वे भलीभाँति समझ सकते हैं। मानलीजिए कि 'का' से 'डा' तक अक्षर साइल्युरियन युग में पायी जाने वाली सम्बन्धित जातियाँ हैं जो स्वयं किसी और भी प्राचीन पूर्वज से वंशागत हुई हैं। इनमें से तीन जातियों से (अर्थात् 'का' 'छा' तथा 'टा' से) उत्पन्न जातों की सन्तानें वर्तमान समय तक पायी जाती हैं जो सबसे ऊपर की रेखा में दिखाई गयी हैं। अब एक ही जात की आपरिवर्तित संतानें एक-दूसरे से रक्त सम्बन्ध रखती हैं; अतः अलंकारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि ये सब एक दूसरे के लाखवें अंश तक भाई (Cousins) हैं। फिर भी वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं और उनकी परस्पर भिन्नता की मात्रा अलग-अलग है। 'का' से अभिजात जातें दो या तीन वंशों में बँट गयी हैं जो मिलकर एक अलग गण का निर्माण करती हैं, इसी प्रकार 'डा' से उत्पन्न होने वाली जातें भी दो वंशों का निर्माण करती हैं जिनसे मिलकर एक अलग गण बनता है। इस तरह ये दोनों गण अलग हुए। यह भी ध्यान रहे कि 'का' से वंशागत वर्तमान जातें स्वयं 'का' के साथ एक ही जाति में नहीं रक्खी जा सकतीं; इसी प्रकार 'डा' से वंशागत जातें 'डा' के साथ नहीं रक्खी जा सकतीं। किन्तु संभव है कि 'छा' से वंशागत वर्तमान जात 'छ१४' बहुत आपरिवर्तित न हुई हो और तब उसको पूर्वज 'छा' के साथ एक ही जाति में रक्खा जा सकता है। इसी तरह हम कभी-कभी देखते हैं कि कुछ जीवित जातियाँ साइल्युरियन युग की जातें हैं। इस तरह हम देखते हैं कि यद्यपि ये जातें रक्त सम्बन्ध में उसी स्तर पर हैं, फिर भी उनमें अलग-अलग मात्रा में भिन्नता पायी जाती है। इतने पर भी उनके वंशक्रम की व्यवस्था केवल वर्तमान समय में ही नहीं वरन् वंशागति की हर अवस्था में बनी रहती है। 'का' की सभी आपरिवर्तित संतानों में, अपने सामान्य पूर्वज से वंशागत होने के कारण कुछ सामान्य लक्षण अवश्य होंगे; इसी प्रकार 'डा' की संतानों में भी कुछ समानता होगी और ऐसी ही समानता प्रत्येक शाखा की संतानों में तथा प्रत्येक अवस्था में पायी जाएगी। किन्तु यदि हम यह मान लें कि 'का' अथवा 'डा' की किसी संतान में इतना अधिक आपरिवर्तन हो गया हो कि उसमें अपने पूर्वज से कोई समानता न रह जाय, तो प्राकृतिक व्यवस्था में उसका

उचित स्थान नष्ट हो जायगा। ऐसा भी हम कुछ वर्तमान जीवों के सम्बन्ध में देखते हैं। जाति 'छा' की सभी संतानें अनेक पीढ़ियों में भी विशेष आपरिवर्तित नहीं हुई हैं और वे मिलकर एक ही जाति का निर्माण करती हैं। और यद्यपि यह जाति बहुत पृथक् है, फिर भी इसकी स्थिति माध्यमिक है। इस चित्र में विभिन्न विभाजनों का चित्रण एक ही स्तर पर होने के कारण यह बहुत सरल जान पड़ता है। वास्तव में शाखाओं को विभिन्न दिशाओं में जाना चाहिए। यदि विभाजनों के नाम सीधी रेखाओं में दिये गये होते तो यह चित्रण और भी कम स्वाभाविक होता। यह सभी भलीभाँति जानते हैं कि एक चिकने धरातल पर प्रकृति में पाये जाने वाले एक ही विभाजन के जीवों का बंधुत्व दिखाना असंभव है। अतः स्पष्ट है कि प्राकृतिक व्यवस्था वंशक्रम की भाँति होनी चाहिए; लेकिन विभिन्न विभाजनों में आपरिवर्तन जितनी मात्रा में हुआ है उसको व्यक्त करने की विधि यह है कि विभाजनों को अलग-अलग स्तर पर रक्खा जाय, जैसे जातियाँ, उपवंश, वंश, उपगण, गण, वर्ग आदि।

वर्गीकरण के इस मत को भाषाओं के उदाहरण की सहायता से हम स्पष्ट कर सकते हैं। यदि हमारे पास समस्त मनुष्य-जाति का वंशक्रम होता तो मनुष्य की विभिन्न नस्लों की व्यवस्था की सहायता से आज संसार भर में बोली जाने वाली भाषाओं का सही वर्गीकरण हम कर सकते थे। और यदि सभी विलुप्त भाषाओं तथा सभी माध्यमिक और बदलती हुई बोलियों को भी शामिल करना होता तो केवल इसी प्रकार की व्यवस्था दी जा सकती थी। किन्तु यह संभव है कि कुछ प्राचीन भाषाओं में बहुत कम परिवर्तन हुआ हो और उनसे इनी-गिनी नयी भाषाएँ ही बनी हों, तथा कुछ अन्य भाषाएँ विस्तरण, पृथक्करण तथा विभिन्न नस्लों की सभ्यता की दशा के कारण बहुत परिवर्तित हुई हों और उनसे कई नयी बोलियाँ और भाषाएँ उत्पन्न हुई हों। एक ही समूह की भाषाओं में भिन्नता की मात्रा व्यक्त करने के लिए समूह के भीतर उपसमूहों का निर्माण करना होगा और फिर भी यदि कोई भी व्यवस्था संभव तथा सही होगी तो वह जो भाषाओं के वंशक्रम पर आधारित हो। यही व्यवस्था स्वाभाविक भी होगी क्योंकि इसके द्वारा आधुनिक तथा विलुप्त सभी तरह की भाषाओं का सम्बन्ध स्पष्ट होगा और उनकी उत्पत्ति का पता चलेगा।

इस मत की पुष्टि के लिए आइये हम भेदों के वर्गीकरण पर ध्यान दें जिनके विषय में हम जानते हैं या विश्वास करते हैं कि उनकी वंशागति एक ही जाति से हुई है। भेद जातों के अन्तर्गत रखे जाते हैं और उपभेद, भेदों के अन्तर्गत। कुछ उदाहरणों में, जैसे पालतू कबूतरों में, इनके अतिरिक्त विभाजन के अन्य स्तर भी होते हैं। इस वर्गीकरण में भी उन्हीं नियमों का पालन किया जाता है जिनका जातों के वर्गीकरण

में। लेखकों ने इस बात पर जोर दिया है कि भेदों की व्यवस्था कृत्रिम नहीं बल्कि नैसर्गिक होनी चाहिए। उदाहरण के लिए हमको इस बात के लिए सावधान किया जाता है कि अनन्नास के दो भेदों को केवल इसीलिए एक साथ नहीं रखना चाहिए कि उनके फल, चाहे वे कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, एक जैसे होते हैं। इसी प्रकार कोई स्वेडिश तथा साधारण मूलियों को एक साथ नहीं रखता यद्यपि उनके मोटे तने एक जैसे होते हैं। जो अंग अधिक-से-अधिक स्थिर रहता है, भेदों के वर्गीकरण में उसी का उपयोग किया जाता है। इसी आधार पर मार्शल जैसे महान् कृषक का कहना है कि चौपायों में सींग से सम्बन्धित लक्षण इसलिए सबसे उपयोगी होते हैं क्योंकि रंग और आकार में अन्य अंगों की अपेक्षा ये बहुत कम परिवर्तनशील हैं; किन्तु भेड़ों में सींग कम उपयोगी है क्योंकि ये स्थिर नहीं होतीं। मैं समझता हूँ कि यदि हमको भेदों की उत्पत्ति के निश्चित क्रम का ज्ञान होता, तो उनके वर्गीकरण में भी सभी वंशक्रमानुसार वर्गीकरण को पसन्द करते; अब कई उदाहरणों में ऐसा ही किया गया है। यह निश्चित है कि आपरिवर्तन चाहे अधिक हुआ हो या कम वंशागति के सिद्धान्त के कारण अधिक-से-अधिक लक्षणों में समान जीव एक साथ ही रहेंगे। उदाहरण के लिए टम्बलर कबूतर के कुछ उपभेद चोंच की लम्बाई के सम्बन्ध में अन्य उपभेदों से भिन्न हैं फिर भी लोटने की प्रकृति के सभी में होने के कारण वे एक साथ रक्खे जाते हैं; लेकिन छोटे चेहरे वाले टम्बलर में यह प्रकृति लगभग नष्ट हो गयी है। फिर भी इस विषय में बिना विचार किये इनको भी उसी विभाजन में रक्खा जाता है क्योंकि उनमें रक्त-सम्बन्ध है।

प्राकृतिक अवस्था में जातों के वर्गीकरण में लगभग सभी लेखक वंशागति का ध्यान रखते हैं। क्योंकि इस वर्गीकरण के सबसे नीचे के स्तर में दोनों लिंग भेदों को रखते हैं हालाँकि सभी जानते हैं कि कभी-कभी ये एक-दूसरे से कितने भिन्न होते हैं। इसी तरह सिरीपीडों के उभयलिंगी तथा नर रूपों में शायद ही कोई लक्षण सामान्य होता हो फिर भी उनको अलग रखने की बात किसी के ध्यान में नहीं आती। आर्किडों के तीन रूप **मोनाकन्थस** (Monachanthus), **मायन्थस** (Myanthus) तथा **कटासीटम** (Catasetum) को पहले तीन पृथक् जातियों में रखा जाता था किन्तु जब यह मालूम हुआ कि किसी समय वे एक ही पौधे पर उत्पन्न हुए थे तब तत्काल उनको भेदों का स्तर दिया गया; और अब मैं यह सिद्ध करने में सफल हुआ हूँ कि वे एक ही जाति के नर, मादा तथा उभयलिंगी रूप हैं। किसी जाति के विभिन्न लार्वा एक-दूसरे से कितने ही भिन्न रूप में क्यों न हों, प्रकृतिवादी उनको एकही जात के अन्तर्गत रखते हैं। इसी प्रकार स्टीनस्ट्रप (Steenstrup) ने पीढ़ियों का

एकान्तरण (Atlernation of Generations) बताया है। और वैज्ञानिक अर्थ में ही इनके विभिन्न रूपों को एक ही जीव कहा जा सकता है; तथा वे भेदों अथवा असाधारण रूपों को किसी जात के अन्तर्गत इसलिए नहीं रखते कि वे पूर्वज के रूप के समान हैं, बल्कि इसलिए कि वे उससे उत्पन्न हो रहे हैं।

यद्यपि किसी जात के नर, मादा तथा लार्वा बहुधा एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं फिर भी वंशागति के आधार पर उनको एक ही जात के अन्तर्गत रक्खा जाता है। इसी प्रकार यद्यपि भेदों में काफी मात्रा में आपरिवर्तन हो जाते हैं फिर भी वंशागति के आधार पर उनको एक ही जात में रक्खा जाता है। अतः क्या यह संभव नहीं है कि यही वंशागति का सिद्धान्त अनजाने में ही जातियों के अन्तर्गत जातों और उच्च विभाजनों के अन्तर्गत जातियों को प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार रखने के उपयोग में लाया गया हो ? मेरा विचार है कि ऐसा हुआ है और इसी आधार पर हम उन अनेक नियमों को समझ सकते हैं जिनका प्रयोग अच्छे-से-अच्छे प्रकृतिशास्त्रियों ने वर्गीकरण में किया है। चूँकि हमारे पास वंशक्रम के लिखित प्रमाण नहीं हैं अतः बाध्य होकर वंशागति के सम्बन्ध में हमको लक्षणों की सहायता लेनी पड़ती है। इसलिए हम उन्हीं लक्षणों को छाँटते हैं जिनमें आपरिवर्तन की संभावना, विशेषकर वातावरण की दशाओं को देखते हुए कम से कम है। इस मत के अनुसार अवशिष्ट अंग उतने ही उपयोगी हैं जितने अन्य अंग, बल्कि कभी-कभी वे अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। हम इस बात का ख्याल नहीं करते कि कोई लक्षण कितना तुच्छ है, यदि वह अनेक तथा विभिन्न जातों में समान है; और यदि विविध रहन-सहन वाली जातों में वह समान है तो हमारे लिए बहुत उपयोगी हो जाता है। क्योंकि विविध रहन-सहन और प्रकृति के जीवों में उसकी उपस्थिति केवल समान वंशागति के कारण ही हो सकती है। अतः चाहे यह लक्षण जबड़े के झुकाव के कोण, कीटों के पंख मोड़ने के ढंग या त्वचा ढँकने वाले अंगों से ही क्यों न सम्बन्ध रखता हो, वह बराबर उपयोगी है। यदि हम केवल एक ही लक्षण का सहारा लें, तो गलती कर सकते हैं। किन्तु जब एक साथ कई लक्षणों को ध्यान में रक्खा जाता है, तो चाहे वे कितने ही तुच्छ क्यों न हों, यदि वे विविध प्रकृतियों वाले विभिन्न जातों में समान रूप से मिलते हैं तो वंशागति के सिद्धान्त के आधार पर हम यह विश्वास कर सकते हैं कि ये लक्षण एक ही पूर्वज से आये हैं। हम जानते हैं कि इसलिए इस प्रकार के लक्षणों के समूह वर्गीकरण में विशेष महत्व रखते हैं।

हम समझ सकते हैं कि अगर कोई जाति या जातिसमूह अपनी बन्धु-जातों से कई महत्त्वपूर्ण लक्षणों में भिन्न हो जाती है तो भी उनको क्यों साथ ही रखते हैं। जब तक काफी संख्या में लक्षण वंशागति की समानता को व्यक्त करते हैं, तब तक चाहे ये

लक्षण कितने ही अमहत्त्वपूर्ण क्यों न हों, ऐसा किया जा सकता है और बहुधा किया जाता है। यदि किन्हीं दो जातों के बीच एक भी लक्षण समान न हो, किन्तु ये दोनों जातें बीच की जातों के क्रम से सम्बन्धित हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि उनके पूर्वज एक ही हैं और इसलिए उनको एक ही वर्ग में रखा जा सकता है। चूंकि कायिकी की दृष्टि से कुछ अंग बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं—अर्थात् उनके द्वारा जीवन की विविध दशाओं में भी वे जीवन की रक्षा करते हैं, और साथ ही वे साधारणतः सबसे अधिक स्थिर होते हैं, इसलिए हम उनको विशेष महत्त्व देते हैं। किन्तु यदि किसी अन्य वर्ग में या वर्ग के विभाग में ये ही अंग बहुत भिन्न होते हैं, तो उस वर्ग में उनका महत्व गिर जाता है। हम अभी देखेंगे कि वर्गीकरण के लिए भ्रूणविकास संबंधी लक्षण क्यों बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। कभी-कभी बड़ी जातियों के वर्गीकरण में भौगोलिक वितरण की भी सहायता ली जाती है, क्योंकि किसी स्पष्ट अथवा पृथक् प्रदेश में एक जाति की सभी जातें संभवतः समान पूर्वजों से उत्पन्न हुई होंगी।

कार्यसदृश समानताएँ—ऊपर दिये हुए मत के अनुसार हम यह समझ सकते हैं कि वास्तविक बन्धुता तथा कार्यसदृश अथवा अनुकूलन संबंधी समानताओं में क्या अन्तर है। इस विषय की ओर सबसे पहले हमारा ध्यान लैमार्क ने आकर्षित किया था। और उनके बाद मैक्ली तथा अन्य लेखकों ने भी इस पर अपने विचार प्रकट किये हैं। डुगाँग तथा ह्वेल के शरीर के आकार तथा फ़िन जैसे अगले अवयवों की समानता तथा इन अंगों की मछलियों के आकार तथा समानता कार्यसदृश समानताएँ हैं क्योंकि ये जन्तु स्तनियों तथा मछलियों जैसे भिन्न वर्गों में हैं। इसी प्रकार चूहे तथा छछूंदर की समानता तथा चूहे और आस्ट्रेलिया के मारसूपियल और **एण्टीकाइनस** (Antechinus) की समानता कार्य सदृश समानता है क्योंकि ये जीव विभिन्न गणों के हैं। जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ इन समानताओं का कारण यह है कि ये जन्तु समान अवस्थाओं में झाड़ियों, घासफूस आदि में जल्दी-जल्दी चलते तथा छिपते रहे हैं और इसलिए समानरूप से अनुकूलित होकर उनके आकार में समानता उत्पन्न हो गयी है। कीटवर्ग में इस तरह के असंख्य उदाहरण मिलते हैं। वाह्य संरचना के कारण धोखा खाकर लीनियस ने एक होमाप्टेरा (Homoptera) को मॉथ समझ लिया था। कुछ ऐसी ही बातें हम अपने पालतू जानवरों में भी देखते हैं। उदाहरण के लिए सामान्य तथा चीनी सुअरों की उन्नतिशील नस्लों में अथवा सामान्य तथा स्वेडिश शलजम के वाह्य आकारों में हमको काफी समानता जान पड़ती है यद्यपि ये बिल्कुल पृथक् जातों की संतानें हैं। वास्तव में इस प्रकार की समानताओं को हम उसी श्रेणी में रख सकते हैं जैसे ग्रे हाउन्ड कुत्ते तथा घुड़दौड़ वाले घोड़े।

इस मत के अनुसार ठीक वे ही लक्षण वर्गीकरण के लिए वास्तविक महत्व रखते हैं जिनका वंशागति से सम्बन्ध है, हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि कार्य सदृश अथवा अनुकूलन संबंधी लक्षण वर्गीकरण में लगभग बिना किसी महत्व के हैं, यद्यपि जीव विशेष की भलाई के लिए वे बहुत आवश्यक हैं। संभव है कि ऐसे दो जन्तु जो बिल्कुल पृथक् विभाजनों के हैं किसी एक ही परिस्थिति अथवा वातावरण के लिए अनुकूलित हो जायँ और इस प्रकार इनकी बाह्य समानता संभव हो जाय, किन्तु ऐसी समानता से उनका वास्तविक सम्बन्ध नहीं प्रकट होता बल्कि छिप सकता है। इस प्रकार इस विरोधाभास का कारण भी हमारी समझ में आ जायगा कि क्यों जब हम किसी एक विभाजन की तुलना दूसरे के साथ करते हैं तो जो लक्षण उनके बीच कार्य सादृश्य बतातें हैं वे ही लक्षण किसी विभाजन के अन्तर्गत आने वाले विभाजनों तथा सदस्यों की तुलना करने पर उनके वास्तविक संबंध पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरण के लिए जब हम व्हेल की तुलना मछली से करते हैं, तो शरीर का आकार तथा फ़िन जैसे अवयव केवल कार्य सादृश्य बतातें हैं क्योंकि ये लक्षण इन जन्तुओं के तैरने की प्रकृति के लिए अनुकूलन के कारण हैं। किन्तु जब हम व्हेल वंश के विभिन्न सदस्यों की तुलना करते हैं, तो शरीर का आकार तथा फ़िन जैसे अवयव सामने ऐसे लक्षण उपस्थित करते हैं जिनकी सहायता से उनके आपस का बंधुत्व स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि समस्त ह्वेल वंश में ये लक्षण इतने सामान्य हैं, कि इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि यह समानता सामान्य वंशागति के कारण है। यही बात मछलियों के लिए भी सत्य है। ऐसे बिल्कुल ही भिन्न जीवों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनका एक विशेष अंग अथवा भाग दूसरे के बिल्कुल समान है क्योंकि दोनों एक ही कार्य करते हैं। इस तरह का एक सुन्दर उदाहरण कुत्ते तथा तस्मानिया के भेड़िये, अर्थात् थायला साइनस (Thylacinus) के जबड़ों में देखने को मिलता है। ये जन्तु एक प्राकृतिक व्यवस्था में एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। इनकी समानता केवल समान आकार तक ही सीमित है, जैसे कि कैनाइन दाँतों के उभार या मोलर के आकार में; लेकिन वास्तव में दोनों के दाँत बहुत भिन्न हैं —कुत्ते के ऊपरी जबड़े में एक ओर चार प्रीमोलर और केवल दो मोलर होते हैं जब कि थायला साइनस में तीन प्रीमोलर और चार मोलर होते हैं। दोनों के मोलरों में नाप तथा संरचना संबंधी अंतर भी होते हैं। प्रौढ़ दाँतों के पहले निकलने वाले दूध के दाँतों की व्यवस्था भी दोनों में बहुत भिन्न होती है। संभव है कि कोई यह बात ही न माने कि इन दोनों जन्तुओं में दाँत मांस नोचने के लिए अनेक पीढ़ियों में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा एक उदाहरण में अनुकूलित हुए है; किन्तु यदि हम यह मानते है तो दूसरे में भी मानना पड़ेगा। मुझको यह जानकर बड़ी

प्रसन्नता हुई है कि प्रोफेसर फ़्लावर जैसे उच्च अधिकारी भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

पिछले अध्याय में दिये कुछ अद्‌भुत् उदाहरण—जैसे वहुत भिन्न प्रकार की मछलियों में विद्युत अंगों का होना, या बहुत भिन्न प्रकार के कीटों में प्रकाशोत्पादक अंगों का होना या आर्किडों तथा ऐस्क्लेपिडों (Asclepiads) के परागपुंजों में चिपचिपे बिम्बों का होना भी कार्यसदृश समानताओं के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु ये उदाहरण इतने अद्‌भुत् हैं कि इनको हमारे मत के विरुद्ध आपत्तियों अथवा कठिनाइयों के रूप में रखा गया था। इन सभी उदाहरणों में वृद्धि अथवा अंगों के विकास तथा प्रौढ़ संरचना में कुछ आधारभूत अंतर देखे जा सकते हैं। किन्तु इन्हें यद्यपि समान लगते हुए भी साधन वास्तव में भिन्न है फिर भी हम उन्हीं लक्ष्यों पर पहुँचते हैं। संभवतः इन्हीं उदाहरणों में ये सिद्धान्त काम में आये हैं जिनका हमने पहले कार्यसदृश परिवर्तनों के नाम से उल्लेख किया था। अर्थात् एक ही वर्ग के सदस्य एक-दूसरे से बहुत कम सम्बन्धित होते हुए भी इसलिए संरचना में समान वंशागति दिखाते हैं क्योंकि समान कार्यशील दशाओं से प्रभावित होकर उनमें समानरूप से परिवर्तन होंगे। और जब ऐसा होगा तो स्पष्ट है कि भागों अथवा अंगों के प्राकृतिक निर्वाचन के कारण उनमें समान लक्षण उत्पन्न होंगे, यद्यपि इस समानता का वंशागति की समानता से कोई सम्बन्ध न होगा।

बहुधा बिल्कुल ही भिन्न वर्गों की जातें मिलती-जुलती परिस्थितियों में रहने के कारण अनेक सूक्ष्म परिवर्तनों के द्वारा समान रीति से अनुकूलित होती हैं, जैसे वायु, स्थल में अथवा जल में रहने के लिए। अतः हम समझ सकते हैं कि इन वर्गों में प्रत्येक रहन-सहन की परिस्थिति के लिए बराबर संख्या में अनुकूलित उपविभाजन क्योंकर पाये जाते हैं। इस प्रकार की समानता से प्रभावित होकर तथा प्रत्येक वर्ग के विभाजनों के महत्त्व को मनमानी रीति से ऊँचा करके (हमारा अनुभव यह है कि इन विभाजनों का महत्त्व अभी मनमाने रीति से ही निर्धारित हुआ है) कोई भी प्रकृतिवादी आसानी से इस समानता को विस्तृत कर सकता है और इस प्रकार सात, पाँच, चार या तीन उपविभाजनों वाले वर्गीकरण प्रारम्भ हुए होंगे।

कुछ ऐसे भी विचित्र उदाहरण हैं जिनमें वाह्य समानताएँ रहन-सहन की समान परिस्थितियों के प्रति अनुकूलन के कारण नहीं उत्पन्न हुई हैं बल्कि रक्षा के लिए हुई हैं। उदाहरण के लिए मि० बेट्स द्वारा उल्लिखित तितलियों के अद्‌भूत उदाहरणों की ओर या कुछ अन्य जातों की ओर ध्यान दीजिए। बेट्स ने यह सिद्ध किया है कि दक्षिणी अमेरिका के कुछ भागों में जहाँ, उदाहरण के लिए **आइथोमिया** (Ithomia) के झुंड-के-झुंड पाये जाते हैं एक दूसरी तितली अर्थात् **लेप्टैलिस** (Leptalis) के सदस्य

भी प्रायः उसी झुंड में मिलते हैं। लेप्टैलिस आइथोमिया से रूपरंग तथा पंख के आकार और धारियों में इतनी अधिक समान हैं कि ग्यारह वर्षों तक इन तितलियों का संग्रह करने के बाद मि० बेट्स ने बहुधा इनको पहिचानने में गलती की। जब अनुकरण करने वाली तितली तथा जिसकी अनुकृति की गयी दोनों को पकड़कर उनका अध्ययन किया गया तो महत्त्वपूर्ण अन्तर देखे गये। तब पता चला कि वे अलग-अलग जातियों की ही नहीं थी वरन् अलग-अलग वंशों की थीं। यदि यह मिमिकरी (Mimicry) केवल एक ही दो उदाहरणों में देखी जाती तो संभव था कि इसको आकस्मिक समझकर छोड़ दिया जाता किन्तु जैसे-जैसे हम किसी ऐसे प्रदेश से, जहाँ **लेप्टैलिस** की एक जाति **आइथोमिया** की किसी जाति की अनुकृति करती है, किसी दूसरे प्रदेश में जाते हैं तो हमको इन्हीं जातों की अन्य जातें इसी तरह के सम्बन्ध में पायी जाती हैं। कुल मिलाकर ऐसी दस जातियों का पता है जिनकी विभिन्न जातियों में मिमिकरी का सम्बन्ध है। अनुकृति करनेवाली तथा अनुकृति की जानेवाली जातें सदा एक ही प्रदेश में पायी जाती हैं और हमको एक भी अनुकृतिकारी तितली, अनुकृति की जानेवाली तिलियों से दूर नहीं मिलती। अनुकृति की जानेवाली तितलियाँ बड़े-बड़े झुंडों में पायी जाती हैं जब कि अनुकृतिकारी तितलियाँ विरले ही मिलती हैं जिस प्रदेश में **लेप्टैलिस** को एक जात **आइथोमिया** की किसी जात की नकल करती हैं, उसी प्रदेश में कभी-कभी तितलियों की अन्य ऐसी जातें भी मिलती हैं जो आइथोमिया की उसी जात की नक़ल करती हैं। इस प्रकार एक ही स्थान में तीन जातियों की तितलियाँ चौथी जाति की एक विशेष जात की तितली की अनुकृति करती दिखाई पड़ती हैं। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि **लेप्टैलिस** के विभिन्न अनुकृतिकारी रूपों में तथा अनुकृति किये गये रूपों में यह सिद्ध किया जा सकता है कि वे समान जातों के क्रमिक भेद हैं, किन्तु अन्य तितलियाँ स्पष्ट जातों का निर्माण करती हैं। यह पूछा जा सकता है कि इनमें से क्यों हम कुछ जातों को अनुकृति की जाने वाली और कुछ को अनुकृति करने वाली मानते हैं। बेट्स ने इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर दिया है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि अनुकृति की जानेवाली तितली अपने विभाजन के सामान्य रूपरंग के ही समान होती है, जब कि अनुकृति करनेवाली तितली अपने सहसम्बन्धित जातों के समान नहीं रह गयी है।

प्रश्न यह उठता है कि इस बात का क्या कारण है कि कुछ माँथ दूसरी और बिल्कुल ही पृथक् जातों के समान रूप-रंग धारण करती हैं? क्यों प्रकृति में ये नाटकीय चालें होती हैं? मि० बेट्स ने निश्चय ही इस समस्या का सही समाधान किया है। अनुकृति किये जानेवाले रूप जो बड़ी संख्या में पाये जाते हैं साधारणतः बड़ी हद तक

नष्ट होने से बच जाते हैं, अन्यथा ये इतने बड़े झुंडों में न मिलते। और अब इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं जिनसे पता चलता है कि वे पक्षियों तथा अन्य कीटभक्षी जन्तुओं के लिए अरुचिकर होते हैं। इसके विपरीत उसी प्रदेश में पाये जाने वाले अनुकृतिकारी रूप अपेक्षाकृत विरले होते हैं। स्पष्ट है कि उनको कुछ विशेष खतरा है, नहीं तो जितनी बड़ी संख्या में तितलियाँ अंडे देती हैं उसके अनुसार तीन-चार पीढ़ियों में उनसे सारा प्रदेश भर जाता। अब यदि इस त्रस्त और विरली प्रकार की एक भी तितली सुरक्षित प्रकार की तितली का रूप ऐसी सफलता से धारण कर ले कि सफल कीटशास्त्री भी धोखा खा जायँ तो बहुधा वह कीटभक्षी कीटों या पक्षियों को धोखा देकर अपनी रक्षा कर सकेगी। कहा जा सकता है कि मि० बेट्स ने लगभग उस क्रिया को स्वयं पूर्ण होते देखा जिसके द्वारा अनुकृति करनेवाले अनुकृति किये जानेवाले रूपों के इतने समान बन गये हैं। उन्होंने यह देखा कि लेप्टैलिस के वे रूप जो इतनी तितलियों की अनुकृति करते हैं, स्वयं बहुत अधिक भिन्न होते हैं। एक प्रदेश में इनके कई भेद मिले और इनमें से केवल एक भेद उस प्रदेश में समानरूप से **आइथोमिया** से कुछ हद तक मिलता था। एक दूसरे प्रदेश में इसके दो तीन-भेद प्राप्त हुए और इनमें से एक जो अधिक संख्या में मिलता था, **आइथोमिया** के एक रूप के सदृश था। इस प्रकार के तथ्यों के आधार पर मि० बेट्स इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्रारम्भ में लेप्टैलिस में परिवर्तन की क्रिया होती है और फिर जब कोई भेद उस प्रदेश की किसी दूसरी तितली के सदृश हो जाता है, तो अपेक्षाकृत सफल और कम त्रस्त रूप के समान होने के कारण उसको कीटभक्षी पक्षियों और कीटों से बचने की संभावना अधिक होती है और इसलिए उसके जीवित रहने की संभावना भी अधिक होती है। इस तरह हर पीढ़ी के बाद कम समानता दिखाने वाली तितलियाँ क्रमशः नष्ट हो जाती हैं और अधिक समान तितलियाँ बच जाती हैं "जो अपने ही समान संतानें उत्पन्न करती हैं।" यह प्राकृतिक निर्वाचन का सर्वोत्तम उदाहरण है।

मि० वालेस और मि० ट्राइमेन ने भी मलाया द्वीपसमूह तथा अफ्रीका के लेपीडाप्टेरा तथा कुछ अन्य कीटों के ऐसे ही अनुकृति के कुछ अद्भुत उदाहरण दिये हैं। मि० वालेस ने पक्षियों में भी एक ऐसा उदाहरण देखा किन्तु बड़े चौपायों में इस प्रकार का कोई उदाहरण हमको प्राप्त नहीं हुआ। अनुकृति के उदाहरणों का कीटों में अधिक संख्या में पाया जाना कदाचित् उनके छोटे होने के कारण है। उन कीटों को छोड़ कर जिनमें दंश (डंक) होते हैं, बाकी कीट किसी प्रकार अपनी रक्षा नहीं कर सकते और यद्यपि दंशवाले कीटों की अनुकृति होती है किन्तु मैंने एक भी ऐसा उदाहरण नहीं सुना जिसमें स्वयं दंशवाले कीट किसी अन्य कीट की अनुकृति करें। शिकार करनेवाले

बड़े जन्तुओं से कीट उड़कर अपनी रक्षा नहीं कर सकते। अतः उनको धोखेबाजी और नकल का सहारा लेना पड़ता है।

ध्यान देने की बात है कि अनुकृति की क्रिया संभवतः बिल्कुल ही दो भिन्न जातों के बीच में ही प्रारम्भ होती है, किन्तु यदि दो जातें पहले ही से कुछ हद तक एक-दूसरे के सदृश हैं, और उनकी अधिक समानता एक के लिए उपयोगी है तो ऊपर लिखी विधि से अनुकृति की क्रिया पूर्ण होगी। और यदि अनुकृति की जानेवाली जाति बाद में किसी कारण क्रमशः आपरिवर्तित होती है तो अनुकृतिकारी जाति भी उसी राह पर चलेगी और उसमें भी वे ही परिवर्तन होंगे जिसका फल यह होगा कि अंत में अपने वंश के अन्य सदस्यों से वह बहुत भिन्न हो जायगी। किन्तु इसमें कठिनाई सामने आती है, क्योंकि कुछ उदाहरणों में यह कल्पना करना आवश्यक होगा कि विभिन्न विभाजनों के प्राचीन सदस्य वर्तमान स्थिति तक परिवर्तित होने के पहले आकस्मिक रीति से किसी अन्य तथा सुरक्षित विभाजन के किसी सदस्य के समान हो गये जिससे उनकी कुछ रक्षा हुई। बाद में इसी आधार पर अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण सादृश्य संभव हुआ।

जीवों के बीच संबंध उत्पन्न करनेवाले बंधुत्व (Affinitics) **की प्रकृति**—बड़ी जातियों की प्रबल जातों की आपरिवर्तित संततियों में उन सुविधाओं को वंशानुगत करने का झुकाव होता है जिनकी सहायता से उनके पूर्वज प्रबल हुए और उनके विभाजन की वृद्धि हुई। इसलिए यह लगभग निश्चित है कि उनका काफी विस्तार होगा और प्रकृति में ये नये-नये स्थानों पर अधिकार करेंगे। इस तरह प्रत्येक वर्ग के बड़े और प्रबल विभाजन और भी बड़े होंगे, जिसके फलस्वरूप वे अनेक छोटे और निर्बल विभाजनों का स्थान ग्रहण करेंगे। यही कारण है कि आधुनिक तथा विगत सभी प्रकार के जीव कुछ बड़े गणों में बाँटे जाते हैं और गण स्वयं उससे भी कम संख्या में वर्गों में रखे जाते हैं। यह बात सिद्ध करने के लिए कि उच्च विभाजन संख्या में कितने कम हैं और वे संसार में कब और कितनी दूर तक फैले हैं केवल एक बात पर ध्यान दीजिए—आस्ट्रेलिया महाद्वीप की खोज के फलस्वरूप एक भी कीट ऐसा नहीं मिला जिसके लिए कोई नया वर्ग बनाने की आवश्यकता होती; और वनस्पति साम्राज्य में डा० हूकर ने मुझको बताया कि इस प्रकार केवल दो-तीन छोटे-छोटे वंशों का निर्माण हुआ।

भूतत्वीय क्रम के अध्याय में इस सिद्धान्त के आधार पर कि आपरिवर्तन के लम्बे काल में सामान्यतः प्रत्येक विभाजन में लक्षणों का काफी विचलन होता है, मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि क्योंकर बहुधा प्राचीन जीवों में ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जो कुछ हद तक वर्तमान समूहों के बीच के होते हैं। चूँकि ऐसे कुछ ही प्राचीन और माध्यमिक जीव हैं जिनकी संतानें वर्तमान समय तक आपरिवर्तित रूप में चली आ

रही हैं, इसलिए बहुधा इनको विपथित (aberant) कहते हैं। जितनी ही कोई जात अधिक विपथित होती है, उतनी ही अधिक संख्या ऐसी जातों की होती है, जो पूर्णतः नष्ट हो गयी हैं। और हमारे पास इस बात के कुछ प्रमाण हैं कि विपथित जीवों के विभाजनों की गहरी हानि बहुधा विलुप्तता के कारण होती है, क्योंकि सदा ही ऐसे विभाजनों में बहुत थोड़ी जातें होती हैं, तथा जो जातें होती भी हैं वे एक-दूसरे से बहुत पृथक् होती हैं। और इससे भी विनाश होता है। उदाहरण के लिए **आरनाइथोरिंकस** (Ornithorhynchus) तथा **लेपिडोसाइरेन** (Lepidosiren) जातियों की एक दो, या तीन जातें होने के बजाय यदि एक दर्जन जातें होतीं तो वे इतनी विपरीत न होतीं। मेरे विचार में हमारे सामने विपथित जीवों के होने का एक ही कारण सामने आता है, वह यह कि विपथित जातें कई सफल प्रतियोगियों द्वारा पराजित हो चुकी हैं और उनकी एक-दो जातें अकस्मात् बहुत ही अनुकूल परिस्थिति पाकर अब तक बच रही हैं।

मि० वाटरहाउस का कहना है कि जब जन्तुओं के किसी समूह का एक सदस्य किसी बिल्कुल ही भिन्न समूह से बंधुत्व दिखाता है, तो अधिकतर यह बंधुता विशेष नहीं बल्कि सामान्य होती है। इस प्रकार मि० वाटरहाउस के अनुसार, रोडेन्ट्स (Rodents) में बिज़काचा (bizcacha) मारसूपियलों से सबसे अधिक संबंधित है। किन्तु जिन लक्षणों में यह जन्तु इस वर्ग के समीप आता है उनमें इसके संबंध सामान्य हैं, अर्थात् किसी एक मारसूपियल जात से नहीं, बल्कि सभी से। चूँकि बंधुत्व के ये लक्षण अनुकूलन सम्बन्धी नहीं, बल्कि वास्तविक समझे जाते हैं, इसलिए हमारे मत के अनुसार यह समानता वंशागति के आधार पर हो सकती है। इसलिए हमको यह मानना होगा कि सभी रोडेन्ट, बिज़काचा के सहित , किसी प्राचीन मारसूपियल से उत्पन्न हुए और इसीलिए यह प्राचीन मारसूपियल सभी वर्तमान मारसूपियलों में माध्यमिक स्थिति का होगा, या रोडेन्ट और मारसूपियल दोनों ही विभाजन किसी सामान्य पूर्वज से उत्पन्न हुए और इसके बाद पृथक् दशाओं में आपरिवर्तित होते रहे। दो में से कोई भी बात मानी जाय, तो हमको यह मानना होगा कि अन्य रोडेन्टों की अपेक्षा बिज़काचा में अपने प्राचीन पूर्वज के अधिक लक्षण वंशागत किये गये हैं। अतः यह जन्तु किसी भी वर्तमान मारसूपियल से विशेषतः तो इतना ही संबंधित होगा, बल्कि परोक्ष रूप से लगभग सभी मारसूपियलों से संबंधित होगा क्योंकि उसमें उनके सामान्य पूर्वज, या उनके किसी प्राचीन सदस्य के कई लक्षण मिलेंगे। दूसरी ओर जैसा मि० वाटरहाउस का कहना है, सभी मारसूपियलों की अपेक्षा उनकी **फ़ैस्कोलोमिस** (Phascolomys) जाति रोडेन्टगण से सामान्यतः मिलती है और किसी विशेष जात से नहीं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यह समानता कार्य सादृश्य है क्योंकि **फ़ैस्कोलोमिस** रोडेन्टों की प्रकृति के अनुसार

अनुकूलित हुआ है। बड़े डि कैन्डोल ने पौधों के विभिन्न वंशों के बंधुत्व के विषय में लगभग ऐसे ही अवलोकन किये हैं।

किसी वंश या उच्च विभाजन के सदस्यों के अत्यन्त जटिल तथा विचलनीय बंधुत्व का स्पष्टीकरण भी हम इसी सिद्धान्त के आधार पर कर सकते हैं कि एक ही पूर्वज से वंशानुगत जातों का प्रगुणन और लक्षणों में क्रमिक विचलन के साथ ही इनमें से कुछ लक्षण वंशानुगति के कारण सभी सदस्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। स्पष्ट है कि यद्यपि किसी वंश में विलुप्तता के कारण अब कई विभाजन और उपविभाजन हो गये हैं, लेकिन इस पूरे वंश का एक ही पूर्वज है जिसने अपने कुछ लक्षण विभिन्न आपरिवर्तित रूपों में वंश की सभी जातों को प्रदान किये हैं। इसलिए वे जातें एक-दूसरे से विभिन्न लंबाइयों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से संबंधित होंगी जो पीढ़ियों के द्वारा वास्तविक पूर्वज तक पहुँच जाएँगी। इस पुस्तक में दिये चित्र से भी यह स्पष्ट हो जाएगा। यदि किसी प्राचीन राजसी परिवार के विभिन्न प्राणियों का रक्त-संबंध वंशक्रम की सहायता से प्रकट करना बहुधा संभव नहीं होता, तो बिना इस प्रकार के चित्र के जीवों के किसी बड़े वर्ग के अनेक जीवित तथा विलुप्त सदस्यों का सम्बन्ध का पता लगाना प्रकृतिवादियों के लिए कितना कठिन होगा, यह समझा जा सकता है।

जैसा हम चौथे अध्याय में लिख चुके हैं, विलुप्तता का किसी वर्ग के विभिन्न विभाजनों को पृथक् करने या उनको दूर करने में महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। वास्तव में इसी कारण से विभिन्न वर्ग एक-दूसरे से पृथक् हुए हैं, जैसे सभी वर्टिब्रेट (मेरुदण्डधारी) जन्तुओं से पक्षी वर्ग। हम समझते हैं कि ऐसे कई प्राचीन जन्तु बिल्कुल ही नष्ट हो चुके हैं जिनके द्वारा पक्षियों के प्रारम्भिक पूर्वज अन्य वर्टिब्रेट वर्गों के पूर्वजों से सम्बन्धित थे। ऐसे जन्तुओं का जिनके द्वारा किसी समय मछलियों और उभयचरों का सम्बन्ध पता चलता था, बहुत कम विनाश हुआ है। इससे भी कम विनाश कुछ संपूर्ण वर्गों में हुआ है, जैसे क्रस्टेशिया। इनमें बहुत ही भिन्न जातों के बीच अब भी लंबी तथा लगभग पूरी बंधुत्व की श्रृंखला पायी जाती है। ध्यान रहे कि विलुप्तता से विभाजन बने नहीं, ये केवल स्पष्ट हो गये हैं। क्योंकि यदि किसी प्रकार पृथ्वी पर किसी समय रहनेवाला प्रत्येक जीव एकाएक फिर प्रकट हो जाय तो यद्यपि प्रत्येक वर्ग की स्पष्ट व्याख्या करना असंभव हो जाएगा, लेकिन फिर भी प्राकृतिक वर्गीकरण या कम-से-कम प्राकृतिक व्यवस्था, संभव होगी यह बात हम पुनः चित्र की सहायता से देख सकते हैं। मान लीजिए कि 'का' से 'डा' तक के बीच के अक्षर ग्यारह साइल्यूरियन जातियाँ बताते हैं, जिनमें से कुछ से आपरिवर्तित संतानों के बड़े विभाजन उत्पन्न हो गये हैं और हर शाखा तथा प्रशाखा के संबंध जीवित हैं; तथा यह संबंध जीवित भेदों के संबंध

से गहरे नहीं हैं। इस उदाहरण में ऐसी परिभाषाएँ देना जिनके द्वारा विभिन्न विभाजनों के विभिन्न सदस्यों का उनके पूर्वजों तथा संततियों से स्पष्ट रूप से विभेद न किया जा सके, असंभव होगा। फिर भी चित्र में दी हुई व्यवस्था उतनी ही ठीक बनी रहेगी और नैसर्गिक भी मानी जायगी। क्योंकि उदाहरण के लिए, वंशागति के सिद्धांतों के अनुसार 'का' से उत्पन्न होने वाले सभी सदस्यों में कुछ सामान्य लक्षण होंगे। एक वृक्ष में हम एक शाखा को दूसरे से अलग पहचान सकते हैं यद्यपि जोड़ पर दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। जैसा मैं कह चुका हूँ, हम समूहों की व्याख्या नहीं कर सकते, किन्तु उनके प्रारूपिक सदस्यों को छाँट सकते हैं जिसमें किसी विभाजन के अधिकांश लक्षण उपस्थित होंगे—चाहे विभाजन बड़ा हो अथवा छोटा; और इस तरह प्ररूपों की तुलना करने से विभाजनों के अंतरों का सही अनुमान किया जा सकता है। यदि कभी हम किसी वर्ग में समय तथा स्थान में रहने वाले सभी सदस्यों को एकत्रित करने में सफल हो सकते हैं, तो हमको यही करना होगा। इतना पूर्णसंग्रह हम कभी नहीं कर सकेंगे, किन्तु कुछ वर्गों में हम निश्चय ही इस तरह के वर्गीकरण की ओर बढ़ रहे हैं और एक सुन्दर लेख में अभी हाल में मिल्ने एडवर्ड्स ने प्ररूपों की खोज-बीन पर जोर दिया है चाहे हम उन विभाजनों को एक-दूसरे से अलग करने और उनकी व्याख्या करने में सफल न भी हों।

जीवन-संघर्ष के फलस्वरूप होनेवाले प्राकृतिक निर्वाचन के कारण लगभग सदा कुछ विलुप्तता तथा प्रत्येक पूर्वज जात की संततियों में लक्षणों का विचलन होता है। हम देखते हैं कि इस सिद्धान्त के द्वारा सभी जीवों के परस्पर संबंध, अर्थात् उनके विभाजनों में बँटने की क्रिया का स्पष्टीकरण होता है। हम विभिन्न अवस्थाओं और दोनों लिंगों के सदस्यों को वंशागति के ही आधार पर एक जाति में रखते हैं, यद्यपि उनमें शायद ही कुछ लक्षण सामान्य रूप से मिलते हों। हम सुपरिचित भेदों को एक साथ रखते हैं चाहे वे अपने पूर्वज से कितने ही भिन्न क्यों न हों क्योंकि हम उनकी वंशागति जानते हैं। और मेरा विचार है कि वंशागति ही वह अव्यक्त सम्बद्ध है जिसको प्रकृतिशास्त्री नैसर्गिक व्यवस्था के नाम से लिखते हैं। इस नैसर्गिक व्यवस्था के वंश क्रमानुसार होने के कारण इसके विभिन्न स्तर जाति, गण आदि नामों से जाने जाते हैं, और इसी के आधार पर हम वर्गीकरण के विभिन्न नियमों को समझ सकते हैं। हम समझ सकते हैं कि क्यों कुछ समानताओं को अधिक मान्यता दी जाती है, और कुछ को कम। क्यों हम अवशिष्ट या व्यर्थ अंगों को, या कायिकी की दृष्टि से कुछ महत्व के अंगों को, उपयोग में लाते हैं, क्यों दो विभाजनों के बीच संबंध निर्धारण करने में हम अनुकूलन संबंधी या कार्य सादृश्य संबंधी लक्षणों पर बिल्कुल ही ध्यान नहीं देते, किन्तु

विभाजन के भीतर किन अंगों का उपयोग करते हैं। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि कैसे सभी जीवित तथा विलुप्त जीव इने-गिने विशाल वर्गों में बाँटे जा सकते हैं और कैसे प्रत्येक वर्ग के सभी सदस्य एक-दूसरे से बंधुत्व की अत्यन्त जटिल और विकीर्ण रेखाओं द्वारा संबंधित हैं। संभवतः हम कभी किसी एक वर्ग के जीवों के उलझे हुए पारस्परिक सम्बन्ध के जात को सुलझा न सकेंगे। किन्तु हमारा लक्ष्य स्पष्ट है, और चूँकि हम सृष्टि की किसी भी अज्ञात योजना की तलाश नहीं करते इसलिए प्रगति करने की आशा रख सकते हैं।

प्रोफेसर हैकेल (Hackel) ने अपनी पुस्तक "Generelle Morphologie" तथा अन्य पुस्तकों में, हाल में अपने विलक्षण ज्ञान के द्वारा जीवों की वंशागति की दिशाओं—अर्थात् जाति विकास (Phylogeny) के विषय पर विचार किया है। अनेक श्रृंखलाओं का निर्माण करने में उन्होंने मुख्यतः भ्रूणतत्वीय लक्षणों का उपयोग किया है, किन्तु साथ ही रचना सदृश तथा अवशिष्ट अंगों का और भूतत्वीय स्तरों में जीवों के विभिन्न रूपों की भी सहायता ली। इस प्रकार उन्होंने साहस के साथ एक महान् कार्य प्रारम्भ किया है और इस ओर संकेत किया है कि भविष्य में वर्गीकरण के विषय के साथ किस तरह का व्यवहार किया जायगा।

आकारिकी (Morphology)

हम देख चुके हैं कि रहन-सहन में अन्तर होने पर भी किसी वर्ग के विभिन्न सदस्य एक-दूसरे से शरीर की सामान्य रचना में साधारणतः समान ही होते हैं। इस समानता को बहुधा 'प्ररूप की एकता' (Unity of type) के नाम से बताया जाता है, या यह कहकर व्याख्या दी जाती है कि एक ही वर्ग की विभिन्न जातों के अलग-अलग भाग या अंग रचना सदृश होते हैं। यह पूरा विषय 'आकारिकी' के अन्तर्गत आता है। प्रकृतिशास्त्र का यह विभाग अत्यन्त रोचक तो है ही, इसको उसकी 'आत्मा' भी कहा जा सकता है। इससे अधिक रोचक बात क्या हो सकती है कि मनुष्य का हाथ जो वस्तुओं को पकड़ने के लिए बना है, नेवले का हाथ जिससे वह मिट्टी खोद सकता है, घोड़े की टाँग, सूँस का पैडिल और चमगादड़ के पंख—सभी एक ही योजना पर बने हैं और प्रत्येक में समान हड्डियाँ हैं जिनकी एक ही तुलनात्मक स्थिति है? एक दूसरा किन्तु इतना ही विचित्र उदाहरण देखिये। कंगारू की पिछली टाँगें, जो सपाट मैदान में उछलने में सहायक हैं, पेड़ पर चढ़नेवाले पत्ती खाने वाले 'कोआला' की टाँगें, जो वृक्षों की डालों को पकड़ने योग्य बनी हैं, कीट या पौधों की जड़ें खाने वाले, स्थल में रहनेवाले बिज्जू की टाँगें तथा अन्य आस्ट्रेलियन मारसूपियलों की पिछली टाँगें एक ही विचित्र योजना पर बनी

हैं—अर्थात् इनकी दूसरी और तीसरी अँगुलियों की हड्डियाँ बहुत पतली हैं और एक ही खाल के टुकड़े से आस्तरित हैं जिसके फलस्वरूप दोनों मिलकर एकही अँगुली जान पड़ती हैं जिनमें दो नखर होते हैं। संरचना की इस समानता के होते हुए भी ये सभी अपनी टाँगों का बिल्कुल ही भिन्न प्रकार से उपयोग करते हैं। दूसरा उदाहरण और भी विचित्र जान पड़ता है जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि अमरीकन अपोसम (Opossum) के पाँव साधारण योजना पर बने होते हैं यद्यपि उनकी प्रकृति इन आस्ट्रेलियन संबंधियों के समान होती है। ये उदाहरण प्रो० फ़्लावर से प्राप्त हुए हैं। निष्कर्ष में वे कहते हैं कि "यद्यपि हम इन बातों का कोई कारण नहीं बता सकते, फिर भी इनको प्ररूप की समानता का नाम दिया जा सकता है।" फिर वे कहते हैं "क्या ये तथ्य वास्तविक संबंध, अर्थात् एक ही पूर्वज से वंशागति, की ओर संकेत नहीं करते?"

ज्याफ्राय सेन्ट हिलेर ने रचना सदृश अंगों के पारस्परिक संबंध पर बहुत जोर दिया है। आकार और नाप में वे चाहे जितने ही भिन्न क्यों न हों, वे एक दूसरे से उसी अपरिवर्तनशील रूप में संबंधित रहते हैं। उदाहरण के लिए कभी भी हम बाहु और अग्रबाहु या जंघा और टाँग की हड्डियों में उलट-फेर नहीं देखते। इसलिए बहुत भिन्न जन्तुओं की रचना सदृश हड्डियों के हम समान नाम दे सकते हैं। यही महान् नियम हम कीटों के मुख्य अंगों के विषय में देखते हैं। तितली के लंबे कुंतलित शुण्ड, खटमल या 'बग' और मक्खी के मुड़े हुए शुण्ड तथा बीट्ल के भयंकर जबड़ों से अधिक भिन्न भला कौन से अंग हो सकते हैं? किन्तु यद्यपि ये अंग बिल्कुल भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं, फिर भी इनमें से प्रत्येक का निर्माण ऊपरी होंठ, मन्डिबिल और दो जोड़ा मक्सिला के आपरिवर्तनों से बनते हैं। यही नियम क्रस्टेशिया के अवयवों और मुख्य अंगों के निर्माण पर भी लागू होता है। पौधों के फूलों के संबंध में भी यही बात है।

यदि हम एक ही वर्ग के सदस्यों के अंगों की इस समानता को उपयोगिता अथवा दैवी कारणों के सिद्धान्त पर समझना चाहें तो निश्चय ही हमारा प्रयत्न बिल्कुल ही व्यर्थ होगा। ओवेन ने अपनी रोचक पुस्तक 'Nature of Limbs' में इस विफलता को स्पष्ट रूप से माना है। प्रत्येक जीव की विशेष सृष्टि का सिद्धान्त मानने पर तो हम इस संबंध में इतना ही कह सकते हैं कि यह सृष्टिकर्त्ता की इच्छा थी कि उसने प्रत्येक बड़े वर्ग के जन्तुओं और वनस्पतियों को किसी समान योजना पर बनाया है; किन्तु यह वैज्ञानिक व्याख्या नहीं है।

क्रमिक सूक्ष्म आपरिवर्तनों के निर्वाचन के सिद्धान्त पर इसकी व्याख्या बहुत सरल है, अर्थात् प्रत्येक आपरिवर्तन जीव के लिए किसी प्रकार उपयोगी होता है किन्तु अंगों

के संबंधित होने के कारण प्रत्येक आपरिवर्तन अन्य अंगों को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार आपरिवर्तनों में मौलिक संरचना या योजना में, या अंगों की स्थिति में, परिवर्तन नहीं होगा। किसी अवयव की हड्डियाँ किसी हद तक छोटी और चिपटी हो सकती हैं और त्वचा द्वारा आवेष्ठित होकर 'फ़िन' की रचना कर सकती हैं। इसी तरह चमड़ी मढ़े हाथ की सभी हड्डियाँ या कुछ हड्डियाँ लंबी हो सकती हैं, और उनके बीच चमड़ी के होने से यह अवयव पंख का काम कर सकता है। किन्तु इन आपरिवर्तनों के फलस्वरूप हड्डियों के ढाँचे या उनके परस्पर संबंध में कोई अंतर नहीं होगा। यदि हम मान लें कि स्तनियों, पक्षियों तथा रेप्टाइलों के किसी प्राचीन पूर्वज में—जिसको आदि रूप का नाम दिया जा सकता है —अवयव वर्तमान योजना के अनुसार बने थे, तो उनका कार्य कुछ भी रहा हो, पूरे वर्ग में इन अवयवों की रचना में सादृश्य होने का कारण स्पष्ट हो जाता है। यही बात कीटों के मुख्य अंगों के साथ भी है। हमको यही कल्पना करनी होगी कि उनके सामान्य पूर्वज में एक ऊपरी होंठ, एक जोड़ा मैन्डिबिल और दो जोड़ा मैक्सिला थे, और कदाचित् ये अंग बहुत सरल रचना के थे। बाद में इनकी विविध संरचना अथवा कार्य प्राकृतिक निर्वाचन के ही द्वारा संभव हो जाएँगे। इतने पर भी हम यह मान सकते हैं कि कभी-कभी अंगों की सामान्य योजना इतनी बदल जाय कि क्रमिक ह्रास के फलस्वरूप अंत में कुछ अंग पूर्णतः लोप हो जायँ और फिर अनुपस्थित रहें। इसी तरह कुछ अंग एक-दूसरे से जुड़ जा सकते हैं या कुछ की संख्या में वृद्धि हो सकती है। हम जानते हैं कि ऐसे अंतर होना असंभव नहीं है। विशालकाय विलुप्त समुद्री लिज़र्ड के पैड्लों में या कुछ क्रस्टेशिया के चूषक मुखों में इस तरह की सामान्य योजना लगभग विलीन हो गयी है।

हमारे विषय की एक दूसरी, किन्तु इतनी ही रोचक शाखा है जिसको शृंखलाबद्ध रचनासादृश्य (serial homology) कहते हैं, जिसका अर्थ है एक ही जन्तु के विभिन्न अंगों या भागों की तुलना, न कि एक ही वर्ग के विभिन्न सदस्यों में एक ही अंग की तुलना। कई कायिकी के विद्वान् यह मानते हैं कि खोपड़ी की हड्डियाँ कुछ कशेरुकों (vertebrae) के रचना सादृश हैं, अर्थात् संख्या तथा परस्पर संबंध में दोनों की तुलना की जा सकती है। सभी उच्च मेरुदण्डधारियों में अग्र तथा पश्च अवयव स्पष्टतया रचनासादृश हैं। यही बात क्रस्टेशिया की टाँगों तथा उनके जटिल जबड़ों में देखी जा सकती है। सभी यह जानते हैं कि फूलों में पंखुड़ियों, गर्भकेसर तथा परागकेसर की पारस्परिक स्थिति तथा वास्तविक संरचना का स्पष्टीकरण इस मत के आधार पर किया जा सकता है कि वे चक्रों में व्यवस्थित पत्तियों के रचनान्तरण से बने हैं। बहुधा असाधारण रीति से विकसित पौधों में एक अंग के दूसरे में परिवर्तित हो सकने के

प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं, और फूलों के प्रारम्भिक या भ्रूणतत्वीय विकास में तथा क्रस्टेशिया और कई अन्य जन्तुओं के विकास में ऐसे अंग दिखाई पड़ते हैं जो प्रौढ़ों के आकार से बहुत भिन्न होते हैं।

सृष्टि के साधारण मत के आधार पर श्रृंखलाबद्ध रचनासादृश्य के उदाहरणों की व्याख्या करना कितना कठिन है। क्यों मस्तिष्क किसी ऐसे डिब्बे में वन्द हो जो अनेक तथा ऐसे विचित्र आकार की हड्डियों का बना हो, जो स्वयं कशेरुकों की प्रतिनिधि हों। जैसा ओवेन ने कहा है, स्तनियों में जनन के समय खोपड़ी की हड्डियों के पृथक् होने से जो लाभ हैं, उससे पक्षियों और रेप्टाइलों की खोपड़ियाँ भी उसी योजना पर बनी हों, ऐसा नहीं हो सकता। इसी तरह जब चमगादड़ के पंख तथा उसकी टाँगें बिल्कुल ही भिन्न कार्य करती हैं अर्थात् एक से उड़ने और दूसरे से चलने का काम लिया जाय तो क्यों उनकी हड्डियाँ समान होती हैं? क्यों जिस क्रस्टेशिया में मुख कई भागों का बना और अत्यन्त जटिल होता है, उसमें टाँगों की संख्या कम होती है? और इसके विपरीत क्यों कई टाँगों वाले क्रस्टेशिया का मुख सरल आकार का होता है? क्यों अलग-अलग कार्य के लिए उपयुक्त होने पर भी प्रत्येक, अंखुड़ियाँ, पंखुडियाँ, परागकेसर तथा गर्भकेसर एक ही योजना पर बने होते हैं।

इन प्रश्नों के उत्तर कुछ सीमा तक हम प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के आधार पर दे सकते हैं। यहाँ यह विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि किस प्रकार कुछ जन्तुओं के शरीर आरम्भ में कई खंडों में विभाजित हुए या किस प्रकार वे दायें और बायें भागों में बँटे, क्योंकि ये प्रश्न विवेचना से लगभग परे हैं। किन्तु यह संभव है कि कुछ श्रृंखलाबद्ध रचनाएँ कोशिकाओं के विभाजन के द्वारा बनती हैं और इसके फलस्वरूप इन कोशिकाओं से उत्पन्न होने वाले अंग भी प्रगुणित हो जाते हैं। हमारे मतलब के लिए इतना ही याद रखना पर्याप्त होगा कि, जैसा ओवेन ने कहा है, एक ही अंग या भाग का असीमित ढंग से प्रगुणित होना सभी निम्न कोटि के तथा कम विशेषित जन्तुओं का लक्षण है। इसलिए वर्टिब्रेटा के अज्ञात पूर्वज में संभवतः कई कशेरुकाएँ थीं। आर्टीकुलेटा के अज्ञात पूर्वज में कई खंड थे; और फूलने वाले पौधों के अज्ञात पूर्वज में एक या अनेक चक्रों में व्यवस्थित पत्तियाँ थीं। पहले हम यह भी देख चुके हैं कि जो अंग इस प्रकार प्रगुणित होते हैं, उनमें केवल संख्या में ही नहीं, बल्कि रूप में भी अन्तर होते हैं। अतः ऐसे अंग जो काफी संख्या में और काफी परिवर्तनशील होते हैं, वे विभिन्न कार्यों के लिए अनुकूलित होने की क्षमता रखते हैं। इतने पर भी वंशागति की शक्ति के कारण सामान्यतः वे अपने मौलिक अथवा आधारीय समानताओं के चिह्न बनाये रखेंगे। चूंकि प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा वाद के आपरिवर्तनों के लिए ये

अंग आधार का काम देते हैं, और इसलिए प्रारम्भ से ही समान बने रहते हैं, अतः यह समानता और भी उनमें बनी रहेगी। अर्थात् प्रारम्भ में समान रहने वाले अंग समान परिस्थितियों के प्रभाव से समान रूप से आपरिवर्तित होंगे। जब तक ऐसे अंगों की सामान्य उत्पत्ति बिल्कुल ही अदृश्य न हो जाय, तब तक चाहे उनके आपरिवर्तन कम हों या अधिक, उनकी शृंखलाबद्ध रचनासादृश्य बनी रहेगी।

मालस्का के विशाल वर्ग में, यद्यपि विभिन्न जातों के भाग रचनासदृश सिद्ध किये जा सकते हैं, लेकिन शृंखलाबद्ध रचनासादृश्य के उदाहरण कम ही हैं, जैसे काइटन (Chiton) के कपाट; अर्थात् बहुत कम अवसरों पर हम कह सकते हैं कि अमुक अंग किसी दूसरे अंग के रचनासदृश हैं। इसका कारण स्पष्ट है : मालस्का वर्ग के निम्नतम सदस्य में भी हमको किसी अंग की ऐसी असीमित पुनरावृत्ति नहीं मिलती जैसी जन्तु तथा वनस्पति समुदायों के अन्य कई वर्गों में मिलती है।

किन्तु जैसा अभी हाल में एक प्रशंसनीय लेख में मि० ई० रे लैंकेस्टर ने सिद्ध किया है, आकारिकी बहुत ही जटिल विषय है और उन्होंने ऐसे कई उदाहरणों के बीच अंतर बताये हैं, जिनको प्राकृतिवादियों ने बराबर रचनासदृश कहा है। ऐसे अंगों को, जो विभिन्न जन्तुओं में किसी सामान्य पूर्वज से वंशागति के कारण समान होते हैं, उनकी व्याख्या के लिए उन्होंने सजातीय (homogenous) कहा है, तथा जिन समानताओं के कारण ज्ञात नहीं हैं, उनके लिए सघटक (homoplastic) शब्द दिया है। उदाहरण के लिए उनका विश्वास है कि पशुओं तथा स्तनियों के हृदय सजातीय (homogenous) हैं क्योंकि वे एक सामान्य पूर्वज की संतानें हैं, किन्तु इन दोनों वर्गों के हृदय की चारों गुहायें सघटक (homoplastic) हैं अर्थात् इनका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। मि० लैंकेस्टर ने शरीर की दाहिनी तथा बायीं ओर के अंगों की समानता तथा एक ही जन्तु विशेष के विभिन्न अंडों के अंगों की समानता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस समानता को हम साधारणतः रचनासादृश्य की संज्ञा देते हैं, लेकिन इसका कोई संबंध विभिन्न जातों की एक सामान्य पूर्वज से उत्पत्ति से नहीं है। कुछ हद तक सघटक संरचनाएँ वे ही हैं जिनको मैंने कार्यसदृश आपरिवर्तनों अथवा समानताओं के भेद में रखा है। कुछ हद तक उनके निर्माण का कारण यह है कि विभिन्न जीवों अथवा एक ही जीव के विभिन्न भागों में समान रीति से परिवर्तन हुए, और कुछ हद तक इसलिए कि एक ही कार्य के लिए उनमें समान आपरिवर्तनों का अतिजीवन हुआ। इनके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

बहुधा प्रकृतिशास्त्री खोपड़ी को रूपान्तरित कशेरुकों से बनी बताते हैं, केकड़ों के जबड़ों को रूपान्तरित टाँगें और फूलों के परागकेसर तथा गर्भकेसर को रूपान्तरित

पत्तियाँ। लेकिन जैसा प्रो० हक्सले ने कहा है, यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि खोपड़ी तथा कशेरुकों, अथवा जबड़ों और टाँगों इत्यादि का एक से दूसरे में रूपान्तरण नहीं हुआ है, बल्कि किसी प्रारंभिक और सरल संरचना के रूपान्तरण से एक ओर एक प्रकार के अंग, जैसे खोपड़ी, और दूसरी ओर दूसरे प्रकार के अंग जैसे कशेरुकों का निर्माण हुआ है। लेकिन अधिकांश प्रकृतिवादी इस तरह की भाषा का उपयोग अलंकार के रूप में करते हैं; इनका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि कालान्तर में एक प्रकार के अंग जैसे कशेरुकाएँ या केकड़े की टाँगें, दूसरे प्रकार के अंगों, जैसे खोपड़ी या जबड़ों, में रूपान्तरित हो रहे हैं। वास्तव में स्थूल अध्ययन में ऐसा रूपान्तरण इतना स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रकृतिवादियों का इस तरह की भाषा का उपयोग करना स्वाभाविक है। हमारे मत के अनुसार ऐसी भाषा का उपयोग शाब्दिक अर्थ में किया जा सकता है। और जीवों का ऐसे लक्षणों का बनाये रखना जिनकी वंशागति संभव है, जैसे केकड़े के विभिन्न लक्षणों की वंशागति, और उसके साथ-साथ कुछ लक्षणों में आपरिवर्तन, जैसे जबड़ों का निर्माण बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

भ्रूणतत्व तथा भ्रूण-विकास

प्राकृतिक इतिहास के विभिन्न अंगों में यह अंग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कीटों का रूपान्तरण, जिससे सभी परिचित हैं, साधारणतः कुछ अवस्थाओं के द्वारा एकाएक होता है। किन्तु वास्तव में इस रूपान्तरण में असंख्य क्रमिक परिवर्तन होते हैं जो दिखाई नहीं देते। सर जे० लुबक ने यह दिखाया है कि एफ़ीमेराप्टेरा का कीट क्लियान (Chloeon) अपने विकासकाल में कम से-कम बीस बार त्वक्पतन (moulting) करता है। अतः इस उदाहरण में हम रूपान्तरण की क्रिया उसके क्रमिक तथा प्रारम्भिक रूप में देखते हैं। कई कीटों, और विशेषकर कुछ क्रस्टेशिया में, हम देखते हैं कि विकासकाल में उनकी संरचना में कैसे अद्भुत् परिवर्तन होते हैं। इस तरह के परिवर्तनों की पराकाष्ठा निम्न वर्ग के कुछ जन्तुओं में देखने में आती है जिनमें पीढ़ियों का एकान्तरण होता है। उदाहरण के लिए कोमल शाखित कोरल (coral) की एक पीढ़ी, जो पानी में स्थित चट्टानों से जुड़ी रहती है और जिस पर अनेक पालिप (polyp) होते हैं वे पहले कुड्मन (budding) के द्वारा और फिर अनुप्रस्थ विभाजन के द्वारा प्रगुणित होती हैं। अनुप्रस्थ विभाजन से असंख्य 'जेलीफ़िश' उत्पन्न होती हैं जो अंडे उत्पन्न करती हैं। अंडों से सूक्ष्म तैरने वाले जन्तु निकलते हैं जो पुनः किसी चट्टान पर रुक जाते हैं और शाखित कोरल में विकसित होते हैं। इस प्रकार यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। ऐसा विश्वास है कि पीढ़ियों के एकान्तरण तथा साधारण रूपान्तरण

की क्रियाएँ एक ही हैं। इस विश्वास की पुष्टि वैगनर के इस आविष्कार से हुई है कि सेसीडोमाया (Cecidomyia) नामक मक्खी के लार्वा अलैंगिक रीति से ऐसे कई लार्वा को पुनः जन्म देते हैं जिनमें अंत में प्रौढ़ नर तथा मादा मक्खियाँ विकसित होती हैं जो फिर सामान्य रीति से, अर्थात् अंडों के द्वारा जनन करती हैं।

ध्यान देने की बात है कि जब वैगनर के महत्वपूर्ण आविष्कार की घोषणा पहली बार हुई थी तो मुझसे यह पूछा गया था कि किस प्रकार इस मक्खी के लार्वा ने अलैंगिक जनन की क्षमता अर्जित की होगी। जब तक इस प्रकार के किसी दूसरे उदाहरण का पता नहीं चला था, तब तक इसका कोई उदाहरण नहीं दिया जा सका। लेकिन अब ग्रिम ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक दूसरी मक्खी **काइरोनोमस** (Chironomous) भी लगभग इसी प्रकार जनन करती है, और उनका विश्वास है कि ऐसा ही इस गण के अन्य कई सदस्यों में होता है। **काइरोनोमस** में यह शक्ति लार्वा में नहीं, बल्कि प्यूपा में होती है और ग्रिम ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि कुछ हद तक इस उदाहरण के द्वारा **सेसिडोमाया** के जनन तथा काक्सिडी (Coceidae) के अनिषिक्त जनन (parthenogenesis) के साथ का संबंध स्पष्ट हो जाता है। पार्थेनोजेनेसिस शब्द का यह अभिप्राय है कि काक्सिडी की प्रौढ़ मादाएँ बिना अंडों के संसेचन के संतानें उत्पन्न करती हैं। अब हम यह जानते हैं कि कई वर्गों में जन्तुओं में बहुत ही कम आयु में सामान्य जनन-क्रिया हो सकती है; और यदि किसी प्रकार पार्थेनोजैनसिस की क्रिया क्रमानुसार कम आयु में हो सके तो सेसिडोमाया जैसी दशा संभव हो जायगी। **काइरोनोमस** का उदाहरण इस संबंध में माध्यमिक प्रकार का है, क्योंकि उसमें पार्थेनोजैनसिस प्यूपा में है, न प्रौढ़ अवस्था में और न लार्वा में।

पहले ही यह बताया जा चुका है कि किसी जन्तु के कई अंग जो भ्रूणीय अवस्था में समान होते हैं बाद में बहुत भिन्न हो जाते हैं और प्रौढ़ावस्था में कार्य करते हैं। यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि एक ही वर्ग की बहुत भिन्न जातियों के भ्रूण एक-दूसरे के बहुत समान होते हैं, लेकिन पूर्ण विकसित हो जाने पर वे एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। इस बात का सबसे अच्छा प्रमाण वान बेयर (Von Baer) के इस कथन से प्राप्त होता है कि "बहुत प्रारम्भिक अवस्थाओं में स्तनियों, पक्षियों, सर्पों, छिपकलियों और कदाचित् कछुओं में भ्रूण के एक-दूसरे की संरचना तथा अंगों के भ्रू विकास की विधि में बहुत-कुछ समान होते हैं। बहुधा यह समानता इतनी अधिक होती है कि नाप के अतिरिक्त उनको पहचानने का और कोई लक्षण नहीं होता। मेरे पास स्पिरिट में दो भ्रूण रखे हैं। इनका नाम लिखना मैं भूल गया था और अब मैं यह भी नहीं कह सकता कि वे किस वर्ग के हैं। शिर तथा धड़ के निर्माण की समानता के कारण उनको स्तनी,

पक्षी या उरग वर्गों के कहा जा सकता है। इन भ्रूणों में अवयवों का विकास नहीं हुआ। किन्तु यदि इस अवस्था में ये होते, तो भी कुछ कहना कठिन था क्योंकि छिपकलियों और स्तनियों, यहाँ तक कि मनुष्य के अवयव समान रीति से विकसित होते हैं।" भ्रूण-विकास की बराबर की अवस्थाओं में अधिकांश क्रस्टेशिया के लार्वा एक-दूसरे के समान होते हैं, चाहे उनके प्रौढ़ कितने ही भिन्न क्यों न हों; और यही बात अन्य कई जन्तुओं में पायी जाती है। वास्तव में भ्रूणीय समानता काफी बाद की अवस्था तक बनी रहती है। उदाहरण के लिए एक ही जाति या सहसंबंधित जातियों की चिड़ियों के पर भी पूर्णविकसित होने के पहले एक जैसे होते हैं। इस तरह बुलबुल समूह के धब्बेदार पंख इस अवस्था में समान होते हैं। बिल्ली वंश में प्रौढ़ावस्था में अधिकांश जातों में धारियाँ या धब्बों से बनी धारियाँ होती हैं तथा पूमा (Puma) की धारियाँ और धब्बे आसानी से पहिचाने जा सकते हैं। कभी-कभी ऐसा ही हम पौधों में देखते हैं। उदाहरण के लिए यूलेक्स (Ulex) तथा फुर्ज़ (Furze) या बबूल वंश (Acacias) की पहली पत्तियाँ लिग्यूमिनोसी (Leguminosae) की साधारण पत्तियों की भाँति कटी होती हैं।

बहुधा संरचना की जिन बातों में किसी वर्ग के भिन्न-भिन्न जन्तुओं के भ्रूण एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, उनका इन जन्तुओं के जीवन की दशाओं से सीधा संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए वर्टिब्रेटा के भ्रूण में गिल-छिद्रों के निकट धमनियों की घुमावदार व्यवस्था का जीवन की दशाओं की समानता से कोई संबंध नहीं है, क्योंकि स्तनी के भ्रूण का पोषण माता के गर्भाशय में होता है, पक्षी का अंडा उसके घोंसले में पलता है और मेढक के अंडे पानी में बढ़ते हैं। वास्तव में जिस प्रकार मनुष्य के हाथ, चमगादड़ के पंख और सूँस के 'फ़िन' के कंकाल की समानता का इन जीवों के रहन-सहन से संबंध नहीं है, उसी प्रकार इन भ्रूणीय लक्षणों का संबंध भी रहन-सहन से नहीं है। कोई नहीं मानता कि काली चिड़िया (Black bird) के बच्चे पर धब्बों का होना या शेर के बच्चों पर धारियों का होना इन जीवों के लिए किसी प्रकार उपयोगी है।

किन्तु जब कोई जन्तु अपने भ्रूणीय काल की प्रारम्भिक अवस्था में क्रियाशील रहता है तथा अपने पोषण का प्रबन्ध करता है, तो उसकी बात और है। कार्यशीलता का काल जीवन के किसी भाग में आ सकता है। लेकिन यदि यह लार्वा में आता है तो लार्वा भी अपने वातावरण के प्रति इतनी ही सुन्दरता से अनुकूलित होता है, जैसे प्रौढ़। यह क्रिया कितनी महत्वपूर्ण विधि से हुई है, यह हाल में सर जे० लूबक ने विभिन्न गण के कीटों की समानता, और एक ही गण के विभिन्न कीटों की असमानता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके बताया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी भिन्नता

उनके रहन-सहन से संबंधित है। ऐसे अनुकूलनों के कारण कभी-कभी सहसंबंधित जन्तुओं के लार्वा की समानता छिप जाती है, विशेषतः जब भ्रूण विकास की विभिन्न अवस्थाओं में श्रम विभाजन होता है, जैसे उसी लार्वा को एक अवस्था में आहार ढूँढ़ना पड़ता है और दूसरी अवस्था में प्यूपा बन कर स्थापित होने के लिए उपयुक्त स्थान। ऐसे भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें जातों के समूहों या सहसंबंधित जातों के लार्वा प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक भिन्न होते हैं। फिर भी अधिकांश उदाहरणों में कार्यशील होते हुए भी, लार्वा बहुत कुछ सामान्य भ्रूणीय समानता के नियम का पालन करते हैं। सिरीपीड (Cirripedes) इस प्रकार के अच्छे उदाहरण हैं। क्यूवियर जैसे प्रसंशनीय प्राकृतज्ञ भी यह नहीं समझ पाये कि बार्नेक्ल (barnacle) क्रस्टेशियन है। किन्तु इसके लार्वा को एक ही बार देखने से इसमें संदेह नहीं रह जाता। इसी तरह सिरीपीड के दो विभाजनों—अर्थात् संवृन्त तथा वृन्तहीन विभाजनों के प्रौढ़ बाह्य संरचना में एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। किन्तु इनके लार्वा में किसी भी अवस्था में पहचान करना असंभव है।

भ्रूणविकास की क्रिया में भ्रूण अपनी गठन अथवा संरचना में प्रगति करता है। जब मैं इस शब्द का प्रयोग करता हूँ तो जानता हूँ कि संरचना के उच्च अथवा निम्न होने के क्या अर्थ हैं, इसकी व्याख्या करना लगभग असंभव है। फिर भी इसमें किसी को संदेह नहीं होगा कि तितली कैटरपिलर से उच्च है। लेकिन कुछ उदाहरणों में प्रौढ़ जन्तु को लार्वा से नीचे मानना चाहिए, जैसे कुछ परजीवी क्रस्टेशिया में। एक बार फिर सिरीपीड का उदाहरण लें: लार्वा की प्रथम अवस्था में तीन जोड़ा चलन-संबंधी अंग, एक सरल नेत्र और एक शुंड जैसा मुख है, जिससे अधिकतर भोजन ग्रहण करते हैं। दूसरी अवस्था में इनमें चलने के लिए छः जोड़ा सुन्दर टाँगें, एक जोड़ा बढ़िया संयुक्त नेत्र और जटिल स्पर्शसूत्र होते हैं। किन्तु इसका मुख अपूर्ण और बंद होता है और यह भोजन ग्रहण नहीं कर सकता। इस अवस्था में सुविकसित ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से तथा अपने तैरने की शक्ति से वे ऐसे स्थान पर पहुँचना चाहते हैं जहाँ स्थापित हो सकें और जहाँ रूपान्तरण हो सके। स्थापन की क्रिया पूर्ण होने पर, वे जीवन भर के लिए वहीं रुक जाते हैं। तब उनकी टाँगें धारणक्षम अंगों में रूपान्तरित हो जाती हैं, और सुविकसित मुख का निर्माण हो जाता है। किन्तु उनमें स्पर्शसूत्र नहीं होते और उनकी दोनों आँखें एक सूक्ष्म , अकेले, सरल नेत्रविन्दु में बदल जाती हैं। इस अंतिम तथा पूर्ण अवस्था में पहुँचने पर सिरीपीड को लार्वल अवस्था की अपेक्षा निम्न स्तर का समझा जा सकता है। कुछ जातियों में लार्वा साधारण संरचना वाले उभयलिंगी रूप धारण करते हैं, और कुछ नर रूप लेते हैं। नरों का विकास निश्चय ही अवनति की ओर होता

है, क्योंकि संरचना में यह एक जैसा होता है, और इसमें न मुख होता है, न आमाशय और न तो जननांगों के अतिरिक्त कोई अन्य महत्वपूर्ण अंग, और इसका जीवन-काल बहुत संक्षिप्त होता है।

वास्तव में भ्रूण और प्रौढ़ की संरचना में भिन्नता देखने के हम इतने आदी हो गये हैं कि कुछ हद तक इस भिन्नता को हम वृद्धि का एक आवश्यक अंग समझने लगे हैं। मगर कोई कारण नहीं है कि उदाहरण के लिए चमगादड़ के पंख अथवा सूँस के फ़िन के विभिन्न भाग दृष्टिगोचर होने के समय से ही उसी अनुपात में क्यों न हों, जिस अनुपात में वे प्रौढ़ में पाये जाते हैं। जन्तुओं के कुछ समूचे विभाजनों में तथा कुछ अन्य विभाजनों के कुछ सदस्यों में ऐसा ही होता है। और भ्रूण विकास की किसी अवस्था में भी भ्रूण प्रौढ़ से बहुत भिन्न नहीं होता। उदारहणार्थ कटिल फ़िश के संबंध में ओवेन का कहना है कि "इसमें रूपान्तरण बिल्कुल नहीं होता और भ्रूण के विभिन्न अंगों के पूर्ण होने के बहुत पहले ही इसमें सिफ़ैलोपोडा के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।" इसी तरह स्थलीय कवच और मीठे पानी के क्रस्टेशिया जन्म से ही अपना प्रारूपिक रूप धारण कर लेते हैं जब कि इन दो महान् वर्गों के सदस्य भ्रूण विकास में बड़े बड़े परिवर्तनों से होकर गुजरते हैं। मकड़ियों में भी रूपान्तरण लगभग अनुपस्थित होता है! अधिकांश कीटों के लार्वा में एक कीड़े जैसी अवस्था होती है, चाहे वे क्रियाशील तथा विभिन्न प्रकार की रहन-सहन के लिए अनुकूलित हों या निष्क्रिय हों और पोष्य पदार्थों के माध्यम में ही रहते हों, या माता द्वारा उनको भोजन मिलता हो। किन्तु कुछ उदाहरणों में, जैसे एफ़िस (Aphis) में प्रो० हक्सले के चित्रों से विदित होगा कि उनमें कीड़े जैसी अवस्था नहीं होती।

कभी-कभी भ्रूण विकास में प्रारम्भिक भ्रूणीय अवस्थाएँ अनुपस्थित होती हैं। उदाहरण के लिए, फ़्रिट्ज़ मूलर ने यह महत्वपूर्ण आविष्कार किया है कि पिनियस (Pen oeus) से संबंधित कुछ शिम्प जैसे क्रस्टेशिया में पहले सरल नाप्लियस (nauplius) उत्पन्न होता है जो ज़ुइया (zooea) अवस्था में बदल जाता है; दो-तीन ज़ुइया अवस्थाओं के बाद माइसिस (mysis) अवस्था आती है जो अंत में प्रौढ़ रूप धारण करती है। ध्यान देने की बात है कि समस्त मैलाकास्ट्राका (Malacostraca) गण में, जिसके अन्तर्गत ये जन्तु आते हैं एक भी सदस्य ऐसा नहीं है, जिसमें नाप्लियस अवस्था होती हो, हालाँकि कई सदस्य ज़ुइया अवस्था में उत्पन्न होते हैं और मूलर का कहना है कि यदि इनमें भ्रूणविकास की प्रारम्भिक अवस्था का शमन न हो, तो ये सभी क्रस्टेशिया नाप्लियस रूप में उत्पन्न होते।

प्रश्न यह है कि भ्रूणविकास की इन विभिन्न तथ्यों की व्याख्या हम कैसे कर

सकते हैं, अर्थात् भ्रूण तथा प्रौढ़ की संरचना में साधारणत: (किन्तु अनिवार्यत: नहीं) महत्वपूर्ण अंतरों का होना, भ्रूणविकास की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे अंगों का एक जैसा होना जो अंत में बहुत भिन्न हो जायँ और भिन्न कार्यों के योग्य हों, एक ही वर्ग की विभिन्न जातों के भ्रूण तथा लार्वा में साधारणत: समानता का पाया जाना, अंड़े अथवा गर्भाशय के भीतर रहने पर भ्रूण में बहुधा ऐसी संरचना का रहना जो उसके लिए उसी अवस्था में या बाद की किसी अवस्था में किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं होते, तथा साथ ही ऐसे लार्वा का, जो स्वयं अपनी आवश्यकता पूर्ति करते हैं, अपने वातावरण के लिए पूर्णत: अनुकूलित होना, तथा कुछ लार्वा का प्रौढ़ों की अपेक्षा संरचना की दृष्टि से अधिक उच्च स्तर पर होना। मेरे विचार में इन सभी प्रश्नों का समाधान निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है।

संभवत: नियम विरुद्ध भ्रूणों के आधार पर साधारणत: ऐसा समझा जाता है कि सूक्ष्म वैयक्तिक अंतर या परिवर्तन अनिवार्य रूप से भ्रूणविकास की प्रारंभिक अवस्था में प्रकट हो जाते हैं। इसके समर्थन में हमारे पास कुछ पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं, इसके विरुद्ध अवश्य कई बातें हैं। उदाहरणार्थ सभी जानते हैं कि गाय, बैल, घोड़े या अन्य पालतू जानवर पालने वाले इन जन्तुओं के जन्म के बाद कुछ काल तक निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि अंत में ये क्या रूप लेंगे। अपने बच्चों में भी यही बात देखते हैं। हम नहीं कह सकते कि कोई बच्चा लंबा होगा या ठिगना या उसकी आकृति कैसी होगी। प्रश्न यह नहीं है कि जीवन की किस अवस्था में जीव में परिवर्तन होता है, बल्कि यह कि किस अवस्था में इसके प्रभाव स्पष्ट होते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि परिवर्त्तन के कारण उत्पत्ति के बहुत पहले अर्थात् माता-पिता में ही क्रियाशील हो गये हों—और मेरा विश्वास है कि ऐसा होता है। यह ध्यान देने की बात है कि जब तक भ्रूण अंडे या माता के गर्भाशय के भीतर रहता है, अथवा जब तक बच्चे का पालन-पोषण माता-पिता द्वारा होता है तब तक उसके लिए यह कोई महत्व की बात नहीं होती कि उसके अधिकांश लक्षण कुछ पहले प्रकट होते हैं या कुछ बाद में। उदाहरण के लिए यदि किसी पक्षी को अपना भोजन प्राप्त करने के लिए टेढ़ी चोंच की आवश्यकता होती है तो भी जब तक उसको माता-पिता के द्वारा भोजन मिलता है तब तक चोंच टेढ़ी होना या न होना, उसके लिए निरर्थक है।

पहले अध्याय में मैं लिख चुका हूँ कि आरंभ में किसी जन्तु की जिस अवस्था में कोई परिवर्तन प्रकट होता है, उसके बच्चों में भी लगभग उसी अवस्था में यह पुन: प्रकट होता है। कुछ परिवर्तन तो केवल उसी अवस्था में ही प्रकट होंगे; जैसे—रेशम की तितली के कैटरपिलर, ककून या प्रौढ़ या गाय के सींग में होने वाले परिवर्तन

क्रमशः उन्हीं अवस्थाओं में होंगे। किन्तु वे परिवर्तन जो जीवन में पहले या बाद की अवस्था में समान रूप से उत्पन्न हो सकते हैं, वे संतानों में भी इसी प्रकार प्रारंभिक अवस्था में या बाद की अवस्था में प्रकट हो सकते हैं। मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि सदा ऐसा ही होता है पर मैं ऐसे कई उदाहरण दे सकता हूँ जिनमें व्यापक अर्थ में कुछ परिवर्तन संतानों में माता-पिता की अपेक्षा कम आयु में प्रकट हुए हैं।

मेरे विचार में भ्रूण तत्व के ऊपर दिये तथ्य इन्हीं दो सिद्धांतों के द्वारा स्पष्ट किये जा सकते हैं, अर्थात् पहला यह कि सूक्ष्म परिवर्तन साधारणतः जीवन के बहुत प्रारंभिक भाग में नहीं प्रकट होते, दूसरा यह कि वंशागति के प्रभाव से संतानों में भी वे समान अवस्था में प्रकट होते हैं। लेकिन आइए पहले हम पालतू भेदों के संबंध में ऐसे ही कुछ उदाहरण देखें कुत्तों के विषय में लिखने वाले कुछ लेखकों का विचार है कि यद्यपि ग्रे हाउन्ड और बुलडॉग इतने भिन्न हैं, पर वास्तव में ये भेद एक-दूसरे के घनिष्ठ संबंधी हैं तथा एक-ही जंगली पूर्वज से वंशानुगत हुए हैं। अतः मैं जानना चाहता था कि इनके बच्चे एक-दूसरे से कहाँ तक भिन्न हैं। पालने वालों ने मुझे यह बताया कि प्रौढ़ों की भाँति ये भी उतने ही भिन्न होते हैं और सरसरी निगाह से देखने पर ऐसा ही जान पड़ता है मगर प्रौढ़ कुत्तों और उनके छः दिन की आयु के बच्चों को नापने पर इन बच्चों में पूरे अनुपात में यह अंतर नहीं उत्पन्न हुए थे। इसी तरह घुड़दौड़ और गाड़ी खींचने वाले घोड़ों के पालने वालों ने भी मुझको यही बताया कि उनके बच्चों और पूर्ण विकसित जन्तुओं में समान भिन्नता होती है। ये दोनों नस्लें लगभग पूरी तरह मनुष्य के निर्वाचन द्वारा तैयार हुई हैं। जब मैंने इन नस्लों के तीन दिन के बच्चों और प्रौढ़ों की नाप-जोख की तो इनके बच्चों में मैंने उस अनुपात में भिन्नता नहीं देखी जिस अनुपात में प्रौढ़ों में देखी।

हमारे पास इस बात के पक्के प्रमाण हैं कि कबूतरों की विभिन्न नस्लें एक ही जंगली जात से उत्पन्न हुई हैं इसलिए मैंने अंडों से निकलने के बारह घंटे बाद उनके मुख की चौड़ाई, चोंच, नथुनों, पलकों, पंजों, टाँगों, आदि की नाप-जोख जंगली जात पाउटर, फ़ैनटेल, रन्ट, बार्ब, ड्रेगेन, कैरियर तथा टम्बलर नस्लों में की और फिर उनकी तुलना की। ध्यान रहे कि प्रौढ़ावस्था में इनमें से कुछ चिड़ियाँ चोंच के आकार और लम्बाई तथा अन्य लक्षणों में इतनी भिन्न होती हैं कि यदि ये प्राकृतिक अवस्था में पायी जातीं तो अवश्य ही इनकी पृथक् जातियों का स्तर दिया जाता। किन्तु जब इन नस्लों के बच्चे एक पंक्ति में रखे जाते हैं तो यद्यपि इनमें से कुछ को किसी तरह पहचाना जा सकता है, लेकिन उनके परस्पर अंतर प्रौढ़ों के अंतर के अनुपात में बहुत ही कम होते हैं। अंतर की कुछ बातें तो इस अवस्था में मिलती ही नहीं, जैसे कि मुख की चौड़ाई,

किन्तु इस नियम में एक उल्लेखनीय अपवाद भी था—छोटे चेहरे वाले टम्बलर तथा जंगली चट्टानी कबूतर तथा अन्य नस्लों के बच्चों के बीच इस चौड़ाई में उतना ही अंतर था जितना उनके प्रौढ़ों के बीच।

ऊपर दिये दो सिद्धांतों से इन तथ्यों का स्पष्टीकरण हो जाता है। शौकीन लोग पालने के लिये प्रौढ़ कुत्तों, घोड़ों, कबूतरों आदि को ही लेते हैं और उनको इससे मतलब नहीं होता कि आवश्यक गुण उनमें जीवन के प्रारंभिक अथवा बाद की अवस्था में स्पष्ट होते हैं—उनका प्रौढ़ जीवों में होना ही उनके लिए पर्य्याप्त है। और इन उदाहरणों से विशेषतः कबूतरों के उदाहरणों से, यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य द्वारा एकत्रित लक्षण, जिनसे कुछ नस्लों का मूल्य बढ़ता है, साधारणतः प्रारंभिक अवस्था में नहीं उत्पन्न होते और इसलिए प्रत्येक पीढ़ी में उनका प्रकट होना भी प्रारंभिक अवस्था में नहीं होता। लेकिन छोटे चेहरे वाले टम्बलर में उसके विशेष लक्षण बारह घंटे की आयु में ही स्पष्ट होने लगते हैं। जिससे मालूम होता है कि यह नियम विश्वव्यापी नहीं है। क्योंकि या तो ये लक्षण साधारण से पहले प्रकट हो गये, और नहीं तो उनकी वंशागति पूर्वजों के अनुरूप अवस्था में नहीं बल्कि उसके पहले हो गयी।

आइये अब हम इन दो सिद्धांतों को, जातों के ऊपर प्राकृतिक अवस्था में लागू करें। पक्षियों के एक ऐसे समूह का उदाहरण लीजिये जिसकी वंशागति किसी प्राचीन रूप से हुई है और जिसका प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा विभिन्न स्वभावों के लिए आपरिवर्तन हुआ है। अब यदि विभिन्न जातों में कई सूक्ष्म, क्रमिक परिवर्तन अपेक्षाकृत कम प्रारंभिक अवस्था में संगठित हुए और फिर अनुरूप अवस्था में उनकी वंशागति हुई तो उनके बच्चों में बहुत कम आपरिवर्तन होंगे और इसलिए इन जातों के प्रौढ़ों की अपेक्षा इनके बच्चों में अधिक समानता हुई। ठीक यही बात कबूतरों के विषय में हम देख चुके हैं। हम इस मत का विस्तार बहुत भिन्न संरचनाओं और संपूर्ण वर्गों के लिए कर सकते हैं। उदाहरण के लिए संभव है कि अगला अवयव जो किसी समय किसी प्राचीन पूर्वज में टाँग का काम देता था, अनेक आपरिवर्तन के बाद एक संतान में हाँथों का रूप ले ले, दूसरी में पंखों का, और तीसरी में तैरने वाले फ़िन का। किन्तु ऊपर दिये दो सिद्धांतों के अनुसार इन संतानों के भ्रूणों में अगले अवयवों में कोई विशेष आपरिवर्तन नहीं होंगे, हालाँकि प्रौढ़ावस्था में ये एक-दूसरे से इतने भिन्न होंगे। बहुत समय तक सतत उपयोग अथवा अनुपयोग के कारण किसी जात में अवयवों या अन्य अंगों के आपरिवर्तन पर चाहे कुछ प्रभाव पड़ा हो, यह प्रभाव मुख्यतः या केवल जीव के लगभग प्रौढ़ होने पर पड़ेगा जबकि अपना पोषण करने के लिए उसको अपनी सभी शक्तियों का पूरा प्रयोग करना होगा। इस प्रकार उत्पन्न हुए प्रभाव उसकी संतानों में भी लगभग प्रौढ़ावस्था

में ही उत्पन्न होंगे। अतः उसके बच्चे आपरिवर्तित नहीं होंगे या अधिक उपयोग या अनुपयोग के कारण बहुत कम आपरिवर्तित होंगे।

कुछ जन्तुओं में क्रमिक परिवर्तनों का संगठन जीवन के बहुत प्रारंभिक भाग में हो सकता है, और यह भी संभव है कि परिवर्तन की कुछ अवस्थाएँ अनुरूप अवस्था के कुछ पहले वंशागत हो जायँ। इनमें से किसी भी दशा में भ्रूण या बच्चा बहुत कुछ माता-पिता के प्रौढ़ रूप के समान होगा। इस तरह का उदाहरण हम छोटे चेहरे वाले टम्बलर में देख चुके हैं। कुछ समस्त विभाजनों या उपविभाजनों में विकास के संबंध में यही नियम देखा जाता है, जैसे कटिल-फ़िश, स्थलीय कवच, मीठे पानी के क्रस्टेशिया, मकड़ियों तथा कुछ कीटों में। ऐसे विभाजनों में बच्चों के रूपान्तरित न होने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं। ऐसे जन्तुओं के बच्चे को बहुत कम आयु में ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है, अथवा उनकी रहन-सहन प्रौढ़ों के समान होती है, और ऐसी दशा में जीवित रहने के लिए आवश्यक है कि उनमें उसी प्रकार के आपरिवर्तन हो जायँ, जैसे माता-पिता में। यह भी देखा जाता है कि कई स्थलीय तथा मीठे पानी के जन्तुओं में किसी प्रकार का रूपान्तरण नहीं होता जब कि उन्हीं वर्गों के समुद्री जीवों में तरह-तरह के परिवर्तन देखे जाते हैं। इस विलक्षण बात के संबंध में फ़िट्ज़ मूलर का विचार यह है कि किसी जन्तु के समुद्र के बजाय मीठे पानी या स्थल में रहने योग्य होने में क्रमिक आपरिवर्तन तथा अनुकूल न की क्रिया लार्वल अवस्था के कट जाने से बहुत आसान हो जाएगी, क्योंकि यह संभव नहीं है कि इस तरह के रहन-सहन की ऐसी नयी और बदली हुई दशा में लार्वा तथा प्रौढ़ दोनों के लिए ऐसे उपयुक्त स्थान पर्याप्त मात्रा में मिल सकें जिन पर अन्य जीवों ने अधिकार न किया हो। ऐसी दशा में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा पूरे भ्रूण-विकास के कम आयु में ही पूर्ण होने में सहायता मिलेगी। और इसके फलस्वरूप पूर्वजों में होने वाले रूपान्तर के सारे चिह्न अंत में नष्ट हो जाएँगे।

इसके विपरीत यदि किसी जन्तु के शिशु का लाभ इसी में है कि वह माता-पिता की रहन-सहन से कुछ भिन्न रहन-सहन का अनुसरण करे और इसलिए उसकी संरचना माता-पिता की संरचना से कुछ भिन्न हो अथवा यदि किसी जन्तु में लार्वल अवस्था पायी जाती है तथा इस लार्वा का लाभ इसी में है कि वह माता-पिता से और भी भिन्न हो जाय, तो अनुरूप अवस्था में वंशागति के सिद्धांत के अनुसार प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा यह शिशु या लार्वा माता-पिता से और भी अधिक भिन्न होता जायगा। लार्वा में होने वाले अंतर विकास की विभिन्न अवस्थाओं से भी संबंधित हो जा सकते हैं और इस तरह संभव है कि प्रथम अवस्था का लार्वा द्वितीय अवस्था के लार्वा से बहुत भिन्न

हो जाय। कई जन्तुओं में ऐसा ही देखा जाता है। यह भी संभव है कि प्रौढ़ ऐसी रहन-सहन अथवा वातावरण के लिए अनुकूलित हो जाय, जिसमें चलन संबंधी अंगों या ज्ञानेन्द्रियों का कोई काम न रहे। ऐसी दशा में विपरीत रूपान्तरण होगा।

ऊपर दिये हुए तर्क के आधार पर हम समझ सकते हैं कि कैसे रहन-सहन के परिवर्तन के साथ साथ शिशु की संरचना में परिवर्तन होने से, तथा अनुरूप अवस्था में इन परिवर्तनों की वंशागति से जन्तुओं के भ्रूण विकास में ऐसी कई अवस्थाएँ घटित होने लगें, जो उनके पूर्वजों की प्रौढ़ अवस्था के आदि रूप से बिल्कुल ही भिन्न हों। अधिकतर विद्वान् अब यह विश्वास करते हैं कि कीटों की लार्वा तथा प्यूपा अवस्थाएँ इसी प्रकार अनुकलन के द्वारा अर्जित हुई हैं, न कि किसी प्राचीन रूप की वंशागति के कारण। **साइटैरिस** (Sitaris) नामक बीट्ल के विचित्र उदाहरण से, जिसके विकास में कई असामान्य अवस्थाएँ होती हैं, स्पष्ट हो जाएगा कि ऐसा किस प्रकार हो सकता है। मसिया फ़ेब्र के अनुसार इसका प्रथम रूप एक सूक्ष्म कार्यशील कीट है जिसमें छः टाँगें, दो लम्बे स्पर्शसूत्र और चार नेत्र होते हैं। ये लार्वा मधुमक्खी के छत्ते में निकलते हैं और जब वसंत ऋतु में मादाओं के पहले नर मधुमक्खियाँ अपने कोषों के बाहर निकलती हैं तो ये लार्वा उछलकर उन पर पहुँच जाते हैं। बाद में लैंगिक क्रिया के समय ये मादा के शरीर पर रेंग जाते हैं। जैसे ही मादा मधुमक्खी अंडे देना प्रारंभ करती हैं, साइटैरिस का लार्वा उन पर पहुँच कर अंडों का भक्षण करने लगते हैं। बाद में उनमें पूर्ण रूपान्तर होता है, उनके नेत्रों का लोप हो जाता है, टाँगें और स्पर्शसूत्र अवशिष्ट रूप धारण करते हैं और लार्वा शहद पर अपना पोषण करते हैं। अतः अब वे बहुत कुछ अन्य कीटों के साधारण लार्वा के समान हो जाते हैं। एक बार फिर इनमें रूपान्तर होता है जिसके बाद प्रौढ़ बीट्ल निकलती है। मान लीजिए कि यदि साइटैरिस की भाँति रूपान्तरित होने वाला कोई कीट किसी समस्त नये वर्ग का पूर्वज हो जाता है, तो इस नये वर्ग में विकास की क्रिया अन्य जीवित कीटों से बहुत भिन्न होगी और इसकी प्रथम लार्वल अवस्था किसी प्रौढ़ या प्राचीन कीट की विगत दशा का प्रतिनिधित्व नहीं करेगी।

दूसरी ओर कई जन्तुओं में यह भी बहुत संभव है कि उसकी भ्रूणीय या लार्वल अवस्था हमको उसके पूरे विभाजन के पूर्वज के प्रौढ़ की दशा लगभग ठीक-ठीक बताए। क्रस्टेशिया के महान् वर्ग में कई अद्भुत रूप से पृथक् प्रकार के जीव मिलते हैं, जैसे चूषक परजीवी, सिरीपीड, एन्टोमास्ट्राका (Entomostraca) 'मैलाकास्ट्राका (Malacostraca) आदि। इन सबके लार्वा पहले **नाप्लियस** (nauplius) रूप में प्रकट होते हैं। चूँकि ये लार्वा समुद्र में रहते हैं और इसी में अपना पोषण करते

हैं, इसलिए किसी विशेष रहन-सहन के लिए अनुकूलित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे कुछ और कारणों के आधार पर, जिनका उल्लेख फिट्ज़ मूलर ने किया है, यह संभव जान पड़ता है कि किसी दूर के प्राचीन काल में नाप्लियस जैसा कोई स्वतंत्र, प्रौढ़ जन्तु पाया जाता था, जिससे बाद में उपरिलिखित क्रस्टेशिया के विभाजन उत्पन्न हुए। इसी तरह स्तनियों, पक्षियों, मछलियों तथा उरगों के भ्रूणों के संबंध में हम जो कुछ जानते हैं, उससे यह संभव जान पड़ता है कि ये जन्तु किसी प्राचीन पूर्वज की आपरिवर्तित संतानें हैं। जिसमें प्रौढ़ावस्था में 'गिल' एक तैरने की थैली, चार फ़िन जैसे अवयव और एक लंबी पूँछ थी, जिनके कारण यह जन्तु जलीय जीवन के लिए उपयुक्त था।

वर्तमान तथा विलुप्त, सभी जीव, जो संसार में जीवित हैं या कभी जीवित थे, हमारे मतानुसार कुछ विशाल वर्गों में व्यवस्थित किये जा सकते हैं और प्रत्येक वर्ग के सदस्य एक दूसरे से क्रमानुसार संबंधित हैं। यदि हमारे संग्रह पूर्ण हैं तो इनकी सबसे अच्छी व्यवस्था--और एक ही प्रकार की व्यवस्था जो संभव है--वंश-क्रमानुसार होगी। इस व्यवस्था में जीवों के बीच का संबंध, जिसकी खोज में प्राकृतज्ञ हैं और जिसको प्राकृतिक व्यवस्था में ढूँढ़ा जाता था किन्तु जो दिखाई नहीं देता, वह है वंशागति का संबंध। इस मत के अनुसार हम समझ सकते हैं कि क्योंकर अधिकांश प्रकृतिवादियों की दृष्टि में वर्गीकरण के लिए भ्रूण की संरचना प्रौढ़ की संरचना से भी अधिक महत्वपूर्ण है। दो या दो से अधिक जन्तु प्रौढ़ावस्था में एक-दूसरे से संरचना तथा स्वभाव में चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, यदि भ्रूणावस्था में वे एक दूसरे के समान हैं, तो निश्चय ही हम समझ सकते हैं कि इनकी वंशागति एक ही पूर्वज से हुई है, और इसलिए वे संबंधित हैं। इस तरह भ्रूणीय संरचना की समानता से वंशागति की समानता स्पष्ट होती है। किन्तु भ्रूण विकास की असमानता से वंशागति की असमानता नहीं सिद्ध होती, क्योंकि यह संभव है कि दो में से किसी एक विभाजन में भ्रूण की कुछ अवस्थाएँ लोप हो जायें, या नयी रहन-सहन के लिए इस प्रकार अनुकूलित या आपरिवर्तित हो जायें कि उनको पहिचानना असंभव हो जाये। ऐसे विभाजनों में भी, जिनमें प्रौढ़ों में अत्यधिक परिवर्तन हो गये हैं उत्पत्ति की समानता बहुधा लार्वा की संरचना से प्रदर्शित हो सकती है। उदाहरण के लिए हम देख चुके हैं कि यद्यपि सिरीपीड बाह्य आकार में कवचमछली (shell fish) के समान होते हैं, किन्तु उनके लार्वा की परीक्षा करने पर तत्काल यह पता चल जाता है कि वे क्रस्टेशिया वर्ग में आते हैं। चूँकि भ्रूण की संरचना बहुधा किसी विभाजन के प्राचीन अथवा कम परिवर्तित पूर्वज की संरचना के समान होती है, इसलिए बहुधा विलुप्त तथा प्राचीन जीव उसी वर्ग की वर्तमान जातों

के भ्रूणों की समान हैं। अगासिज का विश्वास है कि यह प्रकृति विश्वव्यापी नियम है, और हम आशा कर सकते हैं कि बाद में हम इस कथन की सत्यता सिद्ध कर सकेंगे। किन्तु अभी इस नियम की सत्यता उन्हीं उदाहरणों की सहायता से सिद्ध की जा सकती है जिनमें किसी विभाजन के प्राचीन पूर्वज का आकार, उत्तरोत्तर परिवर्तनों के वृद्धि की अति प्रारंभिक अवस्था में घटित होने या, अनुरूप अवस्था से पहले घटित होने, के कारण पूर्णतः लोप न हो गया हो। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस नियम के सत्य होने पर भी उसको इसलिए प्रदर्शित नहीं किया जा सकता कि उनका पुरातत्वीय प्रमाण अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त यह नियम उन दशाओं में भी पूर्णतः लागू न होगा जिनमें प्राचीन रूप अपनी लार्वल अवस्था में किसी विशेष प्रकार की रहन-सहन के लिए अनुकूलित हो गया था और फिर ऐसी ही लार्वल अवस्था संतानों के संपूर्ण विभाजन में वंशागत हुई। ऐसे लार्वा किसी भी प्राचीन जीव के प्रौढ़ रूप के समान नहीं होंगे।

अतः मुझको ऐसा जान पड़ता है कि भ्रूणतत्व के मुख्य तथ्य जिनका महत्व किसी से भी कम नहीं है, इस सिद्धान्त पर स्पष्ट किये जा सकते हैं कि किसी प्राचीन पूर्वज की अनेक संतानों में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन बहुत प्रारंभिक अवस्था में नहीं उत्पन्न होते और उनकी वंशागति उनकी संतानों में पुनः अनुरूप अवस्था में होती है। भ्रूणतत्व का विषय बहुत ही रोचक हो जाता है, जब हम भ्रूण को इस दृष्टि से देखते हैं कि वह किसी वर्ग के सभी सदस्यों के पूर्वज के प्रौढ़ या उसकी लार्वल अवस्था का अस्पष्ट चित्र है।

अवशिष्ट, प्रह्रासित तथा विफलित अंग

समस्त प्रकृति में ऐसी विचित्र अवस्था में अंगों का होना बहुत सामान्य है जिसमें उन पर अनुपयोगी होने की स्पष्ट छाप पायी जाती है। ऐसा एक भी उच्च जन्तु नहीं मिलेगा, जिसमें कोई भाग या अंग अवशिष्ट दशा में न हों। उदाहरण के लिए स्तनियों के नरों में अवशिष्ट रूप में स्तन होते हैं, सर्पों में एक फेफड़ा अवशिष्ट रूप में होता है, पक्षियों के पंख में अवशिष्ट अंगुलियाँ पायी जाती हैं और कुछ जातों में समस्त पंख ही अवशिष्ट रूप में होता है और उड़ने के काम में नहीं आ सकता है। हम जानते हैं कि प्रौढ़ ह्वेल में एक भी दाँत नहीं होता, किन्तु इससे अधिक विचित्र बात क्या होगी कि अविकसित अवस्था में इनमें दाँत उपस्थित होते हैं। इसी प्रकार जन्म के पहले बछड़ों में दाँत होते हैं, जो कभी भी मसूड़ों के बाहर नहीं निकलते।

अवशिष्ट अंग कई प्रकार से इन जीवों की उत्पत्ति की कहानी का उल्लेख करते हैं। ऐसी कुछ बीट्लें सहसंबंधित जातों अथवा एक ही जात में हैं जिनमें पूर्ण विकसित

पंख या उनके झिल्ली जैसे अवशिष्ट पाये जाते हैं जो ऊपर के मजबूत जुड़े हुए पंख-आवरण के नीचे पड़े रहते हैं। इस उदाहरण में यह संदेह नहीं हो सकता कि ये अवशिष्ट पंखों के ही प्रतिनिधि हैं। कभी-कभी अवशिष्ट अंग विशेष शक्ति धारण कर लेते हैं। नर स्तनियों के ऐसे उदाहरणों से हम परिचित हैं जिनमें स्तन सुविकसित होकर दुग्धस्रावण करने लगते हैं। इसी प्रकार बॉस (Bos) जाति में साधारणतः चार चूचुक सुविकसित होते हैं और दो अवशिष्ट दशा में। किन्तु पालतू गायों में कभी-कभी अवशिष्ट चूचुक भी सुविकसित हो जाते हैं और इनमें दूध उत्पन्न होने लगता है। पौधों में बहुधा एक ही जात के कुछ सदस्यों में पंखुड़ियाँ अवशिष्ट रूप में होती हैं और कुछ में सुविकसित हो जाती हैं। कुछ पृथक् लिंग वाले पौधों में कोलरायटर ने यह देखा कि अवशिष्ट गर्भकेसर वाले नर फूलों को उभयलिंगी जात से संकरित करने पर प्रसंकर में अवशिष्ट की बहुत वृद्धि हो जाती है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अवशिष्ट तथा पूर्ण गर्भकेसर निश्चय ही समान रूप के हैं। हो सकता है कि किसी जन्तु में कई भाग पूर्ण विकसित होते हुए भी एक अर्थ में अवशिष्ट रूप में हों क्योंकि वे व्यर्थ हैं। इस तरह मि० जी० यच० लीविस के कथनानुसार "साधारण सैलामैण्डर या न्यूट (newt) में 'गिल' पाये जाते हैं और वह अपना समस्त जीवन पानी में व्यतीत करता है। किन्तु सैलामैण्ड्रा ऐट्रा (Salamandra atra) पर्वतों पर काफी ऊँचाई पर रहता है और इसके पूर्ण विकसित बच्चे पैदा होते हैं। यह जन्तु कभी पानी में नहीं रहता। फिर भी यदि हम किसी परिपक्व मादा के पेट से बच्चे निकालें तो देखते हैं कि इसके टैडपोल में सुविकसित गिल उपस्थित हैं। स्पष्ट है कि जलीय जीवन संबंधी इस संरचना का इस जन्तु के भविष्य जीवन से कोई संबंध नहीं है और न यह किसी प्रकार का भ्रूणीय अनुकूलन ही कहा जा सकता है। यह पूर्वजों के अनुकूलन से संबंधित है और उनके विकास की अवस्था का प्रतीक है।"

ऐसा अंग जो दो कार्य कर सकता है, हो सकता है कि एक कार्य के लिए अवशिष्ट या बिल्कुल ही विफलित हो जाय और दूसरे के लिए उपयोगी बना रहे। उदाहरण के लिए पौधों में गर्भकेसर का कार्य है पराग कणों का गर्भाशय में स्थित डिंबो तक पहुँचाना। परागकेसर में गर्भनाल के सिरे पर स्थित गर्भनालमुख होता है। किंतु कुछ कम्पोज़िटी में नर पुष्पकों में अवशिष्ट गर्भकेसर होता है जिसमें गर्भनालमुख नहीं होता, लेकिन स्वयं गर्भनाल उपस्थित होता है और इस पर सामान्य रूप से रोम होते हैं। जिनकी सहायता से निकटवर्ती तथा जुड़े हुए परागकेसरों से पराग अलग हो जाता है। इसी प्रकार यह भी संभव है कि कोई अंग अपने मुख्य कार्य के लिए अवशिष्ट हो जाय और अन्य कार्य करने लगे। कुछ मछलियों में वायु की थैली अपने मुख्य कार्य, अर्थात् मछली

का भार घटाने के लिए, अवशिष्ट हो जाती है। किन्तु वह एक क्रियाशील श्वसनांग या फेफड़े का रूप धारण कर लेती है। इस तरह के अन्य कई उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

जब तक हमारे पास इस बात के यथेष्ट प्रमाण न हों कि कोई अंग पहले अधिक विकसित था तब तक चाहे वह कितना ही कम विकसित क्यों न हों, यदि वह उपयोगी है तो उसको अवशिष्ट नहीं मानना चाहिए। हो सकता है कि वे विकसित होने की क्रिया में हों या जायमानावस्था (nascent stage) में हों। अवशिष्ट अंग या तो बिल्कुल व्यर्थ होते हैं, जैसे वे दाँत जो मसूड़े के बाहर नहीं निकलते, या लगभग व्यर्थ होते हैं, जैसे शुतुर्मुर्ग के पंख जो केवल पतवार का काम करते हैं। चूँकि इस तरह के अंग और भी कम विकसित होने पर वर्तमान दशा से भी कम उपयोगी रहे होंगे, इसलिए अतीत काल में वे परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन की क्रियाओं के द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकते थे क्योंकि वे अंग केवल उपयोगी संपरिवर्तनों के अतिजीवन से ही विकसित होते हैं। ये केवल वंशागति के प्रभाव से ही बच रहे हैं और अतीत की उनकी दशा के प्रतीक हैं। कभी-कभी अवशिष्ट तथा जायमान अवस्थाओं के अंगों में भेद करना बहुत कठिन होता है; क्योंकि यह समझने के लिए कि कोई अंग और भी विकसित हो सकता है हमको केवल तुलना का सहारा लेना पड़ता है। इस अवस्था में विरले ही अंग ऐसे देखे जाएँगे क्योंकि सामान्यतः ऐसे अंगों वाले जीव अपने ही ऐसे उत्तराधिकारियों द्वारा पराजित हो जायेंगे जिनमें ये अंग पूर्ण या अधिक विकसित अवस्था में. होंगे। अतः ये विलुप्त हो जाएँगे। उदाहरण के लिए, पेन्गुइन के पंख फ़िन की भाँति काम करते हैं और इसलिए उपयोगी होते हैं; अतः तर्क के लिए, मान लीजिए कि वे पंख की जायमानावस्था व्यक्त करते हैं। ध्यान रहे कि संभवतः वे प्रह्रासित अंग हैं और एक नये कार्य के लिए आपरिवर्तित हुए हैं। इसके विपरीत **ऐप्टेरिक्स** (Apteryx) के पंख बिल्कुल व्यर्थ हैं और वे वास्तव में अवशिष्ट हैं। ओवेन के विचार में **लेपिडोसाइरेन** (Lepidosiren) के लंबे धागे जैसे अवयव उन अंगों की प्रारंभावस्था बताते हैं जो उच्च पृष्ठवंशियों में पूर्णतः विकसित और क्रियाशील हो जाते हैं। किन्तु हाल में प्रकाशित हुए डा० गुंथर के मतानुसार संभवतः वे अवशिष्ट हैं—इनमें फ़िन के अक्ष बच रहे हैं किन्तु पार्श्व की शाखाओं का लोप हो गया है। गायों की चूचुकों की तुलना **आरनाइथोरिंकस** (Ornithorhynchus) की स्तन-ग्रन्थियों से की जा सकती है क्योंकि वे भी जायमानावस्था में हैं। कुछ सिरीपीडों के अंडधारी फ्रेना (frena) जिनसे अब अंडे जुड़े नहीं रहते और जो अब बहुत कम विकसित हैं, जायमान गिल हैं।

एक ही जात के विभिन्न सदस्यों में अवशिष्ट अंग विकास की अवस्था तथा अन्य विषयों में बहुत भिन्न होते हैं। सहसंबंधित जातों में भी एक ही अंग के विकास की अवस्था बहुधा बहुत भिन्न होती है। दूसरी बात विशेष रूप से एक ही वंश की मॉथ (moths) के पंखों के विषय में देखी जा सकती है। कभी-कभी अवशिष्ट अंग बिल्कुल ही विफलित हो जाते हैं—इसके अर्थ यह हैं कि कुछ जन्तुओं पर पौधों में ऐसे अंग अनुपस्थित होते हैं जिनको तुलना के आधार पर हम देखने की आशा करते हैं और जो कभी-कभी असामान्य सदस्यों में देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए अधिकांश स्क्राफुलेरियेसी (Scrophulariaceae) में पाँचवाँ परागकेसर बिल्कुल विफलित होता है। फिर भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि कभी पाँचवाँ परागकेसर पाया जाता था, क्योंकि कभी-कभी इस प्रकार का अवशिष्ट पूर्णतः विकसित हो जाता है, जैसा कभी-कभी स्नैप-ड्रैगन में देखा जाता है। एक ही वर्ग के विभिन्न सदस्यों में किसी भाग की रचना-सादृश्य निर्धारित करने में इससे अधिक साधारण कोई बात नहीं है, तथा भागों के परस्पर संबंध समझने के लिए इससे अधिक लाभदायक कुछ नहीं है कि अवशिष्ट अंगों का आविष्कार किया जा सके। यह बात ओवेन द्वारा खींचे घोड़ों बैल या राइनोसेरास की टाँगों की हड्डियों के सुप्रसिद्ध चित्रों से भलीभाँति स्पष्ट है।

यह बात बड़े महत्व की है कि ह्वेल या रूमिनैन्ट के ऊपरी जबड़ों के दाँतों की तरह के अवशिष्ट अंग बहुधा भ्रूण में देखे जा सकते हैं लेकिन बाद में वे पूर्णतः लोप हो जाते हैं। मैं समझता हूँ कि यह भी एक विश्वव्यापी नियम है कि अवशिष्ट अंग प्रौढ़ की अपेक्षा भ्रूण में आसपास के अन्य अंगों की तुलना में अधिक बड़े होते हैं; इसलिए यह कहा जा सकता है कि भ्रूणीय अवस्था में यह अंग अवशिष्ट अवस्था में नहीं है या कम है। यही काररण है जिससे वहुधा कहा जाता है कि प्रौढ़ में अविशिष्ट अंग भ्रूणीय अवस्था में बने रहते हैं।

मैंने अब अवशिष्ट अंगों से संबंधित मुख्य तथ्यों का उल्लेख कर दिया है। उन पर विचार करके हर एक को आश्चर्य होगा, क्योंकि जिस तर्क के आधार पर हम यह कहते हैं कि अधिकतर अंग या भाग किसी मुख्य कार्य या उद्देश्य के लिए भलीभाँति अनुकूलित होते हैं, वही तर्क उतनी ही स्पष्टता से हमको यह भी बताता है कि अवशिष्ट या प्रह्रासित अंग अपूर्ण तथा व्यर्थ होते हैं। प्राकृतिक इतिहास की पुस्तकों में साधारणतः कहा जाता है कि अवशिष्ट अंगों की रचना समिति (symmetry) के लिए या "प्रकृति की योजना पूरी करने के लिए हुई है।" किन्तु यह एक कथन की पुनरावृत्ति हुई, उसके कारणों की व्याख्या नहीं। फिर इस कथन में समानता भी नहीं है। अजगर में पिछले अवयवों तथा श्रोणि के अवशिष्ट पाये जाते हैं, और यदि यह कहा जाय कि

उनकी उपस्थिति "प्रकृति की योजना पूरी करने के लिए है" तो जैसा प्रोफेसर वाइजमैन पूछते हैं, ये हड्डियाँ अन्य सर्पों में क्यों नहीं पायी जातीं और इनमें इनके चिह्न भी नहीं मिलते ? ऐसे किसी ज्योतिषी के विषय में भला हम क्या कहेंगे जो यह तर्क करता है कि उपग्रह अपने ग्रहों के चारों ओर दीर्घवृत्त में "संमिति उत्पन्न करने के लिए घूमते हैं" क्योंकि स्वयं ग्रह इसी प्रकार सूर्य के चारों ओर घूमते हैं ? एक प्रमुख कार्यिकी के विद्वान् का कहना है कि अवशिष्ट अंग इसलिए पाये जाते हैं कि उनके द्वारा हानिकारक पदार्थ या वे पदार्थ जो आधिक्य में होते हैं, उनका उत्स्राजन होता है। लेकिन क्या हम यह मानने को तैयार हैं कि नर फूलों में पाये जाने वाले अवशिष्ट गर्भकेसर इस तरह का कार्य करते हैं ? क्या हम यह विश्वास कर सकते हैं कि बाद में अवशोषित हो जाने वाले अवशिष्ट दाँत गाय बढ़ते हुए भ्रूण के लिए इसलिए बहुत उपयोगी हैं कि उनके द्वारा उसके शरीर से चूने के फ़ासफ़ेट जैसे बहुमूल्य पदार्थ दूर किये जाते हैं। जब मनुष्य की अंगुली कट जाती है तो बहुधा बचे हुए भाग पर कभी-कभी अपूर्ण नख जम जाते हैं। इन नखों के विकास के द्वारा शरीर के अनावश्यक भाग का परित्याग होना तथा मनाटी (manatee) के फ़िन पर अवशिष्ट नखों के निर्माण के द्वारा इस क्रिया का होना एक जैसा है—पर क्या हम विश्वास कर सकते हैं कि इस क्रिया के द्वारा उत्स्राजन हो सकता है ?

आपरिवर्तन के साथ वंशागति के सिद्धान्त के आधार पर अवशिष्ट अंगों की उत्पत्ति आसानी से समझी जा सकती है और बहुत अंश तक हम अपूर्ण विकास के नियमों को समझ सकते हैं। हमारे पालतू जीवों या घरेलू पौधों में अवशिष्ट अंगों के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे पुच्छरहित नस्लों में पुच्छ के स्थान पर छोटे प्रवर्ध, भेड़ की कर्णरहित नस्लों में कान के अवशेष, पशुओं की सींगरहित नस्लों में छोटी सींगें तथा गोभी के फूल में पूरे फूल की दशा। युवट के अनुसार ये अवशिष्ट कम आयु में विशेष रूप से देखे जाते हैं। बहुधा विकास के असामान्य उदाहरणों में हम विभिन्न भागों के अवशेष देखते हैं, किंतु मेरे विचार में इनसे किसी उदाहरण के द्वारा प्रकृति में अवशिष्ट अंगों की उत्पत्ति पर प्रकाश नहीं पड़ता। इनसे केवल यह पता चलता है कि अवशिष्ट अंग उत्पन्न होते हैं और अधिकांश प्रमाण इसी ओर संकेत करते हैं कि प्राकृतिक अवस्था में जातों में आकस्मिक तथा विशाल अंतर नहीं होते। साथ ही घरेलू जीवन के अध्ययन से हम यह जानते हैं कि अंगों के अनुपयोग से उनमें ह्रास होता है और इस ह्रास की वंशागति होती है।

ऐसा जान पड़ता है कि अंगों के अवशिष्ट रूप धारण करने में अनुपयोग का उत्तरदायित्व ही मुख्य है। प्रारंभ में इसके कारण किसी अंग का उत्तरोत्तर ह्रास होता है,

और अंत में इसका अवशिष्ट रूप ही बचता है। अँधेरी खोहों में रहने वाले जन्तुओं की आँखें तथा समुद्री द्वीपों में पायी जाने वाली चिड़ियों के पंखों की कार्यशक्ति इसलिए नष्ट हो गयी है कि शत्रुओं से जान बचाने के लिए इन पक्षियों को उड़ना नहीं पड़ता और अँधेरे में आँखों का उपयोग नहीं हो सकता। यह भी संभव है कि किसी विशेष दशा में उपयोगी सिद्ध होने वाला अंग, भिन्न दशा में हानिकारक हो जाय जैसे कि छोटे और खुले हुए द्वीपों में पायी जाने वाली बीट्लों के पंख। ऐसी दशा में प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा इन अंगों के ह्रास में तब तक सहायता मिलेगी जब तक ये अंग अहानिकारक और अवशिष्ट रूप में न पहुँच जायें।

संरचना तथा कार्य में ऐसा कोई परिवर्तन, जो सूक्ष्म तथा क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा हो सकता है, प्राकृतिक निर्वाचन की शक्ति के अन्तर्गत है। अतः यदि कोई अंग परिवर्तित रहन-सहन के कारण किसी कार्य विशेष के लिए व्यर्थ या हानिकारक हो जाता है तो वह दूसरे कार्य के लिए आपरिवर्तित होकर उपयोग में लाया जा सकता है। यह भी संभव है कि कोई अंग पहले के अपने कई कार्यों में से केवल एक ही के लिए बना रहे। यह भी हो सकता है प्राकृतिक निर्वाचन की सहायता से निर्मित कोई अंग व्यर्थ हो जाने पर भी परिवर्तनशील बना रहे, क्योंकि अब इनमें परिवर्तनों के होने की क्रिया को प्राकृतिक निर्वाचन नहीं रोक सकता। ये सभी बातें हमारे प्रकृति के अवलोकनों के अनुकूल हैं। फिर जीवन की जिस व्यवस्था में अनुपयोग या निर्वाचन के कारण किसी अंग का ह्रास होता है, अनुरूप अवस्था में वंशागति के सिद्धान्त के अनुसार संतान में उसी अवस्था में अपनी प्रह्रासित अवस्था में वह अंग उत्पन्न होगा लेकिन शायद ही कभी भ्रूण उससे प्रभावित होता हो। अधिकतर यह ह्रास जीव के प्रौढ़ होने पर होता है। इस तरह हम समझ सकते हैं कि क्यों अवशिष्ट अंग भ्रूणावस्था में प्रौढ़ावस्था की अपेक्षा बड़े होते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी जन्तु की अँगुली का प्रयोग पीढ़ी दर पीढ़ी कम ही होता जाय, या किसी ग्रंथि या अंग से उत्तरोत्तर कम काम लिया जाय, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इस जन्तु के प्रौढ़ में यह छोटा होता जायगा, लेकिन भ्रूण में यह जितना बड़ा था उतना ही बना रहेगा।

किन्तु एक कठिनाई बच रहती है। जब एक बार किसी अंग का उपयोग बन्द हो जाता है और इसके फलस्वरूप उसमें ह्रास हो जाता है, तो फिर उसके बाद उसमें और भी ह्रास क्योंकर होता है, यहाँ तक कि यह केवल अवशिष्ट रूप में रह जाता है, और फिर क्योंकर अंत में उसका लोप होता है? यह संभव नहीं जान पड़ता कि एक बार किसी अंग के क्रियाहीन हो जाने के बाद भी अनुपयोग का उस पर और भी अधिक प्रभाव पड़े। किन्तु यदि यह एक बार सिद्ध किया जा सके कि किसी जन्तु के शरीर के प्रत्येक

भाग में परिवर्तन इस तरह का होता है कि बढ़ने के बजाय वे छोटे ही होते हैं, तो हम यह समझ सकेंगे कि अनुपयोग के प्रभाव के अलावा भी कोई व्यर्थ अंग किस प्रकार और भी छोटा तथा अवशिष्ट रूप धारण कर सकता है—कारण यह है कि ऐसी दशा में प्राकृतिक निर्वाचन के फलस्वरूप अंगों का प्रह्रासन रुक न सकेगा। पिछले अध्याय में दिये गये वृद्धि की मितव्ययिता के सिद्धान्त के अनुसार किसी अंग का निर्माण करने वाले पदार्थ यदि जीव के लिए उपयोगी न हुए तो उसको बचा लिया जाता है और उसका उपयोग व्यर्थ अंग को अवशिष्ट बनाने के काम के लिए किया जाता है। किन्तु इस सिद्धान्त का प्रभाव लगभग निश्चय ही विकास के प्रारंभिक भाग में काम आएगा, क्योंकि हम यह नहीं मान सकते कि, उदाहरण के लिए नर फूल में पायी जाने वाली एक सूक्ष्म उभार, जो कुछ कोशिकाओं की बनी है और गर्भकेसर का प्रतीत है, केवल पोष्य पदार्थ को बचाने के लिए अवशोषित हो जायगी।

अंत में हमको यह मानना पड़ेगा कि अवशिष्ट अंग अपनी वर्तमान प्रह्रासित तथा व्यर्थ अवस्था में चाहे जिस प्रकार भी पहुँचे हों, वे अतीतकाल में इन अंगों की दशा के प्रतीक हैं। और केवल वंशागति के प्रभाव के कारण अब तक बच रहे हैं। वर्गीकरण के वंश क्रमानुगति के मत के आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि जीवों को उचित स्थान में रखने के लिए प्रकृतिशास्त्री क्यों अवशिष्ट अंगों को बहुधा उपयोगी, बल्कि कार्यिकी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अंगों की अपेक्षा अधिक उपयोगी मानते हैं। अवशिष्ट अंगों की तुलना शब्द के उन अक्षरों से की जा सकती है जो उच्चारण में नहीं आते, फिर भी अक्षर विन्यास में उनकी उपस्थिति से शब्द की व्युत्पत्ति का पता चलता है। आपरिवर्तन के सहित वंशागति के सिद्धान्त के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवशिष्ट, अपूर्ण, व्यर्थ अथवा विफलित अंगों का होना हमारे समक्ष कोई विचित्र कठिनाई नहीं उत्पन्न करता, बल्कि हमको उसकी आशा करनी चाहिए; हाँ, सृष्टि के पुराने सिद्धान्त के अनुसार निश्चय ही ये कठिनाइयाँ बहुत बड़ी हैं।

सारांश

इस अध्याय में मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि , यदि हम सहसंबंधी जीवों की सामान्य वंशागति, उनमें परिवर्तनों के प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त तथा विलुप्तता और लक्षणों के विचलन के तथ्यों को स्वीकार कर लें, तो इसके परिणामस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण परिणाम स्वयं हमारे सामने स्पष्ट हो जाते हैं, जैसे काल तथा स्थान में पाये जाने वाले जीवों का अनेक विभाजनों तथा उनके अन्तर्गत उपविभाजनों में व्यवस्थित किया जाना, सभी जीवित तथा विलुप्त जीवों का एक-दूसरे

से जटिल विकीर्ण रीतियों से परस्पर संबंधित होकर कुछ विशाल वर्गों का निर्माण करना; प्रकृतिवादियों द्वारा वर्गीकरण-संबंधी नियमों और कठिनाइयों के प्रति व्यवहार, उनके द्वारा स्थायी तथा प्रचलित लक्षणों को मान्यता देना, चाहे वे तुच्छ महत्त्व के हों या अधिक महत्त्व के हों अथवा अवशिष्ट अंगों की भाँति महत्त्वहीन हों; वास्तविक बंधुता वाले लक्षणों तथा अनुकूलन संबंधी या कार्यसादृश्य संबंधी लक्षणों के परस्पर महत्त्व में विरोध; इत्यादि इत्यादि। वर्गीकरण के इस मत पर विचार करने में यह ध्यान में रखना चाहिए कि लिंगों, अवस्थाओं, द्विरूपीय जीवों तथा एक ही जात के भेदों को एक साथ रखने में सदा ही वंशागति के तथ्यों को ध्यान में रखा गया है, चाहे संरचना में ये रूप एक-दूसरे से कितने ही भिन्न क्यों न हों। स्पष्ट है कि वंशागति ही जीवों की समानता का एक निश्चित और ज्ञात कारण है और यदि हम इसका व्यवहार विस्तृत कर दें तो हम यह समझ सकेंगे कि प्राकृतिक व्यवस्था क्या है। यह वंशक्रमानुगति व्यवस्था की ओर प्रयत्न है, जिसमें अर्जित अंतरों के स्तर भेद जात, जातियाँ, वंश, गण तथा वर्ग जैसे शब्दों से सूचित किये जाते हैं।

आपरिवर्तन के सहित वंशागति के सिद्धान्त के आधार पर आकारिकी से संबंध रखनेवाले अधिकांश महत्त्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। चाहे हम एक ही वर्ग के विभिन्न जातों के रचना सदृश अंगों की समानता पर ध्यान दें या किसी एक जन्तु या पौधे के शरीर में पाये जाने वाले श्रृंखलाबद्ध तथा पार्श्वीय रचना सादृश्य पर।

इस सिद्धान्त पर कि उत्तरोत्तर होनेवाले परिवर्तन अनिवार्यरूप से या सामान्यतः जीवन की बहुत प्रारंभिक अवस्था में नहीं प्रकट होते, वल्कि अनुरूप अवस्था में वंशागत होते हैं, हम भ्रूण तत्व की मुख्य बातों को समझ सकते हैं। ये हैं—एक ही भ्रूण में रचनासदृश अंगों की समानता, जो प्रौढ़ावस्था में संरचना तथा कार्य में बहुत भिन्न हो जाते हैं, तथा सहसंबंधित किन्तु पृथक् जातों में रचनासदृश अंगों की समानता, यद्यपि प्रौढ़ावस्था में ये अंग बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के रहन-सहन के लिए उपयुक्त होते हैं। लार्वा क्रियाशील भ्रूण हैं जो अपनी प्रकृति के अनुसार विशेषतः आपरिवर्तित होते हैं तथा जिनके आपरिवर्तन अपेक्षाकृत कम आयु में वंशागत होते हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार, तथा दो बातों को ध्यान में रखने पर —कि चाहे अनुपयोग से हो या प्राकृतिक निर्वाचन से, जब अंगों का ह्रास होता है, तो साधारणतः उसी अवस्था में जीव को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है, तथा यह कि वंशागति की शक्ति बहुत प्रबल है—इन बातों को ध्यान में रखने पर अवशिष्ट अंगों की आशा करनी ही चाहिए। इस मत के आधार पर कि प्राकृतिक व्यवस्था को वंशक्रमानुगत होना चाहिए, वर्गीकरण में भ्रूणीय लक्षणों तथा अवशिष्ट अंगों का महत्व स्पष्ट है।

अंत में इस अध्याय में दिये गये कई प्रकार के तथ्य मेरे विचार में यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि इस संसार में मिलने वाले तथा विभिन्न वर्गों की असंख्य जातें, जातियाँ और वंश एक ही माता-पिता के वंशज हैं और वंशागति के बीच आपरिवर्तित हुए हैं। यह बात इतनी स्पष्ट है कि बिना किसी प्रमाण या तर्क के ही मैं इसको बिना हिचकिचा-हट के मानने को तैयार हूँ।

अध्याय पंद्रह

पुनरावृत्ति तथा निष्कर्ष

प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्तियों की पुनरावृत्ति---इस सिद्धान्त के अनुकूल सामान्य तथा विशेष परिस्थितियों की पुनरावृत्ति---जातों की अपरिवर्तनशीलता में सामान्य विश्वास के कारण---कहाँ तक प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त का विस्तार किया जा सकता है---प्राकृतिक इतिहास के अध्ययन पर इस सिद्धान्त के मानने के प्रभाव---अन्तिम टिप्पणियाँ।

चूँकि यह पूरी पुस्तक वास्तव में एक लंबी दलील के रूप में है इसलिए पाठकों के लिए यह सुविधाजनक होगा कि अंत में इसमें दिये गये मुख्य तथ्यों तथा निष्कर्षों की पुनरावृत्ति कर दी जाय।

मैं यह नहीं कहता कि परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा आपरिवर्तनमय वंशागति के सिद्धान्त के विरुद्ध कई गंभीर आपत्तियाँ नहीं की जा सकतीं। मैंने स्वयं उन आपत्तियों का पूरी शक्ति के साथ उल्लेख किया है। प्रारम्भ में सबसे अधिक कठिनाई यह विश्वास करने में होती है कि अनेक जटिल अंगों या प्रवृत्तियों में पूर्णता जीव के अनेक सूक्ष्म तथा उपयोगी आपरिवर्तनों के संग्रह से उत्पन्न होती है, न कि मनुष्य की तर्कशक्ति की भाँति किसी विशेष ध्येय के हेतु। यद्यपि यह कठिनाई बहुत ही दुर्गम जान पड़ती है, किन्तु यदि हम निम्नलिखित तथ्यों को स्वीकार कर लें तो यह इतनी वास्तविक नहीं रह जाती---संरचना तथा प्रवृत्ति में कम-से-कम वैयक्तिक अन्तर होते हैं, जीवों के बीच जीवन-संघर्ष होता है जिसके फलस्वरूप संरचना तथा प्रवृत्ति में होने वाले लाभदायक आपरिवर्तनों का परिरक्षण होता है, तथा किसी अंग के पूर्ण होने की क्रिया में ऐसी क्रमिक अवस्थाएँ घट सकती हैं जो स्वयं लाभदायक रही हों। मेरे विचारों में इन तथ्यों की सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि अनुमान करना भी बहुत कठिन है कि किन अवस्थाओं के द्वारा कोई अंग पूर्णता को प्राप्त हुआ, विशेषकर ऐसे जीव-समूहों में जो टूटे-फूटे या गिरते हुए हैं और जिनमें विनाश बहुत हुआ है। फिर भी प्रकृति में हम इतनी विचित्र

क्रमिकताएँ देखते हैं कि यह कहने में हमको विशेष सावधानी बरतनी चाहिए कि कोई अंग, प्रवृत्ति या समूची गठन ही अपनी वर्तमान स्थिति में क्रमिक अवस्थाओं से नहीं पहुँच सकती थी। यह मानना पड़ेगा कि ऐसे भी कुछ कठिन उदाहरण हैं जो प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। इनमें सबसे विचित्र है चीटियों के समाज में श्रमिक अथवा वन्ध्य मादाओं की दो-तीन जातों (castes) का होना। किन्तु मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि इन कठिनाइयों को हल किया जा सकता है।

भेदों का संकरण करने पर सामान्यतः उर्वरता होने के विपरीत जातों के संकरण पर सामान्यतः वन्ध्यता होने के अवलोकन के विषय में मैं अपने पाठकों का ध्यान नवें अध्याय के अंत में दी गयी पुनरावृत्ति की ओर आकर्षित करूँगा। मेरी समझ में इससे यह पूरी तरह सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार दो भिन्न प्रकार के वृक्षों का एक दूसरे पर कलम बाँधा न जा सकना उनका विशेष गुण नहीं है, उसी प्रकार जातों के बीच प्रसंकरता भी विशेष गुण नहीं है। ये दोनों बातें संकरण की जानेवाली जातों के जननांगों के बीच पाये जानेवाले अंतरों के कारण हैं। इस निष्कर्ष की सत्यता हमको परस्पर संकरण की विषमता में दिखाई पड़ती है—अर्थात् जब एक जात एक संकरण में पिता के रूप में और दूसरे में माता के रूप में रखी जा सकती है। द्विरूपीय तथा त्रिरूपीय पौधों से तुलना करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं क्योंकि जब विविध रूपों का अवैध सम्मिलन होता है तो बीज नहीं बनते या बहुत कम बनते हैं और उनकी संतानें लगभग वन्ध्य होती हैं। ये रूप एक ही जात के अन्तर्गत होते हैं और जननांगों तथा उनके कार्यों के अतिरिक्त उनमें और कुछ भी अन्तर नहीं होते।

यद्यपि अनेक लेखकों के अनुसार भेदों के अन्तःसंकरण के फलस्वरूप प्रसंकर सदा उर्वर होते हैं, फिर भी गार्टनर तथा कोलरायटर जैसे अधिकारियों द्वारा दिये गये तथ्यों के आधार पर इस कथन को बिल्कुल सत्य नहीं माना जा सकता। भेदों के संकरण पर किये गये अधिकतर प्रयोग पालतूपन की दशाओं में हुए हैं। और चूँकि पालतूपन (केवल बंदी रखना ही नहीं) के फलस्वरूप निश्चय ही वन्ध्यता में कमी होती है, (जिसका प्रभाव अन्तःसंकरण करने पर मूल जातों पर भी पड़ता है) इसलिए हमको यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उनकी आपरिवर्तित संतानों में पालतूपन की अवस्थाओं में संकरण करने पर वन्ध्यता उत्पन्न होगी। स्पष्टतः वन्ध्यता में यह कमी भी उसी कारण होती है जिस कारण हमारी पालतू नस्लें विविध परिस्थितियों में स्वतन्त्रतापूर्वक सन्तानोत्पत्ति करती हैं, तथा स्वयं ऐसा इसलिए होता है कि पालतू नस्लें धीरे-धीरे जीवन की परिस्थितियों में बार-बार होनेवाले परिवर्तन के लिए अनुकूलित हो जाती हैं।

जातों के प्रथम बार संकरण करने तथा उनकी प्रसंकर संतानों की वन्ध्यता पर दो समान तथ्यों से बहुत प्रकाश पड़ता है। एक ओर तो यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि जीवन कि दशाओं में छोटे-छोटे अन्तरों के होने से सभी जीवों की शक्ति तथा उर्वरता में वृद्धि होती है। हम यह भी जानते हैं कि एक ही भेद के दो सदस्यों के बीच, अथवा दो पृथक् भेदों के बीच संकरण से संतानों की संख्या में, और शक्ति तथा आकार में वृद्धि होती है। ऐसा मुख्यतः इसलिए होता है कि जिन सदस्यों के बीच संकरण होता है, वे जीवन की कुछ भिन्न दशाओं में रहे हैं। वास्तव में काफी परिश्रम और कई प्रयोगों के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि किसी एक भेद के सभी सदस्य कई पीढ़ियों तक समान परिस्थितियों में रखे जायँ, तो संकरण से होनेवाला लाभ बहुत कम हो जाता है और बहुधा पूरी तरह नष्ट भी हो जाता है। यह तो हुआ समस्या का एक पक्ष। दूसरी ओर हम यह भी जानते हैं कि जिन जातों को बहुत दिनों तक समान दशा में रखा जाता है, उनको बन्दी अवस्था में ही फिर नयी और परिवर्तित अवस्थाओं में रखने पर या तो वे नष्ट हो जाती हैं और यदि वे जीवित रहती हैं तो स्वास्थ्य अच्छा होने पर भी वन्ध्य हो जाती हैं। हमारे पालतू जीव बदलती हुई परिस्थिति में रहे हैं, इसलिए उनमें ऐसा नहीं होता या बहुत कम होता है। अतः जब हम देखते हैं कि दो पृथक् जातों के संकरण से बहुत कम प्रसंकर इसलिए उत्पन्न होते हैं कि गर्भ में आने के बाद ही, या बहुत कम आयु में वे नष्ट हो जाते हैं, या वे यदि बच रहे तो लगभग वन्ध्य हो जाते हैं, तो यह संभव जान पड़ता है कि उनमें यह परिणाम इसलिए होता है कि उनकी रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो जाता है, न कि इसलिए कि दो भिन्न जीवों का सम्मिलन होता है। जो निश्चित रूप से इस बात का कारण बता सकेगा कि, उदाहरण के लिए, कि हाथी या लोमड़ी अपने ही देश में बन्दी अवस्था में क्यों सन्तानोत्पत्ति नहीं करते जब कि कुत्ते या सूअर अनेक परिस्थितियों में स्वतन्त्रतापूर्वक सन्तानोत्पत्ति करते हैं, वही इस बात का भी स्पष्टीकरण कर देगा कि क्यों जातों के संकरण से वन्ध्य संतानें उत्पन्न होती हैं तथा भेदों के संकरण से उर्वर संतानें उत्पन्न होती हैं।

भौगोलिक वितरण की दशा में आपरिवर्तन के साथ वंशागति के मत को गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक ही जात के सभी सदस्य तथा एक ही जाति की सभी जातें, और इसी प्रकार अन्य बड़े वर्गों की मूल उत्पत्ति एक ही माता-पिता से होती है; और इसलिए वे जातें संसार के कितने ही पृथक् भागों में क्यों न पायी जायँ, यह निश्चित है कि प्रारम्भ में एक ही स्थान से क्रमशः संसार के अन्य भागों में फैलती गयी हैं। बहुधा हम इसका अनुमान भी नहीं लगा सकते कि यह किस प्रकार संभव हुआ होगा; फिर भी चूँकि हम यह विश्वास कर सकते हैं कि कुछ जातों ने अपने

लक्षण बहुत लम्बे काल तक—वर्षों के माप से अत्यधिक लम्बे—समान बनाए रखा है, इसलिए कभी-कभी कुछ जातों को बहुत विस्तृत होने पर हमको बहुत महत्व नहीं देना चाहिए। स्पष्ट है कि इतने काल में इन जातों के अनेक रीतियों से स्थानान्तरण के लिए अवसर मिलेगा। कभी-कभी उनका विस्तार-क्षेत्र इसलिए अनियमित होता है कि बीच-बीच के भागों में वे विलुप्त हो जाती हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि हम अब तक आधुनिक काल में पृथ्वी पर होने वाले विभिन्न भौगोलिक तथा जलवायु-संबंधी परिवर्तनों से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। उदाहरण के लिए मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि एक ही तथा मिलती-जुलती जातों के संसार भर में फैलने में हिमयुग का कितना गहरा प्रभाव था। पर हम अभी तक समय-समय पर होने वाले स्थानान्तरण के लिए यातायात के साधनों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ हैं। जहाँ तक दूर-दूर की भिन्न तथा पृथक् क्षेत्रों में पायी जाने वाली एक ही जाति की विभिन्न जातों का संबंध है, चूँकि आपरिवर्तन की क्रिया बहुत धीमी होती है, इसलिए आपरिवर्तन के लम्बे काल में स्थानान्तरण के सभी साधन, उपयोग में लाये गये होंगे। अतः एक ही जाति की विभिन्न जातों के विस्तरण का प्रश्न इतना कठिन नहीं रह जाता।

चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वर्ग की सभी जातों के बीच संबंध स्थापित करनेवाली असंख्य माध्यमिक अवस्थाएँ अवश्य ही रही होंगी, तथा संभवतः ये माध्यमिक अवस्थाएँ एक-दूसरे से ऐसी मिलती-जुलती रही होंगी जैसे जातों के अनेक भेद, इसलिए यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम इस प्रकार के संबंधकारी जीव बराबर चारों ओर क्यों नहीं देखते? सभी जीव एक-दूसरे से मिलजुलकर भयंकर गड़बड़ी क्यों नहीं पैदा कर देते? जहाँ तक वर्तमान जीवों का संबंध है, हमको याद रखना चाहिए कि कुछ अपवादों को छोड़, हमको उनके बीच स्पष्ट तथा सीधे संबंध देखने की आशा ही नहीं करनी चाहिये, हम केवल कुछ जीवित, कुछ विलुप्त तथा कुछ विजित जीवों के बीच ही संबंध देख सकते हैं। किसी ऐसे बड़े क्षेत्र में भी जो बहुत काल से समान बना रहा हो तथा जिसकी जलवायु तथा जीवन-संबंधी अन्य दशाएँ एक छोर से दूसरे छोर तक बहुत क्रमिक रीति बदलती हों तथा इन भिन्न छोरों पर अलग जातें पायी जाती हों, उसमें भी माध्यमिक भागों में माध्यमिक भेदों के पाने की आशा नहीं करनी चाहिए। कारण यह है कि किसी जाति की इनी-गिनी जातें ही परिवर्तित होती हैं और बाकी नष्ट हो जाती हैं और अपने पीछे आपरिवर्तित संतानें नहीं छोड़तीं। जो जातें बदलती हैं उनमें भी किसी प्रदेश में एक समय में, इनी-गिनी जातें ही परिवर्तित होती हैं तथा सभी आपरिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होते हैं। मैंने यह भी दिखाया है कि ऐसे माध्यमिक भेद जो संभवतः प्रारम्भ के माध्यमिक क्षेत्रों में पाये

जाते थे अंत में छोरों पर के भेदों द्वारा नष्ट हो जाएंगे और इस प्रकार उनका स्थान अन्य दूसरे भेद ग्रहण करेंगे क्योंकि ये विजयी भेद अधिक संख्या में होने के कारण अल्पसंख्यक माध्यमिक भेदों की अपेक्षा अधिक तेजी से आपरिवर्तित होंगे और उन्नति करेंगे। इस प्रकार अन्त में माध्यमिक भेदों का विनाश हो जायगा और उनका स्थान अन्य भेद ग्रहण करेंगे।

इस प्रकार संसार के जीवित तथा विलुप्त जीवों के बीच संबंध स्थापित करनेवाले अथवा विलुप्त तथा उनसे भी प्राचीन जीवों के बीच संबंध स्थापित करनेवाले असंख्य जीवों के विनाश के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक भूतत्वीय निर्माण में ऐसे अनेक सम्बन्धकारी जीव प्राप्त होने चाहिए। किन्तु ऐसा क्यों नहीं होता? क्यों प्रत्येक भूतत्वीय संग्रह के द्वारा जीवों के आपरिवर्तन और क्रमिकता का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है? यद्यपि भूतत्वीय गवेषणा के द्वारा निश्चित रूप से अनेक संबंधकारी जीवों का होना सिद्ध हो चुका है तथा कई भिन्न जीवों के बीच सम्बन्ध स्थापित हो चुके हैं, परन्तु इसके द्वारा विगत तथा वर्तमान जीवों के बीच की इतनी अवस्थाएँ नहीं प्राप्त होतीं, जितनी हमारे सिद्धान्त के अनुसार होनी चाहिए; और जितनी भी आपत्तियाँ हमारे मत के विरुद्ध की जा सकती हैं, उनमें यह काफी गंभीर है। फिर भी क्यों प्रत्येक भूतत्वीय युग में मिलती-जुलती जातों के कई समूह एकाएक प्रकट होते दिखाई पड़ते हैं? यद्यपि अब हम यह जानते हैं कि पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति असंख्य वर्षों पहले तथा कैम्ब्रियन संस्थान के प्रथम स्तर के निर्माण के भी पहले हुई, फिर भी कैम्ब्रियन संस्थान के नीचे पाये जाने वाले अनेक स्तरों में हमको ऐसे जीवाश्मों के अवशेष क्यों नहीं मिलते जिनको कैम्ब्रियन युग के जीवों का पूर्वज कहा जा सके? हमारे मत के अनुसार इन स्तरों का निर्माण पृथ्वी के इतिहास के अत्यन्त प्राचीन तथा अज्ञात काल में हुआ होगा।

मैं इन प्रश्नों तथा आपत्तियों का उत्तर केवल इस कल्पना के आधार पर दे सकता हूँ कि भूतत्वीय उल्लेख का अधिकांश भूतत्ववेत्ता जितना अपूर्ण समझते हैं, वास्तव में वह उससे भी अधिक अपूर्ण है। यदि हम पृथ्वी के इतिहास में पायी जानेवाली जीवों की अनेक पीढ़ियों तथा असंख्य जातों पर ध्यान दें तो उनकी संख्या की अपेक्षा हमारे सभी संग्रहों में एकत्रित अवशेषों की कुल संख्या नहीं के बराबर होगी। किन्हीं दो या अधिक जातों का सामान्य पूर्वज अपने सभी लक्षणों में अपने परिवर्तित संतानों के बीच माध्यमिक नहीं कहा जा सकेगा। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे चट्टानी कबूतर को अन्नगृह (crop) तथा पूँछ की संरचना के विषय में इसकी संतानों—पाउटर तथा फ़ैनटेल—के ठीक बीच का नहीं कहा जा सकता। वास्तव में हम किसी आपरिवर्तित

जात के पूर्वज को केवल उन दोनों की परीक्षा के आधार पर नहीं पहचान सकते। यह समझने के लिए कि अमुक जात किसी अन्य जात का पूर्वज है, यह आवश्यक है कि इन दोनों के बीच की अनेक अवस्थाओं में से कुछ हमको प्राप्त हों। परन्तु भूतत्वीय उल्लेख इतना अपूर्ण है कि इन माध्यमिक अवस्थाओं को प्राप्त करने की हमको आशा नहीं करनी चाहिए। यदि दो, तीन या अधिक संबंधकारी रूप मिल भी जायँ, तो चाहे उनके आपस के अंतर कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों, अधिकांश प्रकृतिवादी उनको अलग-अलग जातें ही मानेंगे, विशेषकर यदि ये, अलग-अलग भूतत्वीय उप-अवस्थाओं में पायी गयी हों। हम ऐसे अनेक संदेहजनक जीवों के उदाहरण दे सकते हैं जिनको संभवतः भेद कहा जा सकता। किन्तु कौन कह सकता है कि भविष्य में इनके जीवाश्म प्राप्त होंगे और प्रकृतिशास्त्री निश्चित रूप से यह कह सकेंगे कि इन संदेहजनक जीवों को भेद कहा जाय अथवा जातें। संसार के केवल बहुत छोटे भाग का भूतत्वीय परीक्षण किया गया है। केवल कुछ ही वर्गों के जीवों के जीवाश्म बन सकते हैं विशेषतः बड़ी संख्या में। एक बार निर्मित होने के बाद कई जातों में फिर परिवर्तन नहीं होते, बल्कि बिना आपरिवर्तित संतानें उत्पन्न किये वे लुप्त हो जाती हैं। और जिन अवधियों में किसी जाति में आपरिवर्तन हुए हैं, यद्यपि वर्षों के हिसाब से वे बहुत लंबी होंगी, फिर भी उनके निर्माण की अवधि की अपेक्षा आपरिवर्तन की अवधि बहुत छोटी होगी। शक्तिशाली तथा बहुविस्तृत जातें ही अधिक और बार-बार परिवर्तित होती हैं तथा भेद प्रारम्भ में केवल स्थानीय होते हैं—इन दोनों कारणों से किसी भी स्तर में संबंधकारी जीवों का आविष्कार कठिन होता है। स्थानीय भेद दूसरे तथा दूरस्थित क्षेत्रों में तब तक नहीं फैलते, जब तक वे काफी आपरिवर्तित तथा उन्नतिशील नहीं हो जाते; और जब वे फैल जाते हैं तथा भूतत्वीय निर्माणों में प्राप्त होते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि उन भागों में वे एकाएक प्रकट हो गये हैं और हम उनको नयी जातों का स्तर प्रदान करते हैं। कई भूतत्वीय निर्माण रुक-रुक कर बने हैं और उनका निर्माणकाल संभवतः जातों के जीवनकाल से छोटा रहा है। अधिकतर विभिन्न निर्माणों के बीच समय की ऐसी लंबी अवधियाँ व्यतीत हुई हैं जब कोई भूतत्वीय निर्माण नहीं हुआ। कारण यह है कि ऐसे मोटे जीवाश्मिक निर्माण, जो बाद में नष्ट होने से बच रहे, साधारणतः ऐसे ही क्षेत्रों में बनते हैं जहाँ समुद्र का तल धँस रहा हो और उस पर संतुलित रीति से अवसादन होता हो। बारी-बारी से तल के उठने तथा स्थायी रहने के कालों में कोई जीवाश्म नहीं होगा। इन बाद के कालों में संभवतः जीवों के रूप में परिवर्तनशीलता अधिक होगी तथा धँसाव के काल में विलुप्तता अधिक होगी।

कैम्ब्रियन युग के नीचे के स्तरों में जीवाश्मों की अनुपस्थिति के सम्बन्ध में , मैं

पाठकों का ध्यान दसवें अध्याय में दी गयी प्रकल्पना की ओर आकर्षित करता हूँ कि यद्यपि हमारे महाद्वीप तथा महासागर एक लम्बे युग से बहुत कुछ अपनी वर्तमान स्थिति में रहे हैं पर इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा ही सदा से रहा है। अतः यह संभव है कि जितने भी भूतत्वीय निर्माण हमको ज्ञात हैं उनसे कहीं अधिक प्राचीन निर्माण समुद्रों के नीचे हो सकते हैं। कुछ वैज्ञानिकों को यह आपत्ति है कि स्वयं पृथ्वी के निर्माण के बाद से वर्तमान काल तक इतना समय नहीं व्यतीत हुआ है कि हमारी कल्पना के अनुसार जीवों में होनेवाले सभी परिवर्तन हो सकें। सर विलियम टाम्सन के अनुसार यह आपत्ति सबसे गंभीर है। इसके उत्तर में मैं केवल यही कह सकता हूँ कि पहले तो हम यही नहीं जानते थे कि वर्षों के माप के अनुसार जातें किस गति से परिवर्तित होती हैं। और दूसरे कई दार्शनिक अब तक यह विश्वास करने को तैयार नहीं हैं कि हम विश्व की रचना तथा पृथ्वी के आभ्यन्तर के विषय में इतना कम जानते हैं कि उसकी आयु के विषय में कुछ भी ठीक से नहीं कह सकते।

यह सभी मानेंगे कि भूतत्वीय उल्लेख अपूर्ण है। किन्तु इसको इतना अपूर्ण बहुत कम लोग मानेंगे जितना हमारे मत के अनुसार समझना आवश्यक है। यदि हम काफी लंबे कालान्तरों के बाद स्तरों की परीक्षा करें तो भूतत्वशास्त्र स्पष्टतः यह बताता है कि जातों में परिवर्तन हुआ। यही नहीं, परिवर्तन उसी प्रकार का हुआ है, जैसा हमारे मत के अनुसार होना चाहिए, अर्थात् परिवर्तन धीरे-धीरे और क्रमानुसार हुआ है। यह बात इस अवलोकन से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि काफी अन्तर के स्तरों की अपेक्षा एक दूसरे के निकट स्थित स्तरों के फॉसिल एक-दूसरे से अधिक संबंधित हैं।

यह हुआ हमारे मत के विरुद्ध की जाने वाली आपत्तियों तथा उसके सामने उपस्थित होनेवाली कठिनाइयों का सारांश। मैंने संक्षेप में इनके उत्तरों की भी पुनरा-वृत्ति कर दी है। कई वर्षों तक मैं इन कठिनाइयों का समाधान करने में लगा रहा और इस लिए उनके महत्त्व में मुझको संदेह नहीं; पर यह विशेष ध्यान देने की बात है कि इनमें से अधिक महत्वपूर्ण आपत्तियाँ ऐसे प्रश्नों से सम्बन्ध रखती हैं जिनके विषय में हम स्पष्टतः अनभिज्ञ हैं। हम सरलतम तथा पूर्ण अंगों के बीच की सभी संभव अवस्थाओं के विषय में नहीं जानते हैं; हम नहीं कह सकते कि वर्षों के कालान्तर पर जीवों के विस्तार के सभी साधनों से हम परिचित हैं; इसी तरह हम यह भी नहीं जानते कि भूतत्वीय उल्लेख कितना अपूर्ण है। अतएव, यद्यपि ये आपत्तियाँ गंभीर हैं पर फिर भी मेरे विचार में ये ऐसी नहीं हैं कि इनके कारण हम आपरिवर्तन के साथ वंशागति के सिद्धान्त का परित्याग कर दें।

आइये, अब हम तर्क के दूसरे पक्ष पर ध्यान दें। पालतूपन की अवस्था में हम

ऐसे अनेक परिवर्तन देखते हैं जो जीवन की बदली हुई परिस्थिति के कारण हैं अथवा कम-से-कम उनके कारण उत्तेजित हुई हैं। पर बहुधा यह ऐसे रहस्यमय ढंग से होता है कि हम इन परिवर्तनों को स्वतः होने वाले समझते हैं। परिवर्तनशीलता कई जटिल नियमों द्वारा नियंत्रित होती है—जैसे सहसंबंधित वृद्धि, किसी कमी की पूर्ति, अंगों का अनुपयोग अथवा अधिक उपयोग तथा वातावरण के विभिन्न अंगों का प्रभाव। यह निश्चित करना बहुत ही कठिन है कि हमारे पालतू जीवन में वहाँ पर आपरिवर्तन हुआ है; किन्तु फिर भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आपरिवर्तनों की मात्रा बहुत रही है तथा वे लम्बी अवधियों तक वंशागत होते रहे हैं। जब तक जीवन की परिस्थितियाँ समान बनी रहती हैं तब तक ऐसा आपरिवर्तन, जो कई पीढ़ियों तक वंशागत हुआ है, उसको अनगिनती पीढ़ियों तक वंशागत होना चाहिए। हमारे पास इस बात का भी प्रमाण है कि जब एक बार परिवर्तनशीलता की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो पालतूपन की परिस्थिति में वह काफी लम्बी अवधि तक रुकती नहीं है। हमारी जान में तो वह कभी नहीं रुकती, क्योंकि अब भी हमारे सबसे पुराने पालतू जानवरों में भी कभी-कभी नये भेद उत्पन्न हो जाते हैं।

वास्तव में परिवर्तनशीलता मनुष्य द्वारा उत्पन्न नहीं होती, वह तो केवल अनजाने में ही जीवों को नयी परिस्थितियों में रख देता है। फिर प्रकृति उनकी गठन पर प्रभाव डालती है तथा उनमें परिवर्तन करती है। किन्तु मनुष्य प्रकृति द्वारा प्राप्त परिवर्तनों का निर्वाचन करता है और इस प्रकार उनको इच्छानुसार संगृहीत करता है। इस तरह वह जन्तुओं तथा पौधों को अपने लाभ तथा आनन्द के योग्य बनाता है। चाहे तो वह ऐसा अपनी इच्छा से नियमानुसार कर सकता है अथवा बिना जाने तथा नस्ल में सुधार करने की इच्छा के बिना किन्तु लाभदायक अथवा आनन्ददायक सदस्यों को छाँटकर। यह निश्चित है कि वह बहुत हद तक किसी नस्ल के लक्षणों को, प्रत्येक पीढ़ी में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अन्तर वाले सदस्यों को छाँटकर बदल सकता है। बिना जाने इस प्रकार निर्वाचन की क्रिया के द्वारा कई स्पष्ट तथा लाभदायक पालतू नस्लें तैयार हो रही हैं। उनके सम्बन्ध में हमारा यह सन्देह कि वे भेद हैं अथवा जातें, इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य द्वारा उत्पन्न नस्लों में बहुत हद तक नैसर्गिक जातों के लक्षण हैं।

कोई कारण नहीं कि जो सिद्धान्त घरेलू वातावरण में इतनी अच्छी तरह काम करते हैं वे प्रकृति में उसी प्रकार काम न करें। बारम्बार होनेवाले जीवन-संघर्ष में कुछ सदस्यों के अतिजीवन में हम निर्वाचन की क्रिया का एक शक्तिशाली तथा नित्य बना रहने वाला रूप देखते हैं। सभी जीवों की संख्या में सामान्यतः होनेवाली वृद्धि के कारण

जीवन-संघर्ष का होना नितान्त आवश्यक है। वृद्धि की यह तीव्र गति गणना से सिद्ध है— कई जन्तु तथा कई पौधे विचित्र ऋतुओं में तथा किसी वातावरण में प्रकृतिकरण के बाद तेजी से संख्या वृद्धि करते हैं। किसी जाति के जितने सदस्य जीवित रह सकते हैं, उनसे बहुत अधिक उत्पन्न होते हैं। संभव है कि ऐसी होड़ में केवल एक क्षुद्र लक्षण ही यह निर्णय करे कि कौन सदस्य जीवित रहेगा और कौन नष्ट होगा; किस भेद अथवा जात की संख्या में वृद्धि होगी और किसमें कमी और किसका विनाश होगा। चूँकि एक ही जात के भिन्न सदस्यों के बीच सबसे अधिक प्रतियोगिता होगी अतः उन्हीं के बीच संघर्ष भी सबसे गहरा होगा। एक ही जात के भेदों के बीच भी संघर्ष लगभग जितना ही गहरा होगा, एक ही जाति की जातों के बीच इससे कम गहरा। बहुधा प्रकृति में दूरस्थित जीवों के बीच ही संघर्ष गहरा होता है। किसी आयु अथवा ऋतु में कुछ सदस्यों में प्रतियोगियों की तुलना में थोड़ी ही सुविधा का होना या वातावरण की भौतिक दशाओं की ओर कुछ अधिक अनुकूलित होना ही अन्त में तुला के पलड़े को भारी कर देगा।

अलग-अलग लिंग वाले जन्तुओं में अधिकतर नरों के बीच, मादा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष होगा। सबसे अधिक शक्तिशाली नर अर्थात् वे जिनको अपने जीवन की विशेष परिस्थितियों में सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है, उन्हीं की संतानें सबसे अधिक होंगी। किन्तु बहुधा इन विषयों में नरों की सफलता कुछ विशेष अस्त्रों, रक्षा की विधियों अथवा सुन्दरता पर निर्भर होगी थोड़ी और इन विषयों में सुविधा होने पर भी विजय प्राप्त होगी।

भूतत्व शास्त्र स्पष्ट रूप से यह बताता है कि प्रत्येक महाद्वीप के स्थल में बड़े-बड़े भौतिक परिवर्तन हुए हैं। अतः हम यह आशा कर सकते हैं कि जिस प्रकार पालतूपन में जीवों में परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार प्राकृतिक अवस्था में भी हो सकते हैं। और यदि प्रकृति में कुछ भी परिवर्तनशीलता रही है तो प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया के अतिरिक्त इसका कोई अन्य कारण बताना कठिन है। बहुधा यह कहा गया है कि प्राकृतिक अवस्था में परिवर्तन की मात्रा बहुत सीमित होती है; किन्तु इस कथन का कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि मनुष्य केवल बाह्य लक्षणों के आधार पर मनमाने ढंग से काम करता है, फिर भी थोड़े समय के भीतर ही पालतू जीवों के वैयक्तिक अन्तरों को संग्रह कर महत्वपूर्ण परिवर्तन कर सकता है। और प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि जातों में वैयक्तिक अन्तर होते हैं। सभी प्रकृतिवादी यह मानते हैं कि इन अन्तरों के अतिरिक्त ऐसे स्पष्ट प्राकृतिक भेद भी पाये जाते हैं, जिनको वर्गीकरण की पुस्तकों में स्थान देने योग्य समझा जाता है। किसी में अभी तक वैयक्तिक अन्तरों तथा सूक्ष्म भेदों के

बीच स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता है, और न ऐसे स्पष्ट भेद भेदों, उपजातों तथा जातों में किये गये हैं। अलग-अलग महाद्वीपों में, प्राकृतिक बाधाओं द्वारा बँटे हुए एक ही महाद्वीप के अलग-अलग भागों में तथा आस-पास के द्वीपों पर असंख्य ऐसे जीव पाये जाते हैं जिनको कुछ अनुभवी प्रकृतिशास्त्री भेदों का स्तर देते हैं, कुछ भौगोलिक नस्लों या उपजातों का तथा कुछ सन्निकट किन्तु पृथक् जातों का स्तर देते हैं।

तब यदि जन्तुओं तथा पौधों में अन्तर होते हैं, तो चाहे ये अन्तर कितने ही सूक्ष्म तथा मन्द क्यों न हों, कोई कारण नहीं कि उपयोगी वैयक्तिक अन्तर या किसी अन्य प्रकार के अन्तर प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा संरक्षित तथा संग्रहीत न हों; अर्थात् योग्यतम का अतिजीवन न हो। यदि मनुष्य धैर्यपूर्वक अपने लिए लाभदायक अन्तरों का निर्वाचन कर सकता है तो जीवन की परिवर्तनशील तथा जटिल अवस्थाओं में प्रकृति में पाये जानेवाले जीवों के लिए उपयोगी परिवर्तन उत्पन्न क्यों नहीं हो सकते तथा उनका परिरक्षण और निर्वाचन क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रकार की शक्ति के लंबे युग में जीवों के संपूर्ण गठन, संरचना और स्वभाव पर क्रिया करने में क्यों कोई सीमा होगी, जब कि उसके द्वारा उपयोगी लक्षणों का परिरक्षण तथा हानिकारक लक्षणों का विनाश होता है। मेरे विचार में धीरे-धीरे क्रिया करने तथा प्रत्येक जीव को सुन्दरता से उसके जटिल परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की इस शक्ति की कोई सीमा नहीं है। अतः यदि हम केवल इतनी ही दूर तक देखें तो भी प्राकृतिक निर्वाचन का सिद्धान्त संभवतः ठीक जान पड़ता है। जहाँ तक संभव हो सका है, मैंने इस मत के विरुद्ध सभी कठिनाइयों और आपत्तियों का उल्लेख संक्षेप में किया है। आइये, अब हम उन तर्कों तथा तथ्यों पर विचार करें, जो इस मत के पक्ष में हैं।

इस मत के आधार पर कि जातें केवल बहुत स्पष्ट और स्थायी भेद हैं और प्रत्येक जात प्रारम्भ में भेद के रूप में ही रही है, हम इस बात को समझ सकते हैं क्यों जातों तथा भेदों के बीच उनको एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए लकीर नहीं खींचीं जा सकती, जब कि सामान्यतः जातों की सृष्टि प्रारम्भ से ही पृथक् मानी जाती है तथा भेदों की उत्पत्ति गौण समझी जाती है। इसी मत के अनुसार हम यह भी समझ सकते हैं कि कैसे एक जाति की कई जातों के उत्पन्न होने वाले क्षेत्र में इन्हीं जातों के अनेक भेद पाये जाते हैं; क्योंकि जहाँ जातों के निर्माण की क्रिया तेजी से हुई है, वहाँ सामान्यतः उस क्रिया को चलते रहना चाहिए। यदि भेदों को प्रारम्भिक जातें माना जाय तो ऐसा होना स्वाभाविक है। फिर बड़ी जातियों की जातें जिनसे भेदों अथवा प्रारम्भिक जातों की बड़ी संख्या उत्पन्न होती है, उनमें कुछ हद तक भेदों के लक्षण बने रहते हैं, क्योंकि छोटी जातियों की जातों की अपेक्षा उनमें आपस के अन्तर कम होते हैं। बड़ी जातियों

की सन्निकट जातों के विस्तार-क्षेत्र भी सीमित होते हैं और उनके समूहों के संबंध अन्य जातों से होते हैं। इन दोनों बातों में ये भेदों के समान हैं यदि यह माना जाय कि प्रत्येक जात की उत्पत्ति पृथक् रूप से हुई है तो इस प्रकार के संबंध अद्भुत् जान पड़ते हैं; किन्तु यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक जात की उत्पत्ति भेद के रूप में होती है, तो ये संबंध स्वाभाविक जान पड़ते हैं।

चूँकि प्रत्येक जात में गुणोत्तर गति से प्रगुणन होने के कारण उसकी संख्या अद्भुत् रीति से बढ़ती है, और चूँकि प्रत्येक जात की आपरिवर्तित संतानों में उतनी ही वृद्धि होती है जितनी स्वभाव तथा संरचना के संबंध में उनमें भिन्नता होती है जिसके फल-स्वरूप वे प्रकृति के भिन्न-भिन्न भागों पर अधिकार करते हैं, इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा सदा किसी जात की सबसे भिन्न संतान का ही परिरक्षण होता है। अतः आपरि-वर्तन के लम्बे काल में एक ही जात के भेदों के सूक्ष्म किन्तु लाक्षणिक अन्तरों में इस प्रकार की वृद्धि होगी जो बाद में उस जाति की जातों के लाक्षणिक अन्तर माने जायेंगे। नये तथा उन्नतशील भेद अनिवार्य रूप से पुराने कम उन्नतशील तथा माध्यमिक भेदों का विनाश करेंगे और उनका स्थान ग्रहण करेंगे। इस प्रकार बहुत हद तक जातों की सीमा और उनकी परिभाषा निर्धारित होती हैं। प्रत्येक वर्ग के बड़े समूहों की प्रबल जातें अन्य नयी तथा प्रबल जातों को जन्म देती हैं। इस प्रकार प्रत्येक बड़ा समूह और भी बड़ा होता है और साथ-साथ उसके लक्षणों का विचलन होता है। किन्तु चूँकि संसार में जीवों का स्थान सीमित है इसलिए सभी समूह इस प्रकार नहीं बढ़ सकते हैं। अतः अधिक प्रबल समूह कम प्रबल समूह पर विजयी होते हैं। बड़े समूहों के और भी बड़े होने तथा उनके लक्षणों के विचलित होने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप तथा इसके साथ-साथ बड़ी मात्रा में विनाश की क्रिया होने के कारण ही हर प्रकार के जीव कुछ समूहों में व्यवस्थित होते हैं जो स्वयं और बड़े समूहों तथा वर्गों में व्यवस्थित होते हैं। यह व्यवस्था प्रत्येक काल में पायी गयी है। इस प्रकार सभी जीवों को समूहों में विभा-जित करके वर्गीकरण के नैसर्गिक-संस्थान (Natural System) के निर्माण करने के महान् सत्य को पृथक् सृष्टि के संस्थान के आधार पर बिल्कुल नहीं समझा जा सकता।

चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया सूक्ष्म, क्रमिक तथा अनुकूल अन्तरों के संग्रह के द्वारा होती है, इसलिए यह बड़े अथवा आकस्मिक आपरिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता। यह केवल छोटी तथा क्रमिक अवस्थाओं में काम कर सकता है। अतः यह कहावत कि 'प्रकृति में उत्प्लवन नहीं होता' (Natura non facit saltum) जिसकी हमारे ज्ञान की वृद्धि के साथ पुष्टि होती है, हमारे सिद्धान्त के अनुसार समझायी जा सकती है। हम समझ सकते हैं कि क्यों समस्त प्रकृति में एक ही लक्ष्य की प्राप्ति असंख्य

रीतियों से होती है, क्योंकि एक बार किसी विचित्रता के उत्पन्न हो जाने पर उसकी वंशागति बहुत समय तक होती है और अलग-अलग विधियों से आपरिर्वतित संरचनाओं को एक ही सामान्य लक्ष्य के लिए अनुकूलित होना पड़ता है। संक्षेप में हम देखते हैं कि क्यों प्रकृति नये लक्षण की उत्पत्ति के विषय में बहुत कृपण होते हुए भी परिवर्तन के विषय में उदार है। यदि प्रत्येक जात की उत्पत्ति पृथक् रूप से हुई है तो यह प्रकृति का नियम क्यों है कोई नहीं बता सकता है। मेरे विचार में अन्य कई तथ्य भी इस सिद्धांत के द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं। यह कितना विचित्र है कि कठफोड़वे के आकार की चिड़िया पृथ्वी पर कीटों का शिकार करे; अथवा पहाड़ी हंस जो विरले ही तैरते हैं या बिल्कुल नहीं, उनकी अंगुलियों के बीच चमड़ी हो; अथवा थ्रस (thrush) जैसा पक्षी पानी में डुबकी लगाकर और उसके नीचे रहने वाले कीटों का भक्षण करे; अथवा पेट्रेल (pet-rel) जैसे पक्षी का स्वभाव और उसकी संरचना आक (auk) जैसी हो। इस प्रकार के दूसरे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। किन्तु इस मत के अनुसार कि प्रत्येक जात निरन्तर अपनी संख्या-वृद्धि करने का प्रयत्न करती है तथा प्राकृतिक निर्वाचन सदा उनकी धीरे-धीरे परिर्वातित होने वाली संतानों को प्रकृति की खाली जगहों के अनुकूल बनाता रहता है, ये बातें विचित्र नहीं रह जातीं बल्कि वास्तव में उनकी होने की आशा भी की जा सकती है।

कुछ हद तक हम यह समझ सकते हैं कि संपूर्ण प्रकृति में क्यों इतनी सुन्दरता पायी जाती है। संभव है कि इसका कारण भी निर्वाचन की क्रिया हो। जो व्यक्ति भी विषैले सर्पों, कुछ विचित्र मछलियों तथा मनुष्य की आकृति से मिलते-जुलते किन्तु टेढ़े-मेढ़े आकार के वीभत्स चमगादड़ों को देखेगा, उसे यह मानना पड़ेगा कि हमारे दृष्टिकोण से संसार का प्रत्येक जीव सुन्दर नहीं कहा जा सकता। लैंगिक निर्वाचन के द्वारा बहुत ही चमकीले-भड़कीले रंग, सुन्दर आकार तथा अन्य आभूषणों का विकास नरों में हुआ है और कभी-कभी, जैसे पक्षियों, तितलियों और अन्य जन्तुओं में नर और मादा दोनों में ही ये गुण पाये जाते हैं। हरी पत्ती की अपेक्षा फूल और फल भड़कीले रंगों के द्वारा आकर्षक हो गये हैं जिसमें फूल कीटों को आसानी से दिखाई दे और उनके आगमन के द्वारा उनका संसेचन हो और इसी प्रकार पक्षियों द्वारा बीजों का विकिरण हो। यह कैसे संभव हो कि कुछ विशेष रंगों, ध्वनियों तथा आकारों से मनुष्य तथा निम्नस्तर के प्राणियों को आनन्द प्राप्त हो, अर्थात् सरलतम रूप में सुन्दरता का ज्ञान जीव को कैसे प्राप्त हुआ—इसके विषय में हम उतने ही अंधकार में हैं जितना यह बता सकने में कि किस प्रकार कुछ विशेष प्रकार की गन्ध अथवा कोई विशेष स्वाद उनको रुचिकर हुआ।

चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया प्रतियोगिता के द्वारा होती है, अतः प्रत्येक प्रदेश के निवासियों को यह अन्य निवासियों के अनुसार ही उन्नतिशील तथा अनुकूलित बनाता है। अतः यद्यपि साधारण मत के अनुसार प्रत्येक प्रदेश के निवासी उसी प्रदेश के लिए विशेषतः उत्पन्न हुए हैं तथा उसके लिए विशेषतः अनुकूलित हैं, फिर भी अन्य प्रदेश के निवासियों के द्वारा पराजित और स्थान्तरित होने पर हमको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं, यदि हमारे विचार में प्रकृति की सभी संरचनाएँ संपूर्ण न हों अथवा उनमें से कुछ हमारे दृष्टिकोण से घृणास्पद भी हों तो भी हमको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यदि किसी शत्रु को डंक मारने में मधुमक्खी की मृत्यु हो जाय, अथवा एकही बार में अत्यधिक संख्या में उनके नर उत्पन्न हों और बाद में वन्ध्य मादाओं द्वारा उनका विनाश हो, अथवा यदि फ़र (fur) के वृक्षों में आवश्यकता से अत्यधिक मात्रा में परागकण उत्पन्न हों, या यदि मधुमक्खी रानी में अपनी ही वन्ध्य-मादा संतानों के लिए घृणा की प्रवृत्ति हो, या यदि इक्न्युमानिडी (Ichneumonidae) वंश के कीट जीवित कैटर पिलर के शरीरों से आहार प्राप्त करते हों, तो भी हमको आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वास्तव में प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार तो आश्चर्य यह है कि पूर्णत्व की कमी के और भी अधिक वर्णन अभी तक क्यों नहीं प्राप्त हुए।

जहाँ तक हम समझ सकते हैं कि भेदों की उत्पत्ति तथा पृथक् जातों की उत्पत्ति का नियंत्रण करनेवाले नियम, समान नियमों द्वारा होता है; किन्तु ये नियम जटिल हैं और उनके विषय में हम बहुत कम जानते हैं। दोनों में भौतिक कारणों का प्रत्यक्ष तथा निश्चित प्रभाव हुआ है; किन्तु कितना यह हम नहीं कह सकते, अतः जब भेद किसी नये स्थान में प्रवेश करते हैं तो बहुधा उनमें ऐसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जो विशेषतः उस स्थान की जातों में पाये जाते हैं। भेदों तथा जातों दोनों में ही उपयोग तथा अनुपयोग के द्वारा ही बहुत प्रभाव पड़ता है। ऐसे निष्कर्ष पर न पहुँचना असंभव है जब, उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि बड़े शिर वाली बत्तख़ (Logger-headed duck) भी उसी अवस्था में है जिसमें पालतू बत्तख, यद्यपि इसके पंख उड़ने के योग्य बिल्कुल ही नहीं हैं या जब हम अंधे बिल खोदनेवाले टुकू-टुकू (Tucu-Tucu) या ऐसी छछूँदरों को देखते हैं जिनकी आँखें खाल से ढकी रहती हैं, या यूरोप तथा अमेरिका में खोहों में रहनेवाले अन्य अन्धे जन्तुओं को देखते हैं। जातों और भेदों दोनों में ही परस्पर सम्बन्धित परिवर्तन का काफी प्रभाव हुआ जिसके फलस्वरूप जब एक विशेष अंग आपरिवर्तित हुआ, तो उसके फलस्वरूप अन्य अंगों में भी आपरिवर्तन होना आवश्यक हो गया। जातों तथा भेदों, दोनों में ही, कभी-कभी बहुत दिन पहले नष्ट हुए लक्षण पुनः प्रकट होते हैं। घोड़ा जाति तथा उसके प्रसंकरों में बहुधा कंधों तथा टाँगों पर

धारियाँ प्रकट होती हैं। विशेष सृष्टि के मत के आधार पर इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता; किन्तु यदि हम यह विश्वास करें कि ये सभी जातें एक धारीदार पूर्वज की उसी तरह की संतानें हैं जिस प्रकार नीले तथा पट्टीदार चट्टानी कबूतर की संतानें पालतू कबूतर की सभी नस्लें हैं, तो इस तथ्य का स्पष्टीकरण सरलता से हो जाता है।

यदि यह साधारण मत कि प्रत्येक जात की सृष्टि स्वतन्त्र रूप से हुई है, सही है तो क्यों जातसूचक लक्षण अर्थात् वे लक्षण जिनके आधार पर किसी जाति की विभिन्न जातों को पहिचाना जा सकता है जातिसूचक लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी जाति की भिन्न-भिन्न जातों के फूलों के रंग भिन्न-भिन्न हैं, तो क्यों इनमें से किसी जात का रंग अधिक परिवर्तनशील होता है और यदि जाति की सभी जातों का रंग समान होता है तो कम परिवर्तनशील होता है? यदि जातें केवल अधिक स्पष्ट भेद मानी जायँ जिनके लक्षण स्थायी हो गये हों, तो इस बात का कारण समझ में आता है। अपने सामान्य पूर्वज से पृथक् होने के बाद से वे इस पूर्वज से कुछ लक्षणों के विषय में भिन्न हो गये हैं। इन्हीं लक्षणों के आधार पर उनको अन्य जातों से अलग किया जा सकता है। अतः जातिसूचक लक्षणों की अपेक्षा, जो बहुत लम्बे काल से बिना परिवर्तन के वंशागत होते आये हैं, ये लक्षण अधिक परिवर्तनशील हैं। स्वतन्त्र सृष्टि के सिद्धान्त पर हम यह नहीं कह सकते कि क्यों किसी जाति की एक ही जात में कोई अंग किसी विचित्र रीति से विकसित हुआ है और इसलिए यद्यपि वह उस जीव के लिए विशेष उपयोगी है, फिर भी बहुत परिवर्तनशील है। किन्तु हमारे मत के अनुसार इसका उत्तर स्पष्ट है। अपने सामान्य पूर्वज से जाति के पृथक् होने के बाद से बराबर इस अंग में असामान्य परिवर्तन होते रहे हैं और इसीलिए अब भी उसके परिवर्तनशील होने की आशा की जा सकती है। यह भी हो सकता है कि चमगादड़ के पंख की भाँति कोई अंग बहुत असामान्य रीति से विकसित हो, फिर भी यदि यह अंग कई उपसमूहों में सामान्य रूप से मिलता है, अर्थात् यदि यह बहुत समय से उसी रूप में वंशागत होता आया है तो अन्य अंगों की ही भाँति यह भी सामान्य रूप से परिवर्तन शील हो सकता है क्योंकि इस उदाहरण में यह अंग बहुत समय से प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा स्थायी हो गया होगा।

यद्यपि प्रवृत्तियाँ बहुत अद्भुत् जान पड़ती हैं फिर भी क्रमिक सूक्ष्म और उपयोगी आपरिवर्तनों के प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के आधार पर उनके समझने में शारीरिक संरचनाओं की अपेक्षा कुछ अधिक कठिनाई नहीं होती। अतः हम समझ सकते हैं कि एक ही वर्ग के विभिन्न जन्तुओं को प्रकृति क्यों भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ क्रमिक अवस्थाओं

में प्रदान करती है। मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि क्रमिकता के इस सिद्धान्त से छत्ते की मधुमक्खी की रचनात्मक शक्ति पर कितना प्रकाश पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि कभी-कभी प्रवृत्तियों के आपरिवर्तन में आदत का प्रभाव होता है। किन्तु जैसा हम नपुंसक कीटों के विषय में देखते हैं, जो संतानें नहीं उत्पन्न करते और इस लिए जिनकी आदतें वंशागत नहीं होतीं, आदत का प्रभाव अनिवार्य नहीं है।

इस मत के आधार पर किसी एक जाति की सभी जातें किसी सामान्य पूर्वज की संतानें हैं और इसलिए इनमें कई लक्षण सामान्य रूप से वंशागत हुए। हम यह समझ सकते हैं कि बहुत भिन्न परिस्थितियों में रखे जाने पर भी मिलती-जुलती जातों में लगभग सामान्य प्रवृत्तियाँ होती हैं । उदाहरण के लिए क्यों दक्षिणी अमेरिका के उष्ण तथा शीतोष्ण भागों के थ्रश पक्षी ब्रिटिश जातों की भाँति अपने घोसलों के भीतर की ओर मिट्टी से आस्तरित करते हैं। इसी तरह प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा प्रवृत्तियों के धीरे-धीरे प्राप्त होने के मत पर विश्वास करने पर हमको यह देखकर आश्चर्य नहीं होगा कि क्यों कुछ प्रवृत्तियाँ पूर्ण नहीं हैं और उनमें कमी पायी जाती है तथा कुछ प्रवृत्तियों के कारण अन्य जन्तुओं को कष्ट होता है।

यदि जातें केवल स्पष्ट और स्थायी भेद हैं तो यह आसानी से समझ में आता है कि क्यों उनकी संकरित संतानें अपने माता-पिता से समानता के विषय में उन्हीं जटिल नियमों का पालन करती हैं जिनका कारण माने हुए भेदों की संकरित संतानें करती हैं। इस प्रकार की समानता बड़े आश्चर्य की बात होगी, यदि जातों की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से हुई हो तथा भेदों की उत्पत्ति गौण रीति से।

यदि हम यह मान लें कि भूतत्वीय उल्लेख बहुत अपूर्ण हैं तो वे बातें, जो फिर भी यह उल्लेख बताता है, आपरिवर्तन के साथ वंशागति के सिद्धान्त का जोरों से समर्थन करती हैं। नयी जातें संसार में धीरे-धीरे और रुक-रुक कर प्रकट हुई हैं तथा बराबर कालान्तरों के बाद अलग-अलग समूहों में होनेवाले परिवर्तन एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। जातों तथा जातों के समस्त समूहों की विलुप्तता, जिसने जीवों के इतिहास में प्रमुख भाग लिया है, अनिवार्य रूप से प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त का पालन करती हैं क्योंकि नये तथा उन्नतशील जीव पुराने जीवों का स्थान ग्रहण करते हैं। एक बार पीढ़ियों की शृंखला टूट जाने पर अकेली जातें या जातों के समूह पुनः प्रकट नहीं होते। प्रवल जीवों के क्रमशः विस्तृत होने तथा उनकी संतानों के धीरे-धीरे आपरिवर्तित होने से लम्बी अवधियों के बाद ऐसा जान पड़ता है जैसे समस्त संसार में जीवों में एक साथ आपरिवर्तन हुआ हो। किसी स्तर के जीवाश्मों का उसके ऊपर और नीचे के जीवाश्मों के बीच का होना केवल इस कारण हो सकता है कि वे वंशागति की शृंखला में एक

माध्यमिक स्थिति रखते हैं। यह महत्वपूर्ण बात कि विलुप्त जीवों का वर्गीकरण आधुनिक जीवों के साथ हो सकता है, इस स्वाभाविक बात का परिणाम है कि जीवित तथा विलुप्त, दोनों प्रकार के जीव सामान्य पूर्वजों की संतानें हैं। चूँकि वंशागति तथा आपरिवर्तन के लम्बे काल में लक्षणों के विषय में जीवों में बहुत विचलन हुआ है, इसलिए अधिक प्राचीन जीव अर्थात् प्रत्येक समूह के पूर्वज बहुधा विभिन्न वर्तमान समूहों के बीच के हैं। साधारणतः आधुनिक जीवों को हम प्राचीन जीवों की अपेक्षा अधिक उच्च मानते हैं। जहाँ तक बाद के तथा उन्नतिशील जीवों द्वारा प्राचीन तथा कम उन्नतिशील जीवों के जीवन-संघर्ष में पराजित होने का प्रश्न है, आधुनिक जीवों का उच्च होना स्पष्ट है। साधारणतः उनके विभिन्न अंग विभिन्न कार्यों के लिए अधिक विशेषित हो चुके हैं। इसके साथ ही अनेक जीव सरल परिस्थितियों में रहन-सहन के अनुकूल हैं और उनकी रचना भी सरल और कम उन्नतिशील है। इन दोनों बातों में किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं है। इसी प्रकार कुछ जीवों की संरचना भिन्न कोटि की इसलिए हो जाती है कि इस तरह वे जीवन की नयी तथा निम्न प्रकार के रहन-सहन के अनुकूल हो जाते हैं। अंत में इस मत के अनुसार एक ही महाद्वीप पर निकटतम जीवों के बहुत काल तक बने रहने की बात भी समझ में आ जाती है—जैसे आस्ट्रेलिया में मारसूपियल स्तनियों का, अमेरिका में एडेनटाटा का इत्यादि, क्योंकि एक ही प्रदेश में विलुप्त तथा जीवित जातें समान वंशागति के कारण निकटतः सम्बन्धित हैं।

भौगोलिक वितरण के विषय में यदि हम यह मान लें कि अनेक गुणों में जन्तुओं का स्थानान्तरण संसार के एक भाग से दूसरे भाग में जलवायु तथा भौगोलिक परिवर्तनों तथा वितरण की अनेक अज्ञात विधियों के कारण हुआ तो हम आपरिवर्तन के साथ वंशागति के सिद्धान्त के अनुसार वितरण संबंधी सभी मुख्य बातों को समझ सकते हैं। हम समझ सकते हैं कि क्यों सभी स्थानों में जीवों के वितरण तथा भूतत्वीय क्रम में अद्भुत समानता है? कारण यह है कि दोनों उदाहरणों में जीव एक-दूसरे से पीढ़ियों के बंधन से बँधे हैं और उनमें आपरिवर्तन की रीतियाँ समान रही हैं। हम इस बात के कारण भी भलीभाँति समझ सकते हैं कि एक ही महाद्वीप पर विविध दशाओं में-ठंढक तथा गर्मी में, पहाड़ों पर या मैदानों में, मरुभूमि में तथा दलदल में—किसी वर्ग के अधिकांश निवासी एक-दूसरे से क्यों स्पष्टतया सम्बन्धित हैं। कारण यह है कि वे समान पूर्वजों तथा आदि निवासियों की संतानें हैं। स्थानान्तरण के साथ-साथ आपरिवर्तन के ही सिद्धान्त के आधार पर, हिमयुग की सहायता से हम कुछ पौधों को पहचान सकते हैं और कई जातों का संबंध सुदूर पहाड़ों तथा उत्तरी तथा दक्षिणी शीतोष्ण क्षेत्रों की जातों से निर्णय कर सकते हैं। इसी प्रकार यद्यपि उत्तरी तथा दक्षिणी शीतोष्ण भागों के

समुद्र एक-दूसरे से अलग हैं, फिर भी उनके निवासियों का संबंध स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि कभी-कभी दो प्रदेशों की भौतिक दशाएँ एक-दूसरे के बहुत समान होती हैं, फिर भी हमको यह देखकर बहुत आश्चर्य नहीं होना चाहिए, कि उनके निवासी एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं, विशेषकर यदि दोनों प्रदेश बहुत दिनों से एक दूसरे से पृथक् रहे हैं। चूँकि जीवों का एक-दूसरे से सम्बन्ध सभी सम्बन्धों से महत्वपूर्ण हैं, और चूँकि इन दोनों प्रदेशों में अलग-अलग कालों में, अलग-अलग अनुपात में बसने वाले जीव अलग-अलग देशों से आये होंगे, इसलिए इन दोनों क्षेत्रों में आपरिवर्तन की क्रिया का भिन्न होना अनिवार्य है।

स्थानान्तरण तथा उसके बाद आपरिवर्तन के इस मत के आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि समुद्री द्वीपों पर क्यों इनी गिनी-जातें ही पायी जाती हैं और इनमें से कई केवल किसी विशेष द्वीप पर। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि क्यों ऐसे जन्तु जो समुद्र अथवा लम्बे-चौड़े स्थलों को पार नहीं कर सकते, जैसे मेढक तथा स्थली स्तनी, वे समुद्री द्वीपों पर नहीं पाये जाते; और क्यों चमगादड़ की नयी और विचित्र जातें तथा वे जन्तु जो समुद्रों को पार कर सकते हैं, महाद्वीपों से बहुत दूर स्थित द्वीपों पर भी बहुधा मिलते हैं। चमगादड़ों की विचित्र जातों का समुद्री द्वीपों पर होना तथा अन्य सभी समुद्री स्तनियों की ऐसे द्वीपों में अनुपस्थिति की बात स्वतन्त्र सृष्टि के मत के आधार पर नहीं समझायी जा सकती।

आपरिवर्तन के साथ वंशागति के मत के अनुसार किन्हीं दो क्षेत्रों में निकट या प्रतिनिधि जाल की उपस्थिति का तात्पर्य यह है कि किसी समय दोनों क्षेत्रों में एक ही प्रारम्भिक जाति निवास करती थी। और हम लगभग सदा ही यह देखते हैं कि जहाँ कहीं दो क्षेत्रों में कई निकटतः संबंधित जातें पायी जाती हैं, उनमें से कुछ जातें दोनों क्षेत्रों में समान हैं। जहाँ कहीं कई सन्निकट तथा पृथक् जातें पायी जाती हैं वहाँ उन्हीं समूहों की कुछ सन्देहजनक जातें तथा भेद भी पाये जाते हैं। साधारणतः हम यह नियम पाते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र के निवासी उस क्षेत्र के निवासियों से सम्बन्धित होते हैं, जहाँ के आदि निवासी स्थानान्तरण करके इन क्षेत्रों में पहुँचे होंगे। यह अद्‌भुत् सम्बन्ध हमको 'गैलापैगोस द्वीप समूह,' 'जुआनफरननडेज़' और अन्य अमरीकी द्वीपों के जन्तुओं और पौधों तथा मुख्य अमरीकी महाद्वीप के जन्तुओं और पौधों के बीच देखाई पड़ता हैं। इसी तरह का सम्बन्ध 'केप-वर्दे' द्वीपसमूह और अन्य अफ्रीकी द्वीपों के जीवों और अफ्रीका महाद्वीप के जीवों के बीच पाया जाता है। यह स्पष्ट है कि इन बातों का कोई उत्तर स्वतन्त्र सृष्टि के सिद्धान्त से नहीं प्राप्त होता।

प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त तथा उसके साथ ही विलुप्तता तथा लक्षणों के

विचलन के सिद्धान्त के आधार पर भूत काल तथा वर्तमान काल के जीवों के कुछ वर्गों, उपवर्गों, आदि में विभाजन समझ में आता है। इस प्रकार के वर्गीकरण बहुधा विलुप्त समूह, वर्तमान समूहों के बीच स्थान ग्रहण करते हैं। इन सिद्धान्तों के आधार पर हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत आनेवाली विभिन्न जातों के परस्पर सम्बन्ध इतने जटिल क्यों हैं। हम समझ सकते हैं कि क्यों कुछ लक्षण अन्य लक्षणों की अपेक्षा वर्गीकरण के लिए अधिक उपयोगी हैं; क्यों अनुकूलन-सम्बन्धी लक्षण स्वयं जीवों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी वर्गीकरण के लिए बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं; क्यों प्रारम्भिक अथवा अविकसित अंग जीवों के लिए बेकार होते हुए भी वर्गीकरण के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण हैं और क्यों भ्रूणतत्वीय लक्षण सभी लक्षणों से अधिक महत्वपूर्ण हैं? अनुकूलन सम्बन्धी समानताओं के प्रतिकूल सभी जीवों के वास्तविक सम्बन्ध उनकी वंशागति पर निर्भर हैं। नैसर्गिक व्यवस्था इस प्रकार पित्रागति पर निर्भर है और इस व्यवस्था में जीवों द्वारा प्राप्त किये गये विभिन्न स्तरों के अन्दर वंश, जाति, जात, भेद आदि शब्दों के द्वारा बताये जाते हैं। जीवों की वंशागति की दिशाओं की खोज हम केवल स्थायी लक्षणों के द्वारा ही कर सकते हैं, चाहे वे लक्षण कुछ भी क्यों न हों और जीवों के लिए उनका महत्व कितना ही कम क्यों न हो।

मनुष्य के हाथ, चमगादड़ के डैने, सूँस के पक्षक, और घोड़े की टाँग की हड्डियों की समानता; जिर्राफ तथा हाथी की गर्दनों में कशेरुकों की संख्या का बराबर होना और इस प्रकार के अन्य उदाहरणों से क्रमिक तथा सूक्ष्म परिवर्तनों के साथ वंशागति के सिद्धान्त की स्वयं पुष्टि हो जाती है। इसी प्रकार यद्यपि चमगादड़ की टाँग और डैनों के कार्य बिल्कुल ही भिन्न होते हैं, फिर भी उनकी रचना में समानता अथवा केकड़े के जबड़ों तथा टाँगों के बीच कार्य-सम्बन्धी अन्तर होते हुए भी समानता का होना या फूलों की पंखुड़ियों, गर्भकेसर और परागकेसर में समानता का पाया जाना केवल इसी सिद्धान्त पर समझ में आता है कि ये अंग इन वर्गों के प्राचीन पूर्वजों में समान थे, किन्तु क्रमशः आपरिवर्तन होने से अब भी ये इतने भिन्न हो गये हैं। इसी तरह इस सिद्धान्त के आधार पर कि क्रमशः होने वाले परिवर्तन सदा कम आयु में बहुत स्पष्ट नहीं होते तथा उनकी वंशागति कम आयु में बहुधा नहीं होती, हम आसानी से यह समझ सकते हैं कि मछलियों, पक्षियों, स्तनियों आदि के प्रौढ़ों के एक-दूसरे से इतने भिन्न होने पर भी इनके भ्रूण इतने अधिक समान क्यों होते हैं। यदि हम इस सिद्धान्त को समझ लें तो हमको यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं होगा कि पानी में घुली हुई वायु द्वारा साँस लेनेवाली मछलियों के समान सीधे वायु द्वारा श्वास लेनेवाले स्तनियों अथवा पक्षियों के भ्रूणों में भी गिल (gill) के छेद जैसी रचनायें क्यों पायी जाती हैं? जब कुछ अंग

जीवन की परिस्थितियों, अथवा स्वभाव में परिवर्तन होने के कारण व्यर्थ हो जाते हैं, तब अनुपयोग तथा कभी-कभी उसके साथ प्राकृतिक निर्वाचन के कारण अंगो का ह्रास होने लगता है। इस मत के अनुसार हम प्रह्लासित अंगों (Rudimentary organs) के अर्थ समझ सकते हैं। किन्तु अनुपयोग तथा निर्वाचन की क्रिया साधारणत: किसी भी जन्तु पर प्रौढ़ावस्था में होगी जब जन्तु को जीवन-संघर्ष में पूरी तरह भाग लेना पड़ता है; जीवन के प्रारम्भिक भाग में इसका प्रभाव किसी अंग पर बहुत कम होगा। अत: इस प्रारम्भिक अवस्था में अंगों का ह्रास नहीं होता। उदाहरण के लिए बछड़ों में कुछ दाँत ऊपरी जबड़े के मसूड़े के बाहर नहीं निकलते, ये दाँत ऐसे पूर्वज से वंशागत हुए हैं, जिसके दाँत सुविकसित थे। हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि इस जन्तु में प्रौढ़ावस्था में दाँतों में इसलिए ह्रास हुआ कि उसके मसूड़े, तलुवे या जीभ प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा ऐसे आपरिवर्तित हो गये कि बिना कि दाँतों की सहायता के ही उनके द्वारा भोजन चबाया जा सकता था। साथ ही बछड़े में दाँत बिल्कुल आपरिवर्तित रह गए हैं तथा समान आयु की वंशागति के सिद्धान्त के अनुसार ये बहुत प्राचीन काल से वर्तमान समय तक वंशागत हुए हैं। इस मत के अनुसार कि प्रत्येक जीव तथा उसके विविध अंगों की सृष्टि विशेष रीति से हुई है, इस बात का उत्तर हो सकता है कि बहुधा कुछ जन्तुओं में ऐसे कुछ अंग पाये जाते हैं, जो स्पष्टत: व्यर्थ हैं, जैसे बछड़े के भ्रूण में दाँत या कुछ बीट्लों के जुड़े हुए, मोटे पंखों के नीचे छोटे, मुड़े हुए पंख। हम कह सकते हैं कि भ्रूणीय तथा रचनासदृश अंगों के अवशिष्टों के द्वारा प्रकृति हमको अपने आपरिवर्तन की योजना से परिचित कराती है, किन्तु हम इतने मूढ़ हैं कि उसका तात्पर्य नहीं समझते।

मैंने यहाँ सभी तथ्यों तथा विचारों की पुनरावृत्ति कर दी है जिनसे मुझको यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि अपनी उत्पत्ति के इतिहास में प्रत्येक जात में काफ़ी आपरिवर्तन हुए हैं। यह आपरिवर्तन मुख्यत: असंख्य सूक्ष्म, क्रमिक तथा अनुकूल परिवर्तनों के प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा संभव हुआ है तथा इस क्रिया में अंगों के उपयोग तथा अनुपयोग के वंशागत प्रभावों से महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई है, कुछ महत्वहीन ढंग से, अर्थात् विगत या वर्तमान अनुकूलित संरचनाओं के सबंध में वाह्य परिस्थितियों के सीधे प्रभाव के द्वारा, या उन परिवर्तनों के द्वारा जिनको अज्ञानतावश हम स्वयंभू समझते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि पहले मैंने इस प्रकार के परिवर्तनों पर पर्याप्त महत्व नहीं दिया था। किन्तु मेरे निष्कर्षों का हाल में गलत अर्थ लगाया गया है और यह कहा गया है कि मैं जातों के आपरिवर्तन के कारण केवल प्राकृतिक निर्वाचन मानता हूँ। इस संबंध में मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि इस पुस्तक के प्रथम तथा बाद के संस्करणों में मैंने भूमिका के अन्त में इस प्रकार लिखा है—"मेरा विश्वास है कि

प्राकृतिक निर्वाचन आपरिवर्तन का मुख्य कारण है, किन्तु यह अकेला कारण नहीं है।" किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ है और निरन्तर मेरे वक्तव्य का अनुचित अर्थ लगाया गया है। फिर भी भाग्यवश विज्ञान का इतिहास हमको यह बताता है कि इस तरह की बातों का प्रभाव बहुत दिनों तक नहीं रहता।

यह मानना कठिन है कि किसी गलत मत के द्वारा ऊपर दिये अनेक तथ्यों को ऐसी संतोषजनक रीति से समझाया जा सकता है जिस प्रकार प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त के आधार पर हम कर सके हैं। अभी हाल में यह आपत्ति की गयी है कि तर्क की इस विधि से हम गलत निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं; किन्तु हम इसी रीति का उपयोग जीवन की सभी सामान्य तथा असामान्य बातों का निर्णय करने में करते हैं और कई महान् प्रकृतिशास्त्रियों ने भी इसी का सहारा लिया है। प्रकाश-संबंधी तरंग सिद्धान्त का प्रतिपादन इस विधि से किया गया है तथा इस मत का कि पृथ्वी अपने ही अक्ष पर घूमती है अभी हाल तक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं था। यह आपत्ति न्यायसंगत नहीं है कि विज्ञान के द्वारा अभी जीवन की उत्पत्ति-जैसी आधारीय समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ सकता। इस बात का उत्तर कौन दे सकता है कि गुरुत्वाकर्षण का सार क्या है? फिर भी आकर्षण के सिद्धान्त पर निकाले गये अनेक निष्कर्षों पर कोई आपत्ति नहीं करता और वह भी तब जब किसी समय लीबनिट्ज (Leibnitz) ने न्यूटन के विरुद्ध यह आरोप लगाया था कि उन्होंने दर्शनशास्त्र में निगूढ़ तथा दैवी तत्वों का समावेश किया है।

मैं नहीं समझ सकता कि क्यों इस पुस्तक में दिये गये सिद्धान्तों से किसी व्यक्ति की धार्मिक भावनाओं पर आघात पहुँचेगा। मनुष्य द्वारा अब तक किये गये सबसे महान् आविष्कार, अर्थात् गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त पर भी लीबनिट्ज़ ने यह कहकर आक्रमण किया था कि इस सिद्धान्त के द्वारा हम ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जो प्राकृतिक धर्म के विरुद्ध हैं। किन्तु आज कोई इस बात में विश्वास नहीं करता, और यह देखकर हमको बहुत संतोष होना चाहिए। एक सुप्रसिद्ध लेखक तथा धार्मिक नेता ने मुझको लिखा है कि क्रमशः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ईश्वर के विषय में यह विश्वास कि उसने संसार में कुछ थोड़े से मूल जीव ऐसे रचे जिनमें अनेक और विविध रूपों में विकसित होने की क्षमता थी, कम-से-कम उतना ही महान् है जितना यह विश्वास कि योजना में उत्पन्न होने वाले रिक्त स्थानों को भरने के लिए हर बार उसको नये रूप के जीवों की उत्पत्ति करनी पड़ती है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि अभी हाल तक क्यों लगभग सभी सुप्रसिद्ध जीवित प्रकृतिशास्त्री तथा भूतत्वशास्त्री जातों की परिवर्तनशीलता में विश्वास नहीं करते थे।

यह कोई नहीं कह सकता कि प्राकृतिक अवस्था में जीवों में परिवर्तन नहीं होते और न यही सिद्ध किया जा सकता है कि लंबे युगों में होने वाले परिवर्तन एक सीमित मात्रा में होते हैं। वास्तव में जातों तथा स्पष्ट भेदों के बीच कोई स्पष्ट अन्तर न तो अब तक किया गया है, न किया जा सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जब जातों के बीच अन्तः-संकरण किया जाता है तो सदा ही संतानोत्पत्ति नहीं होगी तथा भेदों के संकरण का फल सदा उर्वरता ही होगी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वन्ध्यता सृष्टि का कोई विशेष गुण या लक्षण है। जब तक संसार का इतिहास बहुत लंबा नहीं समझा जाता था, तब तक जातों को अपरिवर्तनशील समझना अनिवार्य था; और चूँकि अब हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि पृथ्वी के इतिहास में कितना समय व्यतीत हो चुका है, तो बिना प्रमाण के हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि भूतत्वीय उल्लेख इतना पूर्ण है कि यदि जातों में बड़े परिवर्तन हुए होते, तो हमको इसका स्पष्ट प्रमाण भी निश्चय मिलता।

किन्तु साधारणतः हमारे यह न समझ सकने का कारण—कि एक जात से दूसरी जात की उत्पत्ति होती है—मुख्यतः यह है कि जिन परिवर्तनों की क्रमिक अवस्थाएँ हम स्वयं देख नहीं पाते, हमारी बुद्धि उनको ग्रहण नहीं कर पाती। यह कठिनाई उसी तरह की है जैसी अनेक भूतत्वशास्त्रियों ने उस समय अनुभव की थी जब लियेल ने पहली बार यह कहा था कि जिन पहाड़ी चींटियों की शृंखलाएँ या घाटियों को हम आज देखते हैं उनके निर्माण की विधियाँ आज भी अपना काम कर रही हैं। सच बात यह है कि हमारा मस्तिष्क तो पूरी तरह यही नहीं ग्रहण कर सकता कि दस लाख वर्षों के क्या अर्थ या महत्व हैं; फिर हमारे लिए यह समझ पाना तो बहुत ही कठिन है कि असंख्य पीढ़ियों में प्रकट हुए क्रमिक सूक्ष्म परिवर्तनों के संग्रहीत प्रभाव से क्या प्रभाव होगा।

यद्यपि मुझको इस बात का पूरा विश्वास है कि इस पुस्तक में संक्षेप में जो मत दिये गये हैं वे बिल्कुल सत्य हैं, फिर भी मैं यह आशा नहीं करता कि मैं उन अनेक अनुभवी प्रकृतिवादियों को भी अपने मत की सत्यता का विश्वास करा सकूँगा जिनके मस्तिष्क में ऐसे तथ्य बैठ गये हैं जिनपर उन्होंने अभी तक बिल्कुल ही प्रतिकूल दृष्टिकोण से विचार किया है। 'सृष्टि की योजना', 'योजना की एकता' आदि अभिव्यक्तियों के प्रयोग के द्वारा अपनी अज्ञानता को छिपाना सरल है और बहुधा इनके प्रयोग के द्वारा हम यह संतोष प्राप्त करते हैं कि हम किसी समस्या का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जब कि वास्तव में हम केवल उस समस्या का ही दूसरे शब्दों में उल्लेख मात्र करते हैं। जो व्यक्ति ऐसी कठिनाइयों को अधिक महत्व देता है जिनका स्पष्टीकरण नहीं हो सका है तथा अन्य समस्याओं को पर्याप्त महत्व नहीं देता है, वह निश्चय ही इस मत को ठुकरा देगा।

किन्तु ऐसे कुछ प्रकृतिशास्त्री जो स्वतन्त्र विचार के हैं और जिनको स्वयं जातों की अपरिवर्तनशीलता पर संदेह होने लगा है, उनपर इस पुस्तक का प्रभाव पड़ सकता है। इससे भी अधिक विश्वास के साथ मैं इस विषय में नवयुवक और प्रगतिशील प्रकृतिवादियों की ओर देखता हूँ जिनका मस्तिष्क दूषित नहीं है और जो इस समस्या के दोनों पहलुओं पर विचार कर सकेंगे। वास्तव में जो यह विश्वास करता है कि जातें परिवर्तनशील हैं, वह यदि अपने विचारों को निष्कपट रीति से व्यक्त करेगा तो विज्ञान की बड़ी सेवा करेगा, क्योंकि इसी रीति से इस विषय से संबंधित पक्षपात दूर हो सकेगा।

हाल में कई प्रमुख प्रकृतिवादियों ने अपने मत प्रकाशित किये हैं। उनके विचार में प्रत्येक जाति की कई सुविख्यात जातें वास्तविक (true) जातें नहीं हैं, और कई जातें वास्तविक हैं, अर्थात् उनकी पृथक् सृष्टि हुई है। यह विचार मुझको बड़ा विचित्र जान पड़ता है। वे यह मानते हैं कि ऐसे कई जीवों की उत्पत्ति परिवर्तनों के कारण हुई है जिनको पहले तक लोग विशेष सृष्टि मानते रहे हैं, जिनको अब भी अधिकांश प्रकृतिशास्त्री ऐसा ही समझते हैं और जिनमें वास्तविक जातों के कई वाह्य लक्षण उपस्थित हैं। फिर भी वे यह नहीं कह सकते कि विशेष सृष्टिवाले तथा गौण रूप से अर्थात् बाद में उत्पन्न होनेवाले जीवों में किस प्रकार भेद किया जाय। वे कुछ जीवों की उत्पत्ति के लिए परिवर्तन को ही मुख्य कारण मानते हैं और दूसरे जीवों के लिए बिना कोई स्पष्ट कारण बताये ऐसा नहीं मानते—और इसलिए इन दो प्रकार के जीवों की वे व्याख्या भी नहीं कर सकते। एक दिन आएगा जब इसको वैज्ञानिक पक्षपात का अद्वितीय उदाहरण कहा जायगा। इन वैज्ञानिकों को विशेष सृष्टि की अद्भुत् क्रिया अथवा किसी जन्तु के साधारण जन्म की क्रिया में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। किन्तु क्या वे सचमुच यह विश्वास करते हैं कि पृथ्वी के इतिहास के अनगिनत कालों में अचानक कुछ भौतिक पदार्थों में जीवन का संचार हो गया? क्या उनके विचार में सृष्टि की प्रत्येक काल्पनिक क्रिया के अवसर पर एक ही जीव की उत्पत्ति हुई या अनेक जीवों की? अनेकानेक प्रकार के जन्तुओं या पौधों की सृष्टि अंडों या बीजों के रूप में हुई या प्रौढ़ रूपों में?—और स्तनियों में, जब सृष्टि के अवसर पर क्या माता के पेट से खाद्य प्राप्त करने के चिह्न भी उपस्थित थे? निश्चय ही जो केवल एक अथवा थोड़े से जीवों के एकाएक प्रकट होने या सृष्टि में विश्वास करते हैं, वे इनमें से कई प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते। कई लेखकों ने यह कहा है कि जितना कठिन एक जीव की पृथक् सृष्टि में विश्वास करना है, उतना ही कठिन अनेक जीवों की सृष्टि में विश्वास करना भी। किन्तु मॉपरटिव्स (Maupertuis) के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार क्रम संख्या के विषय में यह विश्वास करना कहीं सरल है। निश्चय ही हम यह विश्वास नहीं कर सकते

कि किसी वर्ग के असंख्य जीवों में पाये जानेवाले वे स्पष्ट चिह्न जो यह बताते हैं कि वे सभी एक ही पूर्वज से वंशागत हुए हैं, बिल्कुल ही व्यर्थ या झूठ हैं।

मेरी पुस्तक प्रकाशित होने के पहले विचारों की क्या स्थिति थी यह दिखाने के लिए मैंने ऊपर तथा अन्यत्र ऐसे कई वाक्य लिखे हैं जिनका यह अर्थ निकलता है कि प्रकृतिवादी प्रत्येक जात की पृथक् सृष्टि में विश्वास करते हैं। इस तरह लिखने के लिए लोगों ने रोष प्रकट किया है। किन्तु निश्चय ही जब इस पुस्तक का प्रथम संस्करण निकला था तो यही सामान्य विश्वास था। इसके पहले मैंने कई प्रकृतिशास्त्रियों से इस विषय पर बात की थी और एक बार भी किसी ने मेरे मत से सहानुभूति नहीं प्रकट की थी। संभव है कि उस समय कोई विकास में विश्वास करता रहा हो, परन्तु या तो ऐसे लोग चुप थे या उन्होंने अपने मत ऐसे संशयात्मक ढंग से प्रकट किये थे कि उनका अभिप्राय समझना कठिन था। अब स्थिति बदल गयी है और लगभग सभी प्रकृतिवादी विकास के महान् सिद्धान्त में विश्वास करने लगे हैं। किन्तु अब भी ऐसे कुछ व्यक्ति हैं जो यह समझते हैं कि जीवों ने एकाएक, बिना किसी स्पष्ट कारण के, बिल्कुल भिन्न जीवों को जन्म दिया है। जैसा मैंने सिद्ध करने का प्रयास किया है, अचानक होनेवाले भीषण परिवर्तनों के विरुद्ध हमारे पास ठोस प्रमाण हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार यह विश्वास करने से कोई लाभ नहीं है कि नयी जातों की उत्पत्ति एकाएक और बिना किसी स्पष्ट कारण के पुरानी और भिन्न जातों से हुई है, क्योंकि इसके आधार पर न तो और आविष्कार हो सकते हैं और न यह मत उन पुराने मतों से ही कुछ विशेष भिन्न है जिनके अनुसार प्रत्येक जीव की उत्पत्ति मिट्टी से हुई थी।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि मैं जातों के आपरिवर्तन के सिद्धान्त का कहाँ तक विस्तार करना चाहता हूँ? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है क्योंकि जितना ही कुछ जीव एक दूसरे से अधिक भिन्न हैं, उतना ही उनकी सामान्य वंशागति सिद्ध करना कठिन है फिर भी कुछ महत्वपूर्ण तथ्य बहुत दूर तक जाते हैं। समूचे वर्गों के सभी सदस्य एक दूसरे से कुछ लक्षणों में समान हैं और इसलिए उनके द्वारा सम्बन्धित हैं; और सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार उन सदस्यों को उपवर्गों और उससे भी छोटे समूहों की श्रृंखला में बाँटा जा सकता है। बहुधा जीवित प्राणों के बीच के काफी बड़े रिक्त स्थानों की पूर्ति फाँसिल अवशेषों के द्वारा होती है।

अवशिष्ट अंगों का होना यह सिद्ध करता है कि किसी प्राचीन पूर्वज में ये अंग पूर्ण विकसित अवस्था में थे। कुछ उदाहरणों में इनको देखने से मालूम होता है कि इस पूर्वज की संतानों में कितना अधिक आपरिवर्तन हुआ। समस्त वर्गों में कुछ संरचनाएँ एक ही योजना पर बनी हुई होती हैं और बहुत प्रारंभिक अवस्था में भ्रूण एक-दूसरे से बहुत

समान होते हैं। अतः मुझको इसमें कोई संदेह नहीं कि आपरिवर्तन के साथ वंशागति का सिद्धान्त किसी वर्ग अथवा साम्राज्य के सभी सदस्यों पर लागू होता है। मेरा विश्वास- है कि सभी जन्तु प्रारम्भ में केवल चार या पाँच पूर्वजों से वंशागत हुए हैं और सभी वनस्पतियाँ भी लगभग इतने ही पूर्वजों से या इनसे भी कम पूर्वजों से उत्पन्न हुई हैं।

मैं तो इस तर्क को और भी दूर तक ले जाना चाहता हूँ और इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि सभी जन्तु और वनस्पति आरंभ में किसी एक ही पूर्वज से वंशागत हुए हैं। संभव है कि तुलना के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक न हो। फिर भी सभी जीवों के बीच अनेक समानताएँ हैं—रासायनिक संरचना का कोशिकीय आधार (cellular basis), वृद्धि संबंधी नियम अथवा हानिकारक प्रभावों की ओर उनकी प्रतिक्रिया, आदि सामान्य गुण सभी जीवों में पाये जाते हैं। यह समानता यहाँ तक दिखाई पड़ती है कि कुछ विषैले पदार्थ वनस्पतियों और जन्तुओं पर समान प्रभाव डालते हैं। 'गाल' मक्खी (Gall fly) द्वारा उत्पन्न विष जंगली गुलाब या ओक के पौधों में विचित्र आकृतियाँ उत्पन्न करता है। कुछ का अत्यन्त निम्न कोटि के जीवों को छोड़कर अन्य सभी जीवों में लगभग समान प्रकार का लैंगिक जनन होता है। जहाँ तक हमारा वर्तमान ज्ञान है, सभी में जननाशय की रचना समान होती है और इस तरह सभी जीवों की उत्पत्ति एक जैसी है। अगर हम केवल दो प्रमुख विभाजनों अर्थात्—जन्तु तथा वनस्पति साम्राज्यों—को ही देखें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि कुछ निम्न कोटि के जीव इन दोनों विभाजनों के बीच इस प्रकार आते हैं कि यह कहना कठिन है कि उनको किस विभाजन में रखा जाय। इस संबंध में प्रो० आसा ग्रे ने कहा है—"निम्न कोटि के आप्यका: (algae) के स्पोर (spore) तथा अन्य जनन-संबंधी संरचनाएँ पहले जन्तुओं के लक्षण धारण करती हैं और फिर पूर्णतः वनस्पति लक्षण।" अतः लक्षणों के विचलन के साथ प्राकृतिक निर्वाचन के अनुसार, यह असंभव नहीं जान पड़ता कि इस प्रकार निम्न तथा माध्यमिक प्रकार के प्राणी से जन्तुओं तथा वनस्पतियों, दोनों का ही विकास हुआ हो। और यदि हम यह मान लें तो हमको यह भी मानना पड़ेगा कि पृथ्वी पर जितने भी प्रकार के जीव रहे हैं, वे किसी एक प्रारंभिक जीव से उत्पन्न हुए। किन्तु यह निष्कर्ष तुलना के आधार पर है, और इसको माना जाता है या नहीं, यह बहुत महत्त्व की बात नहीं है। जैसा मि० जी० एच० लिविस ने कहा है, यह निश्चय ही संभव है कि जीवन के प्रारंभ में ही कई प्रकार के जीव विकसित हुए थे। किन्तु यदि ऐसा हुआ था तो यह भी मानना पड़ेगा कि इनमें से कुछ की ही आपरिवर्तित संतानें बच रही थीं। जैसा मैंने हाल में प्रत्येक बड़े समूह, जैसे वर्टिब्राटा (Vertebrata), आर्टिकुलाटा (Articulata) आदि के

विषय में कहा था, उनके भ्रूणतत्वीय, रचनासदृश तथा अवशिष्ट अंगों से हमको इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्रत्येक ऐसे समूह के सभी सदस्य एक ही पूर्वज के वंशज हैं।

जब मेरे द्वारा इस पुस्तक में दिये गये मत तथा मि० वालेस के मत या इनके समान ही जातों की उत्पत्ति से संबंधित अन्य सत्य साधारणतः मान लिये जाएँगे तो प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में वास्तव में बड़ी क्रान्ति हो जायगी। क्रमशास्त्री (systematists) आज की ही भाँति तब भी अपना कार्य कर सकेंगे, लेकिन हर समय उनके मतिष्क में इस संदेह का भूत नहीं सवार रहेगा कि अमुक जात वास्तविक जात है अथवा नहीं। मुझको विश्वास है , और ऐसा मैं अनुभव के आधार पर कहता हूँ, कि यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। उदाहरण के लिए इस बात के अन्त न होने वाले झगड़े, कि लगभग ब्रैंब्लस (brambles) की लगभग ५० जातें वास्तविक जातें हैं या नहीं, खतम हो जाएँगे। क्रमशास्त्रियों को केवल इस बात का निर्णय करना होगा कि (और यह आसान होगा) अमुक जात के लक्षण इतने स्थिर और स्पष्ट हैं कि नहीं कि उनकी व्याख्या की जा सके; और यदि यह व्याख्या संभव है तो यह देखना कि ये अंतर इतने महत्त्वपूर्ण हैं या नहीं कि ऐसे जीवों को जात का स्तर दिया जा सके। दूसरी बात आज की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जायगी क्योंकि किन्हीं दो जीवों के बीच के अन्तर कितने भी छोटे क्यों न हों, यदि वे एक-दूसरे से माध्यमिक जीवों के द्वारा मिल-जुल नहीं जाते तो अधिकांश प्रकृतिवादी दोनों को जात का स्तर देने को तैयार हो जायँगे।

अतः इसके बाद हमको यह मानना पड़ेगा कि जातों और स्पष्ट भेदों में केवल यही अंतर है कि भेदों के बीच माध्यमिक रूपों के द्वारा संबंध दिखायी पड़ता है, जब कि जातों के बीच के इस तरह के संबंधक रूप नष्ट हो गये हैं। अतः किन्हीं दो रूपों के बीच पाये जाने वाले माध्यमिक रूपों का विचार त्याग किये बिना ही, हमारे लिए यह संभव हो सकेगा कि उनके बीच के वास्तविक अंतरों पर अधिक ध्यान दें और उनको ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझें। यह बहुत संभव है कि जिन जीवों को आज हम केवल भेद मानते हैं, उनको बाद में जात का स्तर पाने योग्य समझें, ऐसे उदाहरणों में हमारी साधारण भाषा तथा वैज्ञानिक भाषा में समता हो जायगी। संक्षेप में हमको जातों को उसी तल पर रखना होगा जिस पर अधिकांश वे लेखक आज जातियों को रखते हैं जो समझते हैं कि जातियाँ मनुष्य-निर्मित विभाजन हैं जो केवल हमारे अध्ययन की सुविधा के लिए हैं। हो सकता है कि यह प्रसन्नता की बात न हो, किन्तु इतना तो है ही कि हमको फिर 'जात' शब्द के अर्थ के निचोड़ की असंभव खोज नहीं करनी पड़ेगी।

इसके फलस्वरूप प्राकृतिक इतिहास के अन्य सामान्य विभागों के अध्ययन अधिक

रोचक हो जाएँगे। प्रकृतिवादियों द्वारा उपयोग किये जाने वाले अनेक शब्दों जैसे, 'परस्पर संबंध', 'पैतृकता', 'अनुकूलित लक्षण', 'अवशिष्ट अंग' आदि केवल अलंकार न रहेंगे बल्कि उनके कुछ विशिष्ट अर्थ तथा महत्त्व होंगे। जब हम किसी जीव को अपनी बुद्धि के परे न समझेंगे, जैसे उदाहरण के लिए, कोई जंगली एक जहाज को देखता है—जब हम समझेंगे कि प्रत्येक जीव का अपना एक इतिहास है—जब हम यह समझेंगे कि जिस प्रकार कोई महान् यांत्रिक आविष्कार अनेक कारीगरों के श्रम, अनुभव, बुद्धि तथा सही या गलत प्रयत्नों का फल है, उसी प्रकार प्रत्येक जटिल संरचना तथा प्रवृत्ति अनेक परिवर्तनों का फल है जिनमें से प्रत्येक उस जीव के लिए उपयोगी है—जब हम प्रत्येक जीव को इस दृष्टिकोण से देखेंगे, तो मैं अपने अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि प्राकृतिक इतिहास का अध्ययन कितना अधिक रोचक हो जायगा।

साथ ही अध्ययन का एक विशाल और लगभग नया क्षेत्र खुल जायगा जिसका संबंध परिवर्तन के कारणों तथा नियमों, परस्पर संबंध, उपयोग तथा अनुपयोग के प्रभाव, वाह्य परिस्थितियों के प्रभाव आदि से होगा। पालतू जीव-जन्तुओं के अध्ययन का महत्त्व बहुत बढ़ जायगा। मनुष्य द्वारा तैयार किये गये एक भेद का महत्त्व और अध्ययन के लिए उसकी रोचकता किसी नयी ज्ञात हुई जात से अधिक होगी। जहाँ तक संभव हो सकेगा, हमारे वर्गीकरण एक प्रकार से वंशावलिसूचक हो जाएँगे। और तब उनसे वास्तव में बहुत-कुछ सृष्टि की योजना का पता चलेगा। जब हमारे पास वर्गीकरण का कोई निश्चित लक्ष्य होगा, तो निश्चय ही उसके नियम सरल हो जाएँगे। हमारे पास कोई वंशावलि नहीं है और हमको नैसर्गिक वंशावलि में विचलन की विभिन्न दिशाओं का पता लगाना है और इसके लिए उन लक्षणों का सहारा लेना होगा जो किसी तरह वंशागत हुए हैं। अवशिष्ट अंगों से निश्चित रूप से ऐसे अंगों के विषय में मालूम होगा जो बहुत पहले नष्ट हो चुके हैं। ऐसी जातें या ऐसे जात-समूह जिनको विपथित (aberrant) कहा जाता है और जिनको अलंकार की भाषा में 'जीवित फॉसिल'' कहा जा सकता है, उनके द्वारा जीवों के प्राचीन रूप की कल्पना की जा सकेगी। भ्रूणशास्त्र से बहुधा हमको प्रत्येक वर्ग के प्रारूपिक जीवों की संरचना का कुछ हद तक पता चलेगा।

जब हमको यह विश्वास हो जायगा कि किसी जात के सभी सदस्य, और अधिकांश जातियों की सभी मिलती-जुलती जातें किसी एक पूर्वज की संतानें हैं तथा एक जन्म स्थान से चारों ओर फैल गयी हैं; और जब हमें स्थानान्तरण की अनेक विधियों का पर्याप्त ज्ञान हो जायगा, तब पुरातत्वशास्त्र के अध्ययन की सहायता से और उसके अध्ययन से प्राप्त या प्राप्त होने वाले तथ्यों की सहायता से निश्चय ही हम सफलतापूर्वक

सारे संसार के जीवों के स्थानान्तरण के विषय में जान सकेंगे। वर्तमान समय में भी, किसी महाद्वीप के दोनों तटों के निवासियों, और उस महाद्वीप के विभिन्न जीवों तथा उनके स्थानान्तरण की विधियों की तुलना करने से प्राचीन भूगोल पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

पुरातत्वशास्त्र जैसे महान् विज्ञान का वैभव बहुत-कुछ भूतत्वीय उल्लेख की अपूर्णता के कारण कम हो जाता है। अवशेषों सहित पृथ्वी के स्तरों को हमको भलीभाँति भरे हुए संग्रहालय की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, बल्कि एक अधूरे संग्रहालय की दृष्टि से, जिसकी सामग्री रुक-रुककर तथा कठिनाई से जमा की जाती हो। यह स्पष्ट है कि किसी स्तर में फॉसिल अवशेषों की प्रचुरता कई अनुकूल परिस्थितियों के असाधारण रूप से उत्पन्न हो जाने से ही संभव है, तथा इस प्रकार के किन्हीं दो स्तरों के बीच का रिक्तकाल बहुत ही लंबा होगा। इस अवधि की लंबाई का कुछ ज्ञान हमको इसके पहले और बाद के जीवों की तुलना करने से होता है। जीवों की क्रमिकता के ही आधार पर किन्हीं दो ऐसे स्तरों को समकालीन मानने में बहुत सावधानी रखनी चाहिए जिनके फासिल जीव एक-दूसरे से बहुत भिन्न हों। चूँकि जातों की उत्पत्ति तथा उनका विनाश दोनों ही निरन्तर प्रभाव डालने वाले कारणों पर निर्भर हैं, जिनका प्रभाव संभवतः वर्तमान समय में भी पड़ रहा हो; और चूँकि जीवों में परिवर्तन के अनेक कारणों में सबसे महत्त्वपूर्ण कारण भौतिक दशाओं के परिवर्तनों से स्वतन्त्र है और वह है जीवों का परस्पर संबंध (किसी एक जीव की उन्नति के फलस्वरूप अन्य जीवों की उन्नति या उनका विनाश), अतः एक के बाद एक आने वाले स्तरों के जीवाश्म अवशेषों में दिखाई पड़नेवाले परिवर्तन की मात्रा से व्यतीत होने वाले समय का हम कुछ तुलनात्मक अनुमान लगा सकते हैं। फिर भी यह संभव है कि जातों का कोई एक समूह किसी लंबी अवधि तक अपरिवर्तित ही रह जाय, जबकि उसी अवधि में अन्य कई जातें दूसरे प्रदेशों में स्थानान्तरण करके तथा विदेशी जातों से संघर्ष के फलस्वरूप आपरिवर्तित हो जायँ। इसलिए जीवों में होने वाले परिवर्तन को हमको व्यतीत होने वाले समय की अवधि का बहुत विश्वसनीय माप नहीं समझना चाहिए।

भविष्य में मुझको कई प्रकार के महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों के लिए नये क्षेत्र खुलते दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए मि० हरबर्ट स्पेन्सर के नये सिद्धान्त—अर्थात् प्रत्येक मानसिक शक्ति ग्रहण की जा सकती है और उसका उसमें आपरिवर्तन हो सकता है—के आधार पर मनोविज्ञान के अनुसंधान आधारित होंगे। इससे मनुष्य की उत्पत्ति और उसके इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

ऐसा लगता है कि कई सुविख्यात लेखक भी इस मत से पूर्णतः संतुष्ट है कि प्रत्येक

जात स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुई है। मेरे विचार में यह मत उन नियमों के अनुकूल है जिनके अनुसार सृष्टिकर्त्ता ने पदार्थों का निर्माण करके छोड़ दिया है और फिर वे पदार्थ उन्हीं नियमों से नियंत्रित चले आ रहे हैं तथा भूत तथा वर्तमान काल के सभी निवासियों की उत्पत्ति या उनका विनाश कुछ गौण कारणों पर निर्भर है। जब मैं यह कहता हूँ कि सभी जीव विशेष रूप से अलग-अलग नहीं उत्पन्न हुए हैं बल्कि कैम्ब्रियन युग की पहली परत से आज तक वे कुछ प्रारंभिक जीवों की संततियाँ हैं, तो ये सभी जीव महान् हो जाते हैं। इतिहास के दृष्टिकोण से हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि कोई भी जात अपने लक्षण बिना किसी परिवर्तन के, ज्यों-के-त्यों, अपनी अनेक पीढ़ियों के बाद की संतानों को प्रदान कर सकेगी। यही नहीं आज पायी जाने वाली जातों में से, केवल इनी-गिनी जातों की ही संतानें सुदूर भविष्य में जीवित रहेंगी। कारण यह है कि आज जिस तरह हम जीवों को एक-दूसरे से मिलकर समूह बनाते देखते हैं, उससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक जाति की अधिकांश जातों की संतानें कुछ काल में पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं। हम इस हद तक भविष्यवाणी कर सकते हैं कि अंत में जीवित रहने तथा नयी प्रबल जातों को उत्पन्न कर सकने वाली जातें वे हैं जो स्वयं सामान्य हैं तथा दूर-दूर तक फैली हुई हैं और अपने वर्ग के बड़े तथा प्रबल समूहों के अन्तर्गत आती हैं। चूँकि आज जीवित पायी जानेवाली सभी जातें कैम्ब्रियन युग के बहुत पहले पाये जानेवाले जीवों की संततियाँ हैं, इसलिए हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि पीढ़ियों का क्रम कभी नहीं टूटा है और संसार में ऐसी भीषण उथल-पुथल कभी नहीं हुई जिससे सारे संसार के जीवों का सर्वनाश हो जाय। अतः हम सुदूर भविष्य की ओर आशा और विश्वास के साथ देख सकते हैं और साथ ही चूँकि प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया केवल हर जीव के लाभ के लिए ही होती है, इसलिए हम आशा कर सकते हैं कि शारीरिक तथा मानसिक दोनों पक्षों में उन्नति होगी।

सुदूर भविष्य में किसी ऐसे किनारे की कल्पना करना कितना रोचक है जिसके निकट अनेक प्रकार के असंख्य पौधे होंगे, झाड़ियों पर चहचहाती चिड़ियाँ होंगी, तरह-तरह के कीट तथा नम मिट्टी में रेंगते कीड़े होंगे जो सभी उच्च कोटि की बनावट के होंगे तथा एक-दूसरे पर जटिल रूप से निर्भर होंगे और सभी स्वयं हमारे ऊपर क्रिया करने वाले नियमों के प्रभाव से विकसित हुए होंगे। विस्तृत अर्थ में ये नियम हैं—वृद्धि तथा जनन; वंशागति, जो लगभग जनन क्रिया में निहित है, उपयोग तथा अनुपयोग और जीवन की परिस्थितियों के परोक्ष तथा अपरोक्ष प्रभावों के कारण होने वाली परिवर्तनशीलता अपेक्षाकृत इतनी अधिक वृद्धि कि उसके कारण जीवन-संघर्ष प्रारम्भ हो जाय और

उसके फलस्वरूप प्राकृतिक निर्वाचन हो जिसके कारण लक्षणों का विचलन तथा कम उन्नति वाले जीवों का विनाश हो, इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति के युद्ध, अकाल तथा मृत्यु की विनाशकारी क्रियाओं का फल अत्यन्त महान् होता है, और वह है उच्च प्राणियों की उत्पत्ति। विभिन्न प्रकार की शक्तियों सहित, जीवन के संबंध में यह मत उच्च और महान् है जिसके अनुसार सृष्टिकर्त्ता ने एक या कुछ इने-गिने प्रकार के जीव रचे और जहाँ एक ओर गुरुत्वाकर्षण के नियमों के अनुसार पृथ्वी चक्कर लगाती रही वहाँ दूसरी ओर इस साधारण प्रारम्भ से क्रमशः असंख्य प्रकार के अत्यन्त सुन्दर और अद्भुत् जीवों का विकास हो गया और हो रहा है।

व्याख्याएँ

अंखुड़ियाँ (Sepals)—साधारण पुष्प के सब से बाहर के चक्र का निर्माण करने वाली आपरिवर्तित पत्तियाँ। ये साधारणतः हरी, किन्तु कभी-कभी रंगीन होती हैं। कलिका अवस्था में ये पुष्प को बन्द रखती हैं।

अंड (Ovum, egg)—अंडे, जिनसे भ्रूण-विकास होता है।

अंडग्रंथि (Ovary, ovarium)—जन्तुओं के शरीर का वह अंग जिसमें अंडों का निर्माण होता है। इनसे अंडे निकल जाते हैं, तब भ्रूणविकास आरम्भ होता है। पौधों में पुष्प का वह भाग जिसमें डिंब (ovules) उत्पन्न होते हैं। बाद में डिंबों से बीज और समस्त अंडग्रंथि (डिंबाशय) से फल बनता है।

अधोचर्मीय (Subcutaneous)—जो संरचना चर्म या त्वचा के ठीक नीचे स्थित हो।

अंगुलाटा (Ungulata)—स्तनियों का वह गण जिनमें चार टाँगे हों (चौपाये) और उनमें खुर हों, जैसे गाय, बकरी आदि।

अनिषिक्त जनन (Partheno genesis)—किसी जीव का ऐसे अंड से विकसित होना जिसका संसेचन (fertilization) न हुआ हो। साधारणतः अंड का विकास बिना संसेचन के नहीं होता।

अपृष्ठवंशी (Invertebrata)—वे जन्तु जिनमें पृष्ठ वंश (Vertebral column) अर्थात् रीढ़ नहीं होती। वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कोई नियमित समूह नहीं है, बल्कि कई विभिन्न समूहों का संकलन है और केवल सुविधा की दृष्टि से ही उपयोग किया जाता है।

अम्बेलीफ़ेरी (Umbelliferae)—पौधों का वह गण जिसमें फूलों में पाँच परागकेसर होते हैं और गर्भकेसर में दो गर्भनाल। फूल वृन्तों (डंठलों) पर स्थित होते हैं जो एक ही स्थान से निकलते हैं और बराबर होते हैं, जिससे पुष्पावलि के सभी फूल एक ही तल पर आ जाते हैं।

अवसादित निर्माण (Sedimentary formations)—वे चट्टानें या निर्माण जो पानी में अवसादन या तलछठ के रूप में बने हों।

अविकसित (Undeveloped; not evolved)—भ्रूण-विकास के संदर्भ में वे संरचनायें या वे भ्रूण जिनका भ्रूणविकास पूर्ण न हुआ हो; जीव विकास के संदर्भ में वे जीव जिनकी संरचना या गठन निम्न कोटि की हो।

असंमित (Assymmetrical)—वे जीव जो मध्यरेखा के दाहिने-बायें समान न हों।

असामान्य (Abnormal)—सामान्य नियम के विपरीत।

अवशिष्ट अंग (Rudimentary organs)—वे अंग जिनका विकास बहुत अपूर्ण हुआ हो अतः जो नाममात्र को अवशिष्ट रूप में ही उपस्थित हों।

अति विकसित (Hypertrophied)—वह अंग जिसमें सामान्य से अधिक विकसित हो।

आदि रूप (Archetype)—वह काल्पनिक तथा प्राथमिक रूप जिससे किसी जीव-समूह की सभी जातों की उत्पत्ति होती जान पड़ती है।

आर्टिकुलाटा (Articulata)—जन्तु-साम्राज्य का एक महान् विभाजन जिसमें शरीर का बाह्य तल कई खंडों में बँटा होता है और अधिकांशतः उनके अवयव कई खंडों वाले होते हैं, जैसे कीट वर्ग, क्रस्टेशिया आदि। आजकल इस विभाजन के लिये आर्थोपोडा (Arthropoda) शब्द का उपयोग किया जाता है।

आकारिकी (आंतरिकी) (Morphology)—जीव विज्ञान की वह शाखा जिसके अन्तर्गत जन्तु अथवा वनस्पति के शरीर की आंतरिक संरचना का अध्ययन किया जाता है अर्थात् कार्य के अतिरिक्त संरचना के नियम का अध्ययन।

आॅसेलाई (Ocelli)—कीटों के सरल नेत्र जो साधारण शिर के शिखर पर संयुक्त नेत्रों के बीच में उपस्थित होते हैं।

इओसीन (Eocene)—पुरातत्वीय विभाजनों में से एक। तृतीय युग का सब से प्राचीन विभाजन। इसमें कवच बड़ी संख्या में पाये जाते हैं।

इक्न्यूमानिडी (Ichneumonidae)—हाइमेनाप्टेरा कीटों का वह वंश जिसके सदस्यों की मुख्य विशेषता है उनका अंडों को अन्य कीटों के शरीरों के भीतर देना।

इन्फ्यूसोरिया (Infusoria)—वे जन्तु जो सड़ते-गलते पदार्थों के जल में पाये जाते हैं। सूक्ष्म। आजकल यह शब्द प्रोटोजोआ के एक वर्ग के लिए उपयोग किया जाता है।

उओलिटिक (Oolitic)—द्वितीय चट्टानों के स्तरों की एक शृंखला जिसकी विशेषता यह है कि इसकी कई स्तरें असंख्य छोटे गोल, अंडों के आकार के चूर्णियत पदार्थों की बनी हैं।

उभयचर (Amphibia or Batrachia)—वर्टिब्राटा समुदाय का एक कीट जिसमें मेढ़क, टोड (toad) आदि आते हैं। इनकी खाल चिकनी और लसलसी होती है और उस पर न शल्क (सेहल) होते हैं, न रोम या पर। ये जल तथा स्थल दोनों में ही रह सकते हैं, इसलिए उभयचर नाम रखा गया है। इनके लार्वा गिल द्वारा श्वसन करते हैं और प्रौढ़ फेफड़ों द्वारा।

ओपरकुलम (Operculum)—कुछ मालस्का (Mollusca), विशेषत: गैस्ट्रोपोडा (Gastropoda) वर्ग के कवचों के छेद (या मुख) को बन्द करने वाला चपटा ढकना; या मछलियों के गलफड़ के ऊपर का ढकना।

ओपरकुलर कपाट (Opercular valve)—सिरीपीड वर्ग में कवच के छिद्र को बन्द करने वाले ढकने।

एककोशिकीय जीव (Unicellular organism)—वे जीव जिनका समस्त शरीर केवल एक ही कोशिका (cell) का बना हो, जैसे प्रोटोजोआ (Protozoa) तथा प्रोटोफाइटा (Protophyta) समुदाय।

एकबीजपत्री ((Monocoty ledon or Monocotyledonous) वे फूलने वाले पौधे जिसके बीजों में केवल एक ही बीजपत्र (Cotyledon) होता है। उगते समय उनमें एक ही प्राथमिक पत्ती निकलती है। ऐसे पौधों के तनों में काष्ठ की कई परतों का निर्माण नहीं होता तथा पत्तियों में नसें बहुधा सीधी तथा समानान्तर होती है। फूलों के विविध अंगों साधारणत: तीन या तीन के गुणन फल की संख्या में होते हैं। उदाहरण घास, लिली, आरकिड, ताड़, गेहूँ, ज्वार, आदि।

एडेन्टाटा (Edentata)—स्तनियों का एक विचित्र विभाजन जिसके दोनों जबड़ों की विशेषता है उनके सामने के इन्साइज़र दाँतों की अनुपस्थिति। (उदाहरण आरमाडिलो, स्लाथ)।

एन्टोमोस्ट्राका (Entomostraca)—क्रस्टेशिया गण का एक विभाजन जिसके शरीर के सभी खंड साधारणत: स्पष्ट होते हैं, गिल टाँगों से या मुख-अंगों से जुड़े होते हैं और टाँगों के किनारे-किनारे असंख्य रोम होते हैं। साधारणत: वे छोटे होते हैं।

एनीलिडा (Annelida)—क्रमि का वह समुदाय जिनमें शरीर ऊपर तथा भीतर कई खंडों में बँटा होता है और प्रत्येक खंड में लगभग समान अंग पाये जाते हैं। बहुधा प्रत्येक खंड में एक जोड़ा चलन के अंग होते हैं। इसके अन्तर्गत समुद्री क्रमि, केंचुये, जोंक, आदि आते हैं।

एप्लैसेन्टेलिया (Aplacentalia)—स्तनियों का वह विभाजन जिसमें ऐसे सदस्य रखे जाते हैं जिसमें 'प्लेसेन्टा' नहीं होते, अतः उनके भ्रूणों का पोषण माता के गर्भाशय में नहीं हो सकता। इसमें मारसूपियल और मानोट्रीम गण हैं, जैसे आरनाइथोरिंकस।

ऐफीमेराप्टेरा (Ephemeroptera)—कीटों (Insects) का एक गण।

एमोनाइट (Ammonites)—फॉसिल कवचों का वर्ग। इनके कवच कुन्तलाकार और कई कोष्ठों वाले होते हैं। ये जीवित जाति नाटिलस (Nautilus) से संबंधित हैं किन्तु इनके कोष्ठों के बीच की दीवारें बाहर की दीवार से जुड़ने के स्थान पर टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं।

ऐल्गी (Algae)—वनस्पति का वह महान् विभाजन जिनकी संरचना बहुत सरल होती। इनके अन्तर्गत तालाबों, नदियों, समुद्र आदि में पाये जाने वाले 'वीड' (weed) आते हैं।

ऐल्बीनो (Albino)—वे जन्तु जिनमें उसकी जात का लाक्षणिक रंग खाल में नहीं उत्पन्न होता। इस क्रिया को बहुधा ऐल्वीनिज्म (AlLinissm) कहते हैं।

ककून (Cocoon)—रेशम या रेशम जैसे पदार्थ की बनी एक खोल जिसको बहुधा कीटो के लार्वा अपने रूपान्तरण काल के पहले बनाते हैं और उसी में बन्द हो कर प्यूपा तथा प्रौढ़ अवस्थाओं में बदलते हैं। अधिकतर यह लेपिडाप्टेरा गण में बनता है जिसमें तितलियाँ तथा माथ रखे जाते हैं। बहुधा ककून अवस्था से प्यूपा अवस्था का अभिप्राय होता है।

कम्पोजिटी (Compositae)—फलने वाले पौधों का वह गण जिसमें पुष्पावलि में अनेक छोटे फूल होते हैं जो मिल कर एक घनी संरचना या "शिर" का निर्माण करते हैं। साधारण भाषा में इस पूरी पुष्पावलि को ही एक 'फूल' कहा जाता है। उदाहरण सूरजमुखी, गेंदा आदि।

काक्कस (Coccus)—कीटों की एक जाति। इनके नर पंखदार और बहुत छोटे होते हैं और मादायें पंखहीन, बिना टाँगों की अचल होती है और पौधों की पत्तियों, टहनियों आदि से चिपकी रहती हैं।

कानफरवी (Confervae)—मीठे पानी—तालाबों, नदियों आदि में पाई जाने वाली एक 'वीड' (weed)।

कार्बोनिफेरस (Cerboniferous)—वह भूतत्वीय निर्माण जिसके अन्तर्गत चट्टानों के अतिरिक्त कोयले के स्तर भी आते हैं। यह सब से पुराने अर्थात् पेलियोजोइक (Palaeozoic) युग का है।

कार्य सादृश्य— (Analogy) किन्हीं दो अंगों की संरचना में वह समानता जो उनके समान करने के कारण उत्पन्न हो गई है, न कि समान वंशागति के कारण। जैसे कीटों तथा पक्षियों के पंख। ऐसे अंग जो कार्य सादृश्य दिखाते हैं, कार्य-सदृश (analogous) कहलाते हैं।

कालम (Column)—इस शब्द का उपयोग बहुधा आरकिडों के फूलों के उस अंग के लिये किया जाता है जिसका निर्माण परागकेसर तथा गर्भकेसर अर्थात् जननांगों के युक्त हो जाने से होता है।

किलोनिया (Chelonia)—रेप्टाइल वर्ग का एक गण जिसमें कछुए रखे जाते हैं।

कीट वर्ग (Insecta)—जन्तुओं का सब से बड़ा वर्ग जो आर्थोपोडा समुदाय के अन्तर्गत आता है। इनकी मुख्य विशेषता है इनके ३ जोड़ा टाँगों का होना। अधिकतर कीटों में एक या दो जोड़ा पंख भी होते हैं तथा इनके मुख अंग विविध प्रकार के होते हैं। अधिकांश कीटों का जीवन-इतिहास जटिल होता है।

कीटभक्षी (Insectivorous)—वे जीव जो कीटों पर अपना निर्वाह करते हैं।

कुरकुलियो (Curculio)—कीटों की एक जाति जिसके मुख अंग एक सूँड के आकार के होते हैं। यह नाम पहले इस प्रकार की सभी बीट्लों के लिए उपयोग किया जाता था किन्तु अब हम इनमें कई पृथक् जातियाँ जानते हैं।

कैनिडी (Canidae)—स्तनियों का एक वंश जिसके अन्तर्गत कुत्ते, भेड़िये, लोमड़ियाँ, स्यार आदि आते हैं।

कैम्ब्रियन (Cambrian)—प्राचीनतम अर्थात् पेलियोज़ोइक स्तरों की एक श्रृंखला। इसके नीचे लारेन्शियन और ऊपर साइलूरियन स्तर-श्रृंखलायें हैं। कुछ समय पहले इनको सब से प्राचीन फासिलमय श्रृंखला समझा जाता था।

कैरापेस (Carapace)—क्रस्टेशिया के शरीर के अगले भाग के पृष्ठ तल के ऊपर का एक कड़ा ढकना। बहुधा यह शिर और वक्ष प्रदेश को साथ साथ ढकता है। सिरीपीडों में पाये जाने वाले कड़े कवच के टुकड़ों के लिए भी इस शब्द का उपयोग किया जाता है।

कोलियाप्टेरा (Coleoptera)—कीटों का एक वर्ग जिसके सदस्यों को साधारणतः बीट्ल (beetles) कहा जाता है। इनके मुख-अंग मजबूत, काटने और कुतरने वाले होते हैं और अगले पंख कड़े होते हैं और पिछले पतले पंखों को ढकने के काम आते हैं। ये कड़े अगले पंख बहुधा मध्यरेखा में जुड़े भी होते हैं। उदाहरण गुबड़ैले, अनाज में मिलने वाली पाई, सुड़सी आदि।

कोरिम्ब (Corymb)—एक प्रकार की पुष्पावलि या पुष्पमंजरी। इसका लक्षण यह है कि नीचे के भाग से निकलने वाले पुष्प-वृन्त लम्बे होते हैं और ऊपर से निकलने वाले छोटे और इस प्रकार सभी पुष्प—नये और पुराने—लगभग एक ही तल पर आ जाते हैं।

कोरोला (Corolla)—फूलों के दलचक्र अर्थात् वह चक्र जो पंखुड़ियों से बनता है।

कृमिरूप (Vermiform)—कृमियों (worms) के रूप वाला, अर्थात् लंबा, पतला, बेलनाकार और आगे तथा पीछे की ओर पतला और बिना अवयव का।

क्रस्टेशिया (Crustacea)—आर्थोपोडा समुदाय का एक महत्वपूर्ण वर्ग। इसकी त्वचा बहुधा चूर्णियत पदार्थों से भिंने, कड़े क्यूटिक्ल (Cuticle) से ढकी होती है, श्वसन 'गिलों' के द्वारा पानी में होता है—अर्थात् सभी सदस्य पानी में रहने वाले हैं। उदाहरण झींगे, केकड़े इत्यादि।

खंड (Segment)—जन्तु शरीर के अनेक बेड़े, लगभग समान भाग जो एक दूसरे से गोल छल्लों जैसे गहरी लकीरों से बँटे होते हैं। इस तरह के खंड विशेषतः एनीलिडा तथा आर्थोपोडा समुदायों में पाये जाते हैं—जैसे केंचुए, कीटों, गोजर (कांतर) आदि में। वास्तविक खंड विभाजन में प्रत्येक खंड की संरचना न केवल बाह्य आकार में एक जैसी होती है, बल्कि आन्तरिक संरचना में भी।

खांच (Suture)—जब इसका उपयोग शिर के कंकल में किया जाता है तो तात्पर्य निकटवर्ती हड्डियों के बीच के जोड़ के स्थान से होता है। इसी प्रकार कीट शिरों में या टाँगों में खांच शब्द का प्रयोग निकटवर्ती कड़े आवरण के टुकड़ों के जोड़ की रेखा के लिए किया जाता है।

गर्भकेसर (Pistil)—पुष्प के मादा जननांग जो अधिकतर उसके केन्द्र पर स्थित होते हैं। गर्भकेसर को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—नीचे का भाग गर्भाशय (ovary) जिसमें डिंब या बीज बनते हैं; बीच का भाग गर्भनाल (Style) तथा ऊपर का भाग गर्भनाल-मुख (Stigma)।

गर्भनाल (Style)—देखिए गर्भकेसर। इस नलिका से गर्भनाल-मुख का सम्बन्ध गर्भाशय से होता है।

गर्भनालमुख (Stigma)—देखिए गर्भकेसर। पराग कणों का गर्भनाल-मुख पर ही स्वागत किया जाता है। इसका आकार विभिन्न होता है।

गायनेशियम (Gynaecium)—फूल के मादा जननांग अर्थात् मादा जनन-चक्र।

गेलस (Gallus)—पक्षियों की उस जाति का वैज्ञानिक नाम जिसके अन्तर्गत मुर्गे रखे जाते हैं।

गैनायड मछलियाँ (Ganoid fishes)—वे मछलियाँ जिनका शरीर कुछ विचित्र हड्डी के बाह्य आवरण से ढका होता है। इनकी अधिकांश संख्या विलुप्त हो चुकी है।

गैलेनीफार्मिस (Gallaneiformes)—पक्षियों का वह गण जिसमें मुर्गियाँ, टर्की, मोर आदि रखे जाते हैं।

ग्रैनाइट (Granite)—चट्टानों जिनका निर्माण मुख्यतः फेल्सपार (Felspar) तथा अभ्रक (Mica) के कणों के स्फटिक (quartz) के माध्यम में जम जाने से हुआ है। यह बहुत कड़ी चट्टान होती है।

ग्रैलोटोरीस (Grallotores)—पक्षियों का वह गण जिसके अन्तर्गत बगुला, चाहा आदि जातें रखी जाती हैं। इनकी टाँगें लंबी होती हैं और उन पर पंख नहीं होते, और अँगुलियों के बीच चमड़ी नहीं होती। ये पानी से मछलियाँ पकड़ती हैं और कुछ हद तक पानी में डुबकी लगा सकती हैं।

ग्रंथि (Gland)—वह अंग जिससे किसी प्रकार के रस या द्रव की उत्पत्ति होती है।

ग्लेशियल (हिम) युग (Glacial period)—वह युग जिसमें अत्यन्त ठण्डक थी और पृथ्वी का बहुत बड़ा क्षेत्र बर्फ से ढका हुआ था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि हिमयुग पृथ्वी पर बारम्बार हुए हैं, किन्तु मुख्यतः हमारा अभिप्राय उस हिम युग से है जो तृतीय युग के अन्तिम भाग में हुआ था जब कि सारा यूरोप बर्फ से ढका था।

घांटीद्वार (Glotts)—श्वास नाल का छिद्र ग्रसनी (Pharynx) में।

चक्र (Whorl)—वे रेखाएँ जिन पर पौधे के विभिन्न भाग उसके अक्ष पर व्यवस्थित होते हैं; विशेषकर पुष्प के अंग जैसे दल चक्र, पुट चक्र, पराग चक्र आदि।

चर्मीय (Cutaneous)—चर्म से सम्बन्ध रखने वाला।

जनन अंग (जननांग) (Reproductive organs)—जन्तु अथवा वनस्पति के वे अंग जो सन्तानों की उत्पत्ति से संबंध रखते हैं।

जनन-स्यून (Germinal vesicle)—जन्तुओं के अंडों में एक छोटी थैली जैसी रचना जिससे भ्रूण का विकास आरम्भ होता है।

जन्तु-धन (Fauna)—किसी विशेष क्षेत्र या प्रदेश के सभी जन्तु जो किसी काल विशेष में पाये जाते हैं या जो कभी वहाँ रहें हों।

जुआयड (Zooid)—कई निम्न श्रेणी के जन्तुओं में अंडे से विकास होने के बाद जीव अलैंगिक रीति से अपने ही जैसे अनेक अन्य जन्तुओं को जन्म देता है जो एक दूसरे से पूर्णतः अलग नहीं होते, बल्कि किसी रचना विशेष के द्वारा जुड़े रहते हैं। अलग

कर दिये जाने पर इनमें से हर एक स्वतन्त्र जीवन यापन कर सकता है। इसलिए प्रत्येक को एक जन्तु मानते हैं और उनको मिलाकर एक मण्डल (Colony) कहते हैं। जैसे कोरल में, अन्य सीलेण्टरेटा में, पालिज़ोआ में इत्यादि।

ज़ुइया अवस्था (Zooea stage)—कई उच्च क्रस्टेशिया में लार्वा की प्रथम अवस्था। पहले इनको एक अलग जाति माना जाता था।

टारसस (Tarsus)—आर्थोपोडा समुदाय की कई जोड़ वाली टाँगें, जैसे कीटों की टाँगें।

टीलियास्टियन मछली (Teleostean fishes)—मछलियों का एक वर्ग जो आजकल अधिकांशतः पाया जाता है; जिसकी कंकाल हड्डियों का बना होता है, जैसे रोहू, कतला इत्यादि।

टेन्टैक्ल या टेन्टाकुला (Tentacle or tentacula)—निम्न कोटि के जन्तुओं में स्पर्श के लिए उपस्थित छोटे, अँगुली जैसे प्रवर्ध।

ट्राइडैक्टाइल (Tridactyle)—तीन अँगुली वाला या ऐसा अंग जिसमें तीन चल भाग एक अचल भाग से जुड़े हों।

ट्राइलोबाइट (Trilobite)—विलुप्त क्रस्टेशिया का एक विचित्र विभाजन जो कुछ हद तक लकड़ी में पाई जाने वाली मकड़ी के जैसे आकार का है और उनकी भाँति मुड़ कर गेंद जैसा हो सकता है। इनके फॉसिल अवशेष केवल प्राचीन पेलियोज़ोइक स्तरों में तथा साइलूरियम काल के स्तरों में प्राप्त होते हैं। वास्तव में उनकी स्थिति तथा अन्य जन्तुओं से उनका संबंध ठीक ज्ञात नहीं है।

डियोराइट (Diorite)—ग्रीनस्टोन (Greenstone) का एक विचित्र रूप।

डिवोनियन संस्थान (Devonian system)—पेलियोज़ोइक चट्टानों की एक श्रृंखला। इसमें मछलियों के फॉसिल बहुतायत से पाये जाते हैं।

तृतीय युग (Tertiary age)—भूतत्वीय इतिहास को तीन युगों में बाँटा जाता है—प्राथमिक, द्वितीय तथा तृतीय। तृतीय युग अंतिम है और वर्तमान से ठीक पहले का है।

त्रिरूपीय जीव (Trimorphic beings)—जन्तु या वनस्पति की वे जातें जो तीन विभिन्न रूपों में पायी जाती है, चाहे वे तीन रूप जीवन की एक ही अवस्था में हो या जीवन-इतिहास की विविध अवस्थाओं में। उदाहरण कुछ सीलेण्टराटा या मधुमक्खी।

दृष्टि कोष (Orbit)—शिर के कंकाल में उपस्थित वे गढ़े जिनमें आँखें स्थित हैं।

द्विबीज पत्री ((Dicot or Dicotyledonous) पौधे—वे फूलने वाले पौधे जिनके

बीज में दो 'दालें' होती हैं। उगने पर इनमें दो प्राथमिक दलदार पत्तियाँ निकलती हैं। इनके तनों में काष्ठ की काफी मात्रा होती है। फूलों के विविध अंग बहुधा पाँच या पाँच के गुणक होते हैं।

द्विरूपीय जीव (Dimorphic organisms)—वे जन्तु या पौधे जिनकी एक जात के सदस्य दो भिन्न रूपों में मिलते हैं। कभी-कभी द्विरूपता (Dimorphism) लैंगिक भेदों से संबंधित होती है और तब दो प्रकार के जीव नर या मादा कहलाते हैं। इसको लैंगिक द्विरूपता (sexual morphism) कहते हैं।

द्विलिंगी (पृथकलिंगी) (Diocious)—वे जीव जिनके नर तथा मादा लैंगिक तत्व पृथक्-पृथक् सदस्यों में बनते हैं अर्थात् जिनमें नर तथा मादा होते हैं।

नग्नीकरण (Denudation)—स्थल के ऊपरी तल का क्रमशः पानी के बहाव के कारण घिस जाना जिससे नीचे के स्तर दिखाई पड़ने लगें।

नपुंसक (Neuter)—कुछ कीटों की मादाओं (जैसे मधुमक्खियों तथा चींटियों) के जननांग इतने अपूर्ण होते हैं कि लगभग अनुपस्थित होते हैं, जिससे वे नपुंसक कहे जाते हैं। बहुधा समस्त समाज के लिए वे सभी आवश्यक कार्य करते हैं। अतः उनको बहुधा श्रमिक भी कहा जाता है।

नाड़ी-विन्यास (Neuration)—कीटों के पंखों में नाड़ियों की व्यवस्था।

नाप्लियस (Nauplius)—अधिकांश क्रस्टेशिया के जीवन इतिहास में पाई जाने वाली पहली लार्वल अवस्था। उसका शरीर छोटा होता है किन्तु इसमें विखंडन (segmentation) के चिह्न होते हैं और इसमें तीन जोड़ा टाँगें होती हैं। पहले यह न जान कर कि यह एक लार्वा है, इसको वैज्ञानिकों ने एक-एक अलग जाति का स्तर दिया था और इसका नाम नाप्लियस रखा गया था।

निक्टिटेटिंग झिल्ली (Nictitating membrane)—मेढकों, रेप्टाइलो तथा पक्षियों की आँख में उपस्थित यह झिल्ली एक प्रकार से पारदर्श पलक कही जा सकती है। इसको आँख पर चढ़ा लेने पर आँख की रक्षा तो हो जाती है, साथ ही दृष्टि में बाधा नहीं पड़ती। मेढक इसको आँख पर चढ़ा कर पानी में डुबकी लगा सकता है और रेप्टाइल इसके द्वारा प्रकाश की चमक कम कर सकते हैं।

निगल (Oesophagus)—मुख गुहा के बाद का वह भाग जो आमाशय में पहुँचता है—अर्थात् मुखगुहा से आमाशय के बीच का मार्ग।

नितम्ब (Pelvis)—कंकाल का वह भाग जो वर्टिब्रेट जन्तुओं में पिछले अवयवों अर्थात् टाँगों को सहारा देता है और देह गुहा के पिछले भाग के अंगों जैसे गुर्दों की रक्षा करता है।

पत्रदल (Petals)—देखिये पंखुड़ियाँ।

परागकण (Pollen grains)—फूलने वाले पौधों में नर अंगों अर्थात् पराग केसर से उत्पन्न होने वाली संरचनाएँ। इनमें नर तत्व रहते हैं और इनके डिंब से मिलने पर संसेचन कहते हैं। ये परागदानी नामक थैली में बनते हैं।

परागकेसर (Anthers)—पुष्प के नर अंग। इसकी रचना में एक सूत्र या डण्ठल (filament) होता है और ऊपर एक या दो परागदानियाँ जिनके पराग कम उत्पन्न होते हैं।

परागण (Pollination)—परागकणों के पराग केसर से गर्भनाल-मुख पर जाने की क्रिया। परागकण उसी फूल के गर्भकेसर पर जा सकते हैं या दूसरे फूल के। पहले को स्वयं-परागण (self-fertilisation) कहते हैं, दूसरे को पर-परागण (cross-fertilisation)।

परजीवी (Parasite)—ऐसा जीव जो अपने निर्वाह के लिए किसी अन्य जीव के शरीर पर या शरीर में रहता हो और उसी से अपना भोजन प्राप्त करता हो।

परिवर्त चट्टानें (Metamorphic rocks)—वे चट्टानें जो अवसादित होने के पश्चात् किसी प्रकार—मुख्यत: अत्यधिक ताप के प्रभाव से—काफ़ी परिवर्तित हो गई हों।

पालीज़ोएरी (Polyzoary)—पालीज़ोआ जन्तुओं द्वारा निर्मित मण्डल (colony) की सामान्य रचना। इसको कभी कभी 'समुद्री चटाई' (sea-mat) कहते हैं।

पिन्नेट (Pinnate)—वे संयुक्त पत्तियाँ जो कई पत्रकों (leaflets) से बनी हों जो स्वयं अक्ष के दोनों ओर लगी हों।

पीढ़ियों का एकान्तरण (Alternation of generations)—निम्न कोटि के कुछ जन्तुओं और पौधों में दो प्रकार के प्रौढ़ पाये जाते हैं जो जीवन चक्र में एक के बाद एक आते हैं अर्थात् जीवन-चक्र में दो पीढ़ियाँ होती हैं जिनका एकान्तरण होता है। बहुधा इनमें से एक लैंगिक रीति से प्रजनन करती है, दूसरी अलैंगिक रीति से। कुछ जीवों में जैसे फर्न तथा काई के पौधों में उनकी क्रोमोसोम संख्या (Chromosome number) भी भिन्न होती है।

पुच्छीय (Candal)—जिसका संबंध पुच्छ (tail) से हो।

पेलियोज़ोइक (Palaeozoic)—फासिलमय चट्टानों का प्राचीनतम संस्थान।

पैपिलियोनेसी (Papilionaceae)—पौधों का वह वंश जिसके अन्तर्गत तरह-तरह के दालें (pulses) आती हैं—जैसे चना, मटर, मसूर, अरहर आदि। इनके फूल कुछ विचित्र आकार के होते हैं।

पैल्प (Palp)—क्रस्टेशिया या कीट वर्गों के मुख भागों से संबंधित कई जोड़ वाले कुछ प्रवर्ध।

पंखुड़ियाँ (Petals)—फूलों का भाग जो बहुधा रंगीन होता है। इससे फूल की सुन्दरता होती है और कीट आकर्षित होते हैं। पत्रदल।

प्यूपा (Pupa)—कीटों के जीवन इतिहास की लार्वा के बाद की अवस्था जिससे अंतिम अवस्था अर्थात् प्रौढ़ निकलता है। बहुधा प्युपा बिल्कुल या लगभग अचल होता है और उसको विश्रामावस्था कहते हैं। भीतर ही भीतर भीषण परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों को रूपान्तरण या रचनान्तरण (metamorphosis) कहते हैं।

प्रगंड (Ganglion)—नाड़ियों (nerves) के बीच बीच पाई जाने वाली गाँठें जिनमें नाड़ी-कोशिकाएँ होती हैं।

प्रत्यावर्तन (Reversion)—पहले के लक्षणों का पुनः प्रकट होना, जैसे कई पीढ़ियों के बाद पूर्वजों के कुछ लुप्त लक्षणों का पुनः प्रकट होना।

प्रसंकर (Hybrid, cross)—दो स्पष्ट भेदों, या दो स्पष्ट जातों के लैंगिक सम्मेलन या संकरण से उत्पन्न संतान। यदि प्रसंकर दो जातों का है, तो उसे जात-प्रसंकर कहेंगे और यदि वह दो भेदों का है तो उसे भेद-प्रसंकर कहेंगे।

प्रह्लासित अंग (Atrophied organ)—वह अंग जिसकी वृद्धि भ्रूण विकास की काफी पहले की अवस्था से रुक गई हो, जिससे वे सामान्य नाप या रूप के न हों।

प्राकृतिक वास (Habitat)—वह स्थान या वातावरण जिसमें कोई जीव स्वाभाविक रूप से पाया जाता हो।

प्रोटोजोआ (Protozoa)—जन्तुओं का वह समुदाय जिसका शरीर केवल एक ही कोशिका का बना हो। अतः वे बहुत सरल आकार के और सूक्ष्म होते हैं। जन्तुओं में से सबसे निम्न कोटि के समझे जाते हैं।

प्रौढ़ (Adult)—किसी जीव की वह अवस्था जिसके बाद और अधिक विभेदन (differentiation) न हो तथा जो साधारण जनन-क्रिया करने लगें।

पृथक्लिंगी (Unisexual)—जिनमें नर तथा मादा अंग अलग प्राणियों में होते हों।

पृष्ठीय, पृष्ठ (Doosal)—जन्तु शरीर का वह तल जो मुख तल के विपरीत हो; पीठ वाला तल।

प्लीस्टोसीन (Pleistocene) **काल**—तृतीय युग का सबसे बाद का काल।

प्लूटानिक चट्टानें (Plutonic rocks)—वे चट्टानें जो सम्भवतः पृथ्वी की काफी गहराई में गर्मी के प्रभाव से उत्पन्न हुई हैं।

प्लैन्टीग्रेड (Plantigrade)—वे चौपाये जो चलते समय अपना पूरा पाँव पृथ्वी पर रखते हैं। जैसे भालू।

प्लैसेन्टा (Placenta)—स्तनियों में भ्रूण विकास माता के गर्भाशय में होता है। उस समय भ्रूण को पोषक पदार्थ माता के रक्त से प्राप्त होते हैं। इस कार्य के लिए गर्भाशय की दीवार तथा भ्रूण के बीच एक वाहक रचना होती है जिससे भ्रूण माता से जुड़ा रहता है। इसको प्लैसेण्टा कहते हैं।

प्लैसेन्टेलिया (Placentalia)—वे स्तनी जिनमें भ्रूण का पोषण प्लैसेन्टा के द्वारा होता है। सभी विकसित स्तनी ऐसे होते हैं।

फ़नजाई (Fungi)—वनस्पतियों का एक समुदाय जिसमें कवक, कुकुरमुत्ते, फफूंद इत्यादि रखे जाते हैं। इनकी विशेषता है इनमें हरे रंग या क्लोरोफिल का न होना। ये सड़ी गली वस्तुओं पर उगते हैं और बिना वायु के श्वसन करते हैं।

फ़रकुला (Furcula)—पक्षियों के दोनों हसुलियों (collar bones) के जुड़ जाने से बनी चिमटे जैसी हड्डी।

फ़ॉसिल (Fossil)—पृथ्वी के विभिन्न स्तरों, चट्टानों आदि में पाये जाने वाले जीवों के अवशेष। बहुधा ये अवशेष हड्डियों या कड़े कंकाल में धीरे-धीरे मिट्टी, बालू आदि के कणों के भिद जाने से बनते हैं। कभी-कभी वे केवल साँचों के रूप में होते हैं। विरले उदाहरणों में वे पंजों आदि के चिह्न के रूप में भी हो सकते हैं। इनकी सहायता से पृथ्वी पर जीवों के इतिहास का बोध होता है।

फ़ासिलमय (Fossiliferous)—वे चट्टानें या स्तर जिनमें फॉसिल पाये जाते हों।

फ़ेलिडी (Felidae)—स्तनियों का वह वंश जिसके अन्तर्गत बिल्लियाँ, शेर, बाघ आदि आते हैं।

फ़ोरैमिनिफ़ेरा (Foraminifera)—प्राटोज़ोआ समुदाय का एक वर्ग जिसका शरीर बहुत कोमल जीवरस (proto-plasm) का होता है और उसमें से अनेक अस्थिर, सूक्ष्म प्रवर्ध निकलते रहते हैं। अधिकांश जातों में समस्त शरीर चूर्णियत कवच से सुरक्षित होते हैं। इस कवच के अनेक आकार होते हैं।

फ्रेनम (Frenum)—खाल की एक पट्टी या मोड़।

बहुपरागी (Polyandrous)—ऐसा पुष्प जिसमें कई स्वतन्त्र परागकेसर हों।

बहुरूपीय (Polymorphic)—वे जन्तु जिनमें कई प्रकार या 'रूप' के प्रौढ़ पाये जाते हों, जैसे मधुमक्खी या बर्रे या दीमक में या अनेक सीलेन्टराटा में। त्रिरूपीय या द्विरूपीय इसी के भेद हैं।

बीजपत्र (Cotyledon)—बीजों के भीतर पाई जाने वाली दालें जो वास्तव में बीज में उपस्थित छोटे, अविकसित पौधे की प्रारम्भिक पत्तियाँ हैं। इनमें संचित खाद्य बाद में उगने पर नये पौधे के काम आता है।

बैलेनस (Balanus)—मालस्का समुदाय की एक जाति जो समुद्र तटों पर पत्थरों से लगी होती है।

ब्रेकियोपोडा (Brachiopoda)—समुद्री मालस्का का एक वर्ग, जिसमें दो कपाट वाले कवच होते हैं और जो समुद्र के पानी में उपस्थित ठोस वस्तुओं से एक डंठल के द्वारा जुड़े होते हैं जो एक कपाट में एक छेद के द्वारा मुख्य जन्तु से जुड़ा होता है।

ब्रैन्की (Poranchiae) या **गिल** (Gill)—जलीय जन्तुओं में पानी में घुली हुई वायु से श्वसन के अंग।

भ्रूण (Embryo)—अंडे या माता के गर्भाशय के भीतर विकसित होता हुआ प्राणी।

भ्रूणतत्व या भ्रूणशास्त्र (Embryology)—जीव विज्ञान की वह शाखा जिसमें भ्रूण-विकास का अध्ययन किया जाता है।

भ्रूणाग्र (Plumula)—उगते हुए बीज का प्रारंभिक तना। यह बीजपत्रों के बीच में उपस्थित होता है और बाद में इसके ऊपर बढ़ने से ही तना बनता है।

भ्रूणमूल (Radicle)—उगते हुए बीज की प्रारंभिक जड़। यह नीचे की ओर बढ़ती है और अन्त में इसी से जड़ का निर्माण होता है।

भ्रूणीय (Embryonic)—भ्रूण से संबंध रखनेवाला।

माइसिस (Mysis) **अवस्था**—क्रस्टेशिया (झींगा) के जीवन-इतिहास की एक लार्वल अवस्था जिसमें वह प्रौढ़ बहुत समान होते हैं। वास्तव में यह अवस्था **माइसिस** नामक जात के प्रौढ़ के बहुत समान होती है, इसलिए इसका नाम माइसिस अवस्था रखा गया है।

मालस्का (Mollusca)—जन्तु-साम्राज्य का एक विशाल समुदाय (Phylum)। इनका शरीर बहुत कोमल होता और अधिकांश में किसी न किसी प्रकार का कवच होता है। इसीलिए कभी कभी इनको केवल 'कवच' (shells) भी कहा जाता है। इनका नाड़ी संस्थान कुछ प्रगंडों (ganglia) तथा उनको जोड़नेवाली संबंधक (Connective) नाड़ियों का बना होता है। इनके उदाहरण हैं घोंघे, सीपियाँ, मोती बनाने वाली समुद्री सीपी, कौड़ियाँ, शंख, सीपियाँ इत्यादि।

मारसूपियल (Marsupial)—स्तनी वर्ग का एक गण जिसमें कंगारू, अपोसम इत्यादि रखे जाते हैं। उनके भ्रूण पूर्ण विकसित होने के पहले ही गर्भाशय के बाहर आ

जाते हैं और ऐसे अपूर्ण विकसित बच्चों को माता अपने पेट के सामने एक थैली में रख कर घूमती है। इसी थैली में स्तन ग्रन्थियाँ होती हैं जिनसे इनका पोषण होता है।

मेलैनिज्म (Melanism)—"ऐल्बीनिज्म" का विपरीत। इसमें जन्तु की त्वचा और अवयवों में सामान्य से अधिक रंग-कण उत्पन्न होते हैं।

मैंडिब्ल (Mandible)—कीटों तथा क्रस्टेशिया के मुख अंगों का एक जोड़ा जो बहुत कड़ा और दाँतेदार होता है और भोजन को काटने-कुतरने के काम आता है। चिड़ियों में इस शब्द का प्रयोग ऊपर और नीचे की चोंच के लिए किया जाता है। स्तनियों में यह नाम निचले जबड़े की हड्डी को दिया जाता है।

मैमीफ़ेरस (Mammiferous)—वह भूतत्वीय स्तर या काल जिसमें अनेक स्तनियों के फ़ासिल मिलते हों।

मैलाकास्ट्राका (Malacostraca)—क्रस्टेशिया का एक उच्च गण जिससे सामान्य केकड़े, झींगे आदि आते हैं।

मोरेन (Moraine)—हिमनदियों द्वारा लाकर जमा किये गये पत्थरों, चट्टानों आदि के टुकड़ों का संग्रह।

रचना सादृश्य (Homology)—किन्हीं दो जीवों या दो जातों या दो विभाजनों के बीच किसी रचना विशेष की समानता जिसका कारण समान कार्य नहीं, बल्कि भ्रूण का समान विकास है। और यह समान भ्रूण विकास स्वयं वंशागति की समानता के कारण है। उदाहरण के लिए मनुष्य का हाथ, चमगादड़ के पंख, पक्षी के पंख और छिपकिली की अगली टाँगों के कंकाल की समानता—विभिन्न कार्य और विभिन्न वाह्य रूप के होते हुए भी उनके कंकाल में आधारीय समानता है। जो अंग इस प्रकार की रचना-सादृश्य दिखाते हैं उनको रचना-सदृश (homologous) अंग कहते हैं।

यदि किसी जन्तु के शरीर के दो विभिन्न भागों में रचना में आधारीय समानता तथा समान भ्रूण विकास होता है—जैसे मेढक की अगली तथा पिछली टाँगों में, या गोजर (कांतर) के विभिन्न खंडों में, तो उसको श्रृंखलाबद्ध रचना-सादृश्य (serial-homology) कहते हैं।

राइजोपोड़ा (Rhizopoda)—प्रोटोजोआ समुदाय का एक वर्ग जिनकी विशेषता है चलन-क्रिया के लिए जीव रस के अस्थायी प्रवर्धों का बनना। अस्थायी होने के कारण ये प्रवर्ध बनते बिगड़ते रहते हैं। प्रवर्ध बहुधा पौधों की जड़ों के समान

लगते हैं। इसलिए राइज़ोपोडा नाम रखा गया है (राइजो=जड़ जैसे; पोडा=पाद) इसके अन्तर्गत अमीबा, फ़ोरैमनिफ़ेरा आदि आते हैं।

रूमिनैन्ट (Ruminant)—वे चौपाये जो जुगाली करते हैं जैसे गाय-बैल, भैंस, हिरन आदि। इनके खुर बीच से फटे होते हैं और इनके ऊपरी जबड़ों के सामने के दाँत नहीं होते।

रेटिना (Retina) **या मूर्तिपट**—आँख की सबसे भीतर की संवेदनशील पर्त इसमें नाड़ी तन्तुओं का घना जाल होता है। इसी पर बिम्ब (image) बनता है और उसकी संवेदना नाड़ी तन्तुओं द्वारा दृष्टिनाड़ी (optic nerve) से होती हुई मस्तिष्क को जाती है।

रेमस (Ramus)—इसके शाब्दिक अर्थ हैं शाखा किन्तु इस शब्द का उपयोग साधारणतः निचले जबड़े के एक ओर के कंकाल के लिए किया जाता है।

रोडेन्ट (Rodent)—स्तनियों का वह गण जिसमें सभी सदस्य कुतरने वाले होते हैं—जैसे चूहे, गिलहरियाँ, खरगोश आदि। इनके ऊपरी तथा निचले जबड़े में एक-एक जोड़ा तेज़, लम्बे रूखानी जैसे सामने के इन्साइज़र (incisor) दाँत होते हैं। इन दाँतों तथा चबाने के दाँतों के बीच काफ़ी खाली जगह होती है।

रंग-कण (Pigment)—जन्तुओं के बाह्य तलों में उत्पन्न होने वाले रंग के कण जिनके संग्रहीत होने से ही इन अंगों में रंग उत्पन्न होता है। इनको उत्पन्न करने वाली कोशिकायें रंगा-कोशिकायें (pigment cells) कहलाती हैं। इनको रंगाकण भी कहते हैं।

लारेन्शियन (Laurentian)—ऐसी चट्टानें जो सेण्ट लारेंस के तट पर पाई जाती हैं और अत्यन्त परिवर्तित रूप में हैं। इन्हीं चट्टानों में जीवों के प्राचीनतम अवशेष पाये गये हैं।

लार्वा (Larva)—किसी जन्तु के जीवन-इतिहास में प्रौढ़ अवस्था के पहले पायी जाने वाली अवस्था जो प्रौढ़ से बहुत भिन्न हो तथा स्वतन्त्र जीवी हो और स्वयं अपना भोजन ग्रहण करती हो; जैसे मेढक की टैडपोल अवस्था, तितलियों के कैटरपिलर, क्रस्टेशिया में नाप्लियस या जुइआ अवस्थायें लार्वा हैं। विशेषण—लार्वल।

लिग्यूमिनोसी (Leguminosae)—पौधों का वह वंश जिनमें दालें (pulses) तथा उनसे संबंधित पौधे आते हैं। इनके फूल कुछ विचित्र तितलियों के आकार के होते हैं और फल फलियाँ (Pods) बनाते हैं। जैसे मटर, सेम, चना, शीशम, सनई, मूँग, अरहर इत्यादि।

लिट्टोरल (Littoral)—वे समुद्री जीव जो समुद्र तट के निकट पाये जाते हैं।

लीमुरिडी (Lemuridae)—बन्दरों से कुछ मिलते-जुलते स्तनी। इनके नासाछिद्र टेढ़े होते हैं और पिछली टाँगों की पहली अंगुली (अंगूठे) में नाखून न होकर नखर (claw) होता है।

वर्टिब्राटा (Vertebrata) या **पृष्ठवंशी**—जन्तुओं का सबसे उच्च समुदाय। इसके तीन मुख्य लक्षण हैं—विकास के किसी काल में या प्रौढ़ में पृष्ठीय तल की ओर मध्य रेखा में एक कड़ा, लम्बा दण्ड या नोटोकार्ड (noto cord), पृष्ठीय ओर एक नाड़ी दण्ड या नर्व कार्ड (nerve cord) तथा विकास के किसी अवस्था में गिलों का होना। मछलियाँ, मेढक, कछुये, घड़ियाल, सर्प, पक्षी तथा स्तनी—सभी इस समुदाय में हैं।

वनस्पति-धन (Flora)—किसी क्षेत्र या प्रदेश में पाई जाने वाली जीवित या विलुप्त सभी वनस्पतियाँ।

विपथित (aberrant)—पौधों या जन्तुओं की जातें या समूह जो कुछ महत्वपूर्ण लक्षणों में निकटतम संबंधियों से भिन्न हो, जिससे उनको आसानी से उस विशेष विभाजन में न रखा जा सके। कभी-कभी यह भिन्नता इसलिए हो सकती है कि विकास की क्रिया में वे विभाजन के अन्य सदस्यों से अलग हो गये हों और पिछड़ गये हों।

विभेदन (Differentation)—जीव के विभिन्न भागों, अंगों या अन्य सूक्ष्म संरचनाओं का एक दूसरे से पृथक् या भिन्न होना जिससे उनको पहचाना जा सके तथा जिसके फलस्वरूप वह जीव अन्य सरल जीवों की अपेक्षा जटिल जान पड़ें।

वृन्त (Peduncle)—डंठल या सहारा जिससे जीव किसी अन्य संरचना से जुड़ा हो; जैसे फूल का डंठल।

वृन्तहीन (Non-pedunculate)—जिसमें वृन्त न हो।

श्वासनाल (Trachea)—वह नलिका जिसके द्वारा श्वास वायु आवश्यक श्वसनांगों में जाती हो। वर्टिब्राटा में श्वासनाल गले से फेफड़ों में जाते हैं; कीटों में श्वास-नाल अतिशाखित होते हैं और इस प्रकार शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँच जाते हैं।

श्रमिक (Workers)—उन कीटों में जो समाज-रचना करते हैं, कुछ अधिकांश सदस्य नपुंसक होते हैं और पूरे समाज के लिए सभी आवश्यक कार्य करते हैं, जैसा छत्ता बनाना, भोजन संग्रह करना आदि।

सिफ़ैलोपोडा (Cephalopoda)—मालस्का समुदाय का एक वर्ग जिनके मुख के चारों ओर कई 'भुजाएँ' या टेन्टैक्ल होते हैं तथा कवच शरीर के भीतर होता है; जैसे सीपिया (Sepia), आक्टोपस (Octopus)।

सिटेशिया (Cetacea)—स्तनियों का एक गण जिसके अन्तर्गत व्हेल, सूँस आदि रखी जाती हैं। इनका आकार मछली जैसा होता है और खाल चिकनी होती है तथा केवल अगले अवयव होते हैं, पिछले नहीं।

सिरीपीड (Cirripede)—क्रस्टेशिया का एक गण। इनके लार्वा तो सामान्य क्रस्टेशिया की भाँति होते हैं, किन्तु प्रौढ़ होने पर ये किसी आधार से चिपक जाते हैं—चाहे सीधे, चाहे किसी वृन्त के सहारे। उनका शरीर कई टुकड़ों के बने कवच में सुरक्षित हो जाता है और 'टेन्टैक्लों' का एक गुच्छा बाहर निकलता है। ये उनके अवयवों के परिवर्तित रूप हैं।

सैक्रल (Sacral)—कमर से संबंध रखने वाला। अधिकतर वर्ट्रिब्राटा में वह भाग दो-तीन कशेरुकों (vertebrae) के मिलने से बनता है जो नितम्ब से जुड़ी होती हैं।

संसेचन (Fertilisation)—नर तथा मादा तत्वों का मिलना। अंडे के विकास के लिए उसका नर तत्व से संसेचित होना आवश्यक है।

स्कुटेली (Scutellae)—पक्षियों के पंजों को ढकनेवाली कड़ी छोटी प्लेटें। ये मुख्यतः सामने की ओर होती हैं।

स्वर-यंत्र (Larynx)—वट्रिब्राटा में श्वासनाल का ऊपरी भाग जो चौड़ा होकर एक जटिल रचना का निर्माण करता है और जिससे ध्वनि उत्पन्न होती है।

स्तनी (Mammals)—वट्रिब्राटा का सबसे विकसित वर्ग। इसके मुख्य लक्षण हैं खाल पर बालों का होना, भ्रूण विकास का माता के गर्भाशय में होना तथा बच्चे के पोषण के लिए माता में स्तनग्रन्थियों का होना। कुछ निम्न कोटि के स्तनियों में अंड दिये जाते हैं (जैसे एकिडना (Echidna) में, तथा कुछ में बच्चों का जन्म तक पूर्ण विकास नहीं हो पाता। ये मानोट्रिमाला (Monotremata) तथा मारसूपियेलिया (Marsupialia) गणों में रखे जाते हैं, बाकी सभी स्तनी यूथीरिया (Eutheria) गण में।

हाइमेनाप्टेरा (Hymenoptera)—कीट वर्ग (Insecta) का एक गण जिसमें बर्रे, मधुमक्खी, चींटी आदि रखे जाते हैं। उनकी संरचना की विशेषता है इनके उदर का वक्ष भाग से एक बहुत पतले डण्ठल जैसे भाग के द्वारा जुड़ा होना। इसके कई सदस्य सामाजिक हैं।

हिमयुग (Glacialperiod)—देखिए ग्लेशियल युग।

हेमिप्टेरा ((Hemiptera) कीट वर्ग का एक महत्वपूर्ण गण जिसकी विशेषता यह है कि इसके मुख अंग पौधों अथवा जन्तुओं में छेद करने योग्य होते हैं। इस प्रकार वे पौधों का रस या जन्तुओं का रक्त चूसते हैं। उदाहरण खटमल।

होमाप्टेरा (Homoptera)—हेमिप्टेरा गण का एक उपगण। इसमें भी मुख-अंग भेदने-चूसने वाले होते हैं। इनके पंख पूर्णतः पतले या पूर्णतः कड़े अर्थात् बराबर एक जैसे होते हैं, जबकि बाकी हेमिप्टेरा (अर्थात् उपगण हेटेराप्टेरा) में उनका कुछ भाग कड़ा, कुछ पतला होता है। उदाहरण एफ़िस।